- प्रवचनकार :
  स्व० युगवीर पंजावकेसरी आचार्यश्री विजयवल्लभसूरिजी महाराज
- प्रेरक :
  गणिवर मुनिश्री जनकविजयजी
- सम्पादक :
  पं० मुनिश्री नेमिचन्द्रजी
- भूमिका-लेखक :
  श्री जवाहरचन्द्रजी पाटणी एम० ए० (हिन्दी-अंग्रेजी)
  अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, श्री पार्श्वनाथ जैन उमेद कॉलेज,
  फालना (राजस्थान)
- प्रकाशक :
  श्री आत्मानन्द जैन महासभा, पंजाव
  अम्वालाशहर (हरियाणाराज्य)
- मुद्रक :
  जैन प्रिंटिंग प्रेस; ब्रह्मपुरी, मेरठ (उ० प्र०)
- संस्करण :
  प्रथम, ११०० प्रतियाँ
- समय :
  पर्यूषणपर्व
  ९ सितम्वर, १९६९ मंगलवार
- मूल्य :
  दो रुपये
- पुस्तकप्राप्ति-स्थान :
  १-प्रो० पृथ्वीराजजी जैन एम० ए० शास्त्री
  मंत्री, श्री आत्मानन्द जैन महासभा, पंजाव
  जैन कॉलिज क्वार्टर, हिंद डेरी के सामने, अंबालाशहर(हरियाणा)
  २-मंत्री,
  श्री आत्मानन्द जैनसभा
  वाजार हलवाइयां
  अम्वालाशहर (हरियाणा)

श्रीवल्लभ-स्मारक-ग्रन्थमाला—४

वल्लभ-प्रवचन

द्वितीय भाग

प्रवचनकार
युगवीर स्व० आचार्यश्री विजयवल्लभसूरिजी महाराज

(२)

सम्पादक
मुनि नेमिचन्द्र

प्रेरक
गणिवर मुनिश्री जनकविजयजी महाराज

प्रकाशक
श्री आत्मानन्द जैन महासभा, पंजाब
अम्बालाशहर (हरियाणाराज्य)

जैन दुग्गड़ द्वारा लिखित शोधपूर्ण पुस्तक 'श्रमण भगवान् महावीर और मांसाहार-परिहार' का प्रकाशन महासभा कर चुकी है। 'वल्लभ प्रवचन प्रथम और द्वितीय भाग के रूप में यह तीसरा और चौथा पुष्प पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त 'सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली' के सहयोग से वल्लभस्मृति-ग्रन्थ-माला के अन्तर्गत चार महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। उनके नाम ये हैं—

१–मानव और धर्म—डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, एम. ए. पी. एच. डी.
२–लोकतंत्र के सिद्धान्त—डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, एम. ए. पी. एच. डी.
३–जैन धर्म का प्राण—प्रज्ञाचक्षु डॉ० पं० सुखलालजी संघवी
४–जागे तभी सवेरा—ले० जयभिक्खू, अनु० कस्तूरमल जी बांठिया

'विजयानन्द' मासिक पत्रिका का प्रकाशन भी गत १४ वर्ष से लगातार हो रहा है।

इन प्रवृत्तियों में हमारे वर्तमान धार्मिक नेता और गुरुवर श्रीमद् विजयवल्लभसूरीश्वर के पट्टधर, शान्तमूर्ति जैनाचार्य श्रीमद् विजय-समुद्रसूरिजी की प्रेरणा ही हमें प्रोत्साहित करती रही है। हम उनके अतीव कृतज्ञ हैं। इसके अतिरिक्त हम 'वल्लभप्रवचन द्वितीय भाग के प्रवचनों की लिपिबद्धकर्त्री एवं संग्राहिका बम्बई-निवासिनी श्राविका श्रीमती वसुमतीबहन कीर्तिलाल शाह तथा इन प्रवचनों के सम्पादक विद्वद्वर्य मुनिवर श्रीनेमिचन्द्रजी के विशेष आभारी हैं। मुनिजी अनेक वर्षों से धर्ममय समाजरचना के कार्य में प्रवृत्त हैं, तदापि गणिवर मुनिश्री जनकविजयजी की मधुर प्रेरणा से उन्होंने इन प्रवचनों के सम्पादन का भार उठा कर इसे भव्यरूप प्रदान कर साहित्यजगत् पर महती कृपा की है।

श्री पार्श्वनाथ जैन उमेद कॉलेज, फालना (राजस्थान) के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष प्रो० श्रीजवाहरचन्द्रजी पाटणी एम. ए. (हिन्दी

कृतज्ञता-प्रकाश

लगभग पन्द्रह वर्ष हो गए जब पंजाबकेसरी, भारत दिवाकर, अज्ञानतिमिरतरणि, कलिकालकल्पतरु, परमोपकारी गुरुदेव जैनाचार्य श्री श्री १००८ श्रीमद् विजयवल्लभसूरीश्वरजी का बम्बई में देवलोक-गमन हुआ। उस समय समस्त जैनसमाज स्तब्ध हो गया। पंजाब—गुरुवर आत्म और गुरुवर वल्लभ द्वारा प्राण-संचारित पंजाब—अनाथवत् बिलख-बिलख कर विलाप करने लगा। किन्तु प्रकृति के अटल नियम के सम्मुख नतमस्तक होना ही पड़ता है। स्वर्गवास-दिवस के कुछ ही दिनों के अनन्तर श्री आत्मानन्द जैन महासभा, पंजाब (गुरु वल्लभ के शब्दों में पंजाब श्रीसंघ) ने भावभरी श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर एकस्वर से संकल्प किया था कि अपने जीवन-प्रदाता गुरुदेव के मिशन की पूर्ति के लिए श्रीवल्लभ-स्मारक की स्थापना की जाए। स्मारक की रूपरेखा में मुख्यतः इन प्रवृत्तियों का उल्लेख है:—श्रीमद् विजयानन्द सूरीश्वर तथा श्रीमद् विजयवल्लभ-सूरीश्वर की कलात्मक प्रतिमाएँ, हस्तलिखित शास्त्रों व ज्ञानभण्डारों का संग्रह और रक्षण, पुस्तकालय की स्थापना, ग्रन्थप्रकाशन, शोध-कार्य, कलाकक्ष, अतिथिगृह आदि।

कई परिस्थितियों के कारण स्मारक की पूरी योजना अभी साकार नहीं हो सकी। हाँ, कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य शुरू हो चुके हैं और चालू हैं। पंजाब के भण्डारों के लगभग दस हजार हस्तलिखित और मुद्रित ग्रन्थ दिल्ली में एकत्रित किए गए हैं और उनकी सूची तैयार हो चुकी है। कई ग्रन्थ और सामग्री ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और अनमोल है। साहित्यप्रकाशन की ओर दृढ़ पग उठाए गए हैं। इससे पूर्व 'आदर्श जीवन' तथा पं० हीरालालजी

पूज्य आचार्यदेव श्रीविजयवल्लभसूरीश्वरजी महाराज

साहब का संक्षिप्त जीवन-परिचय

विश्ववल्लभ

पूज्य आचार्यदेव श्री १००८ श्री विजयवल्लभसूरीश्वरजी महाराज साहब का जन्म कार्तिक शुक्ला द्वितीया (भाई दूज) वि० सं० १९२७ के दिन गुजरातप्रान्त के बड़ौदा नगर में हुआ था। आपके पिताजी का नाम दीपचंदभाई था और पूजनीया माताजी का नाम इच्छाबाई था। आपका संसारी नाम था छगनलाल। माता-पिता के पवित्र धार्मिक संस्कार 'छगन' को विरासत में ही मिले थे। 'छगन' बाल्यकाल से वैराग्य-रंग में रंग गये थे। उसे संसार शून्य प्रतीत होने लगा था। संवत् १९४२ में आचार्य श्रीमद्विजयानन्दसूरिजी (आत्मारामजी) महाराज बड़ौदा पधारे। उनके उपदेशामृत से छगन-जी की भक्ति-लता पुष्पित हो गई। वैसाख सुदी १३, संवत् १९४४ को राधनपुर में आचार्य श्रीमद्विजयानन्दसूरिजी महाराज ने आपको दीक्षा दी। और आप श्रीमद्हर्षविजयजी महाराज साहब के शिष्य हुए। आपका नाम वल्लभविजय रखा गया। पूज्य वल्लभ ने अपना नाम सार्थक किया। वे न केवल आत्म-वल्लभ हुए वरन् जन-वल्लभ भी बन गये।

आप बाल-ब्रह्मचारी थे। आपके मुख-मंडल पर ब्रह्म-तेज चमकता था। आपने जीवन को ज्ञान-भूषण से विभूषित किया। आप सच्चे अर्थों में 'ब्रह्मज्ञानी' थे। शुद्धाचरण और ज्ञानरूपी आभूषणों से आपका जीवन अलंकृत था।
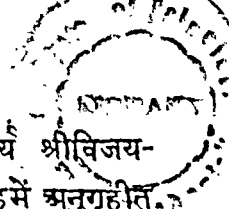
और अंग्रेजी) ने पुस्तक की भूमिका तथा स्व० पू० आचार्य श्रीविजय-वल्लभसूरीश्वरजी का संक्षिप्त जीवनपरिचय लिख कर हमें अनुगृहीत किया है। हमें विश्वास है कि भविष्य में भी ये विद्वज्जन हमें सहकार प्रदान करते रहेंगे।

आचार्यश्री विजयसमुद्रसूरिजी महाराज के सदुपदेश से निम्न-लिखित महानुभावों ने इस पुस्तक के प्रकाशन में आर्थिक सहायता प्रदान की है; एतदर्थ हम उन्हें भी धन्यवाद देते हैं—

१. १०००) रु० वेड़ा श्री संघ, वेड़ा (राजस्थान)
२. १००१) रु० सेठ कान्तिलाल चेनाजी, लुणावा (रानस्थान)
३. ३००) रु० दयालपुरा श्रीसंघ
४. १०१) रु० श्रीयुत् फतेचन्दजी मेहता, वाली (राजस्थान)
५. २५००) रु० लुणावा श्रीसंघ, लुणावा (राजस्थान)
३. ५०१) रु० कोट श्रीसंघ, कोट (राजस्थान)
७. १०१) रु० लाला मुन्नीलालजी ओमप्रकाशजी, अम्बाला(हरियाणा)

५५०४) कुल योग

वल्लभप्रवचन द्वितीय भाग के प्रकाशन के कुल खर्च के वाद इस रकम में से वची हुई रकम वल्लभप्रवचन तृतीय भाग के प्रकाशन में खर्च की जायगी। उदार दानी सज्जन इसी प्रकार भविष्य में भी इन शुभकार्यों में अपना आर्थिक सहयोग देते रहेंगे। इसी शुभ-कामना के साथ—

भवदीय—

पृथ्वीराज जैन एम. ए. शास्त्री
मंत्री, श्री आत्मानन्द जैन महासभा, पंजाब
अम्बालाशहर (हरियाणा)

वल्लभ-विहार
अम्बालाशहर
संवत्सरी, १६६६

गुरुदेव कर्मयोगी थे। उनके तपोनिष्ठ जीवन को देख कर मुझे विश्वविख्यात दार्शनिक श्रीवीरचंद राघवजी गाँधी के अभिभाषण, जो उन्होंने शिकागो में विश्व धर्मसम्मेलन के मंच पर दिया था—की ये अमर पंक्तियां स्मरण हो आती है —

"Knowledge as knowledge or morality is not the ideal of the Jainas. In fact, some kind of action always goes with knowledge without action, or action without knowledge. True advancement consists in both being right or consistent."

ज्ञान ज्ञान के लिए अथवा नैतिकता केवल नैतिकता के लिए ही जैनदर्शन का सिद्धान्त नहीं है। वास्तव में आज ज्ञान क्रियाशून्य और क्रिया ज्ञानशून्य दिखाई देती है। जीवन का परमोत्कर्ष तो ज्ञान और क्रिया (आचरण) के समन्वय में ही है।

आचार्यदेव के जीवन में ज्ञान और क्रिया का 'मणि-काञ्चन-योग' हुआ था।

गुरुदेव करुणामूर्ति थे। पीड़ितों की वे वाणी थे और उनमें पाषाण को भी पिघालने की अमोघ शक्ति थी।

आचार्यदेव का जीवनदीप आश्विन वदी १०, मंगलवार, संवत् २०११ को बम्बई नगर में सदा के लिए बुझ गया, किन्तु उनका यश-दीप सदा प्रज्वलित रहेगा।

'जय वल्लभ'

जवाहरचन्द्र पाटनी
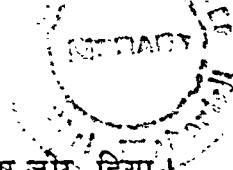
गुरुदेव ने आत्मशुद्धि और समाजोद्धार पर विशेष जोर दिया। समाजोत्थान के बिना व्यक्ति का उत्थान असंभव ही है। समाज में अंध-विश्वास, धर्म के नाम पर फिजूलखर्ची, समाज का अभिशाप। दहेज और अज्ञानरूपी अंधकार विषैले नागों के समान फन फैलाये हुए हैं। समाज इनसे तभी छुटकारा पा सकता है जबकि शिक्षा का गरुड़ आ जाय। यही सोच कर गुरुदेव ने स्थान-स्थान पर शिक्षा के दीप जलाये, जिनकी जगमग ज्योति युग-युग तक जलती रहेगी। गुरुदेव ने 'जैन विश्वविद्यालय' की अभिलाषा समाजोत्थान की भावना से प्रेरित होकर ही की थी।

उनके ये उद्गार सुधा-तुल्य हैं—

"होवे कि न होवे परन्तु मेरा आत्मा यही चाहता है कि साम्प्रदायिकता दूर हो कर जैन समाजमात्र श्रीमहावीरस्वामी के झंडे के नीचे एकत्रित हो कर श्रीमहावीर की जय बोले। तथा जैन-शासन की वृद्धि के लिए ऐसी एक 'जैन विश्व-विद्यालय' नामक संस्था स्थापित होवे; जिससे प्रत्येक जैन शिक्षित हो। धर्म को बाधा न पहुंचे इस प्रकार राज्याधिकार में जैनों की वृद्धि होवे। फलस्वरूप सभी जैन शिक्षित होवें और भूख से पीडित न रहें। शासनदेवता मेरी इन सब भावनाओं को सफल करें, यही चाहना है।"

'जैन विश्वविद्यालय' की उनकी अमर अभिलाषा की पूर्ति करना गुरुदेव के भक्तों का पुनीत कर्त्तव्य है।

उनकी प्रेरणा के कल्प-पुष्प हैं —

श्री आत्मानंद जैन कालेज, अम्बाला; श्री पार्श्वनाथ उम्मेद जैन कॉलेज, फालना; श्रीपार्श्वनाथ उच्च विद्यालय, वरकाणा; महावीर विद्यालय आदि। उनके ये दिव्य कल्पपुष्प सदा खिले रहें।

उनका प्रवचन हुआ था। मैंने भी सुना था। उसके बाद यहाँ अनेक साधु-महाराज भी पधारे, लेकिन उनके प्रवचन का-सा आनन्द अभी तक नहीं आया! क्या कहूं, वल्लभ तो वल्लभ ही था!" ये उद्‌गार बताते हैं कि सर्वसाधारण जनता पर उनके प्रवचनों का कितना जादुई असर था।

प्रथम भाग की तरह दूसरे भाग का सम्पादन भी गणिवर्य मुनिश्री जनकविजयजी की सत्प्रेरणा से धर्मस्नेही विद्वद्वर्य आत्मबन्धु मुनिश्री नेमिचन्द्रजी ने बागपतचातुर्मास में धर्मप्रचार आदि अनेक कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी आत्मीयतापूर्वक किया है। साथ ही इसके प्रकाशनकार्य में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। मैं अपने इन आत्मबन्धु का किन शब्दों में आभार मानूं? मुझे इसके लिए शब्द नहीं सूझ रहे हैं। आशा है, तीसरे भाग का सम्पादन भी इन्हीं आत्मबन्धु मुनिवरजी के सुयोग्य करकमलों से सम्पन्न होगा।

गुरुदेव के बम्बई-चातुर्मास के संगृहीत प्रवचन मैंने भलीभांति सुरक्षित रखे थे, परन्तु आगरा-चातुर्मास में प्रवचनों की वह फाइल न जाने कब और कैसे गुम हो गई! तलाश करने पर भी उसका पता न लग सका; इसका मुझे अत्यन्त खेद रहा। परन्तु गुरुदेव की कृपा से सहसा मुझे स्मरण आया कि बम्बई में एक श्राविका बहन श्रीवसुमती बहन (कीर्तिलाल चन्दुलाल शाह की धर्मपत्नी) गुरुदेव के इन प्रवचनों को भक्तिभावपूर्वक लिखती थी, शायद उसके पास प्रवचनों की नोटबुक हो। मैंने तुरंत उक्त बहन को प्रवचनों की नोट-बुक भेजने के लिए लिखा। बहन ने शीघ्र ही प्रवचनों की वह नोट-बुक भेज दी। आत्मबन्धु सम्पादक मुनिराज ने उन्हीं प्रवचनों में से तीस प्रवचनों का सम्पादन किया है। अतः श्रीमती वसुमती

धन्यवाद !

वल्लभ-प्रवचन का प्रथम भाग. संवत् २००४ में प्रकाशित हो कर धर्मप्रेमी पाठकों के हाथों में पहुंचाया गया था। उसे चिन्तन-मनन-पूर्वक पढ़ कर भाग्यशाली पाठक अवश्य ही लाभान्वित हुए होंगे। क्योंकि अज्ञानतिमिरतरणि, कलिकाल-कल्पतरु, भारतदिवाकर, पंजाब-केसरी, युगवीर, समर्थवक्ता पूज्य गुरुदेव आचार्यश्री १००८ श्रीमद् विजयवल्लभसूरिजी महाराज के प्रवचन ही सर्वसमन्वयकारी, सर्व-जनहितकारी एवं प्रभावशाली हैं, जिन्हें पढ़ कर प्रत्येक धर्म का अनुयायी लाभ उठा सकता है।

जैसे प्रथम भाग में दान, शील, तप और भावना आदि विषयों पर पू० गुरुदेव के बीकानेर में दिये गये २६ प्रवचन हैं; वैसे ही इस दूसरे भाग में उनके बम्बई में दिये गये ईश्वर, आत्मा, आत्मोद्धार, समाजोद्धार, मानवता, धर्मश्रवण, श्रद्धा, संयम, सत्संगति, व्यसनत्याग, विश्वशान्ति, पुण्य, पाप, धर्म, नवीनप्राचीनविवेक, जैन-एकता आदि विषयों पर ३० प्रवचन हैं।

जिस व्यक्ति ने बहुश्रुत पूज्य गुरुदेव का प्रवचन एक बार भी सुना है वह उनसे प्रभावित हुए एवं स्मरण किये बिना नहीं रह सकता। कुछ दिनों पहले इसी लुणावा गाँव में एक मुसलमान भाई मेरे पास आया। हाथ जोड़ कर बोला—"महाराज ! मेरा नाम 'कासम' है, मैं मुसलमान हूं। परन्तु बाबा श्रीवल्लभविजयजी म० वर्षों पहले जब यहाँ आए थे, तो बाजार में किसी कौम-मजहब के पक्षपात बगैर

स्व० आचार्यश्रीजी म० के शेष प्रवचनों को भी शीघ्र ही सम्पादित एवं प्रकाशित करवा कर पाठकों के हाथों में पहुंचाने की भावना है। इति शुभम् ।

वीर संवत् २४९५
विक्रमाब्द २०२६, भाद्रपद कृष्णा ५
आत्म संवत् ७४, वल्लभ संवत् १५
दिनांक १-९-१९६९ ई० सोमवार

—विजय समुद्रसूरि
जैन उपाश्रय
लुणावा वाया फालना
(राजस्थान)

बहन को मूल प्रवचनों को लिपिबद्ध करने और सुरक्षित रखने के लिए जितना धन्यवाद दिया जाय, उतना ही थोड़ा है।

श्रीपार्श्वनाथ उम्मेद जैन कालेज, फालना के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष प्रो० जवाहरचन्द्रजी पाटणी को भी धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता; जिन्होंने मेरे प्रेममय आग्रह से इस पुस्तक की भूमिका एवं गुरुदेव आचार्य भगवान् का संक्षिप्त परिचय लिख कर गुरुभक्ति का परिचय दिया है।

साथ ही, श्रीआत्मानन्द जैन महासभा तथा उसके प्रधान ला० मेंघराजजी एवं सेक्रेटरी प्रो० पृथ्वीराजजी आदि अपने ही हैं। फिर भी उन्होंने जिस लगन और उत्साह से पुस्तक प्रकाशित करवाई है, उन्हें भी कैसे भुलाया जा सकता है? जैन प्रिंटिंग प्रेस, मेरठ के प्रोप्राइटर तथा प्रबन्धक भी धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने अल्पसमय में ही इन प्रवचनों को मुद्रित करके पुस्तक का रूप दिया है।

अन्त में, जिन-जिन व्यक्तियों ने पुस्तक के सम्पादन, प्रकाशन एवं मुद्रणकार्य में धर्मस्नेहपूर्वक सहयोग दिया है; वे सब धन्यवादार्ह हैं।

पाठकों के करकमलों में स्व० आचार्यश्रीजी म० के ३० प्रवचनों का यह संग्रह विद्वद्वर्य मुनिश्री नेमिचन्द्रजी के द्वारा संपादित हो कर वल्लभ प्रवचन दूसरा भाग के रूप में पहुंचायां जा रहा है।

आशा है, पठकगण इन प्रवचनों को पढ़ कर प्रवचनगत उपदेशों को जीवन में उतार कर लाभान्वित होंगे।

विशालता, उदारता और समुद्रवत् गम्भीरता देख कर हम भी आश्चर्य-चकित रह जाते थे कि एक जैनसम्प्रदाय का आचार्य इतनी विश्व-व्यापकदृष्टि से बात कह सकता है !' सचमुच, उनका यह औदार्य केवल कहने भर का नहीं था। उन्होंने जैनसम्प्रदायों में परस्पर स्नेहवृद्धि और एकता के लिए भगीरथ प्रयत्न किया। शिक्षा, धर्म-संस्कार और गरीबी व बेकारी के निवारण के लिए उनकी प्रेरणा से अनेक कार्य हुए हैं। आज भी उनके अनुगामी साधुश्रावकवर्ग में स्व० आचार्यश्रीजी म० की उदारता के संस्कार और व्यवहार प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं।

इसी कारण मेरा आकर्षण स्व० आचार्यश्रीजी म० के इन प्रवचनों के सम्पादन की ओर हुआ। इन प्रवचनों के सम्पादन में मेरे प्रिय आत्मबन्धु (गणिवर) मुनिश्री जनकविजयजी की स्नेहपरिपूर्ण मधुर प्रेरणा तो यमुनानगर के संयुक्त चातुर्मास से ही रही है। स्व० आचार्यश्रीजी म० के पट्टधर शान्तमूर्ति श्रद्धेय पू० आचार्यश्री विजय-समुद्रसूरिजी म० के कृपापूर्ण आशीर्वाद और प्रेरणा ने भी प्रवचनों के सम्पादन में मेरा असीम उत्साह बढ़ाया है। इसी कारण मैं वल्लभ-प्रवचन के दो भागों का इतना शीघ्र सम्पादन कर सका। तीसरे भाग का सम्पादन चल रहा है।

सुज्ञ पाठकों से मेरा नम्रनिवेदन है कि स्व० पू० आचार्यश्रीजी म० ने ये प्रवचन साम्प्रदायिकता से ऊपर उठ कर व्यापक दृष्टि से दिये हैं। उन्होंने विवादस्पद बातें अपने प्रवचनों में बहुत ही कम छेड़ी हैं। यदि कहीं कहना भी पड़ा है तो अनेकान्तवाद की समन्वय-दृष्टि से कहा है। फिर भी ऐसा मालूम होता है कि उस जमाने के श्वे० जैनसम्प्रदाय के अन्य फिरके के कतिपय आचार्यों और मुनियों

संपादक की कलम से

युग नई करवट ले रहा है। पुरानी मान्यताएँ अब केवल श्रद्धा-पूर्वक ज्यों की त्यों मानने से लोग कतराते हैं। आज का अधिकांश बुद्धिजीवीवर्ग हर बातों को युक्ति और तर्क की कसौटी पर कसता है और उसमें सही उतरने पर ही मानता है। अतः वर्तमान युग में जो धर्मोपदेशक धर्म और अध्यात्म की बातों को युग के साथ मेल बिठा कर अपने श्रोताओं के सामने नहीं रखेगा, उसके विचारों को दकियानुसी समझ कर अधिकांश लोग नहीं अपनायेंगे।

श्रद्धेय युगवीर स्व० आचार्यश्री विजयवल्लभसूरिजी महाराज युगद्रष्टा और कर्मठपुरुष थे। उन्होंने पंजाब, राजस्थान और बम्बई की धर्मभूमि में समाज को प्रेरित करके अनेक विद्यालय, उद्योगगृह, जैनमन्दिर एवं महासभा आदि संस्थाएँ स्थापित करवा कर अपनी कर्मठता का परिचय दिया है। बम्बई-चातुर्मास उनके जीवनकाल का अन्तिम चातुर्मास था। सन् १९५२ के बम्बई-चातुर्मास में उन्होंने धर्म और अध्यात्म की गहन व्याख्याओं की युग के साथ संगति बिठा कर विविध लोकोपयोगी विषयों पर व्यापकदृष्टि से गहराई में उतर कर प्रवचन दिये हैं। उन्हीं प्रवचनों को सुन्दर शैली में सम्पादित करके वल्लभ-प्रवचन द्वितीय भाग के रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है।

स्व० आचार्यश्रीजी म० के चरणों में बैठ कर जिन साधु-श्रावकों ने उनके वे प्रवचन सुने हैं, उनका कहना है कि 'उनके प्रवचनों में इतनी

अन्त में. श्री आत्मानन्द जैन महासभा, पंजाब भी बधाई की पात्र है; जो श्रद्धेय स्व० आचार्यश्रीजी म० की लगाई हुई पुष्पबेल है और जिसने अब तक कई एक आवश्यक और उपयोगी प्रकाशनों द्वारा समाज को सुन्दर-सुन्दर फल-प्रदान किये हैं। भविष्य में भी, आशा है, वह अपने उपयोगी प्रकाशन जनता के हाथों में पहुंचा कर अपनी श्रीवृद्धि करती रहेगी। बस, इसी शुभकामना के साथ—

जैनस्थानक, जैननगर
मेरठ (उ० प्र०)
स्वतंत्रतादिवस
१५ अगस्त १६६६

—मुनि नेमिचन्द्र

ने उनके उदारदृष्टिपूर्ण व्याख्यानों और कार्यों की काफी कटु आलो-चना की है। किन्तु स्व० आचार्यश्री इतने धीरे-गम्भीर थे कि उन्होंने विरोधियों की उस कटु आलोचना का प्रत्यालोचना के रूप में प्रतिवाद न करके अपनी समन्वययुक्त विचारधारा का निर्भयता-पूर्वक प्रतिपादन किया है। अतः पाठक इन प्रवचनों को पढ़ते समय संकुचितदृष्टि को एक ओर रख कर व्यापक और उदारदृष्टि रखेंगे तो उन्हें प्रवचनों में निहित सत्य प्राप्त हो सकेगा।

इन प्रवचनों के सम्पादन में बागपतवासी धर्मप्रेमी श्रीजयपाल-सिंह जैन प्रभृति सज्जनों का पर्याप्त सहयोग मिला है। स्नेही श्री-विजयमुनिजी एवं हरीशमुनिजी का भी प्रचुर सहयोग न होता तो मैं इतना शीघ्र प्रवचनों का सम्पादन नहीं कर सकता था। अतः सभी सहयोगियों को इसके लिए धन्यवाद !

बम्बई-निवासिनी बहन श्रीवसुमती बहन कीर्तिलाल शाह भी इसमें धन्यवादार्ह है; जिसने अपना अमूल्य समय देकर पू० आचार्य-श्रीजी म० के मूल प्रवचन लिपिबद्ध किये हैं। 'विश्वशान्ति का सन्देश' और 'व्यसनों से राष्ट्र को बचाइए' इन दो प्रवचनों के कुछ मुद्दे प्रिय जनकविजयजी ने अपनी स्मृति के आधार पर लिख भेजे थे, जिससे सुन्दर सम्पादन हो सका है। प्रवचनों के सुन्दर और शीघ्र मुद्रण के लिए जैन प्रिंटिंग प्रेस, मेरठ के प्रबन्धकों को धन्यवाद !

सम्पादन कैसा हुआ है ? इसके निर्णय का भार मैं सुज्ञ पाठकों पर ही छोड़ता हूं। अगर पाठकगण इन प्रवचनों से लाभ उठायेंगे तो मैं अपना प्रयास सफल समझूंगा।

'ईश्वर के प्रति विश्वास' मन को अतुल बल प्रदान करता है। आचार्यदेव ने यह बतलाया है कि संकट की घोर निराशा में भी ईश्वर की शरण शीतलता प्रदान करती है। प्रसिद्ध ईसाईधर्म के दार्शनिक श्री बिलीग्राहम ने अपनी लोकप्रिय पुस्तक 'द सिकरेट ऑफ हेपीनेस' में इसकी पुष्टि की है—

'When faith is strong, troubles become trifles.'

—Page 47 : The Secret of Happiness.

प्रभुभक्ति पावन गंगा-धारा के समान निष्कलंक एवं निर्मल है। गुरुदेव ने ईश्वरभक्ति की अपार महिमा का वर्णन 'ईश्वर की सेवा-भक्ति' शीर्षक प्रवचन में सरल शैली में किया है। ईश्वर का स्वरूप 'सच्चिदानन्द' है। सत् अर्थात् सत्ता, चित्त अर्थात् चैतन्य तथा आनन्द या सुख-इन तीन शब्दों में से निर्मित शब्द का पूर्ण अर्थ है—"ईश्वर, परमानंद शाश्वत एवं चैतन्य रूप (ज्ञान-दर्शनमय) है। प्रत्येक आत्मा सच्चिदानन्दरूप बन सकती है—केवल शुद्ध साधना की आवश्यकता है। इसकी व्याख्या गुरुदेव ने इस प्रकार की है—

"परमात्मा शुद्ध सोना है; आत्मा 'खान का सोना' है। खान का सोना जब पूर्णरूप से शुद्ध हो जाता है, अज्ञान का आवरण जब दूर हो जाता है, तब आत्मा, शुद्ध सोने के समान परमात्म-स्वरूप बन जाती है।" महर्षि अरविंद घोष ने भी इसी प्रकार बतलाया है—

The spirit shall take up the human play
This earthly life become the life Divine.

—Savitri

भूमिका

प्रातःकाल की शुभ्र वेला में मैं अपने पुष्पोद्यान में भ्रमण कर रहा था। शीतल, मंद, सुगंधित पवन वह रहा था। प्राची दिशा में ऊषासुन्दरी हेमकुम्भ लिये खड़ी-खड़ी मुस्करा रही थी। रवि-किरणों ने पुष्पकलियों को अपने कोमल स्पर्श से धीरे-धीरे खोल दिया। अहा! सुगन्ध ही सुगन्ध चारों ओर फैल गई। पुष्प-सुगन्ध के हलके झोंके ने मेरा स्मृति-पट खोल दिया। मुझे स्मृति हो आई पूज्य आचार्यदेव श्रीवल्लभसूरिजीकृत 'वल्लभ प्रवचन' द्वितीय भाग के प्रवचन की, जिसमें 'आत्मा की पहिचान' शीर्षक प्रवचन में उन्होंने 'पुष्प-गंध' का मनमोहक वर्णन किया है।

"पुष्पे गन्धं तिले तैलं काष्ठेऽग्निः पयसि घृतम्।
इक्षौ गुडं तथा देहे पश्याऽत्मानं विवेकतः॥"

जिस प्रकार पुष्प में सुगन्ध का वास रहता है, उसी प्रकार शरीर में आत्मा का वास रहता है। आत्मा परमात्मा का ही अंश है। अज्ञान का आवरण जब दूर हो जाता है तब आत्मा 'सच्चिदानन्द'-स्वरूप परमात्मा वन जाती है। शरीर मनरूपी राजा का दास है। मनःशुद्धि के विना यह शरीर अनेक अपवित्र कर्मों में प्रवृत्त रहता है। शुद्धभावों का साबुन मन को स्वच्छ बना देता है। शुद्धभावों की प्राप्ति स्वाध्याय एवं गुरु के सान्निध्य से ही होती है। गुरुदेव ने इस पुस्तक के 'ईश्वर कहाँ है' शीर्षक प्रवचन में 'देह-देवालय' का उल्लेख किया है। 'शरीर को पवित्र एवं उपकारी कार्यों में लगाओ।' यह गुरुदेव का संदेश है।

"जैसे घोर अंधेरे में चलने वाले यात्री के लिए प्रकाश सहायक होता है; परन्तु वह प्रकाश 'टॉर्च' का हो सकता है; लालटेन का भी और दीपक का भी।" —ईश्वर का स्वरूप। गुरुदेव का संदेश है कि विविध धर्मों का पारस्परिक विवाद व्यर्थ है।

गुरुदेव ने धर्म को मित्र माना है। मित्र सहायक एवं शुभचिंतक होता है धर्म का भी यही रूप है। शास्त्रकथन है—

"यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः।"

अर्थात्—जिससे अभ्युदय (लोकोन्नति) और निःश्रेयस (मोक्ष) की सिद्धि होती है, वह धर्म है।

धर्म मनुष्य को मुक्ति-मन्दिर में ले जाता है किन्तु मनुष्य के तीन सहयोगी 'दर्शन-ज्ञान-चारित्र' उसे अनन्त सौन्दर्य-धाम (मोक्ष) तक पहुंचाने में सहायक रहते हैं। पथरीले पंथ, कंटीली झाड़ियां, समुद्र के समान अनन्त जलराशि (तृष्णा), मोह-माया की चकाचौंध, उसे बीच में ही रोक लेती हैं, किन्तु ये तीन साथी सत्पथ से उसे विचलित नहीं होने देते। कहा भी है—

'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।'

—तत्त्वार्थसूत्र

जिस वाहन में बैठ कर जीव यात्रा करता है, वे हैं—पाप-पुण्य। दुर्जन पापरूपी वाहन पर बैठ कर पतन की ओर जाते हैं और सज्जन पुण्य के पुष्पक विमान में बैठ कर मुक्ति-महल की ओर जाते हैं। गुरुदेव ने अत्यन्त सरल शब्दों में बतलाया है—"आत्मशुद्धि करने वाले कार्य पुण्य हैं और आत्मा को पतित करने वाले कार्य पाप हैं।"

अर्थात् जब साधना और प्रेम के द्वारा शरीरतत्व आत्मतत्व बन जाता है तब ईश्वरत्व की ज्योति फूटने लगती है।

वल्लभप्रवचन पढ़कर पाठक सदाशयों से प्रेरित हो कर सत्पथ का पथिक बन जाता है, ऐसी मेरी धारणा है। मैंने जब इस पुस्तक के प्रवचनों को पढ़ा तो मुझे ऐसा लगा कि गुरुदेव धीरे-धीरे पाठक को धर्म की सीढ़ियों पर चढ़ा रहे हैं, जहाँ शाश्वत, निर्मल परमात्मा की रत्नजड़ित स्वर्णिम प्रतिमा शोभायमान है। हम 'देह-देवालय' बना कर ही उस पावन, प्रभु-मूर्ति के दर्शन कर सकते हैं।

धर्मरूपी सखा हमें मुक्तिमंदिर में ले जाता है। उस मंदिर तक पहुंचने के अनेक मार्ग हैं। ये मार्ग हैं—विविध क्रियाकांड; जो साधनमात्र हैं। वे साध्य नहीं हैं। इनका उपयोग विवेक से करना चाहिये। यह गुरुदेव का उपदेश है। गुरुदेव के इस कथन की पुष्टि 'अध्यात्म कल्पद्रुम' इस प्रकार करता है—

भावोपयोगशून्याः
कुर्वन्नावश्यकीः क्रियाः सर्वाः।
देहक्लेशं लभसे
फलमाप्स्यसि नैव पुनरासाम्॥ १४—आर्या

[आचार्य श्रीमुनिसुन्दरसूरीश्वर-कृत, धर्मशुद्धिः एकादश अधिकार, पृष्ठ ४३०]

"भाव और उपयोग के बिना, सभी आवश्यक क्रियाएँ करने से तुझे एकमात्र कायक्लेश (शरीर की मजदूरी) होगा परन्तु तुझे उनका फल कदापि प्राप्त नहीं हो सकेगा।"

क्रियाकांड तो साधनमात्र हैं—ये साध्य नहीं हैं—गुरुदेव ने इनकी इस प्रकार व्याख्या की है—

विद्यालय एवं महाविद्यालय गुरुदेव की प्रेरणा से स्थापित हुए हैं, जो कल्पवृक्ष के समान उनकी अक्षयकीर्ति की सुगंध बिखेर रहे हैं।

'वल्लभ प्रवचन' ग्रंथरूपी सागर-तट पर खड़ा मैं केवल लहरों को देख सका हूं। सागर-तल में कितने ही दिव्य रत्न हैं—किन्तु मेरी इतनी क्षमता नहीं कि मैं गोताखोर की तरह गोता लगा कर उन रत्नों को ले सकूं। जो कुछ भी मैंने भूमिका में लिखा है—वह तो भक्ति का प्रसाद ही समझिए।

मैं शान्तमूर्ति पूज्य आचार्यश्री समुद्रसूरिजी महाराज साहब के प्रति अपनी अपार कृतज्ञता प्रकट करता हूं, जिन्होंने मुझे 'सागर-मन्थन' के समान विकट कार्य (भूमिका-लेखन-कार्य) सौंपा। मेरे पास न तो विशद ज्ञान का मन्दराचल है और न योग्यता का वासुकि। फिर भी 'वल्लभ प्रवचन' के दिव्य रत्नों को बताने की जो मैंने बालचेष्टा, की है, उसके लिए सुविज्ञ पाठक मुझे क्षमा करेंगे।

निस्सन्देह यह ग्रंथ 'अमृतघट' है।

जवाहरचन्द्र पाटनी,
एम. ए., (हिन्दी-अंग्रेजी)
अध्यक्ष, हिंदी विभाग
श्री पार्श्वनाथ उम्मेद जैन कॉलेज
फालना

फालना
दि० १ सितंबर १९६९

गुरुदेव ने अपने प्रवचनों में यह स्पष्ट बतला दिया है कि सभी आडम्बर पाप हैं। बगुलाभक्ति से उद्धार तो दूर रहा—पतन ही होता है, अतः मनुष्य को शुद्धाचरण करना चाहिये। केवल वेषधारण करने से ही कोई साधु नहीं बन सकता। मरुमंदाकिनी मीराबाई ने भी गाया है—

जोगी भया जुगत नहीं जाणी, उल्टो जन्म फिर आसी।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, काटो जम की फांसी॥

व्यक्ति का शुद्धाचरण तभी संभव है, जबकि समाज का वातावरण शुद्ध हो। समाज में भ्रष्टाचार, धन के प्रति लोलुपता, शरीरसुख की तीव्र अभिलाषा समाज के शरीर में क्षय के कीटाणुओं के समान विद्यमान हैं। दहेजप्रथा से साधारण व्यक्ति दबा हुआ है। अपनी कन्याओं के पीले हाथ वह बिना दहेज के कर नहीं सकता। उसे धन के लिए अनीति के पथ पर चलने के लिए बाध्य होना पड़ता है। साधारण मध्यम-परिवार की तीव्रपीड़ा का गुरुदेव ने विशेष अनुभव किया, इसीलिए 'समाजोद्धार' पर जोर दिया। समाज में फिजूलखर्ची का बोलबोला है—बड़े बड़े धार्मिक एवं सामाजिक भोजों में धनिकवर्ग पानी की तरह पैसा बहा देता है किन्तु समाज के बुद्धिशाली बालक धनाभाव के कारण शिक्षा-सुधा से सदा सर्वदा के लिए वंचित रह जाते हैं। 'महावीर-विद्यालय' की स्थापना करके गुरुदेव ने समाजोत्थान का क्रान्तिकारी कदम उठाया था, जिसकी कड़ी आलोचना प्रतिक्रियावादियों ने की थी। किन्तु समाज जानता है कि इससे अत्यन्त ही लाभ हुआ है और हो रहा है। जहाँ धार्मिक कार्यों में लाखों रुपये मिष्टान्नों में ही खर्च हो गये, वहाँ समाज को क्या लाभ हुआ? गुरुदेव ने सर्वप्रथम समाज की पीड़ा का अनुभव किया और इस दिशा में आपने विशेष योगदान दिया। विविध शिक्षणसंस्थाएँ-

वल्लभ-प्रवचन दूसरे भाग की

—विषयानुक्रमणिका—

दूध के अलग–अलग देशों व प्रान्तों में अलग–अलग नाम हैं। कोई उसे दूध कहता है, कोई क्षीर, कोई दुग्ध, कोई हालु, कोई पालु, कोई पेर और कोई मिल्क कहता है। क्या इससे (भाषाभेद के कारण) दूध का गुण बदल जाता है ? कदापि नहीं। वैसे ही परमात्मा के नाम अलग–अलग होने पर भी उसके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता।

परमात्मा का स्वरूप

तो फिर सवाल होता है कि ऐसे विभिन्न नाम वाले ईश्वर का स्वरूप क्या है ? एक कवि ने स्तुति करते हुए परमात्मा के असली रूप का वर्णन किया है

जय हे, जय हे, जय भगवान।
अजर, अमर, अखिलेश, निरञ्जन, जयति सिद्ध भगवान ॥ध्रुव॥
अगम अगोचर तू अविनाशी, निराकार, निर्भय, सुखराशी।
निर्विकल्प, निर्लेप, निरामय, निष्कलंक, निष्काम ॥जय हे० ॥१॥
कर्म न काया, मोह न माया, भूख न तिरषा, रंक न राया।
एक स्वरूप अरूप, अगुरुलघु, निर्मल ज्योति महान ॥जय हे० ॥२॥
हे अनन्त ! हे अन्तर्यामी ! अष्ट गुणों के धारक स्वामी।
तुम बिन दूजा देव न पाया, त्रिभुवन में अभिराम ॥जय हे० ॥३॥

यह है ईश्वर का वास्तविक रूप ! जिसे वैदिक धर्म में अमर (कभी न मरने वाला), अजर (कभी बूढ़ा न होने वाला), अशरीरी (शरीर रहित निराकार) और निरञ्जन (निर्लेप) निष्कलंक (किसी भी प्रकार का दोष, आक्षेप या कलंक जिनकी आत्मा में नहीं होता), निरामय (रोग-शोक रहित) अकर्म (आठों ही कर्मों (कर्मबन्धनों) से रहित), निर्मोह (मोह रहित) माया रहित, क्षुधातृषारहित, सभी प्रकार के मानवीय पद (राजा, रंक, सेठ आदि) से रहित, अरूप (रूप-रंग-आकृति से रहित) पवित्र ज्योतिस्वरूप बताया गया है, उसे ही जैनधर्म में सिद्ध ईश्वर

१

ईश्वर का स्वरूप

विभिन्न दर्शनों और धर्मों में ईश्वर

"यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो ।
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः ।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः ।
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथः प्रभुः ॥"

यह छह दर्शनों का मंगलाचरण है । इसमें परमात्मा को विभिन्न नामों से पुकारने वाले विभिन्न दर्शनों का मत भी स्पष्ट कर दिया है । शैव लोग उसकी उपासना शिव कह कर करते हैं, वेदान्त दर्शन वाले उसे ब्रह्म कहते हैं, बौद्ध बुद्ध कहते हैं, न्यायदर्शन वाले 'कर्ता' कहते हैं, जैनशासन वाले उसे 'अर्हन्' कहते हैं, मीमांसक 'कर्म' कहते हैं । चाहे जिस नाम से वे पुकारे जाते हों, उनके स्वरूप और उपासना पर हमें विचार करना चाहिए ।

वैदिकधर्म जिसे निरंजन, निराकार ईश्वर कहता है, जैनधर्म में उसे सिद्ध परमात्मा कहा है । ईसाई धर्म में उसे गॉड (God) और इस्लामधर्म में 'खुदा' कहा है । सिक्ख लोग उसे 'कर्तार' कहते हैं, कबीरपंथी उसे 'सांई' कहते हैं, कोई उसे राम कहते हैं, कोई हरि या विष्णु कहते हैं । पारसीधर्म में उसे 'अशोजरथुस्त' कहा है ।

इसी आशय का लक्षण महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन में बताया है —

"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः" अर्थात् जो क्लेशों (कषायों) कर्मों और कर्मफलों तथा वासनाओं से बिलकुल अछूता है, ऐसा महापुरुष (विशिष्ट आत्मा) ईश्वर है।

ईश्वर के इस स्वरूप को मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

ईश्वर का यह स्वरूप भारत के सभी बड़े-बड़े धर्मों को मान्य है। शब्दों में चाहे अन्तर हो, वस्तुतत्व एक ही है। परन्तु आजकल कुछ धनान्ध धनाढ्य या पापात्मा सत्ताधारी लोग ईश्वर को देखना सुनना या समझना नहीं चाहते।

एक धर्मात्मा ने एक लोभान्ध व्यक्ति को उपदेश देने का प्रयत्न किया। उपदेश का उस पर कोई प्रभाव न पड़ता देख धर्मात्मा ने कागज की एक छोटी-सी चिट पर 'ईश्वर' शब्द लिखकर पूछा- 'क्या तुम इसे देख सकते हो ? इसके विषय में जान सकते हो ? उत्तर मिला — "हाँ !" लेकिन जब ठीक उसी शब्द के चिट के सामने धर्मात्मा ने एक स्वर्णमुद्रा रखकर पूछा — "क्या अब भी इस शब्द को देख सकते हो या इसके बारे में जान सकते हो ?" उक्त लोभान्ध पापात्मा ने साफ कहा — "नहीं !"

मतलब यह है कि मनुष्य की दृष्टि के सामने लोभरूप स्वर्णमुद्रा या अभिमानरूप सत्ता या अधिकार पड़ा रहे तो उसे ईश्वर के बारे में जानने-सुनने या मानने की बात नहीं सूझती। उसकी दृष्टि पर इन विचारों का काला घना पर्दा पड़ जाता है, जो ईश्वर के स्वरूप को समझने नहीं देता।

कहा गया है। सिद्ध शब्द के अर्थ व्याकरण के अनुसार इस प्रकार होते हैं —

'सितं ध्मातं अष्टकर्माणि यस्याऽसौ सिद्धः'
'सिद्धानि सर्वकार्याणि यस्य सः सिद्धः'
"सिद्धं प्राप्तं साध्यं येनाऽसौ सिद्धः'

अर्थात्—जिसके आठों ही कर्मबन्धन (जन्म मरण के कारण भूत) नष्ट हो गये हैं, उसे सिद्ध कहते हैं। अथवा जिसके सभी कार्य सिद्ध हो चुके हैं। जिसे अब कोई भी कार्य करना शेष नहीं रहा है, यानी जो कृतकृत्य हो चुके हैं, उसे भी सिद्ध कहते हैं। जिसने अपने साध्य (मोक्ष) को प्राप्त कर लिया है, उसे सिद्ध कहते हैं।

मतलब यह है कि जो जन्म, जरा, मरण और इनके कारणरूप कर्मबन्धनों से बिलकुल रहित होकर अपने साध्य को प्राप्त कर चुका है कृतकृत्य हो गया है उसे सिद्ध कहते हैं। गीता की भाषा में कहूं तो —

'यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'

जहाँ जाकर कोई भी आत्माएँ वापिस नहीं लौटतीं, वह मेरा (ईश्वर का) परमधाम (मोक्ष) है।

सिद्ध भगवान की स्तुति में भी कहा गया है —

"सिवमयलमरुअमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्ति-सिद्धि गई नामधेयं ठाणं संपत्ताणं नमो जिणाणं"

"जो कल्याणकारी या निरुपद्रव, अचल, रोगरहित, अनंत, अक्षय, अव्याबाध हो और जहां से लौट कर आना न हो, ऐसी सिद्धि गति नामक स्थान को प्राप्त कर चुके हैं, ऐसे रागद्वेष-विजेता सिद्ध परमात्मा को नमस्कार हो।"

आठों ही कर्मों से रहित, अशरीरी, निरंजन, निराकार सिद्ध परमात्मा।

मुक्त ईश्वर—जो शरीरधारी होते हुये भी चार घाती (आत्मा के गुणों की सीधी घात करने वाले) कर्मों को नष्ट कर चुके हैं, रागद्वेप से मुक्त हैं, सिर्फ चार अघातीकर्म शरीर के कारण बाकी हैं, ऐसे परमोपकारी जिन, तीर्थंकर, अरिहंत, केवली, सर्वज्ञ, जीवन्मुक्त, वीतराग या अवतारी पुरुष मुक्त ईश्वर कहलाते हैं।

बद्ध ईश्वर—इस कोटि में सिद्ध और मुक्त ईश्वर के सिवाय संसार के सभी कर्मबद्ध जीव आ जाते हैं। इनमें ईश्वरत्व विद्यमान होने पर भी कर्मों के या (दूसरे दर्शनों के अनुसार) माया के पर्दे (आवरण) से ढका हुआ होने के कारण सुषुप्त रहता है। हाँ, इनमें से कई जीव अपने सुषुप्त या प्रच्छन्न ईश्वरत्व को प्रकट करने के लिये पुरुषार्थ करते हैं।

वैदिक धर्मावलम्बी जहाँ ईश्वर को एक मानते हैं, वहाँ अनेक भी मानते हैं। अगर ऐसा न होता तो गीता में ऐसा क्यों कहा जाता—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति।'

'हे अर्जुन ! ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय-देश में रहता है।'

इससे सिद्ध होता है कि सभी आत्माओं में ईश्वरत्व का वास होता है, कोई उसे प्रगट कर लेता है, कोई नहीं। आद्य शंकराचार्य वेदान्तदर्शन में लिखते हैं—साचेयं वेदवाह्येश्वरकल्पना अनेक प्रकारा (२—२—३७)

अर्थात्—वैदिक मत से इतरमतावलम्बी भी ईश्वर को अनेक प्रकार का मानते हैं।

ईश्वर एक या अनेक ?

प्रश्न होता है कि ईश्वर एक है अनेक ? जैनदर्शन इस विषय में निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से वस्तुतत्व का विश्लेषण करता है। निश्चयदृष्टि से संसार की सभी आत्माओं में ईश्वरत्व मौजूद है। कहा भी है — "अप्पा सो परमप्पा" यानी आत्मा ही परमात्मा है।

"सिद्धां जैसो जीव है, जीव सो ही सिद्ध होय।
कर्ममैल का आंतरा, बूझे बिरला कोय॥"

सामान्य आत्मा और सिद्ध की आत्मा में पारमार्थिक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है, लेकिन औपाधिक (कर्मबन्धन की) दृष्टि से अन्तर है। वेदान्तदर्शन इसी बात की पुष्टि करता है—

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन।'

ब्रह्म—'ईश्वर एक है और दूसरा नहीं है।' सारा संसार ब्रह्मरूप है। इस संसार में अनेक कुछ नहीं है।"

परन्तु वेदान्त दर्शन एकान्त निश्चयदृष्टि को लेकर चला, उसने व्यवहारपक्ष को छोड़ दिया। जबकि जैनदर्शन ने व्यवहारदृष्टि से भी कथन किया कि यद्यपि निश्चयदृष्टि से आत्मा—आत्मस्वरूप की अपेक्षा—एक है, इसलिए सामान्य आत्मा और विशिष्ट आत्मा में कोई भेद नहीं है। लेकिन व्यवहारदृष्टि से उसके कर्मबद्ध और कर्ममुक्त दूसरे शब्दों में संसारी और सिद्ध (मुक्त) ये दो भेद हैं। इसी व्यावहारिक दृष्टिकोण से जैनदर्शन ने ईश्वर की मुख्यतः तीन कोटियां बताईं—(१) सिद्ध ईश्वर, (२) मुक्त ईश्वर और (३) बद्ध ईश्वर।

सिद्ध ईश्वर—जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है, ऐसे

अतीर्थसिद्ध—उन्हें कहते हैं, जिन्होंने इस संघ के अतिरिक्त अन्य संघ में रहकर या संघ में सम्मिलित न होकर साधना की हो।

तीर्थंकरसिद्ध—तीर्थंकरों के पास दीक्षित होकर या तीर्थंकर की मौजूदगी में उनके सामने ही सिद्ध हुये हों, वे तीर्थंकर-सिद्ध कहलाते हैं।

अतीर्थंकरसिद्ध—उन्हें कहते हैं, जिन्होंने तीर्थंकर के पास दीक्षित न होकर या तीर्थंकर की मौजूदगी में उनके सामने दीक्षित न होकर साधना की हो।

स्वयंबुद्धसिद्ध—जिन्हें स्वयं ज्ञान होगया हो और साधना की हो वे।

प्रत्येकबुद्धसिद्ध—जिन्हें किसी भी सजीव या निर्जीव पदार्थ को देखकर संसार से विरक्ति हो चुकी हो और अपनी सूझबूझ से ही साधनामार्ग पर चल पड़े हों, वे प्रत्येकबुद्ध सिद्ध कहलाते हैं।

बुद्धबोधितसिद्ध—वे हैं, जो किसी भी ज्ञानीपुरुष का प्रतिबोध पाकर साधनामार्ग पर लगे हों और साधना में पारंगत हुए हों।

स्वलिंगसिद्ध—वे कहलाते हैं, जो अपने धर्म-सम्प्रदाय के जाने-माने वेष (जैनवेष) को धारण करके साधु बनकर साधना में प्रवीण हुए हों।

अन्यलिंगसिद्ध—वे कहे जाते हैं, जिन्होंने जैनधर्म-सम्प्रदाय से इतर किसी भी धर्म-सम्प्रदाय का साधुवेष धारण किया हो और उसमें ज्ञानदर्शनचारित्र की साधना द्वारा वीतरागता आदि प्राप्त करके सिद्धत्व पाया हो।

सिद्ध ईश्वर कौन हो सकता है ?

जैनधर्म इतना उदार धर्म है कि वह देश, वेष, लिंग, धर्म-सम्प्रदाय, जाति-कौम आदि से ऊपर उठ कर हर तत्त्व का विश्लेषण करता है। उसका निर्णय एकपक्षीय या एकदेशीय नहीं होता। वह सभी दृष्टिकोणों से विचार करके ही किसी वस्तु का निर्णय देता है। जब उसके सामने यह सवाल आया कि क्या जैनधर्म में, साधुवेष में दीक्षित हुआ व्यक्ति ही अपनी साधना के द्वारा सिद्ध ईश्वर हो सकता है या अन्य किसी धर्म-सम्प्रदाय, वेष आदि में दीक्षित हुआ व्यक्ति भी हो सकता है ? तो जैनधर्म ने स्पष्ट शब्दों में कहा—ईश्वर किसी के एकाधिकार (Monpoly) की वस्तु नहीं है। यहाँ तो साधना की बात है। जिसकी साधना किन्हीं भी साधनों को लेकर हुई हो, अगर उसे वीतरागता, निर्विकारता, निर्मोहता, निष्कषायता, कर्मबन्धनमुक्तता प्राप्त है तो वही सिद्ध ईश्वर बन सकता है। फिर चाहे वह इस (जैन) संघ में दीक्षित हो या जैनेतर संघ में, तीर्थंकर के पास दीक्षित हुआ हो, या अन्य किसी के पास, इस (जैन) वेष में दीक्षित हुआ हो या अन्य वेष में, स्त्री हो, पुरुष हो या नपुंसक हो, गृहस्थ हो या गृहत्यागी हो। अर्थात् निम्नोक्त १५ प्रकारों में से किसी भी प्रकार से वह अपनी साधना कर सका हो, वह सिद्ध ईश्वर हो सकता है। देखिये वे १५ प्रकार—

'तीर्थसिद्ध, अतीर्थसिद्ध, तीर्थंकरसिद्ध, अतीर्थंकरसिद्ध, स्वयंबुद्धसिद्ध, प्रत्येक-बुद्धसिद्ध, बुद्धबोधितसिद्ध, स्वलिंगसिद्ध, अन्यलिङ्गसिद्ध, गृहीलिंगसिद्ध, स्त्रीलिंगसिद्ध, पुरुषलिंगसिद्ध, नपुंसकलिंगसिद्ध, एकसिद्ध और अनेकसिद्ध।'

तीर्थसिद्ध— वे होते हैं, जिन्होंने इस तीर्थ (संघ) में रहकर रत्नत्रय की साधना की हो।

पर नहीं। उत्तराध्ययन सूत्र में भ. महावीर ने स्पष्ट कहा है—

'न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेण, कुसचीरेण ण तावसो॥'

सिर मुंडा लेने से कोई श्रमण नहीं हो जाता, ॐ का जाप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता। निर्जनवन में निवास करने से कोई मुनि नहीं बनता और न कुशावस्त्र धारण करने से कोई तपस्वी ही होता है।

ईश्वर के विषय में विवाद

यहाँ सवाल यह खड़ा होताहै कि ईश्वर को जो लोग कर्ता-धर्ता-हर्ता मानते हैं, उनके मत में और जैनदर्शन के मत में समन्वय कैसे होगा? और ईश्वर को कर्ता-हर्ता मानने के पीछे भी कौन-सा महालाभ छिपा हुआ है?

असल में, गहराई से सोचा जाय तो प्रत्येक मनुष्य के हृदय में बैठा हुआ ईश्वर (शुद्ध आत्मा) अपने-अपने कर्मों का कर्ता, धर्ता और हर्ता है, इस दृष्टि से ईश्वरकर्तृत्व की संगति बैठ जाती है। इसके अतिरिक्त अन्य, किसी ईश्वर (निरंजन निराकार सिद्ध) को अगर किसी के कर्मों का कर्ता-धर्ता माना जायगा तो पक्षपात, अन्याय आदि आक्षेप सिद्ध-ईश्वर पर आयेंगे। इसीलिए गीता में कहा गया है—

"न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥"

अर्थात्-परमात्मा (ईश्वर) लोक के कर्तृत्व और कर्मों का स्रष्टा नहीं है। वह कर्मफल-संयोग की रचना भी नहीं करता। केवल स्वभाव यानी प्रत्येक पदार्थ की स्वाभाविक प्रवृत्ति अथवा प्रत्येक जीव

गृहीलिंगसिद्ध — वे कहलाते हैं, जिन्होंने साधुवेष (किसी भी धर्म का) धारण न किया हो, लेकिन गृहस्थवेष में ही उच्च साधना करके राग-द्वेष-रहितता, निष्कषायता आदि प्राप्त करके सिद्धत्व पाया हो।

स्त्रीलिंगसिद्ध — वे कहलाते हैं, जिन्होंने स्त्रीशरीर में ज्ञानदर्शन-चरित्र की साधना करके सिद्धत्व पाया हो जैसे मरुदेवी, चन्दनबाला, राजीमती एवं भगवती मल्लिनाथ तीर्थंकरी आदि ने स्त्रीशरीर में ही उत्कट साधना के द्वारा अपने समस्त कर्मक्षय करके सिद्धत्व प्राप्त किया था। मूल में आत्मा न तो स्त्री है, न पुरुष। शरीर स्त्री का हो या पुरुष का हो, कोई महत्व नहीं रखता। महत्व है-साधना का।

पुरुषलिंगसिद्ध — वे कहलाते हैं, जिन्होंने पुरुषशरीर में रत्नत्रय की साधना करके सिद्धत्व प्राप्त किया हो।

नपुंसलिंकगसिद्ध — वे कहलाते हैं, जिन्होंने नपुंसकरूप में भी अपनी तीव्र साधना द्वारा कर्मबन्धनों को तोड़ कर सिद्धत्व पाया हो।

एकसिद्ध — वे कहलाते हैं, जो एक साथ एक ही सिद्ध हुआ हो।

अनेकसिद्ध — वे हैं, जो एक साथ एक नहीं, किन्तु अनेक व्यक्ति सिद्ध हुये हों, फिर भले ही वे अलग-अलग जगह से, अलग-अलग वेष, देश, पंथ, लिंग और शरीर से साधना करके सिद्धत्व प्राप्त कर सके हों।

मूल वस्तु सिद्धत्व (ईश्वरत्व) प्राप्ति में साधना है। इसीलिये जैनधर्म ने साधना पर अधिक जोर दिया है, बाह्यवेषों या क्रियाओं

"सुखस्य दुःखस्य न कोऽपिदाता, परोददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाभिमानः स्वकर्म सूत्र-ग्रथितो हि लोकः॥"

सुख और दुःख का कोई देने वाला नहीं है; कोई दूसरा देता है, यह बुद्धि ठीक नहीं। मैं ही करता हूं, यह झूठा अभिमान है। संसार अपने-अपने कर्मों (कर्मबन्धनों) से बन्धा हुआ है। इस दृष्टि से औपचारिक रूप से ईश्वर को कर्ता (निमित्तकर्ता) मानने में किसी भी धर्म या दर्शन को कोई भी आपत्ति नहीं। और मुक्तईश्वर (तीर्थंकर अरिहन्त या अवतारीपुरुष) तो शरीरधारी होते हुए भी जगत् का अहर्निश कल्याण एवं उपकार करते रहते हैं। अतः एक प्रकार से समाजस्रष्टा, मानवजाति के त्राता, तरण-तारण-हार होने से उन्हें जगत् का स्रष्टा-निमित्तकर्ता-मानने में किसी को भी कोई ऐतराज नहीं। क्योंकि वे धर्ममय संघ (समाज) की रचना स्थापना-करते हैं। कहा भी है—धम्मतित्थयरे जिणे' धर्ममय तीर्थ (संघ) की स्थापना करने वाले जिन।

अब सवाल यह रहा कि सामान्य मनुष्य विपत्ति या आफत के समय घबरा जाता है, उसे उस समय सांसारिक लोगों का कभी-कभी कोई सहारा नहीं रहता। उस समय वह व्यक्ति धैर्य आश्वासन या आलम्बन किसका ले? इसलिए परमात्मा से पुकार की जाती है— "भगवन्! मेरी रक्षा करो। मैं डूबा जा रहा हूं। आफत में पड़ा हूं। मुझे उबारो; आदि।" ऐसी प्रार्थना करने वाला परमात्मा को ही तारक और उद्धारक समझ कर करता है, पर जो ईश्वर को ऐसा नहीं मानते, वे विपत्ति के समय क्या करेंगे? यद्यपि विपत्ति आने पर अगर सामान्य मनुष्य बालक की तरह बन कर भगवान् से रक्षा की एवं बल की प्रार्थना करता है, परन्तु उसके लिए अपने पास जितना बल है या सामर्थ्य है, उसे नहीं लगाता तो उसका यह अज्ञान है। भगवान् बल या सामर्थ्य देते नहीं, किन्तु निर्बल व्यक्ति पहले अपना पर्याप्त

अपने कर्म में प्रवृत्ति करने में तथा उसका फल भोगने एवं कर्मों के बन्धन को तोड़ने में स्वतंत्र है। पाणिनि के सूत्र—'स्वतंत्रः कर्ता' का यही अभिप्राय है। कर्ता व्यक्ति अपने शुभ या अशुभ कर्मों को करने में स्वतंत्र है। इसलिए ईवश्र (सिद्ध परमात्मा) को इस पचड़े में न डालना ही अच्छा है। तुलसीकृत रामायण में भी इसी बात को भ० राम के मुख से पुष्ट किया है—

'कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करई (सो) तस फल चाखा॥'

कई लोगों का कहना है कि ईश्वर को कर्ता न मानने पर जो लोग ईश्वर को सुखदुःख का दाता मानते हैं, जो यह मानते हैं कि भला-बुरा, सम्पत्ति-विपत्ति सब कुछ ईश्वर की इच्छा से होता है, उनका समाधान कैसे होगा? क्योंकि निरंजननिराकार ईश्वर तो बिल्कुल निर्लेप है, वह तो किसी को कुछ भी देता-लेता नहीं, तब ईश्वर को कर्ता-धर्ता माने बिना यह संगति कैसे बैठेगी?

बात यह है कि भक्ति की भाषा में ईश्वर (निरंजननिराकार सिद्ध) को ही नहीं, हम अपने उपकारी कई बुजुर्गों को भी क्या ऐसा नहीं कहा करते कि 'यह आप ही का दिया हुआ है। आपके ही प्रताप से ऐसा हुआ है, यह सब धन-सम्पत्ति, आपके ही प्रताप से मिले हैं,' इत्यादि। वास्तव में बुजुर्ग लोगों ने यह सब कुछ नहीं दिया, लेकिन कृतज्ञता और विनय दिखाने के लिए अथवा अपना अहंकार कम करने के लिए, ऐसा कहा जाता है। इसी तरह निरंजन-निराकार परमात्मा के प्रति भक्ति व्यक्त करने की दृष्टि से और अपना अहंकर्तृत्व (मैं करता हूं, मैंने किया, इस अहंकार को) मिटाने के लिहाज से भक्ति की भाषा में ऐसा कहा जाता है। जैनधर्मी लोग भी तो परमात्मा की स्तुति या प्रार्थना करते समय भक्ति की भाषा में ऐसा कहा करते हैं। वस्तुतः सिद्धान्त यह है—

"स्वयं कृतं कर्म यदाऽत्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥"

'आत्मा ने जो कुछ भी पहले कर्म किये हैं, उनका ही वह शुभ या अशुभ फल पाती है। यदि दूसरे के द्वारा फल प्राप्त होता है, इससे यह साफ है कि अपने किये हुए कर्म निरर्थक हैं।'

ईश्वर-प्राप्ति कैसे हो ?

यह सवाल भी कई लोगों के दिमाग में चक्कर काटता रहता है कि ईश्वर कैसे मिलेगा ? उसकी प्राप्ति के लिए क्या करना चाहिए ? कौन-सी साधना हमें ईश्वरप्राप्ति करायेगी ? कई लोग ईश्वर-प्राप्ति के लिए नदियों में स्नान करते हैं, तीर्थों में जाते हैं, कई विभिन्न क्रियाकाण्ड करते हैं, किन्तु वर्षों तक ऐसी क्रियाएँ करने पर भी उनका जीवन ईश्वरप्राप्ति के अनुकूल नहीं बनता। उसका कारण है कि वे इन विभिन्न क्रियाओं को ईश्वरप्राप्ति में सहायक के बजाय मूल साधन और कभी-कभी तो साध्य तक समझ बैठते हैं। वास्तव में ये सब क्रियाएँ मोक्षप्राप्ति में सहायक हैं। जैसे घोर अन्धेरे में चलने वाले यात्री के लिए प्रकाश सहायक होता है, परन्तु वह प्रकाश टार्च (बेटरी) का हो सकता है, लालटेन का भी, और दीपक का भी। अगर कोई प्रकाश के अलग-अलग प्रकारों के बारे में ही झगड़ता रहे तो उससे वह अपने गन्तव्यस्थान तक नहीं पहुंच पाता, वहीं अटक जाता है। इसी तरह विभिन्न साधक विभिन्न क्रियाकांडों के प्रकारों को देखकर वहीं उलझ जाते हैं, उनमें से किसी एक प्रकार के क्रियाकांडों को पकड़ कर आगे नहीं बढ़ते, तो उनकी परमात्मप्राप्ति की यात्रा वहीं स्थगित हो जाती है। इसीलिए जैनदर्शन में स्पष्टरूप से कहा है—

"सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"—तत्त्वार्थसूत्र

बल लगाने के बाद जब देखता है कि मेरा बल अब आगे काम नहीं देता, तब भगवान् से खूटता बल देने या त्राण करने की प्रार्थना करता है। ऐसा करना कोई बुरा नहीं। परन्तु यह ध्यान रहे कि एक ओर से भगवान् की आज्ञाओं और आदेशों-निर्देशों को ठुकराता जाय, पापकर्म करता जाय, जगत् के साथ बुरा व्यवहार करता जाय और दूसरी ओर आफत आने पर उन दुष्कर्मों के लिए पश्चात्ताप किये बिना, उन्हें त्यागने का संकल्प किये बिना ही भगवान् से बचाने या उबारने की प्रार्थना की जाय तो वह अज्ञानता होगी, सही प्रार्थना नहीं होगी। यह ईश्वर की बिडम्बना करने के समान होगी। यही कारण है कि ज्ञानवान और धर्मात्मा पुरुष ऐसे आफत के समय पहले भगवान् को न कोस कर या भगवान् से प्रार्थना (रक्षा आदि की) न करके अपने दुष्कर्मों को कोसते हैं, अपने कृत दुष्कर्मों के फल का विचार करके पश्चात्ताप करते हैं। उनके दण्ड या प्रायश्चित्तस्वरूप कुछ तप-जप करते हैं और भविष्य में वैसे दुष्कर्म न करने का विचार या संकल्प करते हैं। उसके बाद अगर वैसा करने के बाद भी या वैसा करने में अपना बल कम पड़ता है तब भगवान् से यही प्रार्थना करते हैं कि 'प्रभो! हमें आत्मबल दें; ताकि क्रोधादि विकारों से हम पराजित न बनें और आफत को समभावपूर्वक सह सकें।' यह प्रार्थना भावुकता, भक्ति और विवेकपूर्वक है। इसमें सिद्धान्त को भी कोई आंच नहीं आती। यदि अपने द्वारा किये गये कर्म (बन्धन) का शुभ या अशुभ फल दूसरा दे सकता है, तब तो स्वयं शुभ कर्म करना या पापकर्मों से बच कर धर्म का आचरण करना फिजूल है, क्योंकि फिर तो कोई भी व्यक्ति पापकर्म करके भी दुष्कर्मफल के समय भगवान् की मनौती करके या भगवान् के सामने गिड़गिड़ा कर उस दुष्फल से छुटकारा पा लेगा। धर्माचरण करने या पापकर्मों का प्रायश्चित्त करके उन्हें छोड़ने का विचार भी न करेगा। ऐसा करना ईश्वरवाद का दुरुपयोग होगा। सामायिक पाठ में कहा भी है—

के साथ जब सम्यक् चारित्र का पालन होता है, तब जीवन में अक्षय और शाश्वत आनन्द की प्राप्ति होती है।

नामस्मरण, जाप, पूजापाठ या अन्य क्रियाएँ तो भावना और अभ्यास को उद्दीप्त करने के लिए सहायक कारण हैं। जैसे घड़ा बनाने के लिए मिट्टी ढोने में गधा भी कुम्भार का सहायक होता है। डंडा चाक और चीवर भी मिट्टी के लौंदे को घूमाने और घड़ा आदि वस्तु बनाने में सहायक कारण होते हैं। इसी प्रकार उपर्युक्त विविध साधन भी ईश्वरप्राप्ति की भावना को तेज करने और जप-तप व व्रत नियमादि का अभ्यास करने में सहायक कारण हैं। कहा भी है—

"ईश्वर मिले न गंगा न्हाए, ईश्वर मिले न भस्म लगाए।
ईश्वर मिले न जटा रखाए, ईश्वर मिले न धुनी रमाए॥
भक्ति तीर्थ हो, ज्ञान सलिल हो, सदाचार का स्नान।
उसी को मिलते हैं भगवान् रे॥
सम्यक् दर्शन, चरित्र सम्यक्, सम्यक् होवे ज्ञान।
उसी को मिलते हैं भगवान्॥
क्रोध-मान से दूर जो रहता, माया-लोभ को कभी न गहता।
विषयासक्ति में ना पड़ता, राग-द्वेष की मन में न जड़ता॥
शान्त, नम्र हो, संतुष्ट सरल हो, अनासक्ति की खान॥ उसी को ··

सज्जनो! इतने विवेचन से आप समझ गये होंगे कि ईश्वर का स्वरूप क्या है? उसके कितने प्रकार हैं? कौन-कौन व्यक्ति सिद्ध ईश्वर बन सकता है? और ईश्वरप्राप्ति का मुख्य कौन-सा मार्ग है?

अर्थात्-सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग-साधन है। अर्थात् परमात्मा तक पहुंचने के साधन हैं।

मतलब यह है कि जब मनुष्य की श्रद्धा परमात्मतत्त्व पर, कल्याण के मार्ग—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, आदि व्रतों तथा नियमों एवं क्षमा, दया आदि धर्मतत्त्वों-पर दृढ़ हो जाती है, कितना ही संकट क्यों न आ पड़े, कितने ही प्रलोभन या भय क्यों न आएँ, फिर भी इन कल्याणकारी तत्त्वों पर से श्रद्धा न डिगे तथा इन्हीं कल्याण के मार्गों का पूरी सही ज्ञान हो, यानी उनके स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो, उनके पालन करने में आने वाले विघ्नों, उलझनों एवं उनके निवारण करने के उपाय की पूरी जानकारी हो; एवं पूर्वोक्त कल्याणकारी तत्त्वों पर चलने की पूरी तमन्ना हो, तभी परमात्मप्राप्ति हो सकती है।

कई लोग यह समझते हैं कि भगवान् के नाम की केवल माला फेर लेने से या भगवान् के नाम ले लेने मात्र से ही भगवान् की प्राप्ति हो जायगी, परन्तु यह कोई सस्ता सौदा नहीं है कि मनुष्य केवल नाम ले ले और अपने जीवन में से बुराइयों को न छोड़े, अपना जीवन न सुधारे।

दरअसल बात यह है कि सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक चारित्र, वैदिक भाषा में भक्ति, ज्ञान और कर्म का सक्रिय आचरण करना ही सत्-चित्-आनन्द (ईश्वर) का प्राप्त करना है। क्योंकि सम्यक् दर्शन (सही श्रद्धा-भक्ति कल्याण-मार्ग आदि के प्रति) होने से सत् की प्राप्ति होती है। और सत् हो तो ज्ञान भी सम्यक् हो जाता है। यानी चित् (ज्ञान) की प्राप्ति हो जाती है। और इन दोनों

२

ईश्वर पर विश्वास

भाग्यशालियो ! आज मुझे ईश्वर (सिद्ध भगवान) पर विश्वास के बारे में आपके सामने कुछ बातें कहना है। आज संसार में तेजी से लोगों का विश्वास नास्तिकता की ओर बढ़ता जा रहा है। ईश्वर और धर्म को लोग ढोंग समझ कर उस पर विश्वास करना या ईश्वर को मान कर चलना महज एक आफत समझते हैं, या जान बूझकर बन्धन में पड़ना समझते हैं।

जैनधर्म एक वैज्ञानिक धर्म है। वह हर चीज को बुद्धि, तर्क और युक्ति की तराजू पर तौलता है और उसके द्वारा सिद्ध हो जाने पर ही मानता है। कई लोगों का; जिनमें नास्तिक, भौतिकवादी एवं चार्वाकदर्शनी भी हैं, कहना है कि ईश्वर को मानने की जरूरत ही क्या है ? ईश्वर आँखों से दिखता नहीं, तब उसे माना ही क्यों जाय ?

नास्तिक या चार्वाक विचारधारा के मनुष्य ईश्वर को नहीं मानते। वे कहते हैं कि इस लोक में जो दृश्य है, वही मान्य एवं विश्वसनीय है। इस लोक से परे आत्मा, परलोक, ईश्वर आदि सब कपोल-कल्पना की वस्तु हैं। उनके मत से 'चक्षुर्वै सत्यम्' 'आँखों देखा ही सत्य है।' इस सिद्धान्तवाक्य के अनुसार चार्वाक लोग ईश्वर का

आप से मेरा आग्रह है कि आप सिद्ध परमात्मा (ईश्वर) के स्वरूप का यथार्थरूप से विचार करके अपने अन्तःकरण में ईश्वरत्व की ओर बढ़ने का प्रयत्न करेंगे तो आप अपने जीवन को सफल बना सकेंगे।

स्थान—गौड़ीजी का उपाश्रय पायधुनी, बम्बई } वि० सं० २००६ आसोज वदी ६

कहा जाता है कि फलां आदमी में ज्ञान है या वह विद्यावान है। इसी प्रकार ईश्वरीय स्वरूप का जिसमें व्यवहार या कार्य दिखाई देता हो, उसे ईश्वर कहा जाता है। जिनमें रागद्वेषरहितता (वीतरागता) व निर्दोषता पाई जाती हो उन्हें सर्वज्ञ वीतराग कहा जाता है। परन्तु नास्तिक लोग जब राजा को ईश्वर मानते हैं जो कि न तो वीतराग है, न निर्दोष है, न उसमें अष्ट कर्मबन्धन से मुक्तता ही है। और यह बात अनुभवसिद्ध है कि रागद्वेषरहितता, कषाय-उपशान्तता, निर्दोषता आदि गुण न्यूनाधिक रूप में मनुष्यों में पाए जाते हैं, जब ये उत्कृष्ट गुण आंशिक रूप में हम उच्चसाधकों में देखते हैं तो पूर्णरूप से भी उपर्युक्त गुण हों उन्हें जीवन्मुक्त वीतराग, केवली ईश्वर या सिद्ध ईश्वर कहने में क्या आपत्ति है ? राजा की अपेक्षा तो ये जीवन्मुक्त ईश्वर या सिद्ध ईश्वर ऊँचे हैं।

हाँ, कोई ईश्वर के नाम से ही भड़कता हो तो इसके बदले और किसी नाम से उसे माने। चाहे उसे अव्यक्त शक्ति कहे, प्रकृति कहे या और किसी नाम से पुकारे। उसे माने बिना तो कोई चारा ही नहीं।

ईश्वर पर विश्वास से लाभ

अब देखना यह है कि ईश्वर पर विश्वास रखने से क्या-क्या लाभ हैं ? सामान्य तथा आदमी फायदे की बात की ओर जल्दी झुकता है। ईश्वर पर विश्वास से हानि तो कुछ नहीं है, लाभ बहुत से हैं। मुख्यतया ६ लाभ हैं। पहला लाभ तो यह है कि परमात्मा के प्रति विश्वास से मनुष्य चाहे जैसी आफत में हो, संकटों के बादलों से घिरा हुआ हो, घबराता नहीं। अगर वह ईश्वरकर्तृत्ववादी हुआ तो यही सोचता है कि यह दुःख, संकट या विपत्ति भगवान् का प्रसाद है। भगवान् मेरी कसौटी इसी निमित्त से कर रहे हैं। अगर मैं इस

कथंचित् समर्थन करते हैं, तो राजा के रूप में। क्योंकि राजा निग्रह-अनुग्रह करने में सर्वसमर्थ है, ऐश्वर्यशाली है, इसलिए वही ईश्वर है। परन्तु 'आँखों देखा ही मान्य व विश्वसनीय है' यह बात तर्क से खण्डित हो जाती है। चार्वाक या नास्तिक विचारधारा वाले लोगों ने अपने परदादे (प्रपितामह) को अपनी आँखों से नहीं देखा फिर भी उन्हें मानना पड़ता है कि हमारे परदादा थे। किसी नास्तिक की पत्नी ने विदेश से पत्र लिखा कि 'मेरे पुत्र-जन्म हुआ है।' क्या वह नास्तिक अपनी आँखों से देखे बिना ही पुत्र-जन्म होने की बात को मान लेगा? जरूर मानेगा। इसी प्रकार नास्तिक के विदेश में बैठे पुत्र का पत्र आने पर वह ऐसा क्यों कह देता है कि यह मेरे पुत्र का पत्र है जबकि उसका पुत्र तो प्रत्यक्ष में है नहीं? आँखों से बिजली या हवा नहीं दिखती, लेकिन बिजली के द्वारा होने वाले कार्यों—पंखा चलना, मशीनें चलना, प्रकाश देना, हीटर द्वारा गर्मी पैदा होना आदि कामों को देखकर अनुमान लगाया जाता है कि बिजली है। हवा के कार्यों—पत्ता हिलना, ठंडा झौंका लगना आदि को देखकर हवा के होने का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार नास्तिक से नास्तिक व्यक्ति को भी प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान, आगम (आप्तवचन) आदि प्रमाण मानने पड़ते हैं। जब दूसरी वस्तुओं के बारे में अनुमान, आगम आदि प्रमाण मानने पड़ते हैं तो ईश्वर के बारे में मानने में हिचकिचाहट या आपत्ति क्यों?

ईश्वर के द्वारा होने वाले कार्यों या उसमें होने वाले गुणों को देखकर अनुमान से एवं रागद्वेषरहित निर्दोष सर्वज्ञ आप्त महापुरुषों द्वारा कथित वचन (आगम) से ईश्वर को मानने में क्या आपत्ति है?

हमारे दिमाग में जो ज्ञान या विद्या है, क्या वह हमें आँखों से दिखाई देती है? क्या विद्या या ज्ञान को कोई प्रत्यक्ष बता सकता है? नहीं, किन्तु उस विद्या या ज्ञान के कार्य या व्यवहार को देखकर

महिला ने अपने पति एवं घर व पड़ौस वालों को सबको सान्त्वना दी और शान्ति व समभावपूर्वक पुत्रवियोग का कष्ट सहन किया।

अगर वह व्यक्ति ईश्वरकर्तृत्ववादी न हुआ तो सर्व प्रथम वह यों सोचता है कि यह दुःख, विपत्ति या संकट मेरे ही किन्हीं पूर्व-जन्म के अशुभकर्मों का फल है। मुझे इस कर्ज को एक साहूकार की तरह हंस-हंस कर चुकाना चाहिये। इस कष्ट को समभावपूर्वक सहना चाहिये। अगर उस कष्ट या संकट को सहने में उसका आत्मबल कम पड़ता है तो वह परमात्मा से प्रार्थना करता है —

"आरुग्गबोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु।"
"सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।"

हे सिद्ध परमात्मन्! आप मुझे स्वस्थता, बोधि (सम्यक्ज्ञान) का लाभ और उत्तम समाधि (समभाव में मस्त रहने की शक्ति) दें। हे सिद्धईश्वरो! आप सब मुझे सिद्धि प्रदान करें, अथवा सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त करने की प्रेरणा दें।

इस प्रकार अपनी उत्कट श्रद्धा के कारण ईश्वरभक्त को परमात्मा से आत्मशक्ति, सम्यक् ज्ञान, समता और स्वस्थचित्तता की प्रेरणा मिलती है। परमात्मबल पाकर वह काम-क्रोधादि शत्रुओं से भिड़ पड़ता है। उसमें उसके साहस और असीम श्रद्धा के कारण निश्चय ही उसकी जीत होती है।

भारतीय धर्मग्रन्थों में ऐसी अनेक महासतियों के उदाहरण भरे पड़े हैं, जिन्होंने संकट के समय न तो प्रभुभक्ति छोड़ी और न परमात्मा को ही कोसा। बल्कि ईश्वर के प्रति दृढ़ श्रद्धा रखकर संकटों को अपने दुष्कर्मों का फल समझकर, उनसे लोहा लेती रही। अन्ततोगत्वा संकटों से निर्विघ्न पार होकर वे प्रभुभक्ति में अधिकाधिक लीन हो गईं।

परीक्षा में फेल हो गया तो मेरी भक्ति अधूरी, एकांगी और स्वार्थी है।"
जब तुकाराम भक्त का पुत्र बीमार पड़ा तो जीजीबाई ने मनौती करने का कहा कि "आप इसके लिए किसी देव की मनौती क्यों नहीं करते ?" तुकाराम बोले—"मैं मनौती में कुछ जानता नहीं। मेरे तो पाण्डु-रंग (विष्णु भगवान्) का आधार है। उन्हीं पर भरोसा है। वे जो कुछ करेंगे अच्छा ही करेंगे।" बाद में जब तुकाराम का पुत्र गुजर गया, फिर भी वे उसके वियोग में रोये नहीं। जीजीबाई ने कहा—"आपका प्यारा पुत्र मर गया, फिर भी रोते क्यों नहीं ?" तुकाराम ने कहा —

"एवे मेले कोटानकोटी, आतां रडुं कोना साठी"

"ऐसे तो मेरे कोटानुकोटि (करोड़ों) जन्मों में पुत्र जन्म लेकर मर गए। उसी तरह यह भी मर गया। अतः मैं अगले जन्म वाले के लिए रोऊँ या इसको रोऊँ ? किसके लिये अब रोऊँ ?"

ईश्वर विश्वास जिसके रोम-रोम में भरा हो, उसका यह ज्वलन्त उदाहरण है। सच्चा ईश्वरभक्त दुःख और संकट के समय भी ईश्वर-विश्वास को नहीं छोड़ता। वह यही सोचता है—

"विपद् विस्मरणं तस्य, सम्पद् संस्मरणं प्रभोः ॥"

अर्थात्–प्रभु को भूल जाना ही विपत्ति है और परमात्मा को सतत याद रखना ही संपत्ति है।

एक महिला बड़ी ईश्वरविश्वासी थी। एक बार उसका इकलौता लड़का मर गया। पुत्रवियोग का क्षणिक असर उसके मन पर पड़ा। लेकिन दूसरे क्षण उसे ईश्वर का स्मरण हुआ। उसने सोचा कि ईश्वर मेरी कसौटी कर रहे हैं कि मेरा ईश्वर पर प्रेम है या अपने लड़के पर ? यह दुःख दुःख नहीं ईश्वर का प्रसाद है।" उस ईश्वरभक्त

शाहशुजा बोला—'तुम फिकर न करो। मैं तुम्हें अपनी लड़की दूंगा, लेकिन एक शर्त पर कि ईश्वर पर तुम्हारा विश्वास अटल बना रहे। जिस दिन ईश्वर के प्रति तुम्हारी श्रद्धा खत्म हो जायगी, उसी समय मेरी लड़की तुम्हें छोड़कर, मेरे पास आजाएगी।'

उसने कहा—"यह तो बहुत अच्छी बात है। मैं इस शर्त को मंजूर करता हूं। लेकिन तीन दिरहम में शादी का काम कैसे होगा?"

शाहशुजा "सब हो जायगा। तुम इन तीन दिरहम से रोटी, शक्कर और नमक आदि सामान ले आओ। मैं तुरन्त अपनी कन्या की शादी तुम्हारे साथ कर दूंगा।"

वह युवक फ़कीर बाजार में जाकर तीन दिरहम की विवाह-सामग्री ले आया। शाहशुजा ने अपनी लड़की की शादी उसके साथ कर दी। फ़कीर शादी करके उस लड़की को अपने घर ले आया। लेकिन ज्यों ही उसने घर में प्रवेश किया तो देखा कि पानी के कूंजे पर एक रोटी रखी हुई है। लड़की ने फौरन—कहा "मैं इस घर में नहीं रह सकती।" युवक फ़कीर बोला—मुझे तो पहले ही शक था कि तुम राजघराने की होने से शायद मेरी झोंपड़ी में नहीं रह सकोगी, और न मेरे दुःख-दारिद्रय में हाथ बटा सकोगी।" लड़की ने जवाब दिया—मैं तुम्हारी इस झोंपड़ी या दरिद्रता को देखकर अपने पीहर नहीं जा रही हूं। पर इसलिए कि तुम ईश्वर पर विश्वास और आधार रखने में कितने दुर्बल हो? 'आज क्या खाना है?' इसका विचार तुम कल से ही करते हो। मुझे मेरे पिता ने २० साल तक पाला-पोसा और कहा था—मैं तेरी शादी ऐसे पुरुष के साथ करूंगा, जिसमें वैराग्य और ईश्वर पर पूर्ण विश्वास होगा। मुझे आज मालूम पड़ा कि उन्होंने मेरी शादी ऐसे व्यक्ति के साथ की है, जिसे अपनी गुजरान के लिए ईश्वर पर भरोसा नहीं है।" फकीर की आँखें खुलीं। उसने गद्गद्

भक्त प्रल्हाद को हिरण्यकश्यपु ने ईश्वरभक्ति छोड़ने के लिए कितना विवश किया ? कितने कष्ट दिये ? लेकिन उसने घबरा कर न तो ईश्वरभक्ति ही छोड़ी और न ईश्वर को उपालम्भ देकर ईश्वर-विश्वास ही त्यागा।

दूसरा लाभ यह है कि परमात्मा में विश्वास रखने वाला व्यक्ति अपने पास वस्तुओं की कमी होने पर भी उसके अभाव को महसूस नहीं करता। यानी अभाव से होने वाले कष्ट से पीड़ा का अनुभव नहीं करता। वह समतासागर में गोते लगाता हुआ ईश्वरभक्ति में प्रसन्न रहता है। उसे ईश्वर की कृपा पर इतना दृढ़ विश्वास होता है कि दूसरे दिन के लिए संग्रह करके रखने की भी उसे चिन्ता नहीं होती।

केरमान देश (ईरान) में शाहशुजा नाम का एक पवित्र राजवंशी विद्वान और ज्ञानी मनुष्य रहता था। उसे ईश्वर पर अटल विश्वास था। वहाँ के फकीर भी उसे पूज्यपुरुष मानते थे। शाहशुजा के एक इकलौती लड़की थी, जो बड़ी योग्य, शिक्षित, संस्कारी और ईश्वर-विश्वासी थी। एक दिन परम धनाढय कैरम बादशाह ने उसके साथ अपनी शादी कर देने के लिये शाहशुजा से कहा तो उसने उत्तर दिया—"मुझे अपनी लड़की के लिए राजा नहीं, किन्तु त्यागभावना वाला, एवं ईश्वर पर अटल विश्वास रखने वाला पुरुष चाहिये।" एक दिन शाहशुजा ने एक मस्त युवक को फकीर के वेष में भक्तिपूर्वक ईश्वरोपासना करते हुए देखा। बातचीत करने पर मालूम हुआ कि वह अच्छे स्वभाव का चतुर युवक है। फकीर वेशधारी उस युवक से शाहशुजा ने पूछा—"क्या तुम शादी करना चाहते हो ?" मुस्लिम फ़कीर अकसर शादीसुदा होते हैं। उस युवक ने कहा — हाँ, चाहता तो हूं। लेकिन मेरे जैसे गरीब फ़कीर को कौन अपनी कन्या देना चाहेगा ? मेरे पास तो केवल तीन दिरहम हैं।"

वह हिचकिचा जाता है, क्योंकि उसे यह पक्का विश्वास हो जाता है कि अगर मैं अन्धेरे में, कहीं भी छिप कर भी पापकर्म या बुरे कर्म करूंगा तो ईश्वर (सिद्ध भगवान) सर्वज्ञ हैं, उनसे घट-घट की, कण-कण की कोई बात छिपी (गुप्त) नहीं रह सकेगी। मुझे उन दुष्कर्मों का दण्ड जरूर मिलेगा। दूसरे सामान्य आदमियों की निगाहों में चाहे धूल झौंक दूँ, पर ईश्वर की आँखों में कभी धूल नहीं झौंक सकता। एक उदाहरण लीजिए —

एक पहुंचे हुए ईश्वरभक्त साधक थे। वे धर्मगुरु कहलाते थे। एक दिन उनके पास दो युवक शिष्य बनने के लिये आए। वे कहने लगे—"गुरूजी! हम आपके शिष्य बनना चाहते हैं। आप हमें अपना शिष्य बना लीजिए।" गुरु ने कहा—"भाई! मैं ऐसे-वैसे व्यक्ति को शिष्य नहीं बनाता। जो पक्का ईश्वरभक्त हो उसे ही शिष्य बनने के योग्य समझता हूं। परन्तु पहले उसकी परीक्षा करता हूं कि ईश्वर पर उसका विश्वास कितना सुदृढ़ है।" दोनों युवकों ने कहा-"गुरुजी! हम तैयार हैं, परीक्षा देने के लिए। आप चाहे जिस तरह से हमारी परीक्षा कर सकते हैं। आपकी आज्ञा के पालन करने वाले और पक्के ईश्वरभक्त साबित हो जांय, तभी आप हमें अपना शिष्य बनाना, उससे पहले नहीं।

गुरुजी वैक्रिय शक्ति के धारक थे। उन्होंने अपनी माया से दो नकली कबूतर बनाए। कबूतर ऐसे मालूम होते थे, मानो बिलकुल ही जानदार हों। गुरुजी ने दोनों युवकों को एक-एक कबूतर दिया और यह आज्ञा दी कि "जहां कोई न देखे, वहां मार कर ले आओ।" दोनों युवकों ने कहा—जैसी आपकी आज्ञा है, वैसा ही करेंगे।" गुरुजी ने अपनी शर्त फिर दोहराई — मेरी आज्ञा को ध्यानपूर्वक सुन लेना, अपने-अपने कबूतर को वहीं मारना जहां कोई भी न देखता हो।" दोनों ने सविनय इस आज्ञा को स्वीकार किया और

स्वर में कहा—"इस भूल का प्रायश्चित्त ?" वह बोली—प्रायश्चित्त यही है कि इस घर में या तो यह रोटी रहेगी या मैं रहूंगी !" फकीर ने तुरन्त वह रोटी एक भूखे को दे दी। लड़की ने फ़कीर के यहाँ रहना मंजूर किया।

यह है ईश्वरविश्वास का लाभ ! ईश्वरविश्वास का लक्षण भी यही बताया है —

"लाभालाभे सुहे दुहे, जीविए मरणे तहा।
समो निंदा-पसंसासु तहा माणावमाणओ ॥"

अर्थात्—"ईश्वरविश्वासी साधक लाभ और अलाभ में, सुख और दुःख में, जीवन और मरण में, निन्दा और प्रशंसा में तथा मान व अपमान में सदा सम रहता है।"

भगवद्गीता में भी परमात्मभक्त के लक्षण इसी से मिलते-जुलते हैं —

"समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्ण - सुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः।
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान मे प्रियो नरः ॥"

अर्थात्—जो मनुष्य शत्रु और मित्र पर, मान और अपमान में, शीत-उष्ण एवं सुख दुःख में सम रहता है, आसक्ति से रहित है, निन्दा और स्तुति में भी सम रहता है। मननशील है, यथा लाभ संतुष्ट है, घर-बार की चिन्ता नहीं करता, स्थिर बुद्धिवाला ऐसा भक्तिमान मनुष्य मुझे प्रिय है।

ईश्वर पर विश्वास करने से तीसरा लाभ यह है कि ऐसा व्यक्ति कदापि पापकर्म में प्रवृत्त नहीं होता, पापकर्म का ध्यान आते ही

तो आपको पहले ही कहना था। आपने खुलासा तो किया नहीं और अब कहते हैं कि तुम देखते थे, वह देखता था, ईश्वर देखते थे! दोष आपका है, मेरा नहीं। मैं अपनी समझ के अनुसार आपकी आज्ञा का पालन करके आया हूं।"

गुरुजी ने कहा—"अच्छा भाई! मेरा ही दोष है! पर मैं ईश्वर पर अविश्वासी तुम सरीखे युवक को अपना शिष्य नहीं बनाता।" उक्त युवक अयोग्य साबित होने के कारण चला गया। इतने में दूसरा विवेकी और विनम्र युवक कबूतर को जिंदा ही लेकर गुरुजी के पास आया और कहा—"गुरुजी! लीजिये, आपका यह कबूतर।" मुझे दुःख है कि मैं आपकी आज्ञा का पालन न कर सका।"

गुरुजी—"वत्स! क्या कहीं एकान्त नहीं मिला, जहां कोई न देखता हो?"

युवक—गुरुजी! आपसे कबूतर लेकर मैं एक जंगल में गया, वहाँ खेत में एक आदमी खड़ा था, फिर मैं और आगे बढ़ा एक पहाड़ की ओट में कोई आदमी न था, परन्तु मैंने सोचा कि यहाँ सूरज तो देख रहा है, मैं देख रहा हूं, यह कबूतर भी मुझे देख रहा है, यहाँ तो कैसे मार सकता हूं। गुरुजी की आज्ञा है कि जहाँ कोई न देखे, वहाँ इसे मार लाना। अतः मैं इसे वहाँ भी न मार सका। फिर मैं पहाड़ की गुफा में घुसा, जहाँ सूरज तो नहीं देखता था, लेकिन थोड़े-से मन्द प्रकाश में मैं देख सकता था, यह कबूतर देख सकता था। मैं गुफा में और आगे बढ़ा तो वहाँ घोर अन्धकार था, जिसमें हाथ को हाथ नहीं सूझ रहा था। मैंने सोचा कि यहां न तो सूरज देखता है, न मैं देखता हूं और न ही यह कबूतर देखता है, और कोई प्राणी भी यहां नहीं नजर आता, जो देखता हो। बस, यहां गुरुजी की

अपने-अपने कबूतर को लेकर अलग-अलग दिशा में चल पड़े। एक युवक, जो अविवेकी था, उसने शहर से बाहर थोड़ी दूर चलकर देखा तो खेतों में कुछ लो ा खड़े थे। वह और आगे बढ़ा तो घोर जंगल आ गया। जंगल में एक जगह वृक्षों की सघन घटा थी। अंधेरा-सा हो रहा था। उस अविवेकी युवक ने देखा कि यहाँ तो कोई नहीं देख रहा है। अतः क्यों नहीं इस कबूतर को यहीं मार डाला जाय!" उसने तुरन्त ही कबूतर की गर्दन मरोड़ दी, और उसे लेकर गुरुजी के पास आया। गुरुजी ने उससे पूछा – "क्यों भाई ! आज्ञा-पालन कर आए ?"

युवक—"हाँ गुरुजी ! आपकी आज्ञा के अनुसार इस कबूतर को मार लाया हूं।"

गुरुजी—"परन्तु तुमने मेरी शर्त का ध्यान रखा था ?"

युवक—"जरूर ! मैंने ऐसी जगह इस कबूतर को मारा है, जहाँ कोई भी नहीं देखता था। घोर जंगल में, वृक्षों की घटा के बीच में मैं इसे ले गया था।"

गुरुजी ने क्रोधावेश में आकर उसे डांटा— "तू मेरा शिष्य बनने के योग्य नहीं है ! क्योंकि तूने मेरी आज्ञा का सही रूप में पालन नहीं किया है। तू कहता है कि मैंने इस कबूतर को ऐसी जगह ले जाकर मारा है, जहाँ कोई न देखता हो, परन्तु जब और जहाँ तुमने इस कबूतर को मारा, तब वहाँ तुम तो इसे देखते थे और यह कबूतर भी तुम्हें देखता था ! फिर तुम कैसे कहते हो कि मैंने इस कबूतर को ऐसी जगह मारा, जहाँ कोई भी नहीं देखता था ? और ईश्वर तो सब जगह देखते हैं ! उनसे तो कुछ भी छिपा नहीं।" उक्त अविवेकी युवक आवेश में आकर गुरुजी से बोला–वाह गुरुजी वाह ! ऐसा था

न जमने के कारण वह उससे गुण ग्रहण करने के बजाय, प्रायः दोष ढूंढने लग जाता है। इसलिए पूर्ण वीतरागी, सर्वदोषमुक्त, सर्वकर्ममुक्त अशरीरी सिद्ध ईश्वर या भासक सिद्ध (जीवन्मुक्त तीर्थंकर या केवली) का आदर्श सामने रखा जाता है, निर्दोष होने के कारण उन पर पक्का विश्वास बैठ जाता है, और वैसे ईश्वर का स्मरण जप के द्वारा किया जाता है, ताकि उनके अन्दर रहे हुए वीतरागता, (रागद्वेषरहितता), कषाय-मुक्तता, निर्वैरिता, निर्विकारता, क्षमा, दया, वत्सलता, सत्यता, अहिंसा, सेवा, ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि उत्तमोत्तम गुणों की प्रेरणा लेकर अपने जीवन में यथाशक्ति उन गुणों को उतार सके। इस प्रकार क्रमशः गुणों में वृद्धि करके वह सामान्य साधक भी एक दिन ईश्वरत्वप्राप्ति कर सकता है। कहा भी है—

> एस धम्मे धुवे निच्चे सासए जिणदेसिए।
> सिज्झा सिज्झंति चाणेण, सिज्झिस्संति तहावरे॥
> —उत्तराध्ययनसूत्र अ० १६ गा० १७

"यह धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है, वीतराग पुरुषों द्वारा बताया हुआ है। इसी धर्म (उत्तमोत्तम गुण-समूह) के द्वारा जीव सिद्ध ईश्वर हुए हैं, सिद्ध बनते हैं, और कई सिद्ध (ईश्वर) बनेंगे।"

ईश्वरविश्वास से पाँचवाँ लाभ है—श्रेयस्कर-धर्म-कार्यों, शुभ कार्यों में जहाँ भी विघ्न संकट आते हैं, वे परमात्मा के नाम जप से दूर हो जाते हैं और श्रेयस्कर कार्य, शुभ काम-निर्विघ्नतापूर्वक हो जाते हैं। इसे ही भक्ति की भाषा कहा करते हैं कि ईश्वर के स्मरण, जाप या दृढ़ विश्वास से शुभ कार्यों में उनका आशीर्वाद (चाहे परोक्षरूप से ही मिलता हो) मिलता है। इसीलिए प्रार्थना की जाती है—"सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।" 'तित्थयरा मे पसीयंतु'। (सिद्ध भगवन्त मुझे सिद्धि प्रदान करें, तीर्थंकर भगवन्त मुझ पर प्रसन्न हों।)

आज्ञा का पालन कर लूं। परन्तु दूसरे ही क्षण विचार आया कि मैंने गुरुओं से सुना है कि ईश्वर घट-घट की बात जानते हैं। उनसे कोई भी बात छिपी नहीं रह सकती, चाहे घोर अन्धेरे में ही क्यों न की जाय! इस दृष्टि से और कोई चाहे यहां न देखता हो, परन्तु ईश्वर तो देखते हैं। इसलिए मैं इस कबूतर को कहीं भी नहीं मार सकता। पर गुरुजी की दी हुई आज्ञा का क्या होगा? यों सोचते-सोचते मुझे आपकी अपार कृपा के दर्शन हुए। गुरुजी! आपने इस कबूतर को मारने की आज्ञा देकर ईश्वरविश्वास की मेरी परीक्षा भी ले ली और मुझे कृपा करके ईश्वरविश्वास का सुन्दर रहस्य भी बता दिया। अब आपकी इस आज्ञा के न पालन करने का आप जो भी दंड दें मैं सहर्ष स्वीकार करने को तैयार हूं।"

गुरुजी ने कहा—"शाबाश बेटा! मैं तुम्हारे ईश्वरविश्वास की ही परीक्षा लेना चाहता था। इस परीक्षा में तुम्हारा साथी तो फेल हो गया, लेकिन तुम उत्तीर्ण हो; इसलिए मैं तुम्हें अपना शिष्य बनाने को तैयार हूं।"

यह है ईश्वरविश्वास से महालाभ! सच्चा ईश्वरविश्वासी स्वप्न में भी पापकर्म करने का विचार भी नहीं कर सकता; करना तो दूर रहा।

ईश्वरविश्वास से चौथा लाभ यह है कि मनुष्य को ईश्वरीय गुणों को प्राप्त करने की प्रेरणा मिलती है। मनुष्य अपने जीवन में जैसा बनना चाहता है, वैसे ही आदर्श व्यक्ति के जीवन को अपने सामने रखता है, वैसे आदर्श व्यक्ति के उत्तमोत्तम गुणों का स्मरण करके तदनुसार अपने जीवन में साधना (उन गुणों की वृद्धि की) करता है। अगर छद्मस्थ (अपूर्ण) व्यक्ति के आदर्श को सामने रखता है तो उसमें अपूर्णता के कारण कुछ न कुछ दोष होता है, इसलिए उसमें उस सामान्य व्यक्ति के प्रति पूरी आस्था नहीं जमती और आस्था

"तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि"
"हे भगवन् ! उस दुष्कृत्य (पापकृत्य) से वापिस अपनी आत्मा को मोड़ता हूं, पश्चात्ताप (आत्मनिन्दा) करता हूं, गुरु, बड़े या समाज के सामने उसे पश्चात्तापपूर्वक प्रगट करता हूं, और अपने आप का (अपने मन-वचन-काया व काया से सम्बन्धित जड़ या चेतन वस्तु का) व्युत्सर्ग करता हूं—आपके चरणों में समर्पित करता हूं।"

यह है समर्पणभावना का उत्कट रूप ! ऐसी भावना ईश्वर-विश्वास के बिना कैसे हो सकती है।

ईश्वरविश्वास से ये ६ मुख्य लाभ हैं। ये लाभ भी क्या कम हैं ?

ईश्वर को न मानने से हानि

सिद्ध ईश्वर को न मानने वाले लोग जैसे ईश्वर को कल्पना की वस्तु मानते हैं, वैसे ही स्वर्ग, नरक, पुनर्जन्म, आत्मा, मोक्ष आदि को भी कल्पना मानते हैं। इन चीजों के न मानने वाले लोग प्रायः स्वच्छन्द जीवन पसंद करते हैं। वे अपने जीवन में कोई भी मर्यादा, बन्धन या नियंत्रण नहीं चाहते। आहार-विहार के सम्बन्ध में भी ऐसे लोगों का कोई विचार नहीं। गम्यागम्य के सम्बन्ध में भी मानवीय मर्यादाओं का वे पालन नहीं करना चाहते। चार्वाक् दर्शन का मत है—'मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत् सर्वयोनिषु' (अर्थात् माता को छोड़कर सभी स्त्रियों से सहवास करे) यह अमर्यादित यौन-सम्बन्ध भला समाज की व्यवस्था को सुरक्षित रख सकेगा ? तथा-'Eat, drink and be merry' "खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ" यह भी इन्हीं के भाइयों—भौतिक वादियों—का मत है। जैसा कि आचार्य बृहस्पति कहते हैं—

जैनधर्म की दृष्टि सोचें तो ईश्वर के नामस्मरण से, नमस्कार से समस्त पापकर्मों का, जिनमें अन्तराय, असातावेदनीय आदि भी शुमार हैं, का नाश हो जाता है। यही भक्ति की भाषा में ईश्वर से प्राप्त आशीर्वाद है। इसीलिए ईश्वरभक्त साधक के लिए यह कहा गया है कि हर कार्य या प्रवृत्ति ईश्वर को सामने रख कर स्मरण करके, नमस्कार करके करे, ताकि कार्य में जो अहंकार, फलासक्ति या राग-द्वेष व अंतराय कर्म आदि दोष आ जाया करते हैं, उनसे वह बच सके और अपने जीवन-व्यवहार को पवित्र बना सके।

ईश्वरविश्वास से छठा लाभ है—समर्पण-भावना का। किसी भी वस्तु, कार्य या प्रवृत्ति को जब मनुष्य परमात्मा के चरणों में अर्पित करके करना चाहता है या करता है तो सर्वप्रथम तो उसमें अहंकार की भावना नहीं आती कि "मैं करता हूं या मैंने किया।" इसके कारण नम्रता सहजभाव से आ जाती है। पर आजकल अधिकांश लोगों की वृत्ति ऐसी बन गई है कि वे कोई काम पुरुषार्थ-पूर्वक करते हैं और उसमें सफलता मिल जाती है तो कहने लगते हैं, 'हमने किया तब हुआ'। परन्तु यदि किसी काम में असफलता मिलती है, या कोई आर्थिक नुकसान या बीमारी, आफत, मृत्यु आदि आ जाती है तो उसका कर्तृत्व भगवान पर मढ़ते हैं कि "ईश्वर ने बहुत बुरा किया, ईश्वर की मर्जी ऐसी ही थी आदि।" यह ईश्वरकर्तृत्ववाद का दुरुपयोग है। वास्तव में अच्छे या बुरे सभी कर्मों के करने का जिम्मेवार मनुष्य खुद है, ईश्वर नहीं। परन्तु अच्छे कार्य का श्रेय भगवान् के चढ़ा देने से मनुष्य में अहंकर्तृत्व का दोष मिट जाता है।

जैनधर्म में भी ईश्वर (भगवान्) के प्रति समर्पण भावना बताई गई है। वहाँ इन शब्दों में उसे सूचित की गई है—

ईश्वर की सत्ता पर विश्वास न करना, अपने आप पर विश्वास न करने के समान है। जो मनुष्य अपने आप पर अपनी आत्मा पर विश्वास रखता है, उसे अपने पूर्वजों—(माता-पिता, पितामह आदि) पर विश्वास करना ही होगा। जब पूर्वजों पर विश्वास करता है तो परमपितामह परमात्मा पर भी उसे अवश्य विश्वास करना चाहिए। इसीलिए नंदीसूत्र में कहा है—

"जयई जगप्पियामहो भयवं"
"जगत् के पितामह भगवान् विजयी हों।"

इस प्रकार ईश्वरविश्वास मनुष्य के जीवन में एक अपूर्व सुफल का दाता है, जगत् के कल्याण में ईश्वरविश्वास अत्यन्त आवश्यक और सहायक तत्त्व है। इस विश्वास की डोरी पकड़ कर ही तो कोटि-कोटि आस्तिक पुरुषों ने अपनी नौका संसारसागर से पार लगाई है और लगायेंगे।

स्थान—गौड़ीजी का उपाश्रय, पायधुनी, बम्बई } संवत् २००६ कार्तिक वदी १

"यावज्जीवेत्सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥"

"जब तक जीए, सुख से जीए (तप, धर्म के लिए कष्टसहन एवं व्रतपालन आदि की क्या जरूरत है ?), कर्ज लेकर घी पीना अच्छा है। शरीर खत्म हुआ कि लोग उसे जला देंगे, फिर न आना है, न जाना। धर्म-कर्म, ईश्वर को मानना और इनके कारण दुःख उठाना, अन्धे को न्योता देकर दो को खिलाने के बराबर है।"

मतलब यह है कि अगर सभी मनुष्य उपर्युक्त बातों के अनुसार चलने लगें तो दुनिया में किसी का भी किसी पर विश्वास न रहे, कोई भी किसी भी समय किसी को मारपीट सकता है, धोखा दे सकता है, झूठ बोल सकता है, बेईमानी और चोरी कर सकता है, किसी की स्त्री के साथ कोई भी रमण कर सकता है, कोई कैसे भी आजीविका करके धनसंग्रह कर सकता है ? न भगवान् का डर, न धर्म पर विश्वास, न समाज के नीतिनियमों या मर्यादाओं का पालन ! सारे संसार की, मनुष्य-समाज की सुव्यवस्था चौपट हो जायगी, सुखशान्ति हवा हो जायगी, मनुष्य जानवरों से भी गया-बीता बन जायगा। उच्चसाधना के लिए कोई आदर्श या प्रतीक नहीं माना जायगा तो मनुष्य यहीं तक अटक कर रह जायगा; या तो पाशविक योनियों में, या दानवीय योनियों में। फिर साध्य को प्राप्त करने की बात मनुष्य के लिए दूरातिदूर होती जायगी। मनुष्य ने आध्यात्मिक दृष्टि से जो इतना विकास (ईश्वर विश्वास के जरिये) किया है, उस पर पानी फिर जायगा। यह कितनी बड़ी हानि है, मानवजाति के लिए !

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए परमात्मा पर विश्वास रखना प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य हो जाता है।

आने लगे। पर राजा का समाधान करने में कोई सफल न हुआ। एक दिन ऐसे ही असफल विद्वानों की एक टोली अपने खेत के पास से गुजरती देख एक किसान ने पूछा—"क्यों भाई! आप लोग प्रतिदिन राजमहल में धक्के खाते हैं, क्या वजह है? पहले तो इतनी भीड़ कभी नहीं देखी थी।" पण्डितों ने राजा के चार प्रश्न किसान को कह सुनाए। किसान सुनकर बोला—"ये प्रश्न तो कुछ भी कठिन नहीं हैं। तुम लोग इतने पढ़े-लिखे हो, फिर भी इनके उत्तर नहीं दे सकते, यह समझ में नहीं आता।" पण्डित बोले—"तो क्या तू जवाब दे सकेगा?" किसान—"मुझे पूछें तो, मुझे विश्वास है कि मैं जरूर राजा का मनः-समाधान कर सकूंगा। फिर तो असफल पण्डित उसे राजदरबार में ले गए। राजसिंहासन पर विराजमान राजा को सम्बोधित करते हुए पण्डितों ने कहा—'राजन्! यह किसान आपके प्रश्नों का सही समाधानकारक उत्तर दे सकेगा। इसे पूछिये!' राजा ने पूछा—"भगवान् कहां रहते हैं?" किसान ने प्रतिप्रश्न किया—"भगवान् कहां नहीं रहते?" राजा निरूत्तर हो गया। दूसरा प्रश्न पूछा गया—"भगवान् क्या खाते हैं?" "भगवान् अहंकार खाते हैं।" किसान ने उत्तर दिया। "भगवान् कब हंसते हैं?" राजा ने पूछा। किसान बोला—"जब बालक माता के गर्भ में होता है, तब वह भगवान् से बारबार प्रार्थना करता है कि हे भगवन्! मुझे अंधेरे से मुक्त कर प्रकाश में ले चलें। प्रकाश में पहुंचकर मैं मन-वचन-काया से आपका भजन करूंगा। परन्तु जन्म लेते ही वह भगवान् को भूल जाता है। मनुष्य के इस भुलक्कड़ स्वभाव को देखकर भगवान् हंसता है।" राजा का अन्तिम प्रश्न था—"भगवान् क्या करता है?" किसान बोला—मैं हल जोत रहा था, मुझे ये पण्डित दौड़ाते हुए लाए हैं, और फिर मैं कबका आपके सामने बोल रहा हूं। अब जरा आप सिंहासन से उतरिए और मुझे वहां बैठने दीजिए। शान्ति से बैठकर मैं आपके अन्तिम

३

ईश्वर कहाँ है ?

कल हमने ईश्वरविश्वास के बारे में कहा था। आज ईश्वर का वास कहां है ? इस बारे में कहूंगा।

बहुत से लोग ईश्वर (सिद्ध) के बारे में कई उटपटांग प्रश्न खड़े करते हैं। कोई कहता है—'ईश्वर कहाँ है ? आँखों से तो दिखता है नहीं फिर उसे कहां मानें ? उसका निवास कहां है ? जब तक उसके रहने का पता न लग जाय, तब तक उस पर विश्वास करने या उसे मानने की बात कैसे हो ?

यह तो हम पहले ही बता चुके हैं कि निश्चयनय की दृष्टि से समस्त जीवों में ईश्वर का वास है। कोई उस सोये हुये ईश्वरत्व को जगा लेता है, कोई नहीं। इस प्रश्न को अनेक लोगों ने युग-युग में तरह-तरह से उठाया है। एक उदाहरण लीजिये।

एक बड़ा धर्मात्मा और ज्ञानी राजा था। एक बार उसने अपने पण्डितों को चार प्रश्न पूछे, परन्तु कोई भी उन प्रश्नों का उत्तर न दे सका। बाद में उसने देश-देशान्तर में ढिंढोरा पिटवाया कि जो मेरे इन चार प्रश्नों का संतोष-कारक उत्तर देगा, उसे मैं अपना आधा राज्य दे दूंगा। हजारों विद्वान् देश-देशान्तर से

तेरा सांई तुझ में ज्यों पुहुपन में वास।
कस्तूरी का मिरग ज्यों फिर-फिर ढूंढे घास॥

तेरा परमात्मा तो तेरे भीतर ही है, जैसे फूलों में उनकी सुगन्धि। किन्तु जैसे कस्तूरीमृग अपनी नाभि में रही हुई कस्तूरी को भूलकर झाड़ियों आदि में घास सूंघ २ कर ढूंढ़ता फिरता है। इसी तरह तुम भी उसे बाहर-बाहर ढूंढ़ते फिरते हो। अर्थात्—"मनुष्य देहमास्थाय छन्नास्ते परमेश्वरा:' परमात्मा मनुष्यदेह में ही छिपे हुये हैं।"

परन्तु आजकल लोग इस तत्त्व को नहीं समझ कर ईश्वर को ढूंढ़ने के लिये जंगल की खाक छानते हैं। यानी बाहर ढूंढ़ते फिरते हैं। कबीरजी ने ऐसे लोगों से कहा है—

मोको कहां ढूंढे तू बंदा, मैं तेरे पास में।
ना मैं कोई क्रियाकर्म में, ना मैं जोग-सन्यास में॥१॥

ना मैं पोथी, ना मैं पण्डित, ना मैं काशी-कैलाश में।
ना रहता श्री द्वारिका, ना रहता जगन्नाथ में॥२॥

ना मैं रहता मक्का मदीना, ना रहता हिमालय में।
ना रहता मैं जंगल शहरा, रहता मैं विश्वास में॥३॥

कहत कबीर सुनो भाई साधु, सब श्वासन की श्वास में।
जो खोजे तो तुरत मिलूँ मैं, छिन भर की तलाश में॥४॥

इसके अर्थ को स्पष्ट करने की जरूरत नहीं है। अर्थ स्पष्ट है।

वस्तुत: देखा जाय तो यथार्थ आत्मदर्शन ही ईश्वरदर्शन है। ईश्वर को भी कहीं ढूंढ़ने की अपेक्षा अपनी आत्मा में ही ढूंढ़ना चाहिये। कवि कहता है—

प्रश्न,का उत्तर दे सकूंगा।' तीन प्रत्युत्तरों से प्रभावित बने हुए राजा ने तत्काल सिंहासन खाली कर दिया। कहा—"जाओ, वहां थोड़ी देर विश्राम करो, थकान उतरने पर मैं अपने प्रश्न का उत्तर सुनूंगा।" थोड़ा समय बीता। राजा ने प्रश्न को दोहराया। किसान मौन रहा। राजा ने तीसरी-चौथी बार पूछा। फिर भी किसान के उत्तर न देने पर राजा ने जरा उच्चस्वर से कहा। तब चौंककर किसान ने कहा—"मेरे उत्तर से आपका समाधान नहीं हुआ?" राजा—"तुमने मेरे अन्तिम प्रश्न का उत्तर ही कहां दिया है?" किसान बोला—"जवाब तो दे दिया है, लेकिन आप समझे नहीं। सुनिए, फिर समझाता हूं। घंटे भर पहले मैं अपना खेत कड़ीधूप में जोत रहा था। थोड़ी देर पहले मैं आपके सामने खड़ा था और इस क्षण मैं राजसिंहासन पर बैठा हूं। और सिंहासन पर विराजमान होने वाले आप मेरे सामने खड़े हैं। बस, इसी तरह भगवान् राजा को रंक और रंक को राजा बनाते हुए देखते हैं। सारे संसार की लीला उनके ज्ञान-दर्पण में झलका करती है, वे अलिप्तभाव से देखा करते हैं।' कहने की जरूरत नहीं कि राजा का समाधान पूर्णरूपेण हो चुका था।

इस सारी कहानी का सारांश यह है कि ईश्वर[1] सर्वत्र अपने ही स्वरूप में विराजमान हैं। कोई उस स्वरूप को प्रकट कर लेता है, कोई अज्ञानावस्था में पड़कर उस स्वरूप को और आच्छादित कर देता है। इसीलिये भारत के एक महान् संत कबीर कहते हैं—

कबीर की भाषा में देखिये—

"घट घट मेरा साइयां सूनी सेज न कोय।
वा घट की बलिहारियां जा घट परगट होय॥"

—संपादक

हो तो दुःख होना चाहिये। अगर दुःख हुआ हो तो मुझे बताना चाहिए, तब मैं उसे 'ईश्वर' बताऊँगा। ईश्वर की प्रेरणा से सब काम होते हैं, ऐसा यह मानता है, तो मेरे इस कार्य को यह अपराध क्यों मानता है? फिर इसका शरीर मिट्टी का बना है तो मिट्टी के शरीर पर मिट्टी की कैसे चल सकती है? "जब मिट्टी पर मिट्टी की चल सकी है तो आग पर आग की क्यों नहीं?"

फ़कीर के जवाब सुनकर उस प्रश्नकर्ता को बड़ा आश्चर्य हुआ। काजी ने फ़कीर को निर्दोष जानकर छोड़ दिया।

इस रोचक उदाहरण से आप समझ गये होंगे कि 'ईश्वर' कहां है? क्या है? वास्तव में ईश्वर को जो लोग एक ही स्थान में नियत समझते हैं, कोई सातवें आसमान पर, या मुक्तिपुरी में अथवा वैकुंठ आदि में ही उसका निवास मानते हैं, वह सिद्ध ईश्वर के लिए तो ठीक है, लेकिन बद्धईश्वर के लिए ठीक नहीं। बद्धईश्वर तो प्रत्येक आत्मा में विराजमान है। वहाँ वह अदृश्य है, और अमुक अंश में अनिर्वचनीय भी है।

जो लोग ईसाई या इस्लामधर्म के अनुयायी हैं, वे खुदा या गौड को सातवें आसमान पर ही मानते हैं, उनमें यहां कोई देखने वाला नहीं, ऐसी समझ होने के कारण प्रायः स्वेच्छाचारी, मांसाहारी, क्रूर, हत्यारे, डाकू और लुटेरे बन जाते हैं। ऐसे स्वेच्छाचारी लोगों की ही जगत् में अधिक संख्या है। जो लोग परमात्मा—ईश्वर—को सर्वव्यापक मानते हैं, वे उसे सदा सर्वत्र अपने समीप मानने के कारण बुरे कार्य कर ही नहीं सकते। वे मानते हैं—

"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्"

"इस चराचर जगत् में जो कुछ है, वह सब ईश्वर से पूर्णतया व्याप्त है, ओतप्रोत है।" आजकल स्वेच्छाचारी व्यक्ति ज्यादा

खुद को खुद में ढूंढ, खुद को तू दे निकाल।
फिर तू खुद कहेगा, खुदा हो गया हूं मैं॥

ईश्वर को बड़े-बड़े ग्रन्थों में ढूंढ़ने की अपेक्षा अपनी आत्मा में ढूंढ़ना ही ज्यादा अच्छा है। जिस कार्य के करने से आत्मा को अपने अस्तिव और स्वरूप का भान हो, ज्ञान की प्राप्ति हो, और सर्वत्र आनन्द की उपलब्धि हो, वहां ईश्वर है। अर्थात् जहां सच्चिदानन्द (सत् चित् और आनन्द) की प्राप्ति हुई कि समझ लो वहीं ईश्वर का निवास हुआ।

इस विषय में मुझे एक फकीर का रोचक प्रसंग याद आ रहा है—

एक आदमी ने एक फ़कीर से ईश्वर (खुदा) के विषय में तीन सवाल पूछे—(१) ईश्वर की सत्ता सर्वत्र है, यह हरएक इन्सान कहता है, पर मैं उसे क्यों नहीं देख पाता ? (२) मनुष्य को पाप की सजा क्यों मिलती है, क्योंकि मनुष्य जो कुछ करता है, वह ईश्वर की प्रेरणा से करता है ? (३) ईश्वर शैतान को दोज़ख की आग में डालता है और उसे सजा देता है, यह भी कैसे माना जाय ? क्योंकि वह तो खुद ही अग्निरूप है। आग पर आग का क्या चल सकता है ?

फ़कीर ने तीनों प्रश्नों को सुनकर जमीन पर से एक ढेला उठाया और प्रश्नकर्ता के सिर में दे मारा। उसने जाकर काज़ी से इसकी शिकायत की। काज़ी ने फ़कीर को बुला कर ऐसा करने का कारण पूछा तो फकीर ने कहा—"यह तो इसके तीन सवालों का जवाब है।" काजी—"कैसे ?"

फ़कीर—"यह कहता है, मेरे सिर में वह लगा है, यदि लगा

जाते। फूलांबाई यह समझती कि मैं रोज ठाकुरजी की पूजा करती हूं। इसलिए मुझ पर ठाकुरजी की कृपा है, जिससे कोई कुछ भी मुझे कह नहीं सकता।" संयोगवश सेठजी के यहाँ एक दिन गीतापाठी पण्डित आ गए। उन्होंने गीतापाठ करते हुए एक श्लोक सुनाया—

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥"

उसका सही भावार्थ होता था—"आत्मा के सिवाय सभी (इन्द्रियों आदि के) धर्मों (विषयों) को छोड़कर तू एकमात्र मेरी (परमात्मा-शुद्ध आत्मा की) शरण में आजा। मैं तुम्हें सब पापों से छुटकारा दिला दूंगा। तू चिन्ता मत कर।" नादान फूलांबाई अभी बच्ची तो थी ही। वह इस गहरे अर्थ को क्या समझती। वह ठाकुरजी की पूजा-सेवा जरूर करती थी। इसलिए उसे गर्व हो गया कि मेरे द्वारा कृत पूजा से ठाकुरजी मुझ पर प्रसन्न हैं, इसलिए दूसरों की मुझे कोई परवाह नहीं। मैं दुनिया के साथ चाहे जैसा व्यवहार करूं, इससे मेरे ठाकुरजी नाराज नहीं होंगे। बस, उसने अपनी प्रकृति के अनुसार श्लोक का अर्थ लगाकर एक कविता बना ली—

रूठो क्यों न राजा, तासों कछु नांहि काजा।
एक तोसे महाराजा, फेर कौन पास जाइए।
रूठो क्यों न भाई, तासों कछु ना बसाई।
एक तू ही है सहाई, फेर कौन को सराइए॥
रूठो क्यों न मित्र, जाओ कछु नांही अंत्र।
एक सांवरा निरंत्र फेर कौन को रिझाइए।
जग रहे रूठा, एक तू ही है अनूठा।
सब चूसेंगे अंगूठा, एक तू न रूठा चाहिए॥"

इस कविता के अनुसार उसने अपनी प्रकृति और गुस्सैली और अभिमानी बना ली। फूलांबाई सयानी हुई तो माता-पिता को उसकी

हो रहे हैं, उसका कारण भी यही है कि वे परमात्मा को हर आत्मा में व्याप्त या मौजूद नहीं मानते या मानते भी हैं तो उसके दृष्टि-गोचर न होने के कारण बुरे कर्म करते समय हिचकिचाते नहीं। परन्तु याद रखें, बुरे कर्मों का बुरा फल मिले बिना नहीं रहता।

अतः ईश्वर का सर्वत्र वास है, यह समझ कर अपने अन्दर सोये हुए ईश्वर को व्यक्त करने का पुरुषार्थ करो। उस विराट् ईश्वर को घट-घट में देखो और अपने हृदय में ईश्वरत्व को सुरक्षित रखो। फिर आपको स्वयमेव "ईश्वर कहां है ?" का उत्तर "ईश्वर कहां नहीं है ?" इस वाक्य से मिल जायगा और ईश्वरत्व के निकट पहुंचने में सहायता मिलेगी।

ईश्वर कैसे और कहाँ रहते हैं और कहाँ नहीं रहते ? इस विषय को एक रोचक उदाहरण देकर समझाता हूं।

फूलांबाई अपने पिता की इकलौती लड़की थी। उसके पिता भगवानसहाय धनाढ्य होने के साथ-साथ ईश्वरभक्त थे। उनके घर में ही ठाकुरजी (भगवान विष्णु) की मूर्ति स्थापित की हुई थी। घर-वाले सब प्रतिदिन सेवा-पूजा किया करते थे। उनके घर में चार लड़के, चार पुत्रवधुएँ, एक पुत्री, स्वयं और पत्नी, इस प्रकार कुल ११ प्राणी थे। फूलांबाई इकलौती लड़की होने के कारण अपने माता-पिता की बड़ी लाडली थी। भाई-भावजें भी उसका अत्यन्त लाड़-प्यार करती थीं। अत्यन्त लाड़प्यार के कारण फूलांबाई की प्रकृति दिनोंदिन लड़ाकू, क्रोधी और अभिमानी होती जा रही थी। रोज सेठजी के पास शिकायतें आतीं थीं कि आपने अपनी लड़की को सिर चढ़ा रखा है। यह बात-बात में गुस्से हो जाती है, घमंड में आकर किसी को गाली दे देती है, किसी के चांटा भी मार देती है। सेठजी कहते– "अजी ! क्या कहें इसे ? एक ही तो लड़की है।" शिकायत करने वाले लोग सेठजी का मुलाहिजा रखते थे, इसलिए चुप हो

मन में समाधान की हलकी-सी रेखा खिंच गई— "अभी तो नादान बच्ची है। लड़कपन के कारण ऐसी बातें करती है। लेकिन जब इस पर घर-गृहस्थी का भार पड़ेगा, तब अपने-आप समझेगी और सीधी राह पर चलने लगेगी।" अतः उसने बहू को कहलवाया— "बेटी! तुम इस बात की कोई चिन्ता न करो। तुम्हें काम करने की जरूरत नहीं। प्रसन्नता से इस घर में रहो। तुम जैसा कहोगी, वैसा ही हम करेंगे।"

सास की यह बात सुनकर फुलाँबाई फूल कर कुप्पा हो गई। उसने मन ही मन अपनी बुद्धि की प्रशंसा की और सोचा—ठाकुरजी की मुझ पर कितनी कृपा है! ससुराल में भी मेरा दाव चल गया। जब सास वश में हो गई तो सारा ससुराल वश में हो गया, समझो। बस, अब तो मैं यहाँ पर भी ठाकुरजी (विष्णु भगवान्) की मूर्ति की स्थापना करवाऊँगी, और पीहर की तरह यहाँ भी पूजा-भक्ति किया करूंगी।"

फूलांबाई ने अपनी सास से कह-सुन कर अपने ससुराल में भी प्रभु की मूर्ति स्थापित करवा दी और प्रतिदिन स्वयं दो-तीन घंटे पूजा-पाठ में लगाती। लेकिन इससे उसके जीवन में, उसकी प्रकृति एवं व्यवहार में कोई तब्दीली नहीं आई। पीहर की तरह यहाँ भी वह चाहे जिसको गाली दे देती, चाहे जिस पर गुस्सा करती और चाहे जिसके साथ लड़ पड़ती। किसी के थप्पड़ जमा देती, किसी पर अपना रौब गांठती और धौंस जमाती, किसी को डराती, धमकाती और किसी की निन्दा-चुगली करती। इस प्रकार उसके बुरे स्वभाव के कारण परिवार, पड़ौस एवं गाँव के प्रायः सभी लोग तंग आ गए। सबकी नाक में उसने दम कर दिया। परन्तु फूलांबाई के ससुर हरिकृष्णजी गाँव में एक प्रतिष्ठित व्यक्ति होने से लोग उनके मुंह पर कुछ नहीं कहते थे, परन्तु आपस में कानाफूसी जरूर करते थे।

शादी की चिन्ता होने लगी। उन्हें यह चिन्ता होने लगी कि इस लड़ाकू और गुसैली लड़की को कौन लेगा ? और अपने घर में तो चाहे जो कुछ कर ले, सब सहन करते हैं, लेकिन पराये घर जायगी तो वहां इसकी अक्खड़ और अल्हड़ प्रकृति को कौन सहन करेगा ? इसलिए बड़ी चिन्ता है, इसके विवाह की भी।" आखिर उन्होंने मन का समाधान कर लिया कि यहां तो इसे रोकटोक करने वाला कोई नहीं है परन्तु ससुराल में तो इसे रोकटोक करेंगे। तब अपने आप सुधर जायगी।

भगवानसहाय ने अपने ही बराबरी का घर देखकर एक लड़के के साथ फूलांबाई की सगाई तय कर दी और कुछ महीनों बाद उसकी शादी भी धूमधाम से कर दी। ससुराल जाते समय माता ने उसे बहुत ही उत्तम शिक्षा दी। फूलांबाई ससुराल के घर में आई। आते ही उसने सोचा कि मुझ पर भगवान् की अपार कृपा है, भगवान् की कृपा से मुझे कोई कुछ भी नहीं कहता। अब तक पीहर में तो सब पर मेरी धाक जमी हुई थी। अब ससुराल में भगवत्कृपा से मेरी धाक क्यों न जमा लूं। फूलांबाई ने मन ही मन युक्ति सोचकर अपनी सास से कहला भेजा— "मैं धनाढ्य परिवार की लड़की हूं। मेरे पिता के घर में किसी भी बात की कमी नहीं है। इसलिए मैं यहाँ कोई काम करने के लिए नहीं आई हूं। मैं कहूं वैसे ही सब लोग करें तो तो मैं यहां रहूंगी। अन्यथा, मैं अपने पीहर चली जाऊँगी।" सास नई पुत्रवधू की यह अनोखी बात सुनकर भौंचक्की हो गई। उसने सोचा-"हम तो बड़े घराने की और अच्छी समझकर बहू को लाए थे, लेकिन इसने तो आते ही हमारी सेवा, विनय-भक्ति के बदले फरमान जारी करना और हुक्म देना ही शुरू कर दिया। हाय ! यह क्या रत्न के बदले पत्थर पल्ले बंध गया ! अब क्या करें ?" किन्तु सास गम्भीर स्वभाव की थी। उसने दूसरे ही क्षण कुछ सोचा और उसके

नाम सुनकर कोई मेहमान आए और खाली जाए, यह हमारे परिवार के लिए बदनामी का कारण होगा। तुम इस घर में सबसे ज्यादा होशियार हो। तुमसे बढ़कर होशियार इस घर में और कोई नहीं है। इसलिए तुम्हें घर सौंप कर जाना चाहते हैं। बोलो, तुम्हारी क्या राय है?"

फूलांबाई अपनी प्रशंसा सुनकर फूली न समाई और मन ही मन ठाकुरजी की कृपा को इसका कारण मानती रही। उसने सास की बात सुनकर तपाक से जबाब दिया—"मांजी! आप घर की चिंता मत करो। घर क्या आपके भरोसे पड़ा रहेगा? मैं खूब संभाल लूंगी। आप कल पधारते हों तो भले ही आज पधारिए।"

बहू के उत्तर से सास को निश्चितता हुई। घर के सब लोगों ने विवाह में जाने की तैयार कर ली और एक-दो दिन में ही फूलांबाई के सास-ससुर, देवर-जेठ, पति आदि सब विदा होने लगे। जाते समय सास ने बहू (फूलांबाई) को हिदायत देते हुए कहा—"बहू! देखना अपना बड़ा घर है, कोई अपना नाम सुन कर आजाए तो उसे खिलाए-पिलाए बिना, सत्कार किए बिना न जाने देना।" फूलांबाई बोली—"आप बेफिक्र रहिए। मैं सब कर लूंगी।" घर में फूलांबाई और दो चार नौकर-नौकरानियों को पीछे छोड़ कर परिवार के सब लोग रवाना हो गए।

परिवार के रवाना होने के तीन दिन बाद ही एक भगतजी, जो सेठ हरिकृष्णजी के दूर के रिश्तेदार थे, सेठजी का नाम पूछते-पूछते आ पहुंचे। घर में फूलांबाई थी। उसने आगन्तुक से कहा—"आप किसी बात की चिन्ता न करिए। सेठजी का घर यही है। सेठजी नहीं है तो क्या हुआ? मैं उनकी पुत्रवधू हूं। यह घर वे मुझे सौंप गये हैं। ४-५ दिन में सब आ जायेंगे। तब तक

लेकिन लिहाज रखते थे। सेठ हरिकृष्णजी के एक नजदीक के रिश्तेदार की लड़की का विवाह होने वाला था। उनकी आमंत्रण-पत्रिका आई, किसी दूर के गाँव से। सेठजी ने वह आमंत्रणपत्रिका पढ़ी और गम्भीर विचार में पड़ गये। सेठानी ने सेठजी का गम्भीर और उदास चेहरा देखकर पूछा—"क्या बात है ? आज आपका चेहरा उदास क्यों है ? कौन-सी चिन्ता आ पड़ी है ?" सेठजी ने कहा— "और तो कोई चिन्ता नहीं। एक ही चिन्ता सता रही है, अभी-अभी हमारे फलाँ रिश्तेदार के यहाँ से आमंत्रण-पत्रिका आई है। उनकी लड़की का विवाह है और निकट के रिश्तेदार होने से हमें उन्होंने सारे परिवारसहित आमंत्रित किया है। नजदीक का रिश्ता होने से उनके यहाँ ऐसे मौके पर सारे परिवार का जाना भी उचित और आवश्यक है। परन्तु इस नई बहू को वहाँ ले जायेंगे तो यह अपनी प्रकृति का परिचय दिये बिना न रहेगी। तब हमारी बनी-बनाई इज्जत यह मिट्टी में मिला देगी। और अगर इसे यहीं रहने को कहेंगे तो यह जिद ठान कर अड़ जायगी। इसका कोई उपाय भी तो नहीं सूझ पड़ता है।"

सेठानी थोड़ी देर तक गहरे सोच में पड़ गई। परन्तु सहसा उसके दिमाग में एक विचार फूट पड़ा कि बहू को युक्ति से समझाकर यहीं रहने के लिए मना लूंगी।" अपने पति को उसने आश्वासन दिया कि—"नाथ! आप चिन्ता न करें। मैं ऐसा उपाय करूंगी, जिससे बहू यहीं रह जाय।" एक-दो दिन बाद अवसर पाकर सास ने बात ही बात में बहू से जिक्र किया—"देखो! अपने नजदीक के एक रिश्तेदार की लड़की की शादी होने वाली है, उनकी आमंत्रण-पत्रिका फलां गाँव से आई है। नजदीक के रिश्तेदार होने से हम सबका जाना जरूरी है। मगर अपना इतना बड़ा घर सूना छोड़कर जायें, यह अच्छा नहीं। क्योंकि हम सब के जाने के बाद में अपना

बारे में पूछताछ करने लगे कि "यह बाई कौन है? किस प्रकार की प्रकृतिवाली है?" लोगों ने कहा—"यह हरिकृष्ण सेठ की पुत्रवधू है। इसकी खराब प्रकृति और अभद्र व्यवहार ने हम सब लोगों की नाक में दम कर रखा है। यह अपने घरवालों से तो झगड़ा करती ही है, लेकिन हम सबसे भी झगड़ा कर बैठती है। इसकी वाणी में बड़ी कटुता है। इसकी यह प्रकृति ससुराल आने के पहले भी अपने पीहर में भी थी। सेठजी के लिहाज में आकर हम कुछ कहते हुए हिचकिचाते हैं।"

भगतजी—"इसके कोई ईष्टदेव भी है या नहीं?"

पड़ौसी बोले—"है क्यों नहीं? भगवान की पूजा-भक्ति में तो यह रोज २-३ घंटे लगाती है, लेकिन इसकी प्रकृति में कोई भी तब्दीली नहीं आती।"

भगतजी—"अच्छा, जब इसकी भगवान् पर कुछ श्रद्धा है तो मुझे विश्वास है कि एक दिन इसकी प्रकृति सुधर सकेगी। मैं प्रयत्न करूंगा।"

भगतजी वहाँ से चल पड़े। रात को उन्होंने भगवान् से खूब प्रार्थना की कि "भगवन्! कोई ऐसा उपाय बताएँ, जिससे हरिकृष्ण सेठ की पुत्रवधू की प्रकृति सुधर जाय और वह आपकी भक्ति का सही रहस्य समझे।" भगवान् ने स्वप्न में दर्शन दिये और कहा—"भगत-जी! तुम उस बाई से कह दो कि अगर वह अपनी प्रकृति नहीं सुधारेगी तो मैं उसके यहाँ न रह कर अब तुम्हारे साथ चला जाऊँगा। उसे मुझे रखना हो तो ठोस उपाय यही है कि वह अपनी प्रकृति सुधार ले और मेरे भक्तों के साथ अभद्रव्यवहार न करे।" भगतजी सपना देखकर तुरन्त जाग पड़े और सीधे फूलांबाई के यहाँ पहुंचे। पौ फट रही थी। शर्दी के दिन थे। कड़ाके की ठंड पड़ रही थी।

आप भोजन और कहीं न करके यहीं करना।" आगन्तुक भगतजी ने कहा—"वहन ! कोई बात नहीं। तुम्हारा आग्रह मैं मान लेता हूं। भोजन और कहीं नहीं करूंगा। मुझे जरा-सा बाजार में काम है। उसे निपटाकर मैं ठीक भोजन के समय उपस्थित हो जाऊँगा।" भगतजी उधर बाजार में अपना कार्य निपटाने गए, इधर फूलांबाई ने रसोई बनाना प्रारम्भ किया। भगतजी ठीक समय पर सेठजी के यहाँ भोजन के लिये पहुंच गए। फूलांबाई ने थाली में भोजन परोसा साथ ही अपनी वाणी भी परोसनी शुरू की—"देखो, भगतजी ! यह सेठजी का घर है। यहाँ किसी बात की कमी नहीं है। आपके लिए ही मैंने खासतौर से यह रसोई बनाई है। अतः आप किसी भी प्रकार का संकोच न करें। जो भी चीज चाहिए सो मांग लेना।" भगतजी ने सोचा—"इस वहन की कुछ बातें तो ठीक हैं, कुछ तानाकशी भी है।" मनुष्य की प्रकृति की बहुत-कुछ परीक्षा उसकी वाणी पर से हो जाती है। फूलाँबाई के वचन सुनकर भगतजी ने अनुमान लगाया कि जब यह वहन मेरे जैसे अपरिचित व्यक्ति के साथ भी इस प्रकार के वचन बोलती है तब अपने घरवालों के साथ तो इससे भी कटु वचन व कटु व्यवहार करती होगी। मुझे तो भगत कहलाने के नाते इसके वचन सहने में कोई आपत्ति नहीं है, लेकिन इसके घर और पड़ौस वाले तो बहुत दुःखी होते होंगे। अगर मैं भगत होकर भी इसमें भक्ति का रंग नहीं चढ़ा सकता, तो तेरी भक्ति कची है।" ऐसा सोचकर भगतजी ने फूलांबाई से कहा—"वहन ! मैं क्यों किसी प्रकार का संकोच करूंगा। जब तुम-सरीखी चतुर वहन रसोई बनाने वाली हो।" अपनी प्रशंसा सुनकर फूलांबाई को बड़ा गर्व हुआ और प्रभु की कृपा का आभार मानने लगी।

भगतजी भोजन करने के बाद पड़ौस के लोगों से फूलांबाई के

मैं उनकी सेवा-पूजा में खामी रखती तो भगवान् का जाना समझा जा सकता था। मैं दुनिया के साथ चाहे जैसा व्यवहार करूं, इससे भगवान् को क्या वास्ता ?"

भगतजी—"यही तो तुम्हारी नासमझी है। अगर तुम्हारे कोई पुत्र हो और उसे कोई थप्पड़ मारे, गालियाँ दे, उसके साथ अभद्र व्यवहार करे किन्तु तुम्हें सोने की थाली में भोजन कराना चाहे तो क्या तुम स्वीकार करोगी ?"

फूलांबाई—"नहीं जी ! सोने की थाली में भोजन करना तो दूर रहा, ऐसे व्यक्ति का, जो मेरे पुत्र के साथ बुरा व्यवहार करे, गाली दे; मुंह भी देखना नहीं चाहूंगी।"

भगतजी—"बहनजी, जैसे तुम्हारे एक पुत्र के साथ अभद्र-व्यवहार करने वाले का तो तुम मुंह भी नही देखना चाहती, भले ही वह व्यक्ति आपको सोने की थाली में मिष्ठान्न ही क्यों न खिलाए; वैसे ही भगवान् के लिए तो सारा ही जगत् पुत्र-पुत्री है। कहा भी है—

"हरिरेव जगज्जगदेव हरिः। हरितो जगतो नहि भिन्न-तनुः॥"

यानी—यह सारा संसार प्रभुमय है और प्रभु ही सर्वसंसारमय है (सर्वजगत् में व्याप्त हैं)। प्रभु से और जगत् से भिन्न यह शरीर नहीं है।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—

"सीया राममय सब जग जानी। करहुं प्रणाम जोरि जुगपानी॥"

भगवान् के पुत्र-पुत्रियों को तुम मारो, पीटो, गाली दो और भगवान् को सोने की थाली में भोग चढ़ाओ तो भला भगवान् कैसे स्वीकार करेंगे ?"

फूलांबाई—"नहीं करेंगे।"

दरवाजे अभी बन्द थे। भगतजी ने दरवाजे पर दस्तक दी। फूलांबाई ने द्वार पर आकर पूछा—"कौन है इस समय रात को ?" भगतजी बोले—"बहन ! मैं भगत हूं। दरवाजा खोलो। मैं भगवान् का एक संदेश सुनाने आया हूं।"

फूलांबाई—"भगत होओगे ! पर न मालूम तुम्हारी नीयत बदल गई हो। मैं अभी द्वार नहीं खोलती; बोलो, भगवान् का क्या संदेश है ?"

भगतजी—"बहन ! भगवान् ने आज मुझे स्वप्न में दर्शन दिये और यह कहा कि—"भगत ! मैं अब इस बाई के यहाँ नहीं रहना चाहता। मैं अब तुम्हारे यहाँ जाना चाहता हूं।"

भगवान् के चले जाने का नाम सुनते ही फूलांबाई के रौंगटे खड़े हो गए। सोचने लगी—"भगवान् की कृपा से ही तो मेरे सारे कार्य सिद्ध होते हैं, जब वे ही पधार जायेंगे तो मेरा सारा ही आधार टूट जायगा।" निराधारता की भयंकरता को सोच कर फूलांबाई ने तुरन्त द्वार खोला और भगतजी के चरणों में पड़ कर बोली—"भगतजी ! आप किसी तरह से मेरे भगवान् को रखिए। मैंने उनकी सेवा-पूजा में क्या कसर रखी है, या कौन-सा दोष कर दिया है, जो भगवान् मेरे यहाँ से पधार रहे हैं ? आपने पूछा तो होगा।"

भगतजी—"मैं कैसे नहीं पूछता, मैंने तुम्हारा नमक खाया है। मैंने इस बारे में पूछा तो भगवान् ने कहा—"मैं इस बाई की सेवा-पूजा का भूखा नहीं हूं। दुनिया मेरी सेवापूजा करती है। मैं तो इस कारण से जा रहा हूं कि यह बाई मेरे भक्तों के साथ लड़ाई-झगड़ा करती है, किसी को गाली दे देती है, किसी के थप्पड़ जमा देती है।"

फूलांबाई—"तब तो भगवान् को नहीं जाना चाहिये। अगर

नहीं रहेंगे। और मुझे भगवान् को किसी भी हालत में रखना है। क्या करूं ?"

इस प्रकार कुछ देर तक पशोपेश में पड़ने के बाद फूलांबाई ने पक्का निश्चय कर लिया कि—"चाहे कितना ही त्याग करना पड़े, मुझे अपने भगवान् को रखना है।" भगतजी के सामने फूलांबाई ने अपना निश्चय प्रगट किया। भगतजी ने कहा—"बहन ! अभी तो तुम मेरे सामने स्वीकार कर रही हो कि मैं क्रोध, कलह, दुर्व्यवहार आदि छोड़ दूंगी; किन्तु कल को तुम अपनी आदत के अनुसार वापिस चलने लगो गी तो फिर भगवान् को कौन और कैसे रख सकेगा ?"

फूलांबाई ने प्रतिज्ञा करते हुए कहा—"भगतजी ! मैं आपके सामने प्रतिज्ञा करती हूं कि आज से मैं किसी के साथ लड़ाई-झगड़ा, ईर्ष्या, द्वेष, वैरविरोध, मारपीट या किसी प्रकार का भी दुर्व्यवहार नहीं करूंगी, न किसी की निन्दा-चुगली करूंगी। और जो मुझ से पिछली भूलें हुई हैं, जिस किसी के साथ आज तक कोई दुर्व्यवहार हुआ है, उसके लिए भी मैं सबसे नम्र बनकर हाथ जोड़ कर क्षमा मांगूंगी। सबसे पहले तो मैं आपसे क्षमा मांगती हूं, मैंने आप पर भी बात-बात में मैंने तानाकसी की। आप तो बड़े हैं, क्षमाशील हैं, क्षमा करेंगे। और मेरे परिवार के सब लोग कल ही वापिस लौटने वाले हैं, मैं उन सबसे करबद्ध हो कर क्षमायाचना कर लूंगी। अब तो मेरे भगवान् मेरे यहाँ रह जायेंगे न ?"

भगतजी—बहिनजी ! मैं तो भक्त कहलाता हूं। मुझे तो आप दो शब्द कठोर भी कह दें तो सह लेना मेरा धर्म है। मेरी तरफ से मैं तुम्हें क्षमा देता हूं। पर सबसे पहले तुम्हें अपने परिवार व पड़ौस वालों से क्षमा मांगना जरूरी है, जिसके लिए तुमने मुझे विश्वास

भगतजी—"बस, इसी कारण से भगवान् तुम्हारे यहाँ नहीं रहना चाहते।"

फूलांबाई—"अब मैं समझी। लेकिन भगतजी! ऐसा कोई उपाय है, जिससे भगवान् आपके साथ न पधार कर, मेरे यहाँ ही विराजे रहें ?"

भगतजी—"है क्यों नहीं! और वह उपाय तो तुम्हारे ही हाथ में है।"

फूलांबाई—"कैसे है मेरे हाथ में ? मैं समझी नहीं।"

भगतजी—"अगर तुम आज से ही यह समझो कि सारा संसार भगवान् की सन्तान है और मैं भी भगवान् की हूं। इसलिए आज से ही प्रतिज्ञा कर लो कि मैं किसी के भी साथ अब लड़ाई-झगड़ा न करूंगी, गाली न दूंगी, चुगली, द्वेष, छल, मार-पीट न करूंगी; सबके साथ सद्व्यवहार करूंगी, सब पर दया, स्नेह, करुणा, वात्सल्य, सहानुभूति और क्षमा रखूंगी, यथाशक्ति जनता की सेवा करूंगी, तो भगवान् तुम्हारे यहां रह सकेंगे। अन्यथा, कोई उपाय भगवान् को रखने में कामयाब नहीं हो सकेगा।

फूलांबाई को परमात्मा के प्रति श्रद्धा तो थी ही, पर वह उनकी भक्ति का रहस्य नहीं जानती थी। अतः मन ही मन सोचने लगी— "वर्षों की बनी हुई खराब प्रकृति को मैं कैसे छोड़ सकूंगी। परन्तु छोड़े बिना तो भगवान् रह नहीं सकेंगे!" कहा भी है—

"जहाँ राम तहाँ काम नहीं, जहाँ काम नहीं राम।
दोनों इकट्ठे ना रहें, राम-काम इकठाम॥"

"जहाँ काम, क्रोध आदि का प्राबल्य रहेगा वहाँ भगवान्

पिछली गलतियों के लिए आपसे क्षमा मांगती हूं और सबसे भी मांगूंगी। अब तो आप क्षमा देंगे तभी मेरे भगवान् मेरे यहां रह सकेंगे। क्योंकि मेरे इन दुर्व्यवहारों व दोषों के कारण ही भगवान् अपने यहां से पधार रहे थे। अगर भगतजी न आये होते और मुझे सत्प्रेरणा देकर भगवान् को रखने का उपाय न बताते तो भगवान् अपने यहां नहीं ठहरते, भगतजी के साथ चले जाते। ऐसा भगतजी को स्वप्न में उन्होंने संदेश दिया था।"

सभी लोगों ने कहा—"खैर, जो भी हुआ; अच्छा हुआ। हम सब अपनी ओर से तुम्हें क्षमा-प्रदान करते हैं। भविष्य में फिर कभी उन गलतियों को न दुहराना। अभी तो घर चलो, बाकी सब बातें घर पर होंगी।"

सब लोग घर पर आए। इधर भगतजी भी भोजन के समय पर सेठजी से मिलने उनके घर पर आए थे। सबने भोजन किया। और निश्चिंत होकर दीवानखाने में बैठे। पहले तो फूलांबाई ने अपनी प्रकृति के परिवर्तन की सारी कहानी सुनाई। तत्पश्चात् सबने भगतजी का आभार मानते हुए कहा—"भगतजी, आपने हम पर इतनी कृपा की कि हमारी बहू को बदल दिया, घर और पड़ौस में सुखशान्ति कायम कर दी। इसके लिए हम आपके जन्मजन्मान्तर तक ऋणी रहेंगे।"

भगतजी बोले—"अजी! आप मुझे नाहक क्यों श्रेय दे रहे हैं? मैंने इसमें कौन-सा बड़ा काम कर दिया? मेरा तो कर्त्तव्य ही था। अगर मैं कर्त्तव्य में पुरुषार्थ न करता तो प्रभुभक्ति से गिरता। अगर भगवान् की कृपा न होती और इस बहन द्वारा अपनी दुष्प्रकृति बदलने का पुरुषार्थ न हुआ होता तो मैं क्या कर सकता था?"

दिला ही दिया है। अब तुम निश्चिंत रहो। मैं भगवान् से प्रार्थना कर दूंगा कि बहन ने आपकी आज्ञानुसार किसी के भी साथ दुर्व्यवहार न करने की प्रतिज्ञा करली है और सबसे क्षमा मांगना चाह रही है। अपना जीवन शुद्ध बनाना चाह रही है तब आप मेरे साथ क्यों पधारते हैं ? इस बहन के यहीं विराजने की कृपा करें।"

फूलांबाई को इससे बहुत संतोष हुआ और शान्ति मिली, भगतजी चले गए और भगवान् से उन्होंने हृदय से प्रार्थना की, जो स्वीकृत हो गई।

दूसरे ही दिन फूलांबाई के परिवार के सब लोग घर आने वाले थे, इसलिए फूलांबाई ने उनकी अगवानी के लिए कुछ दूर तक सामने जाने की पूरी तैयारी की और घर से रवाना हुई। परिवार के लोगों ने फूलांबाई को आती देख कर गाड़ियाँ रुकवाई। सब उतर पड़े। फूलांबाई ने क्रमशः अपने सास, ससुर, जेठ, पति आदि के चरणों में पड़ कर हाथ जोड़ कर माफी मांगी और विनम्रतापूर्वक कहा—"मैंने आपका दिल दुखाया, आपकी निन्दा, चुगली करके, आपके साथ कई प्रकार का दुर्व्यवहार करके आपके कोमल हृदय को ठेस पहुंचाई, आपकी बदनामी कराई, इन सारे अपराधों के लिए मुझे क्षमा करें। मैं भविष्य में ऐसा कभी नहीं करूंगी, ऐसा आपको विश्वास दिलाती हूं।"

सभी लोग फूलांबाई के इस आकस्मिक जीवन-परिवर्तन को देखकर हक्केबक्के रह गए। पूछने लगे—"ऐसी क्या बात हुई ? इतने दिन तो नहीं, और आज ही इस प्रकार क्षमा मांगने का क्या कारण है ?"

फूलांबाई—"मैंने आयंदा किसी के साथ भी किसी भी प्रकार का दुर्व्यवहार न करने की प्रतिज्ञा भगतजी के सामने ले ली है। इसी से

के रूप में हम मूर्ति व मंदिर में निवास भले ही समझ लें, असली निवास तो हमारे हृदय में होता है। जहाँ हम शरीररूपी मन्दिर में, हृदयरूपी वेदी पर अज्ञानवश क्रोध, काम, मोह, अभिमान, द्वेष, ईर्ष्या, कलह आदि दुर्गुणों को विराजमान कर देते हैं, वहाँ फिर भगवान् कैसे रह सकते हैं ? इसीलिए तेरे यहाँ (हृदय) से भगवान् और कहीं पधार रहे थे। कहा भी है—

"देहो देवालयः प्रोक्तो, जीवो देवः सनातनः।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं, सोऽहंभावेन पूजयेत् ॥"

अर्थात्—"यह शरीर ईश्वर का मन्दिर कहलाता है और शुद्ध सनातन आत्मा उसमें विराजित परमात्मदेव है। अज्ञान के कारण जीवन में आने वाली मलिनताओं—काम-क्रोधादि मैल—को छोड़ दें तो वह शुद्ध आत्मा स्वयं ही ईश्वर के रूप में पूजनीय हो जाती है। यही ईश्वर की पूजा है।"

फूलांवाई कुछ ही दिनों में ईश्वर-निवास, ईश्वरभक्ति आदि वातों का रहस्य समझ चुकी थी। अव भगतजी को सारे परिवार ने सहर्ष विदा दी। फूलांवाई के पीहरवालों ने भी भगतजी को अपने यहाँ सत्संग के लिए बुलाया और उक्त उपकार के लिए उनका वहुत ही आभार माना।

भाग्यशालियो ! इस कहानी से आप समझ गये होंगे कि ईश्वर कहाँ रहता है ? कहाँ नहीं ?

अंग्रेजी में एक कहावत है—

'Cleanliness is next to godliness.'

अर्थात्—'पवित्रता-शुद्धता भगवत्त्व-ईश्वरत्त्व के अत्यन्त निकट हैं।'

—सम्पादक

वे कहने लगे—"भगतजी ! हम तो इतने लम्बे समय से वहू की प्रकृति को बदलने के लिए पच रहे थे, लेकिन हमारा परिश्रम सफल न हुआ, और आपने तीन-चार ही दिन में इसके जीवन का कायापलट कर दिया, यह आप ही का पुरुषार्थ नहीं तो क्या है ? आप चाहे जो कुछ कहें, हम तो आप ही को इसका श्रेय देंगे।" भगतजी बहुत इन्कार करते रहे श्रेय लेने से; किन्तु फूलांबाई के परिवार वाले कहने लगे—"हमारे लिए तो आप भगवान् के तुल्य हैं, आपने हमारे घर की एक महिला को सुधार दिया।"

आखिर फूलांबाई स्वयं उठी और नम्रतापूर्वक कहने लगी—"आप जो भी हों, मेरे लिए तो प्रभुतुल्य हैं, गुरुजन हैं और आज से मैं आपको अपना बड़ा भाई मानती हूं। आप मुझे अपनी छोटी वहन समझें। अब तक तो आप अपने कार्य से यहाँ रुके। अब मेरी प्रार्थना है कि एक सप्ताह और रुकें, जिससे मैं सत्संग करके अपनी शंकाओं का समाधान कर सकूं और ज्ञानलाभ कर सकूं।"

भगतजी कहने लगे—"वहन ! मैं तो तुम्हें पहले ही अपनी वहन कह चुका। यद्यपि मुझे अब लौटना जरूरी था, लेकिन तुम्हारा अत्यन्त आग्रह है तो मैं एक सप्ताह और रुक जाऊँगा।"

फूलांबाई ने अपने पड़ौसियों तथा जिन-जिन से सम्पर्क था, उन सबसे अपनी भूलों के लिए माफी मांगी। अपने पीहर में भी चिट्ठी भेज कर सारे समाचार पहुंचाए। और सबसे लिखित क्षमायाचना की। पीहर वालों को भी अपनी लड़की के स्वभाव के बदल जाने का शुभ वृत्तान्त जान कर बड़ी खुशी हुई। इधर फूलांबाई ने भगतजी से रोज सत्संग के समय शंका-समाधान करना शुरू किया। बचपन के सुने हुए गीता के पूर्वोक्त श्लोक का भी रहस्य समझा। और यह भी भगतजी ने उसे भलीभांति समझा दिया कि भगवान् का बाह्य प्रतीक

४

ईश्वर की सेवाभक्ति

आज मैं ईश्वर की सेवाभक्ति के बारे में आपको कुछ बातें बतलाऊँगा।

परमात्मा की सेवा और भक्ति की संसार में बहुत ही महिमा है। सभी धर्मों में परमात्मा की बंदगी, सेवा, भक्ति और नमस्कार आदि का उल्लेख किसी न किसी रूप में मिलता ही है। जैनधर्म में भी इस सम्बन्ध में काफी गहराई से विचार किया गया है। जैनधर्म ने सेवा-भक्ति के सभी अंगों पर विश्लेषण भी किया है।

सेवा का रहस्य

सवाल यह होता है कि सिद्धईश्वर तो निरञ्जन-निराकार हैं, उनके तो कोई शरीर, इन्द्रियाँ या अंगोपांग नहीं होते और हमारी चर्मचक्षुओं से भी वे नहीं दिखाई देते, तब फिर उनकी सेवा-भक्ति कैसे की जाय? यदि यह कहा जाय कि मुक्त ईश्वर (वीतराग तीर्थंकर) तो शरीरधारी होते हैं, उनकी तो सेवा-भक्ति हो सकती है; परन्तु तीर्थंकर-या उनके अनुगामी साधु-साध्वी सभी मुनिवेष में होते हैं; और मुनिवेष में होने के कारण वे किसी प्रकार की शारीरिकसेवा तो गृहस्थों से प्रायः अपनी साधुमर्यादा के अनुसार नहीं ले सकते।

निष्कर्ष यह है कि जिस कार्य को करने से सत्, चित्, आनन्द की प्राप्ति हो, वहीं ईश्वर का निवास है। मन-वचन-काया की पवित्रता-शुद्धता में ही ईश्वर रहा हुआ है। मन-वचन-काया की पवित्रता यथार्थ श्रद्धा और सम्यग्ज्ञानपूर्वक सही रूप में धर्माचरण करते रहने से ही रह सकती है। और जहाँ पवित्रता है, वहीं ईश्वर है।

जहाँ सम्यग्दर्शन आदि की त्रिवेणी नहीं होती, वहाँ मन-वचन-काया की शुद्धि नहीं रहती। और जहाँ शुद्धि नहीं होती; वहाँ प्रभु दूर-दूर होता जाता है। जव मनुष्य धर्मविरुद्ध आचरण करने लगता है, जिससे लोकनिन्दा हो, आत्मग्लानि हो, पश्चात्ताप हो ऐसे पापकर्म करने लगता है, तव समझो कि ईश्वर उस आत्मा से हट गया है। जहाँ एक भी बुरा काम हुआ, समझो, ईश्वर हृदय से निकल गया। कर्तव्यपालन में ही ईश्वर है। धर्म का यथार्थरूप से पालन करने में ईश्वर के दर्शन हैं। ईमानदारी में ईश्वर का निवास है। ईश्वर आपके प्रत्येक कार्य में है, वशर्ते कि वह कार्य धर्मदृष्टि से, ध्येयानुकूल और पवित्रतापूर्वक किया गया हो।

भाग्यशालियो! ईश्वर कहाँ है? इस बारे में मैं काफी विस्तार से आपके सामने कह गया हूं। आप इसे हृदयंगम करें और अपने जीवन में उतारें। ईश्वर के निवास के ज्ञान को ही दूसरे शब्दों में ईश्वरदर्शन या ईश्वर-साक्षात्कार कहा जाता है। ऐसा ईश्वरदर्शन भाग्यशालियों को ही प्राप्त होता है। आप अपने जीवन में इसका पुरुषार्थ करेंगे तो सफलता मिले विना न रहेगी।

स्थान—गौड़ीजी का उपाश्रय
पायधुनी, वम्वई — संवत् २००६ कार्तिक वदी ४

लेकिन पिता किसी बात के लिए आज्ञा करे तो उसे सुनी-अनसुनी कर दे, उनके आदेश को ठुकरा दे, उनकी अवहेलना करे या बदनामी कराए तो क्या यह पुत्र द्वारा पिता की वास्तविक सेवा है? क्या ऐसा पुत्र सुपुत्र कहला सकता है? नहीं। इसी प्रकार जो भगवान् को वन्दना नमस्कार करे, हाथ जोड़े, पूजा-पाठ करे; उनका नाम-जप करे लेकिन उनकी आज्ञाओं को ठुकरा दे या उनकी बदनामी हो, ऐसे अधर्मकार्य करे, उनके आदेशों-सन्देशों पर जरा भी ध्यान न दे; केवल अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए, अपना मतलब निकालने के लिए, पद या प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए भगवान् का भक्त या सेवक बन जाय तो वह भी भगवान् का सच्चा भक्त या सेवक कैसे कहला सकता है?

मान लो, ईश्वरलाल नाम का एक सेठ है। उसके यहाँ दो गुमाश्ते रहते हैं। एक है भक्तदास और दूसरा है सेवकराम। दोनों दो तरह की प्रकृति के हैं। भक्तदास जब देखो तब सेठजी के नाम की माला फिराता रहता है। सेठजी के व्यापारधंधे के काम में बिलकुल ध्यान नहीं देता, न हिसाब-किताब ठीक रखता है और न ग्राहक को सौदा देता है। सेठजी जब कभी आते हैं तो हाथ जोड़ कर खड़ा हो जाता है, उनके चरणों में गिर कर नमन करता है। उनकी बेहद प्रशंसा कर देता है। दूसरा गुमाश्ता सेवकराम सेठजी के नाम की माला नहीं फिराता। सेठजी के आने पर विनय-शिष्टाचार वगैरह जरूर करता है, लेकिन व्यर्थ की तारीफ नहीं करता। मगर सेठजी का काम व्यवस्थित ढंग से वफादारीपूर्वक करता है। हिसाब-किताब सुव्यवस्थित रखता है, ग्राहक को सौदा देता है। बताइए, ईश्वरलाल सेठ दोनों गुमाश्तों में से किस पर प्रसन्न होंगे? कौन-सा गुमाश्ता उन्हें प्रिय होगा? किस गुमाश्ते को सेठजी रखने के लिए राजी होंगे?

हाँ, आहारपानी, औषध आदि देना धर्म-प्रचार में सहयोग देना, आदि कार्यों द्वारा गृहस्थलोग सेवा-भक्ति कर सकते हैं। और तीर्थंकर भगवान् हर काल (युग) में मौजूद नहीं होते। वे महाविदेह क्षेत्र में रहते हैं सही, लेकिन भरतक्षेत्र में तो वे हर युग में विद्यमान नहीं होते। तब फिर उन तीर्थंकर भगवन्तों (मुक्त ईश्वरों) की सेवा-भक्ति कैसे की जाय?

वास्तव में सिद्धईश्वर या मुक्त ईश्वर की सेवा का रहस्य यह है उनकी आज्ञा का श्रद्धापूर्वक पालन किया जाय। इसीलिए कलिकाल-सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने वीतरागस्तुति करते हुए कहा—

"तव सपर्यास्तवाज्ञा-परिपालनम्"

हे भगवन्! आपकी वास्तविक सेवा तो आपकी आज्ञाओं का श्रद्धापूर्वक पालन करना है।

सारांश यह है कि जो ईश्वर (सिद्ध या मुक्त) की वास्तविक रूप से सेवा करना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे धर्म-पालन की, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि व्रतों और नियमों के पालन की ईश्वरीय आज्ञाओं का श्रद्धापूर्वक पालन करें। जो एक ओर तो ईश्वर (सिद्ध या अर्हन्त) को नमन-वन्दन करते हैं, उनका नाम-जप करते हैं, या उनकी मौजूदगी में उन्हें आहार-पानी आदि के रूप में भिक्षा दे देते हैं, लेकिन जीवन में धर्म से विपरीत आचरण करते हैं, क्रोध, मान, माया, लोभ, रागद्वेष, कलह, ईर्ष्या, छलप्रपंच, धोखा आदि बुराइयों को अपनाते रहते हैं, वे ईश्वर की वास्तविक सेवा नहीं करते।

एक पुत्र अपने पिता के चरणों में खूब नमन करे, उनकी प्रशंसा करे, उनका नाम बार-बार ले, उनके सामने हाथ बांध कर खड़ा रहे;

पापकर्मों के लिए सच्चे हृदय से पश्चात्ताप न करे, और भविष्य में वैसे दुष्कर्म न करने के लिए विचार या संकल्प न करे और जिनके साथ उसकी ओर से दुर्व्यवहार हुआ हो, उनसे विनयपूर्वक क्षमा-याचना न कर ले या क्षतिपूर्ति न कर दे तब तक केवल भगवान् से हाथ जोड़ लेने या उनकी कोरी स्तुति कर लेने या उनसे केवल क्षमा मांग लेने मात्र से भगवान् प्रसन्न नहीं होंगे और न ही पापों के फल से छुटकारा मिल सकेगा।

सम्राट् कोणिक भ० महावीर का परम-भक्त बना हुआ था। जब तक भगवान् महावीर की सुखशान्ति की खबर उसे नहीं मिल जाती थी, तब तक वह अन्नपानी ग्रहण नहीं करता था। बाह्यभक्ति की यह पराकाष्ठा थी। एक बार कोणिक ने मन ही मन सोचा कि मैंने बहुत-से पाप-कर्म किये हैं। हलविहलकुमार से उनके हक का हार और सेचानक हाथी जबर्दस्ती लेने के लिए अपने न्यायप्रिय मातामह चेटक महाराज से भयंकर युद्ध छेड़ा, अपने पिता को राज्य लेने के लिए पींजरे में डाला। और भी कई अनर्थ किए। उन सब पापों पर पर्दा भी पड़ जाय और मैं जनता की दृष्टि में भगवान् महावीर का परम भक्त सिद्ध होजाऊँ, अगर तीर्थंकर प्रभु महावीर लोगों के सामने समवसरण (धर्मसभा) में मेरी भक्ति की प्रशंसा कर दें। अतः एक बार विराट् सभा में जनता के सामने खड़ा होकर कोणिक भ० महावीर से पूछता है—"भगवन् ! मैं मर कर कहाँ जाऊँगा ?" प्रखर सत्यवादी भ० महावीर ने गम्भीरभाव से कहा—"कोणिक ! इस बात का निर्णय तुम अपने मन से पूछो। सबसे बड़ा आत्मदेवता तुम्हारे अन्दर बैठा है, जो तुम्हारे जीवन का सही फैसला करने में साक्षी है। और अगर मुझ से ही उसका निर्णय सुनने की इच्छा है तो मैं तुम्हारे भविष्य को अत्यन्त अन्धकारपूर्ण देख रहा हूं। तुम मर कर छठी नरक में जाओगे।"

आप न बताएँ तो मैं ही बता देता हूं। ईश्वरलाल सेठ उसी गुमाश्ते (सेवकराम) को पसंद करेंगे, वही उन्हें प्रिय होगा, जो उनका काम सुव्यवस्थित ढंग से करता है।

इस पर से आप समझ सकते हैं कि सेठों के भी सेठ परमश्रेष्ठ परमात्मा को भी वही व्यक्ति प्रिय होगा, जो उनकी आज्ञाओं का यथार्थरूप से पालन करता होगा, उनके द्वारा रचे हुए (स्थापित) संघ (तीर्थ) की उन्नति के लिए, उनके द्वारा प्रचारित व्यापक और शुद्ध धर्म का पालन करने-कराने के लिए सतत प्रयत्नशील होगा। और यही उनकी वास्तविकरूप से सेवा होगी।

आज दुनिया में भगवान् की वास्तविक सेवा-भक्ति बहुत ही कम हो गई है। लोग अनेक प्रकार के पाप-कर्म करते हैं, झूठ बोलते हैं, धोखेबाजी करते हैं, व्यापार-धंधों में बेईमानी करते हैं, चोरबाजारी करते हैं, रिश्वत खाते हैं, अन्याय-अत्याचार करते हैं और उस पाप के फल से बचने के लिए भगवान् के सामने गिड़गिड़ाते हैं, प्रार्थना करते हैं, स्तुति करते हैं, जोर-जोर से चिल्लाकर भगवान् के नाम की रट लगाते हैं, ताकि भगवान् प्रसन्न हो कर उस पाप के फल से छुटकारा दिला दें या पाप का फल न भोगना पड़े। कई लोग इस अभिप्राय से भी भगवान् की स्तुति या प्रार्थना किया करते हैं; ताकि लोग उन्हें जान सकें कि वे बड़े परमात्मा के भक्त हैं, रोज घंटों नामजप या प्रार्थना-पूजा किया करते हैं। परन्तु दूसरी ओर वे उन पापकर्मों को छोड़ने का कोई विचार नहीं करते, न उनके हृदय में पापकर्मों के लिए कोई पश्चात्ताप ही होता है। इसी कारण संसार में एक तरफ पापों के पहाड़ खड़े होगए हैं, दूसरी ओर वे अपने माने हुए परमात्मा से पापों की माफी मांगते हैं। भला भगवान् ऐसे कैसे माफ दे देंगे? क्या भगवान् इस प्रकार की उनकी कोरी प्रशंसा या स्तुति से प्रसन्न हो जायेंगे? कदापि नहीं। जब तक व्यक्ति अपने

इस कारण से प्रार्थना में आने वालों की संख्या रविवार को ५० हजार तक बढ़ जाती। सम्राट् पीटर ने चर्च के पादरी से कहा—"मेरी प्रजा कितनी ईश्वरभक्त है?" पादरी समझता था कि इतनी संख्या देख कर उन्हें ईश्वरभक्त मान लेना सम्राट् का भ्रम है। परन्तु शायद इस कटु सत्य को सुनने के लिये सम्राट् के कान तैयार न हों, वह चुप रहा। अगले शनिवार की रात को ही पादरी ने मास्को की आम जनता में यह शोहरत करवा दी कि—"कल प्रार्थना में बादशाह नहीं आयेंगे।" दूसरे दिन (रविवार को) जब बादशाह पीटर चर्च में प्रार्थना करने आए तो उन्होंने आश्चर्यचकित होकर देखा कि वहाँ प्रार्थना करने के लिये आने वाले केवल ७ व्यक्ति थे। पादरी ने इस तथ्य का रहस्योद्घाटन करते हुए कहा—"प्रजा बादशाह की भक्त है, ईश्वर की नहीं। वह केवल आपकी निगाह में खुद को अच्छी दिखाने के लिहाज से, समाज में सम्मान पाने के लिए, अथवा अपनी कई प्रकार की स्वार्थसिद्धि के लिए धार्मिक स्थानों में या पूजा-भक्ति के स्थानों में आती है, ईश्वर की पूजा-भक्ति के लिए नहीं।"

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि परमात्मा की सेवा-भक्ति केवल दिखावे के लिए करने से सिद्ध नहीं होती। यह तो हर व्यक्ति समझता है कि निरञ्जन निराकार सिद्ध परमात्मा का कोई मस्तक नहीं दुखता कि आप उनका मस्तक दबा कर सेवा कर देंगे, या उनके शरीर में कोई व्याधि नहीं; जो आप उनको दवा लाकर दे देंगे। भगवान् को कोई पगचंपी की भी जरूरत नहीं और न आहार-पानी की जरूरत है। इसलिए परमात्मा की सेवा का कोई और ही तरीका है, जिसे जान लेना चाहिए।

परमात्मा की सेवा का एक तरीका तो यह है कि उनके नाम-

'भगवन् ! आपका भक्त और छठी नरक में !?' कोणिक ने निराशा के स्वर में कहा।

भ० महावीर ने और अधिक गम्भीर हो कर कहा—"कब से बने हो भक्त? जो कर्म किये हैं, उन्हें याद करो। पिता को कैद में डाला, भाइयों का सब-कुछ हड़प कर भी उनके प्राण लेने पर उतारू हो गए और अपने नाना चेटकराज का निर्मम संहार किया। ये सब काले कारनामे क्या कभी भुलाए जा सकते हैं? अशुभकर्मों के फल क्या कभी शुभ हो सकते हैं? जब तक तुम्हारे मन में इन सब बुराइयों के लिए पछतावा नहीं हो और उन्हें छोड़ने की तैयारी न हो, तब तक कोरी भक्ति से पापकर्म कट नहीं सकते।"

कोणिक का मन, जो अब तक स्वर्ग की कल्पना के पंख लगा कर उड़ रहा था और भगवान् से स्वर्ग का प्रमाणपत्र पाने की धुन में था; यह स्पष्ट उत्तर सुन कर लज्जित हो गया।

यह है परमात्मा की सेवा-भक्ति का रहस्य! जो इसका असली मर्म नहीं समझता और औपचारिकरूप से सेवा, भक्ति या नमाज-बंदगी करता है, प्रार्थना करता है, परन्तु ईश्वरीय आज्ञाओं, भगवान् के द्वारा बताए गये धर्मतत्त्वों या यमनियमों को जीवन में उतारता नहीं; उलटे अधिकाधिक पापकर्म करके उन पर पर्दा डालने के लिए जनता की आँखों में धूल झोंकता है, सेवा-भक्ति की कुछ क्रियाओं का प्रदर्शन कर देता है, उसे वास्तव में परमात्मा की सेवा या भक्ति नहीं कहा जा सकता।

रूस का एक जार (सम्राट्) 'पीटर दी ग्रेट' बड़ा ईश्वर-भक्त था। उसने मास्को में एक बड़ा गिरजाघर (चर्च) बनाना शुरू किया। वह स्वयं हर रविवार को उसमें ईश्वरप्रार्थना करने के लिए जाता।

इस दृष्टि से तीर्थंकर (मुक्तईश्वर) या अवतारी पुरुष संसार की सेवा के लिए—जगत् के जीवों की रक्षा के लिए जन्म लेते हैं, संघ की स्थापना करते हैं, धर्म की वृद्धि करते हैं और प्रवचन देते हैं। प्रश्नव्याकरणसूत्र में स्पष्ट कहा है—

"सव्वजगजीवरक्खणदयटठ्याए पावयणं भगवया सुकहियं।"

'तीर्थंकर भगवान् ने सारे संसार के जीवों की रक्षा और दया के लिए प्रवचन फरमाये हैं। या धर्मतीर्थ की स्थापना की है।'

अतः मुक्त ईश्वर (तीर्थंकरादि) की वास्तविक सेवा के लिए एक तरीका यह है कि उनका जन्म जब धर्म के लिए होता है और धर्म-प्रसार करते-करते वे संसार से मुक्त हो कर सिद्धगति में पधार जाते हैं, तो उनके संघ की सेवा करे, उनके धर्म-प्रचार-प्रसार के अधूरे काम को पूर्ण करने-कराने में, धर्मवृद्धि करने-कराने में सहयोग दे, स्वयं धर्मपालन करे, दूसरों को धर्मपालन में प्रेरित करे, उनके द्वारा रचित धर्म संघ में ज्ञान-दर्शन-चारित्र की उन्नति के लिए प्रयत्न करे, संघ (शासन) की रक्षा के लिए पुरुषार्थ करे।

सिद्ध ईश्वर की वास्तविक सेवा यह है कि जिस दुनिया के कल्याण का कार्य करते-करते (अपनी आत्मसाधना के साथ) वे सिद्ध (मुक्त) हुए उन सिद्धईश्वर द्वारा सुधारी हुई, बहुत अंशों में धर्मसम्मुख व सुसंस्कृत की हुई सृष्टि को बिगाड़े नहीं, बल्कि सृष्टि को और अधिक आनन्दमय, ज्ञानमय और श्रद्धामय बनाने में अपना योगदान दे, पुरुषार्थ करे। जो ऐसा न करके दुनिया में मार-काट मचा कर, लूट-पाट, धोखाफरेब, दंगा, बेईमानी, अन्याय, अत्याचार, चोरी, मद्यपान, द्यूतक्रीड़ा, मांसाहार, व्यभिचार आदि बुराइयों का सेवन करके इस आनन्दकन्दमय बनी हुई सृष्टि को नरक बना देता है,

स्मरण के साथ उनका काम[1] किया जाय। नामस्मरण या स्तुति तो उनके गुणों को याद करने के लिए हैं, ताकि उनके गुणों को हम यत्किञ्चित्रूप में भी अपने जीवन में उतार सकें। जो भगवान् का नाम लेकर उनका काम बिलकुल नहीं करता या उलटे (उनकी आज्ञा के विरुद्ध) कार्य करता है, वह भगवान् की सेवा करने के बदले, उलटा उनका द्रोह करता है। विष्णुपुराण में स्पष्ट कहा है—

"अपहाय निजं कर्म, कृष्ण-कृष्णेति वादिनः।
ते हरेर्द्रोहिणः पापाः परार्थं जन्म यद्धरेः॥"

अर्थात्—"जो अपने कर्त्तव्य (भगवान् के प्रति) कर्म को छोड़कर केवल कृष्ण-कृष्ण के रूप में भगवान् का नाम लेते हैं, वे पापी हरि (भगवान्) के द्रोही हैं, क्योंकि भगवान् का जन्म तो परोपकार के लिए है।"

मतलब यह है कि तीर्थंकर (मुक्त ईश्वर) या अवतारी पुरुष का जन्म जगत् में अधर्म, हिंसा, मारकाट आदि जो पाप फैल रहे हैं, उन्हें दूर करके शुद्ध व्यापक धर्म की स्थापना के लिए ही होता है। भगवद्गीता में स्पष्ट कहा है—

"यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽत्मानं सृजाम्यहम्॥"
"धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे॥"

अर्थात्—"जब-जब धर्म का क्षय होता जाता है और अधर्म बढ़ता जाता है, तब (ईश्वरीय शक्ति के रूप में) मैं अपने आप जन्म लेता हूं। पापों को नष्ट करने और धर्म की संस्थापना करने के लिए मैं युग-युग में अवतरित होता हूं।"

१—कहावत है—"Work is worship." 'उनका कार्य करना ही उनकी पूजा है।' —सम्पादक

मालियों ने कैसा और कितना काम किया है ? वगीचा कितना समृद्ध हुआ है ?"

राजा अपनी सवारी में बैठ कर वगीचे में पहुंचा। संयोगवश राजा पहले-पहल लापरवाही माली को सौंपे हुए वगीचे के हिस्से में घुसा। घुसते ही राजा ने देखा कि वगीचा बिलकुल उजड़ा हुआ है, मार्ग में कंटीले झाड़झंखाड़ पैदा होने के कारण प्रवेश भी दुर्गम हो गया है, वृक्षों पर फल-फूलों का नामोनिशान नहीं है।" राजा ने आगवबूला होकर तुरन्त उस माली को बुलवाया। लापरवाह माली आया और हाथ जोड़कर वोला—"फरमाइए हजूर, क्या हुक्म है ?" राजा ने गुस्से में आकर कहा—"अरे कंवख्त ! देख तो सही, तूने मेरे वगीचे का सत्यानाश कर दिया है। कहीं पेड़-पौधों पर फल-फूल नहीं, हरियाली कहीं नजर भी नहीं आती। वगीचा कभी सींचा भी न हो, ऐसा लगता है ! मैंने तुझे वगीचा इसलिए सौंपा था कि तू इसे उजाड़ दे। और तू तो प्रतिदिन दिन में तीन दफे मुझे सलाम करने आता था और कहा करता था—"हजूर की राजगद्दी सलामत रहे, परन्तु मेरी गद्दी क्या खाक सलामत रहेगी ! तूने मेरा वगीचा तो वेसलामत कर दिया। वस नौकरी से तुझे खारिज किया जाता है। तेरी पिछली तनख्वाह भी तुझे न मिलेगी और आयंदा मेरे राज्य से निकल जा। मेरे राज्य में तेरे लिए कोई स्थान नहीं।"

राजा ने उसे नौकरी से हटा दिया और देशनिकाला दे दिया। अब राजा दूसरे माली को सौंपे हुए वगीचे में घुसा तो देखा कि वगीचा अत्यन्त हराभरा है, चारों ओर पेड़-पौधे, फल-फूल लहलहा रहे हैं; वगीचा सुव्यवस्थित और शान्त नजर आ रहा था। राजा वगीचा देख कर वड़ा प्रसन्न हुआ। उसने तुरन्त माली को बुलवाया। माली वगीचे के एक कोने में काम कर रहा था। राजा का आदेश पाते ही माली शीघ्र आया और हाथ जोड़ कर वोला—"महाराज, फरमाइए क्या

उसे अशान्त और अव्यवस्थित कर देता है, वह व्यक्ति चाहे औपचारिकरूप से या दिखावे के लिए बाह्यरूप से परमात्मा की सेवा-पूजा, वन्दना-अर्चा आदि कर लेता हो, वह उनकी वास्तविक सेवाभक्ति नहीं।

एक राजा था। उसने नगर के बाहर एक बहुत बड़ा बगीचा बनवाया। बगीचा इतना बड़ा था कि उसे एक माली नहीं संभाल सकता था। इसलिए राजा ने उस पर दो माली नियुक्त कर दिए। दोनों को आधा-आधा बगीचा सौंपते हुए राजा ने हिदायत दी कि—"देखो ! अपने-अपने सौंपे हुए हिस्से की अच्छी तरह संभाल रखना। बगीचे को अधिक समृद्ध और बढ़िया बनाना। बगीचे में कोई जानवर घुस कर नुकसान न पहुंचा दे, झाड़-झंखाड़, कांटे न पैदा होजांय, पेड़पौधे सूख न जांय, इसका अच्छी तरह ध्यान रखना।" दोनों ने हाथ जोड़ कर राजा की बात मान ली। परन्तु दोनों में से एक माली बड़ा लापरवाह था। वह न तो बगीचे की सिंचाई करता था, न कंटीले झाड़झंखाड़ों को उखाड़ता था, न जानवरों से बगीचे की रक्षा करता था और न पेड़-पौधों की संभाल रखता था। परन्तु उसमें एक विशेषता थी कि वह रोजाना दिन में तीन बार राजा को सलामी देने जाया करता था और कहता था—"हजूर की गद्दी सहीसलामत रहे।" राजा समझता था कि यह बड़ा नेक और वफादार नौकर है। मगर दूसरा माली राजा को रोज सलामी देने नहीं जाया करता था। वह सुबह से शाम तक (खानेपीने के सिवाय) बगीचे के काम में लगा रहता। बगीचे को भरसक अच्छा बनाने का प्रयत्न करता। पेड़-पौधे, फल-फूल आदि की संभाल रखता; जानवरों को घुसने न देता, कंटीले झाड़झंखाड़ उखाड़ देता। सालभर होगया। एक दिन राजा ने सोचा-'चलो, आज बगीचे का निरीक्षण कर आएँ।

वनाता है और दुनियारूपी वगीचे के हर प्राणी—(पेड़-पौधे रूप) के साथ आत्मीयता का व्यवहार करता है। उसे उन सत्कर्मों के पारितोषिकरूप में सुगति मिलती है, अच्छे लोगों की एवं महापुरुषों की संगति और सहानुभूति मिलती है, सवका सहयोग मिलता है। वह स्वयं धर्माचरण करता है और दूसरों को भी धर्म में प्रेरित करता है। इस प्रकार परमात्मा की वास्तविक सेवा करके वह उन्हें प्रसन्न करके उनका परोक्षरूप से आशीर्वाद पाता है।

वाइविल में एक जगह वताया गया है कि प्रार्थना करने वाले से भगवान् कहते हैं कि "अगर तू किसी के साथ लड़-झगड़ कर, हत्या या मारपीट करके चर्च में प्रार्थना करने आएगा तो मैं तेरी प्रार्थना स्वीकार नहीं करूंगा। जव तू अपने जीवन को शुद्ध वना कर पवित्र हृदय लेकर प्रार्थना करेगा तो मैं तेरी प्रार्थना स्वीकार करूंगा।"

यह है भगवान् की अप्रसन्नता और प्रसन्नता का रहस्य! योगी आनन्दघनजी भी भक्तिरस में सरावोर हो कर पुकार उठते हैं—

"चित्तप्रसन्ने रे पूजनफल कह्यु, पूजा अखण्डित एह।"

भगवान् की सेवा-पूजा का फल चित्त की प्रसन्नता-स्वच्छता कहा है। हृदय की पवित्रता-प्रसन्नता-ही भगवान् की अखण्ड पूजा है।

भगवान् की वंदना, स्तुति या उनके नामों का जप या स्मरण करने से उनके प्रति श्रद्धा, सद्भावों एवं उनके गुणों को ग्रहण करने की भावना उमड़ती है। जव शुभ और शुद्ध निष्काम (निःस्वार्थ) भावना का सागर हृदय में हिलोरें लेने लगता है तो उससे वुद्धि एवं हृदयपटल पर जमी हुई अज्ञान, मोह, अन्तराय एवं अश्रद्धा की परतें उखड़ने लगती हैं, पुण्यवृद्धि होती है, पापकर्मों का ह्रास होता है और निखालिस धर्मा-

आज्ञा है ?" राजा ने कहा—"माली ! मैं तुम्हारे कार्य से बहुत ही संतुष्ट हूं। तुमने बगीचे की काफी अच्छी-तरह से सारसंभाल की है और बगीचे को फल-फूल, पेड़पौधों से समृद्ध बनाया है। तुम पर प्रसन्न होकर मैं इसके लिए तुम्हें हजार रुपये पारितोषिक देता हूं और आज से तुम्हारी तनख्वाह दुगुनी करता हूं। दोनों बगीचे अब से तुम्हारे हाथ में रहेंगे। तुम चाहो तो अपने मातहत और आदमियों को रख सकते हो।"

इस प्रकार राजा ने एक पर नाराजी और एक पर प्रसन्नता बताई और अपने राजमहल को वापिस लौट गया।

यह कहानी यह प्रेरणा देती है कि एक सामान्य राजा भी जब बगीचा उजाड़ने और काम बिगाड़ने वाले पर प्रसन्न नहीं होता, फिर वह चाहे जितनी उसकी प्रशंसा करे या उसे प्रणाम करे; तब राजाओं के भी राजा, देवाधिदेव वीतराग प्रभु या सिद्धईश्वर दुनिया के प्राणियों के साथ मारकाट, धोखाधड़ी, बेईमानी, लूटपाट, चोरी, हत्या, दंगे, डकैती आदि दुर्व्यवहार करके संसाररूपी बगीचे को उजाड़ बनाने, बिगाड़ने और अशान्त बनाने वाले पर कैसे प्रसन्न होंगे ? फिर भले ही वह सारे दिन उनकी स्तुति करता रहे, नाम की रट लगाता रहे या वन्दना-नमस्कार करता रहे; बल्कि दुनिया को अपने काले कारनामों से नरक बना डालने वाले अज्ञानी और प्रमादीजनों के द्वारा की गई प्रशंसा, स्तुति और वन्दनाओं से भगवान् प्रसन्न नहीं होते; मगर नाराज होकर वे शाप भी नहीं बरसाते; किन्तु ऐसे व्यक्ति को स्वयमेव अपने दुष्कर्मों के फलस्वरूप मनुष्यगति से निर्वासन मिल जाता है, दुर्गति में जाना पड़ता है और दुःख उठाने पड़ते हैं। परन्तु जो व्यक्ति वफादार माली की तरह परमात्मा की आज्ञाओं के अनुसार श्रद्धा और वफादारीपूर्वक काम करता है, अपना जीवन भी अच्छा

उन्होंने पूछा—"भगवन् ! दो व्यक्ति हैं। उनमें से एक तो दिन-रात आपकी सेवा में तत्पर रहता है, आपके नाम की माला फेरता है, आपकी स्तुति करता है, आपके दर्शन करता है, आपकी वाणी सुनता है। उसके आसपास दुःखी हैं, निराश्रित हैं, उनके आर्त्तनाद से सारा वातावरण करुणापूर्ण हो रहा है। वह समर्थ है, उनको प्रश्रय दे सकता है, उनका आधार बन सकता है। परन्तु आपकी सेवा करने से उसे अवकाश नहीं मिलता। दूसरा व्यक्ति वह है, जिसके हृदय में आपके प्रति श्रद्धा है, भक्तिभावना है; पर आपके दर्शनों तथा आपकी वाणी का श्रवण करने के लिए उसे अवकाश नहीं मिल पाता। दीनदुःखी को देखते ही उसका हृदय करुणा से भर आता है, मन अनुकम्पा से ओतप्रोत हो उठता है। उसके दुःखदर्द को वह अपना दुःखदर्द समझता है। दयार्द्र होकर वह दिनरात दुःखितों, पीड़ितों व निराश्रितों की सेवा में जुटा रहता है। उसकी सहानुभूति-पूर्ण मधुरवाणी निराश-हताश हृदयों को ढाढस बंधाती है। वह अपने हाथों से गरीबों के आँसू पोंछता है; निराधार का आधार बनता है, गिरते हुए को सहारा देकर उठाता है। भन्ते ! इन दोनों व्यक्तियों में से आपका सच्चा भक्त व श्रेष्ठपुरुष कौन है ?" उस महापुरुष ने बड़ी ही रहस्यपूर्णमुद्रा में उत्तर दिया—"गोयमा ! जे गिलाणं पडियरई से धन्ने।" यानी "जो दीनदुःखियों व रोगीजनों की सेवा करता है वही धन्य है, वही मेरा श्रेष्ठ भक्त है।" गौतम ने और अधिक स्पष्टीकरण मांगा—"भगवन् ! आपका कथन सत्य है, लेकिन समझ में नहीं आया कि कहाँ तो आप त्रिलोकीनाथ वीतराग परमपुरुष और कहाँ वे दीनदुःखी संसारी प्राणी ! आपकी सेवा के आगे उनकी सेवा का क्या मूल्य हो सकता है ?" भगवान् ने तथ्य को प्रकाशित करते हुए कहा—"गौतम ! मेरी भक्ति या सेवा क्या है ? मेरी व्यक्तिगत सेवा के लिए मेरे पास

चरण एवं शुभकार्यों के करने की बुद्धि पैदा होती है, भगवान् की सेवा-भक्ति का असली सत्य वह पा लेता है और इस प्रकार वह वंदना आदि से प्रभुसेवा या भगवद्भक्ति में तल्लीन हो जाता है।

परमात्मा की सेवाभक्ति का दूसरा तरीका है—प्राणिसेवा! क्योंकि प्रभु त्रिलोकीनाथ हैं, जगत् के पितामह हैं, जगद्वन्द्य एवं विश्वपूज्य हैं, वह इसी दृष्टि से कि वे जगत् के सभी प्राणियों के प्रति वात्सल्य-भाव, दया और करुणा से ओतप्रोत होते हैं, जगत् को कल्याणमार्ग का बोध देकर वे जगत् की अपार सेवा करते हैं। ऐसे सर्वभूतात्मभूत प्रभु के द्वारा की गई जगत्सेवा से सभी प्राणी उनके आत्मीय बन जाते हैं। इसीलिए विश्व के प्राणियों की सेवा करना भी एक अर्थ में उनकी ही सेवा करना है। गुजरात के भक्त हरिदास ने एक भजन में स्पष्ट कहा है—

"जनसेवा ते प्रभुनी सेवा एह समझ विसराय नहीं।
ऊँचनीचनो भेद प्रभुना मारगड़ामां थाय नहीं॥"

अर्थात्—जनता-जनार्दन की सेवा ही एक अर्थ में प्रभु की सेवा है। केवलज्ञान और केवलदर्शन की महाज्योति प्राप्ति कर लेने के बाद तीर्थंकर भगवान् महावीर ३० वर्ष तक पैदल घूम-घूम कर जन-सेवा करते रहे। जनताजनार्दन की निष्काम सेवा करना ही तो उनका कर्त्तव्य शेष रह गया था। उनकी दृष्टि में जनसेवा का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान था, यह इन्द्रभूति गौतम और भ० महावीर के निम्नोक्त ऐतिहासिक संवाद से जाना जा सकता है।

एक बार गौतमस्वामी के अन्तर्मन में सहसा एक शंका उठी और उसका समाधान पाने के लिए वे ज्ञान के महाप्रकाश भगवान् महावीर के चरणों में पहुंचे। हाथ जोड़कर वन्दन [illegible] विनीतभाव से

जाएँ।" मार्टिन बड़े तड़के दूकान पर बैठा अपना काम कर रहा था। इतने में ही एक बूढ़ा ठंड से ठिठुरता हुआ जा रहा था। मोची ने उसे बुलाया और उसके हाथ अंगीठी पर सेके। एक पुराना कोट घर में पड़ा था, उसे बूढ़े को दे दिया। बूढ़ा खुश होकर बड़ा आभार मानता हुआ चला गया। कोई दो घंटे बाद एक बुढ़िया फल की टोकरी लेकर जा रही थी, उसके पीछे कुछ मनचले लड़के दौड़ रहे थे। बुढ़िया घबरा रही थी। बच्चों को मना करने पर भी वे नीचे गिरे हुए फलों को उठा रहे थे। मार्टिन ने देखा तो बच्चों को समझाया और जितने फल गिर गये थे, वे उठा कर टोकरी में रख दिये और बच्चों को एक-एक फल देकर उसके दाम बुढ़िया को दे दिए। बुढ़िया अन्तर से दुआ देती हुई चली गई। शाम को दिन छिपने से पहले एक ६-७ साल का लड़का मार्टिन की दूकान के आगे से होकर गुजर रहा था। लड़का भूख के मारे चिल्ला रहा था। मार्टिन को दया आई। वह उसे प्रेम से पुचकार कर अपने घर में ले गया और बच्चे को खाना खिलाया। बच्चा खुश होकर चला गया। परन्तु मार्टिन ने मन ही मन सोचा कि भगवान् ने मुझे कहा था कि मैं तीन दफा तुम्हारे यहाँ आऊँगा, परन्तु एक दफा भी नहीं आए। अब तो रात पड़ने वाली है; अंधेरा होने वाला है। क्या बात है ? मार्टिन ने बहुत ही इंतजार की, लेकिन आखिरकार भगवान् को न देख वह निराश हो गया। खाना खा कर जब मार्टिन बाइबिल पढ़ कर सोने लगा तो थोड़ी-सी आँख लगी ही थी कि भगवान् ने स्वप्न में कहा—"मैं तुम्हारे यहाँ तीन दफे आया था। एक दफा बूढ़े के रूप में, दूसरी दफा बुढ़िया के रूप में और तीसरी दफा बच्चे के रूप में। तुमने कोट देकर मेरी ठंड उड़ाई, मुझे खिलाया और मुझे सहायता की। मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूं।"

यह है जनसेवा में प्रभुसेवा का नमूना ! जिसके हृदय में इस

जरा भी स्थान नहीं है। मेरी सेवा मेरी आज्ञा के पालन में है, मेरा अनुशासन मानने में है और मेरी आज्ञा है—दीनदुःखियों, रोगियों, पीड़ितों आदि की सेवा करो; जगत् के समस्त प्राणियों को अभय-दान दो; पीड़ितों और निराश्रितों को सुखशान्ति पहुंचाओ; अनाथों, असहायों, बेकसों पर दयाभाव लाओ। अतः दीनदुःखियों का आर्तनाद सुनने वाला मेरी वाणी सुनता है, उनको करुणाभरी दृष्टि से देखने वाला मेरे दर्शन करता है, उनको आश्रय देने वाला मेरा अनुशासन मानता है, उनके आँसू पोंछ कर सेवा करने वाला मेरी सेवा[1] करता है। इसके विपरीत तोते की तरह केवल मेरा नाम रटने वाला या केवल इन चमड़े की आँखों से मेरे दर्शन करने वाला मेरा सच्चा सेवक कैसे बन सकता है?"

यह है जनसेवा में प्रभुसेवा का भव्य आदर्श! नरसेवा में नारायणसेवा की दिव्यदृष्टि!

जनताजनार्दन में प्रभु का दर्शन करने वाला ही इस प्रकार की जनसेवा कर सकता है। ईसाई धर्म के अनुयायियों में यह बात संस्कार के रूप में कूट-कूट कर भरी गई है। रूस के प्रसिद्ध लेखक महात्मा टालस्टाय ने एक कहानी इस सम्बन्ध में लिखी है।

मार्टिन नाम का एक मोची था। वह रोज बाइबिल का पाठ किया करता था। एक दिन वह बाइबिल का पाठ करके सोया था कि उसे एक स्वप्न आया, जिसमें भगवान् ने उसे कहा कि कल मैं तुम्हारे यहाँ तीन दफा आऊँगा। जग जाने पर उसने सोचा कि "मैं सुबह जल्दी ही दूकान पर चला जाऊँ शायद भगवान् सुबह ही आ

१—वह पाठ इस प्रकार है—
"जे गिलाणं पडियरइ से ममं पडियरइ।" —संपादक

५

आत्मा से परमात्मा

सज्जनो !

आज आत्मा से परमात्मा बनने के तत्त्व पर कुछ कहूंगा। यों तो यह विषय बहुत ही गूढ़ है। हर एक आदमी इसे आसानी से समझ नहीं सकता। फिर भी मैं विषय को सरल करके समझाने का प्रयत्न करूंगा।

आत्मा और परमात्मा मे अभिन्नता और भिन्नता कैसे ?

प्रत्येक आस्तिक पुरुष आत्मा और परमात्मा को मानता है; फिर भले ही उनके स्वरूप तथा अन्य बातों में मतभेद हो।

जैनदर्शन की दृष्टि से आत्मा और परमात्मा में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। जो अन्तर आज मालूम हो रहा है, वह औपाधिक है; बाह्य कारणों से पैदा हुआ है। और वह बाह्य कारण कर्म ही है। कर्मों ने आत्मा के असली स्वरूप को आच्छादित कर दिया है। आत्मा को राजा से रंक बना दिया है। सवाल यह होता है कि आत्मा जब रंक है और परमात्मा राजा है तो फिर वह रंक से राजा कैसे बन सकेगी ? जैसे रंक राजा की सेवा-भक्ति कितनी ही करे,

प्रकार की शुभ मनोवृत्ति होती है; वह अपना सर्वस्व जनताजनार्दन के चरणों में समर्पण कर देता है।

भगवान् का सच्चा भक्त समय आने पर अपना सर्वस्व बलिदान करने को तैयार हो जाता है। वास्तविक प्रभुभक्ति तो सिर का सौदा है। परन्तु आजकल कई भक्त सिर देना तो दूर रहा, अपनी जिंदगी में लगी हुई बुराइयों को भी छोड़ना नहीं चाहते। वे भगवान् की भक्ति सिर्फ अपने स्वार्थ के लिए करते हैं। अगर स्वार्थ सिद्ध न हुआ तो वे उसे भी छोड़ बैठते हैं। यह भक्ति नहीं, सौदेबाजी है।

जब जर्मनी के साथ ब्रिटेन का महायुद्ध चल रहा था तो जर्मन-वाले अपने गिरजाघरों में जाकर प्रार्थना करते—"हे भगवन्! तू इंग्लैंड को हरा दे।" और इंग्लैंड वाले भी अपने गिरजाघरों में जाकर ऐसी प्रार्थना करते—"हे भगवन्! तू जर्मनी को हरा दे।" ऐसी दशा में भगवान् किसका पक्ष ले और किसका नहीं? बलिहारी है, ऐसे भक्तों की, जो भगवान् को भी चक्कर में डालने का प्रयत्न करते हैं। क्या इसे आप भगवान् की भक्ति कहेंगे? "कदापि नहीं।"

अतः ईश्वर की सेवाभक्ति का रहस्य समझ कर अपने जीवन को प्रभु की वास्तविक सेवा-भक्ति में लगाओगे तो निःसंदेह कल्याण होगा।

स्थान—गौड़ीजी का उपाश्रय पायधुनी, बम्बई } वि० सं० २००६ कार्तिक वदी ३

भ्रान्त मालूम हुए बिना न रहेगी। आत्मा और परमात्मा के स्वाभाविक निजी गुणों का विचार करने पर प्रतीत होगा कि दोनों के वास्तविक स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। आत्मा का निज गुण चेतना है, यानी ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग है। वही परमात्मा का लक्षण है। परमात्मा को कई दर्शनकार सच्चिदानन्द भी कहते हैं। सच्चिदानन्द पद में तीन गुणों का समावेश होता है—(१) सत् यानी सत्ता, (२) चित् यानी चैतन्य और (३) आनन्द यानी सुख। तीनों काल में भी अस्तित्व का होना, ज्ञान-दर्शनमय (चैतन्यरूप) होना और आनन्दरूप का होना, ये गुण जैसे परमात्मा में माने जाते हैं; वैसे ही आत्मा में भी मौजूद हैं। आत्मा कभी नष्ट होने वाली नहीं है, उसकी सत्ता सदासर्वदा बनी रहेगी। आत्मा का चैतन्यगुण भी हमारे अनुभव से सिद्ध है। अगर आत्मा में चैतन्यगुण न होता तो वह जड़ बन जाती। मुर्दे में चेतना नहीं होती। इसीलिए तो वह कुछ भी संवेदन नहीं कर सकता। इसी प्रकार आत्मा में भी चेतना न हो तो वह भी मुर्दे की तरह कुछ भी संवेदन नहीं कर सकेगी। परन्तु ऐसा कभी होता नहीं। इसी प्रकार आनन्द गुण भी आत्मा का स्वाभाविक गुण है। वह न होता तो उसे सुख की प्रतीति कैसे होती? परमात्मा के ये तीनों गुण आत्मा में मौजूद हैं, तब उसे परमात्मा से अलग कैसे किया जा सकता है? गुणों के भेद के कारण एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ को अलग किया जाता है; जब आत्मा और परमात्मा के गुणों में कोई अन्तर नहीं तब इनमें भिन्नता मानना ठीक नहीं है। जड़ और चेतन के गुणों में स्वाभाविक भेद है, इसलिए ये दोनों पृथक्-पृथक् माने जाते हैं। लेकिन आत्मा और परमात्मा के गुणों में ऐसा कोई अन्तर नहीं है, जिससे दोनों में मौलिक भेद मानना पड़े।

इसीलिए आत्मा और परमात्मा में वस्तुस्वरूप की दृष्टि से कोई मौलिक अन्तर नहीं माना जा सकता। एक सोना खान में से निकलता

फिर भी वह रंक ही रहता है, राजा नहीं बन सकता; वैसे ही आत्मा परमात्मारूपी राजा की चाहे जितनी भक्ति करे वह तो आत्मा ही रहेगी। प्रजा राजा की सेवा-भक्ति करने पर प्रजा ही रहती है, राजा नहीं बनती। नौकर मालिक की चाहे जितनी सेवा करे, परन्तु वह कभी मालिक नहीं बन सकता। सेठ-सेठ ही रहेगा, नौकर-नौकर ही। इसी प्रकार आत्मा परमात्मा का चाहे जितना भजन करे, वह परमात्मा बनने में सर्वदा और सर्वथा असमर्थ है। इसी विचार से प्रेरित होकर कुछ दर्शनों ने ईश्वर को आत्मा से अलग रखा है। आत्मा और परमात्मा में जो भिन्नता है, उसे वे सदा अमिट मानते हैं। उनका कहना है कि प्रजा राजा की बराबरी कभी नहीं कर सकती। उसका काम राजा के गुणगान करना, हाथ जोड़े आज्ञा का पालन करना है। अगर वह राजा के बराबर हो जायगी तो राजा शासन किस पर करेगा? इसी प्रकार आत्मा अगर परमात्मा के बराबर हो जाय तो परमात्मा शासन किस पर करेगा? इसलिए आत्मा आत्मा ही रहेगी, परमात्मा परमात्मा ही। जीव और शिव कभी एक नहीं हो सकते। इससे आगे बढ़ कर उनका कहना है कि अगर आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं बताया जायगा या दोनों को समान बताया जायगा, तो कोई भी आत्मा फिर परमात्मा की सेवा-भक्ति, भजन-पूजन क्यों करेगी? नौकर को अगर यह कह दिया जाय कि तू नौकर नहीं है, तू तो मालिक के ही समान है तो वह नौकर अहंकारी बन जायगा, मालिक की सेवाचाकरी करने की जरूरत ही नहीं समझेगा। इसी प्रकार एक बीमार को वैद्य यह कह दे कि तू बीमार है ही नहीं, था भी नहीं और होगा भी नहीं, तू तो सदा से निरामय, निरोग है; तो वह बीमार उस वैद्य की दवा क्यों लेगा और क्यों परहेज का पालन करेगा?

परन्तु गहराई से सोचा जाय तो यह विचारधारा ऐकान्तिक और

द्वेष आदि के कारण कर्मबन्धन होते हैं। आत्मा इन्हीं विकारों को शरीर और शरीर से सम्बधित सांसारिक वस्तुओं के निमित्त से बार-बार अपनाती रहती है। इनसे जितना-जितना कर्मबन्धन गाढ़ और अधिक मात्रा में होता जाता है, आत्मा उतनी-उतनी परमात्मा से दूर होती चली जाती है। आप कहेंगे आत्मा इन विकारों से क्यों चिपटती है? ज्ञानीपुरुष कहते हैं, मकान ईंट चूने आदि का बना हुआ होने पर मोहवश मनुष्य अपना मान लेता है। दूसरे की पुत्री होने पर भी जब किसी के पुत्र के साथ उसका विवाह-सम्बन्ध हो जाता है तो उन पर पुत्र के पिता की ममता हो जाती है। इस प्रकार जब बाहर की चीजों पर भी निकट सम्पर्क के कारण मोह हो जाता है, तब जो कर्म शरीर से सम्बन्ध रखते हैं, उन पर भी मोह हो जाना स्वाभाविक है। उसके प्रति मोह होने के कारण ही आत्मा और परमात्मा में इतनी खाई पड़ी हुई है। जिस दिन कर्मों के प्रति मोह का जाला हट जायगा, उस दिन बीच का आवरण हट जायगा, खाई पट जायगी और आत्मा व परमात्मा की दूरी समाप्त हो जायगी। इस्लाम धर्म के शायर ने भी कहा है —

"तू जिस्म जिगर और जहाँ नहीं जानना।
फिर क्यों नहीं कहता, खुदा जो तू है दाना ॥"

"अगर तू जिस्म (शरीर), जिगर (दिल) और जहाँ (संसार) को अपना नहीं मानता तो फिर क्यों नहीं कह देता कि मैं खुदा हूं।" ये तीनों चीजें शरीर और शरीर से सम्बन्धित है, जब इन तीनों से मोह सम्बन्ध नहीं रहेगा, अपनी रूह (आत्मा) से ये तीनों अलग हो जायेंगे तो शुद्ध आत्मा के सिवाय कुछ बचेगा ही क्या? और उस अवस्था में उसे खुदा या परमात्मा कहना असंगत नहीं। और न अहंकार की बात है।

है उस पर काफी मिट्टी और मैल जमा रहता है, दूसरा विशुद्ध सोना है। परन्तु दोनों प्रकार के सोनों के स्वभाव में कोई अन्तर नहीं है। केवल विशुद्धता और अशुद्धता की दृष्टि से जो अन्तर दिखाई देता है, वह स्थायी नहीं है, केवल थोड़े समय की अपेक्षा से है। इसी प्रकार आत्मा और परमात्मा में निश्चयदृष्टि से, स्वरूप की अपेक्षा से मूलतः कोई अन्तर नहीं होने पर भी व्यवहारदृष्टि से, विशुद्धता-अशुद्धता की अपेक्षा से जो अन्तर दिखाई देता है, वह स्थायी नहीं है; समय पाकर वह दूर हो सकता है, या विशिष्ट उपायों से दूर किया जा सकता है। परमात्मा पूर्ण शुद्ध होने से उसमें अपने समस्त स्वाभाविक गुण पूर्णता पर पहुंच गये हैं, जब कि आत्मा अभी अशुद्ध होने से अपने स्वाभाविक गुणों की परिपूर्णता पर नहीं पहुंची। कर्म-विकारों से आच्छादित होने के कारण आत्मा अभी अशुद्ध है। इस प्रकार आत्मा और परमात्मा में मौलिक अन्तर न होने पर भी जो औपाधिक अन्तर है, वह अस्वाभाविक है, दूर किया जा सकता है। आत्मा और परमात्मा में आज जो भिन्नता दृष्टिगोचर हो रही है, उसका कारण आवरण ही है। आवरणों के हट जाने पर आत्मा के परमात्मा बनने में कोई अड़चन नहीं। वह निःसंशय परमात्मा बन जाती है। वेदान्त भी इसी सिद्धान्त का निरूपण करता है —

'तत्त्वमसि' वह (परमात्मा) तू है।

इसी तरह शुद्ध संग्रहनय की दृष्टि से स्वरूप की अपेक्षा से जैन-शास्त्र में 'एगे आया' कहा है। यानी आत्मा-फिर वह सामान्य हो या परम हो,-एक है।

मतलब यह है कि आत्मा जब तक स्वभावों को छोड़कर परभावों में आसक्त या मूर्च्छित होता रहता है, तब तक आत्मा और पर-मात्मा के बीच की दूरी मिटती नहीं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग,

फटकारते हुए कहा—"शाम होने आई है, अभी तक तुम यहीं चर रही हो।" सिंह का बच्चा भी संयोगवश अपनी गुफा से निकल कर उन दो भेड़ों के पास आ बैठा था। उसने भी जब शाम का नाम सुना तो वह भी डर गया। सोचा—यह कोई भयंकर जानवर है, जो खा जाता होगा। उन भेड़ों के डंडा मारते-मारते अंधेरे में कुछ न सूझने के कारण गडरिये ने उस सिंह के बच्चे के भी एक डंडा जमा दिया। बेचारा सिंहशिशु दुबक कर वहीं बैठ गया। जब भेड़ें चलने लगीं तो उनके साथ वह भी चल पड़ा। अब क्या था? वह भेड़ों के साथ ही रहने लगा। भेड़ों की तरह ही बोलना, चलना, खाना-पीना आदि सीख गया। गडरिये ने सोचा—अच्छा हुआ, सिंह का बच्चा मेरे वश में हो गया और गडरियों की तरह चेष्टा करता है। संयोगवश एक दिन उन भेड़ों को हांकता-हांकता गडरिया एक नदी के किनारे पानी पिलाने लाया। सिंह का बच्चा भी साथ ही था। भेड़ें नदी में जैसे पानी पीने लगीं, वैसे ही वह भी पीने लगा। नदी के दूसरे किनारे पर एक बब्बर शेर बैठा, यह सब देख रहा था। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह सिंहशिशु मेरी जाति का होकर भी इन भेड़ों के साथ कैसे मिल गया? और अपने स्वरूप को भूल कर इन भेड़ों की तरह क्यों चेष्टाएँ करने लगा? मुझे इसे सावधान तो कर देना चाहिए। यह सोचकर बब्बर शेर ने जोर से दहाड़ कर उस सिंहशिशु का ध्यान खींचा और इशारा किया कि "अरे! सिंहशिशु! तू तो मेरी जाति का बच्चा है। इन भेड़ों के साथ तू क्यों मिल गया है? तू अपने आपको संभाल।" परन्तु पहली दहाड़ में सिंह के बच्चे ने कोई ध्यान नहीं दिया। यही सोचा और बब्बर शेर से संकेत किया कि मैं कहाँ सिंह हूं? "मैं तो भेड़ ही हूं। इन भेड़ों के साथ ही खाता-पीता, सोता-उठता हूं। तुम्हारी और मेरी जाति एक नहीं है। फिजूल मुझे बहकाओ मत।" परन्तु बब्बर

जैसे आदमी स्वस्थ होता है तो उसे किसी दवा के लेने या किसी से इलाज कराने की जरूरत नहीं होती। बीमार होने पर ही, जहाँ तक बीमारी रहती है, वहाँ तक उसे वैद्य या डाक्टर से दवा लेनी पड़ती है या इलाज कराना पड़ता है, आराम हो जाने पर उसे किसी दवा की जरूरत नहीं रहती; वैसे ही जब तक आत्मा पर कर्मों की बीमारी—या क्रोधादि कषायों की बीमारी लगी है, वहीं तक उसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूपी दवा लेने की जरूरत होती है; जब आत्मा इन कर्मों या कषायों की बीमारी से रहित होकर स्वस्थ—स्वरूपस्थ हो जायगी, तब उसे दवा लेने की जरूरत ही नहीं रहेगी। इसी प्रकार जब तक अपने राजास्वभाव को भूल कर कर्मों के चक्कर में आती रहेगी, अपनी शक्ति का भान भूल कर परभावों के साथ खेलती रहेगी तब तक वह रंक बनी रहेगी। जब आत्मा अपने असली राजस्वभाव को पहिचान लेगी, कर्मों व परभावों के चक्कर में नहीं फंस कर अपनी शक्ति का भान कर लेगी तब उसे परमात्मारूपी राजा के समान बनते देर न लगेगी।

हमारे संत इस बात को समझाने के लिए सिंह के बच्चे का दृष्टान्त दिया करते हैं—

एक सिंहनी ने एक गुफा में सिंहशिशु को जन्म दिया और वहीं उसे पालती-पोसती थी। एक दिन सिंहनी कहीं शिकार की टोह में बाहर चली गई थी। पीछे से वह सिंह का बच्चा अकेला ही रह गया था। संयोगवश एक गडरिया भेड़ों को लिए हुए उधर से जा रहा था। एक-दो भेड़ें उस गुफा के पास चरती-चरती चली गईं। सांझ पड़ने आ रही थी, और सब भेड़ें तो झुंड में आ मिली थीं, पर एक-दो भेड़ें नहीं आईं। गडरिये को बहुत गुस्सा आया। उसने डंडा उठाया और उन भेड़ों के पास आकर जोर से चिल्ला कर डंडा

भेड़ें और मोहरूपी गडरिया सब उसे छोड़कर भाग खड़े होते हैं। वह अपने स्वस्वरूप-परमात्म-स्वरूप में मिल जाता है।

इसी प्रकार कर्मजन्य उपाधियाँ जब आत्मा पर से हट जाती हैं, तो उस समय आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में आ जाती है, वही आत्मा परमात्मा कहलाती है।

फिर परमात्मा की आराधना की आवश्यकता क्यों?

कहा जा सकता है कि जब आत्मा और परमात्मा के गुण समान हैं और दोनों एक ही कोटि में हैं, तब फिर परमात्मा की आराधना करने की क्या जरूरत है और परमात्मा को आराध्य और आत्मा को आराधक क्यों मानना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि जड़ और आत्मा की तरह दोनों के गुणों में मौलिक भेद होता तब तो परमात्मा आत्मा के लिए आराध्य नहीं होता। परन्तु आत्मा और परमात्मा में जड़-चेतन की तरह गुणों में मौलिक अन्तर नहीं है, तभी तो परमात्मा बनने की व परमात्मा की आराधना करने की जरूरत है। मूलतः आत्मा और परमात्मा निज गुणों की दृष्टि से एक होते हुए भी वर्तमान अवस्था में कर्मजन्य उपाधि के कारण आत्मा की परमात्मा से जो दूरी पड़ी हुई है, उस अस्वाभाविक दूरी को मिटाने के लिए परमात्मा की आराधना करनी जरूरी है। आत्मा उस कर्मजन्य उपाधि को मिटा कर शुद्ध होने पर परमात्मा बन सकती है; उसमें परमात्मा बनने की योग्यता मौजूद है, परमात्मा के गुण भी आत्मा में सत्ता में विद्यमान हैं; तभी तो उसे परमात्मा बनने के लिए उसका आदर्श सामने रखने की जरूरत है। मिट्टी में घड़ा बनने की योग्यता न होती तो कोई भी कुंभार घड़ा बनाने के लिए मिट्टी में प्रक्रिया न करता। मिट्टी में घड़ा बनने की योग्यता है, घड़े का उपादान कारण भी मिट्टी है, तभी कुम्हार मिट्टी को लेता है और घड़ा बनाता है।

शेर ने उसे प्रेम से कहा—" अरे बच्चे ! तुझे मुझ पर विश्वास नहीं है तो अपनी परछाई नदी के पानी में देख और फिर मेरे चेहरे से अपना चेहरा मिला। तुझे स्वयं पता चल जायगा कि तू भेड़ है या शेर।" सिंह के बच्चे ने अपनी परछाई नदी के पानी में देखी और अपना चेहरा उस बब्बरशेर से मिलाया तो सचमुच उसके चेहरे से मिलताजुलता मालूम हुआ। बब्बरशेर ने उसे कहा—"अब तो तुझे पक्का भरोसा हो गया न ? तू भेड़ नहीं है, मेरी जाति का शेर है। यदि अब भी कसर हो तो देख मैं गर्जना करता हूं, इस तरह तू भी गर्जना कर। ये भेड़ें और गडरिया तेरे सामने देखते ही देखते भाग खड़े होंगे।" सिंह के बच्चे ने बब्बरशेर की तरह ज्यों ही गर्जना की कि भेड़ें डर के मारे भागीं और तितरबितर हो गईं। गडरिये ने भी सोचा-अब यह सिंहशिशु अपने वश का नहीं, यह अपने आपको शेर समझने लग गया है, इसलिए इसे यहीं छोड़ कर भाग चलें इसी में श्रेय है। वह गडरिया भी अपनी भेड़ों के टोले को लेकर वहाँ से नौ दो ग्यारह हुआ। सिंह का बच्चा बब्बर शेर के साथ अपने स्थान को चला गया।

यह एक दृष्टान्त है, जिसे आत्मा पर घटाया जाता है। यह आत्मा परमात्मा के समान सिंहस्वरूप है। लेकिन कर्मों रूपी भेड़ों और मोहरूपी गडरिये के चक्कर में पड़ कर अपने असली स्वरूप को भूल कर मोह के इशारे पर चलता है। कर्मविकारों के साथ यह भी चेष्टा करने लगा और खुद को भेड़ ही समझने लगा। एक दिन परमात्मा के स्वरूप का कोई आप्तपुरुष भान कराता है और उस आप्तपुरुष की बात पर विश्वास करके यह ज्ञानरूपी जल में आत्मा के असली रूप को निहारता है तो उसे पक्का भरोसा हो जाता है कि मैं भेड़ नहीं, शेर हूं। परमात्मा रूपी सिंह के समान ही मेरा रूप है। बस, तभी होश में आ कर तपसंयम में पराक्रम करता है तो कर्मरूपी

संस्कारवश ही भ्रमरी बनती है। लट के भ्रमरी बनने में भ्रमरी को कोई एतराज नहीं होता। इसी तरह परमात्मा की आराधना, भजन-आदि करने और परमात्मा बनने की साधना करने से आत्मा भी परमात्मा बन सकती है। इसमें परमात्मा को कोई एतराज नहीं हो सकता। शुद्ध द्वैतवाद के मतानुसार भी जीव सदा जीव ही नहीं रहता, वह शिव (परमात्मा) बन सकता है, बशर्ते कि वह उपाधिरहित हो जाय।

प्रश्न होता है, परमात्मा की तरह आत्मा भी सर्वशक्तिमान है तो फिर उसे परमात्मा की शरण में जाने और परमात्मा से सहायता मांगने की जरूरत क्या है? वास्तव में जब आत्मा पूर्ण शुद्ध होकर परमात्मरूप हो जाता है, तब तो उसे किसी की शरण, सहायता या आराधना करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। क्योंकि ज्ञानी पुरुष शुद्ध वीतराग आत्मा को ही परमात्मा मानते हैं। इसलिए वे कहते हैं—

"यः परमात्मा स एवाऽहं, योऽहं सः परमस्ततः।
अहमेव मयाऽऽराध्यो, नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥"

"जो परमात्मा है, वही मैं हूं और जो मैं हूं वही परमात्मा है। अतएव मैं ही मेरे द्वारा आराध्य हूं। आत्मा से भिन्न कोई आराध्य नहीं है, यही मेरी स्थिति है।"

परन्तु व्यवहार में आत्मा पूर्ण शुद्ध न होने से परमात्मा की शरण और सहायता चाहती है, आराधना और साधना भी करना चाहती है।

स्वभाव से समान होने पर भी आत्माओं में भिन्नता

अब सवाल यह होता है कि जब सभी आत्माएँ स्वभाव से समान

वह घड़ा बनाने के लिए सूत के धागों को नहीं लेता; क्योंकि उनमें घड़ा बनने की योग्यता नहीं है। इसी प्रकार आत्मा में परमात्मा बनने की योग्यता मौजूद है, तभी आत्मा परमात्मा बनने के लिए उसे आदर्शरूप में अपना कर उसकी आराधना करता है, तथा अन्य साधना करता है। जड़ में परमात्मा बनने की योग्यता नहीं है, इसलिए जड़ को परमात्मा बनाने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता। चेतन—आत्मा ही परमात्मा बन सकता है। इसीलिए वर्तमान में अपूर्ण व अशुद्ध आत्मा को स्वयं परमात्मा बनने के लिए परमात्मा का आदर्श सामने रख कर साधना-आराधना करने की जरूरत है। जिस प्रकार परमात्मा उपाधि-रहित है, उसी प्रकार जीवात्मा भी उपाधिरहित हो जाने पर परमात्मा बन सकता है।

लौकिक व्यवहार में यह भी अनुभव होता है कि कई व्यक्ति किसी सेठ के यहाँ मुनीम या नौकर थे, लेकिन अपने अध्यवसाय, पुरुषार्थ और बुद्धिबल से वे भी एक दिन सेठ बन गये। मालिक के बराबर हो गए। इसी प्रकार एक दिन रंक के रूप में घूमने वाला दरिद्र व्यक्ति भी प्रबल पुण्योदय होने पर राजा बनता देखा जाता है। एक दिन प्रजा के रूप में राजा की आज्ञा में चलने वाला व्यक्ति भी किसी प्रबल पुण्य एवं पुरुषार्थ के निमित्त से स्वयं राजा बन जाता है। इसलिए पहले बताई गई सभी भ्रान्त मान्यताओं का निराकरण हो जाता है कि आत्मा कभी परमात्मा बन ही नहीं सकता। जो सच्चे हृदय से परमात्मा की उपासना करता है, आज्ञाराधना करता है, उसे परमात्मपद स्वयमेव प्राप्त हो जाता है, परमात्मा की भक्ति करने वाला स्वयमेव परमात्मा बन जाता है।

भ्रमरी एक सामान्य जीव है, उसकी संगति से लट भी भ्रमरी बन जाती है। यद्यपि वह अपना पूर्व शरीर छोड़ कर भ्रमरी बनने के

संस्कारवश ही भ्रमरी बनती है। लट के भ्रमरी बनने में भ्रमरी को कोई एतराज नहीं होता। इसी तरह परमात्मा की आराधना, भजन-आदि करने और परमात्मा बनने की साधना करने से आत्मा भी परमात्मा बन सकती है। इसमें परमात्मा को कोई एतराज नहीं हो सकता। शुद्ध द्वैतवाद के मतानुसार भी जीव सदा जीव ही नहीं रहता, वह शिव (परमात्मा) बन सकता है, बशर्ते कि वह उपाधिरहित हो जाय।

प्रश्न होता है, परमात्मा की तरह आत्मा भी सर्वशक्तिमान है तो फिर उसे परमात्मा की शरण में जाने और परमात्मा से सहायता मांगने की जरूरत क्या है ? वास्तव में जब आत्मा पूर्ण शुद्ध होकर परमात्मरूप हो जाता है, तब तो उसे किसी की शरण, सहायता या आराधना करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। क्योंकि ज्ञानी पुरुष शुद्ध वीतराग आत्मा को ही परमात्मा मानते हैं। इसलिए वे कहते हैं—

"यः परमात्मा स एवाऽहं, योऽहं सः परमस्ततः।
अहमेव मयाऽऽराध्यो, नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥"

"जो परमात्मा है, वही मैं हूं और जो मैं हूं वही परमात्मा है। अतएव मैं ही मेरे द्वारा आराध्य हूं। आत्मा से भिन्न कोई आराध्य नहीं है, यही मेरी स्थिति है।"

परन्तु व्यवहार में आत्मा पूर्ण शुद्ध न होने से परमात्मा की शरण और सहायता चाहती है, आराधना और साधना भी करना चाहती है।

स्वभाव से समान होने पर भी आत्माओं में भिन्नता

अब सवाल यह होता है कि जब सभी आत्माएँ स्वभाव से समान

हैं तो फिर संसारी आत्माओं में यह भिन्नता क्यों दिखाई देती है ? नारक की यातनाएँ भोगने वाले नारक की आत्मा और एक श्वास में १८ बार जन्ममरण करने वाले निगोद की आत्मा समान है। स्वर्ग के राजा इन्द्र, पृथ्वीकाय आदि के रूप में रहने वाले स्थावर तथा पशु-पक्षी कीट-पतंग आदि सबकी आत्माएँ मूलरूप में समान हैं। फिर विभिन्न गतियों, योनियों, इन्द्रियों आदि के कारण जीवों में विविधता, विसदृशता और भिन्नता क्यों दिखाई देती है ?

ज्ञानी पुरुष फरमाते हैं कि यह विभिन्नताएँ आत्मा के स्वभाव या स्वरूप की अपेक्षा से नहीं हैं। स्वरूप की अपेक्षा से तो 'एगे आया' कह कर आत्मद्रव्य का एकत्व बताया है। और सभी की आत्माएँ समान बताई हैं। जैसे सभी सूर्य स्वभाव से समान हैं, सभी चन्द्रमाओं में भी स्वभाव से कोई भिन्नता नहीं है। सभी के गुण एक सरीखे हैं। लेकिन मेघपटल आदि के आड़े आ जाने से उनके प्रकाश आदि में भिन्नता दिखाई देती है। इसी प्रकार सभी आत्माएँ स्वभाव और गुण से समान होने पर भी कर्मजनित आवरणों के कारण गुणों के विकास में तारतम्य होने से भिन्न-भिन्न प्रकार की दिखाई देती हैं। परन्तु भिन्न-भिन्न गतियों, योनियों या इन्द्रियों आदि के कारण दिखाई देने वाली भिन्नता आत्मा का स्वरूप नहीं है। ये सब भिन्नताएँ औपाधिक हैं। ये सब भिन्नताएँ कर्मजनित उपाधियों के कारण हैं। जब तक ये उपाधियाँ हैं, तब तक जीवों में एक दूसरे से भिन्नताएँ प्रतीत होती हैं। उपाधियाँ कर्मों के कारण हैं। कर्म प्रत्येक जीव के भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। अतः कर्मजन्य उपाधियाँ भी अलग-अलग हो जाती हैं। इसी कारण जीवों में विधिता व विसदृशता प्रतीत होती है। कोई त्रस है तो कोई स्थावर है। कोई नारक है, कोई मनुष्य है, कोई देव है तो कोई तिर्यञ्च है। कोई जलचर, थलचर या खेचर है। किसी के सिर्फ एक ही स्पर्शेन्द्रिय है, किसी

के दो, किसी के तीन, किसी के चार और किसी के पाँच इन्द्रियाँ हैं। किन्तु यह सब पृथक्ता या विविधता स्वाभाविक नहीं, वैभाविक या औपाधिक है। ज्यों-ज्यों कर्म हटते जाते हैं, त्यों-त्यों आत्मा निरुपाधिक होने पर विकास में आगे बढ़ती जाती है। जब कर्म सर्वथा अलग हो जाते हैं, और किसी प्रकार की उपाधियाँ नहीं रहजातीं, यानी इस आत्मगुण पर बाह्य (पर) भावों का प्रभाव पूर्णरूपेण हट जाता है, तब आत्मा विशुद्ध होकर अपने असली (शुद्ध) स्वरूप में आजाती है। शुद्ध स्वरूप में आ जाने पर सभी आत्माएं एक समान हैं। उनमें सत्ता (व्यक्तित्व) की भिन्नता अवश्य रहती है, लेकिन गुणों की विषमता नहीं रहती।

विभिन्नता को लेकर मुख्यतः तीन भेद

कहा जा सकता है कि आत्मा जब जानती है कि कर्मजनित उपाधियों के कारण आत्मगुणों के विकास में रुकावट आती है तब उन कर्मों को अपनाती ही क्यों है? दरअसल आत्मा न चाहते हुए भी, परभावों—शरीर और शरीर से सम्बन्ध वस्तुओं–पर राग, द्वेष, मोह आदि के कारण कर्मबन्धन कर बैठती है। कर्मों को शत्रु समझ कर न अपनाए तभी यह हो सकता है। परन्तु कर्मशत्रुओं को आज अधिकांश आत्माओं ने मित्र बना रखा है। सिर काटने वाला शत्रु तो प्रत्यक्ष में शरीर का विनाश करता है, लेकिन कर्मशत्रु आत्मा के गुणों का नाश करके कई जन्मों की उत्तम धर्मकरणी को चौपट कर देते हैं। सिर काटने वाला वैरी तो अनित्य शरीर का ही नाश करता है, नित्य आत्मा का नहीं। लेकिन बुरे कर्मशत्रुओं से दोस्ती करके तो हम अपना सिर स्वयं काटने का काम करते हैं। इसी कारण कर्मजनित उपाधि और निरुपाधि को लेकर आत्मगुणों के विकास की न्यूनाधिकता की दृष्टि से आत्मा को

हैं तो फिर संसारी आत्माओं में यह भिन्नता क्यों दिखाई देती है ? नारक की यातनाएँ भोगने वाले नारक की आत्मा और एक श्वास में १८ बार जन्ममरण करने वाले निगोद की आत्मा समान है। स्वर्ग के राजा इन्द्र, पृथ्वीकाय आदि के रूप में रहने वाले स्थावर तथा पशु-पक्षी कीट-पतंग आदि सबकी आत्माएँ मूलरूप में समान हैं। फिर विभिन्न गतियों, योनियों, इन्द्रियों आदि के कारण जीवों में विविधता, विसदृशता और भिन्नता क्यों दिखाई देती है ?

ज्ञानी पुरुष फरमाते हैं कि यह विभिन्नताएँ आत्मा के स्वभाव या स्वरूप की अपेक्षा से नहीं हैं। स्वरूप की अपेक्षा से तो 'एगे आया' कह कर आत्मद्रव्य का एकत्व बताया है। और सभी की आत्माएँ समान बताई हैं। जैसे सभी सूर्य स्वभाव से समान हैं, सभी चन्द्रमाओं में भी स्वभाव से कोई भिन्नता नहीं है। सभी के गुण एक सरीखे हैं। लेकिन मेघपटल आदि के आड़े आ जाने से उनके प्रकाश आदि में भिन्नता दिखाई देती है। इसी प्रकार सभी आत्माएँ स्वभाव और गुण से समान होने पर भी कर्मजनित आवरणों के कारण गुणों के विकास में तारतम्य होने से भिन्न-भिन्न प्रकार की दिखाई देती हैं। परन्तु भिन्न-भिन्न गतियों, योनियों या इन्द्रियों आदि के कारण दिखाई देने वाली भिन्नता आत्मा का स्वरूप नहीं है। ये सब भिन्नताएँ औपाधिक हैं। ये सब भिन्नताएँ कर्मजनित उपाधियों के कारण हैं। जब तक ये उपाधियाँ हैं, तब तक जीवों में एक दूसरे से भिन्नताएँ प्रतीत होती हैं। उपाधियाँ कर्मों के कारण हैं। कर्म प्रत्येक जीव के भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। अतः कर्मजन्य उपाधियाँ भी अलग-अलग हो जाती हैं। इसी कारण जीवों में विधिता व विसदृशता प्रतीत होती है। कोई त्रस है तो कोई स्थावर है। कोई नारक है, कोई मनुष्य है, कोई देव है तो कोई तिर्यञ्च है। कोई जलचर, थलचर या खेचर है। किसी के सिर्फ एक ही स्पर्शेन्द्रिय है, किसी

अफसोस नहीं होता और न किसी धर्मगुरु के कहने पर शर्म ही महसूस होती है। ऐसे जीव धृष्ट और बेशर्म होकर शरीर के लिए दुनियाभर के पापकर्मों का उपार्जन करते हैं और अपनी आत्मा के शत्रु स्वयं ही बनते हैं। धर्माचरण करना तो दूर रहा, ऐसी आत्माएँ धर्म के सम्मुख भी नहीं होतीं। बाल्यावस्था में गंदगी में लिपटा रहता है, अपने आपे का उस समय भान ही नहीं होता, पराधीन रहता है। युवावस्था में विषयवासना के कीचड़ में फंसा रहता है, तब भी अपने आपको नहीं समझता और वृद्धावस्था में तो श्वास, खांसी, दम आदि अनेक रोग आ घेरते हैं, तृष्णा बढ़ जाती है, घर के लोग घृणा करने लगते हैं, जहाँ-तहाँ थूक कर, टट्टी-पेशाब करके जगह बिगाड़ता है। इतना होने पर भी बुढ़ापे में धर्म के सम्मुख होकर अपनी आत्मा के बारे में कुछ भी सोचता-विचारता नहीं। मतलब यह कि तीनों ही अवस्थाओं में मनुष्य मनुष्य होकर भी पशु बना रहता है। पुरुष तो तभी कहा जा सकता है, जब मनुष्य धर्म में, आत्मगुणों के विकास में पौरुष-पुरुषार्थ करे। आनन्दघनजी कहते हैं—

"जे तें जीत्या रे ते मुझ जीतियारे।
पुरुष किश्युं मुझ नाम ?"

परमात्मा ने परमात्मा बनने से पहले काम-क्रोध-रागद्वेष-मोहादि के कारण पैदा हुए कर्मशत्रुओं को जीत लिये हैं, वे अब मुझे (बहिरात्मा) को जीत रहे हैं। तब मेरा 'पुरुष' नाम व्यर्थ ही रहा। मैंने कर्मशत्रुओं को जीतने के बदले उनसे हार खाई, उनका गुलाम बना।

यही बहिरात्मा की स्थिति है। तीनों ही अवस्थाओं में वह मूर्ख और बेसमझ ही बना रहा है। स्त्री-पुत्र-कुटुम्ब व धन-धाम

मुख्यतः तीन भागों में बांटा जाता है—(१) बहिरात्मा (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा। शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं में आत्मबुद्धि करने वाली आत्मा बहिरात्मा कहलाती है। शरीर और शरीर के अंगोपांगों को ही सब कुछ समझने वाले व्यक्ति इन्हें अपना मान कर रातदिन शरीर की ही सेवा-शुश्रूषा में रचेपचे रहते हैं, आत्मा की सेवा का कोई विचार ही नहीं करते, वे बहिरात्मा हैं। ऐसे लोग शरीर को खाने के लिए थोड़ा-सा अनाज चाहिए, पर दुनियाभर का खाद्यपदार्थ पहले से संग्रह व ममत्व करके रखेंगे। शरीर को पहिनने के लिए कुछ कपड़े चाहिए, लेकिन कपड़ों की पेटियाँ पर पेटियाँ भरते रहेंगे, कोई शर्दी से ठिठुरता होगा, उसे नहीं देंगे। अपने और अपनों के शरीर के लिए मूर्च्छा करके रखेंगे। शरीर को रहने के लिए छोटा-सा मकान चाहिए, पर बड़े-बड़े विशाल आलीशान बंगले व ईमारतें बनवाएँगे, परन्तु किसी गरीब को उसमें आश्रय न देंगे। इस प्रकार शरीर के ही ऐश-आराम, आमोदप्रमोद व सुखसुविधा के लिए दुनियाभर के साधन जुटाएँगे, व्यर्थ में ही पैसों को पानी की तरह बहा देंगे, लेकिन किसी दुःखी की सेवा में खर्च नहीं करेंगे। यह सब पुद्गलानन्दी बहिरात्माओं के लक्षण हैं। ऐसे जीव न तो आत्मा के विषय में कभी सोचते-समझते हैं और न परमात्मा के स्वरूप का ही विचार करते हैं। खाना-पीना, धनकामना, बच्चे-बच्ची पैदा करना, मौज करना, यही उनके लिए आत्मा और परमात्मा हैं। निष्कर्ष यह है कि बहिः यानी आत्मा के निज गुणों या स्वभावों से बाहर परभावों या परगुणों में ही अहर्निश रमण करने वाले जीव बहिरात्मा हैं। ऐसी आत्माओं के लिए परमात्मा बहुत दूर हैं। शरीर की तीन अवस्थाएँ हैं—बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था। बहिरात्मा जीव को इन तीनों अवस्थाओं में भी शरीर के चिन्तन से ऊपर उठने का मौका नहीं मिलता। उसे अपने बहिरात्मपन का कोई

याद दिलाएँ, शायद इन्हें लग जाय। दूसरे लड़के ने कहा—"पिताजी ! अब तो कृष्ण-कृष्ण करो।" यह सुनते ही सेठ बोल उठे—"अरे भाई ! वो किशना धोबी धोती जोड़े ले गया था, उनके दाम नहीं दे गया, तकादा करना।" तीर निशाने पर नहीं लगा देख कर तीसरे लड़के ने कहा—"पिताजी ! अब तो घड़ी-दो-घड़ी के मेहमान हो। भगवान्-भगवान् कर लो।" सेठजी ने भगवान् का नाम सुनते ही कहा—"अरे, जरा भगवाना पण्डित का खाता खोल कर देखना। उसमें कितने रुपये बकाया हैं ?" अब तो चौथे लड़के ने कहा—पिताजी ! और कुछ नहीं तो प्रभु-प्रभु तो रट लो।" परन्तु सेठ का चित्त तो माया में था। उसे प्रभु का नाम कब सुहाता ? तुरन्त बोल उठा—"देखो तो, वो प्रभु भंगी तीनसौ रुपये ले गया था, दो साल हुए। न तो उनका व्याज दिया, न रुपये चुकाए। इसलिए उसका घरबार कुर्क करा कर वसूल करना।" चारों पुत्र निराश हो गए। बहुत मेहनत की कि किसी तरह पिताजी भगवान् का नाम ले लें, पर उन्होंने मरते दम तक परमात्मा का नाम नहीं लिया सो नहीं लिया। खाली हाथ परलोक चले गए।

ऐसे होते हैं, बहिरात्मा जीव ! जो जिंदगीभर धर्म के सम्मुख नहीं होते और न आत्मा-परमात्मा का विचार करते हैं।

दूसरे आत्मानन्दी अन्तरात्मा होते हैं, वे शरीर और आत्मा की भिन्नता का विचार करके आत्मा के सम्मुख होते हैं। बाह्य परभावों से हट कर अन्तर में डुबकी लगाते हैं। अन्तर्मुख बनते हैं। शरीर को धर्मपालन का साधन समझकर उसका पोषण भी करते हैं, लेकिन जहाँ शरीर पाप व अधर्म की ओर जाने को तैयार हो, वहाँ उसका साथ नहीं देते। शरीर व शरीर से सम्बन्धित साधनों का उपयोग करता हुआ भी वह उनसे निर्लिप्त रहते हैं। कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र

आदि के मोह में लोग ऐसे फंसे रहते हैं कि उन्हें परमात्मा का नाम लेना या आत्मा के हित के बारे में सोचना जरा भी नहीं सुहाता। एक रोचक उदाहरण लीजिए—

मारवाड़ में एक वैष्णव वनिया था। उसके चार लड़के थे। चारों वड़े होशियार, योग्य और विनीत थे। सेठ अपने कारोबार में ही रातदिन फंसे रहता था। बुढ़ापा आजाने पर भी किसी लड़के पर भरोसा करके नहीं सौंपता था। लड़कों ने कहा—'पिताजी! अब आप वहुत बूढ़े हो गए हैं। भगवान् का भजन व धर्मध्यान करिए। व्यापारधंधा हम संभाल लेंगे।" सेठ वोला—"नहीं, मैं तुम्हारे भरोसे अपना व्यापार नहीं छोड़ सकता। तुम सव वड़ी मेहनत से कमाई हुई मेरी सम्पत्ति को चौपट कर दोगे!" लड़कों ने कहा—"अच्छा पिताजी! आप नहीं मानते हैं, न सही! जैसा आपको अच्छा लगे, करें।" एक वार सेठ वहुत बीमार पड़े कि खाट पकड़नी पड़ी। अव तो सेठजी का दूकान जाना छूट गया, फिर भी जी रात-दिन व्यापारधंधे की उधेड़बुन में ही रहता था। रुग्णशया पर पड़े-पड़े भी सेठजी दूकान की बातें सोचते रहते। एक दिन सेठजी की हालत अत्यन्त खराब हो गई। अब तो वे मरणासन्न हो गए। लड़कों ने सोचा—"पिताजी ने हमें पालपोस कर बड़ा किया है, हमारे लिए धन जोड़ रहे हैं। इसलिए हमारा कर्त्तव्य है कि इन्हें अन्तिम समय में परमात्मा का नाम याद दिला दें, ताकि 'अन्त मति सो गति' इस कहावत के अनुसार इनकी गति सुधर जाय।" ऐसा सोच कर चारों लड़के पिताजी की खाट के पास आए और खड़े रहे। सबसे पहले वड़े लड़के ने पिताजी से कहा—"पिताजी! अब जिंदगी का भरोसा नहीं है, राम-राम करो।" सेठ को राम का नाम सुनते ही सहसा कुछ याद आया और वोल उठे—"अरे! रामा जाट में रुपये लेने हैं, तकाजा करना।" लड़कों ने सोचा—यह तो उलटा हुआ। चलो दूसरा नाम

परमात्मप्राप्ति के उपाय

जिन महामुनियों ने अन्तरात्मा वन कर परमात्मतत्त्व में लीन होने की साधना की है, उन्होंने परमात्मतत्त्व की उपलब्धि के लिए और सरल उपाय यह वताया है—

"सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं, संसारकांतारनिपातहेतुम् ।
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे ॥"

हे मुमुक्षु ! यदि तू परमात्मतत्त्व में लीन होना चाहता है तो सब प्रकार के विकल्पों को छोड़ दे । आत्मा में उत्पन्न होने वाले विविध विकल्प ही संसाररूपी अटवी में भटकाने वाले हैं । यह महल, धनसम्पत्ति, भाईबन्धु, पत्नी, पुत्र, जमीन-जायदाद मेरे हैं; इस प्रकार का मेरेपन का विकल्पजाल ही आत्मा को चक्कर में डालने वाला है । इन पर-पदार्थों से आत्मबुद्धि हटा ले । यही नहीं, मैं निर्बल हूं, निर्धन हूं, धनिक हूं, राजा हूं, रंक हूं, यह सब विकल्प तथा यह मेरा शिष्य है, यह मेरा भक्त है इत्यादि प्रशस्त समझे जाने वाले विकल्प भी आत्मा को परमात्त्वतत्त्व में लीन नहीं होने देते । अतः इन सब विकल्पों से आत्मा को दूर निर्द्वन्द्व, निर्विकल्प रखने का प्रयत्न करो । अपनी आत्मा को इन सबसे मुक्तरूप में अनुभव करने का पुरुषार्थ करो । संसार का कोई भी विकल्प आत्मा को स्पर्श न करे, तब समझना अब परमामतत्त्व में लीन हो गए । क्योंकि वहाँ आत्मा का शुद्धस्वरूप ही विद्यमान रहता है ।

विकल्पों को दूर करने का उपाय है, परमात्मा को आत्मा में देखो । आत्मा परमात्मारूपी सूर्य की आभा है । आत्मा न होती तो परमात्मा की चर्चा ही न की जाती । मैं (आत्मा) और परमात्मा एक हैं । अन्तर इतना ही है कि मैं (आत्मा) आवरणों से ढका हुआ हूं, परमात्मा समस्त आवरणों से अतीत हैं । जो शक्ति परमात्मा में है, वही

आदि में अपने कर्त्तव्य का पालन करता है, परन्तु अन्तर में यही समझता है कि ये मेरे नहीं हैं, पराये हैं। इस शरीर के निमित्त से इनसे मेरा सम्बन्ध है, इसलिए मुझे इनके प्रति मेरे कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व का पालन करना चाहिए। कहा भी है—

रे रे समदृष्टि जीवड़ा करे कुटुम्ब-प्रतिपाल।
अन्तर से न्यारो रहे ज्यों धाय खिलावे बाल॥

संक्षेप में, अन्तरात्मा बाह्य परभावों से अन्दर से अलग रहता है। आत्मा का ही विचार करता है और परमात्मा की ओर जाने के लिए योग्य धर्म-पुरुषार्थ करता है। सोचता है—धर्म के प्रताप से ही यह सब शुभ संयोग व साधन मिले हैं तो मुझे अब अपने उपकारी मित्र धर्म को क्यों छोड़ना चाहिए? धर्म ही मेरी आत्मा का भला करने वाला है। आत्मा के अभिमुख होने से ऐसा जीव अन्तरात्मा कहलाता है।

और तीसरा भेद है—परमानन्दी परमात्मा। जो समस्त कर्म-जन्य उपाधियों से रहित होकर शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, निरंजन, निराकार या जीवन्मुक्त वीतराग बनते हैं। ऐसी आत्माएँ तो सदा-सर्वदा आत्मस्वरूप में ही रमण करती है। अपने स्वभाव और आत्मगुणों में ही तल्लीन रहती हैं।

अगर बहिरात्मा जीव कर्मों के आवरणों का भेदन करने के लिए शुद्ध धर्म में पुरुषार्थ करे, काम, क्रोध, मद, लोभ, कपट, अभिमान, राग-द्वेष, मोह आदि विभावों को छोड़ कर शील, क्षमा, निरहंकार, संतोष, सरलता, नम्रता, वीतरागता आदि स्वभावों—आत्मगुणों में रमण करने लगे तो वह अन्तरात्मा बन कर क्रमशः गुणस्थानों के सोपान पर चढ़ते-चढ़ते एक दिन पूर्ण शुद्ध आत्मा—कर्मरहित आत्मा—परमात्मा बन जाता है।

६

आत्मा की पहचान

दुनिया में जितने भी धर्म हैं, वे सब आत्मा को किसी न किसी रूप में मानते ही हैं। उसके वर्णन और व्याख्या में मतभेद भले ही हो, आत्मा के अस्तित्व में कोई मतभेद नहीं है। आत्मा की सत्ता को सभी धर्म स्वीकारते हैं। इतना ही नहीं, सभी धर्म आत्मा को पहिचाने बिना सारी साधना को राख पर लेपन करने के समान व्यर्थ मानते हैं। एक गुजराती भक्त कहता है—

"ज्यां लगी आत्मतत्त्व चीन्यो नहीं, त्यां लगी साधना सर्व जूठी।"

'जहाँ तक साधक आत्मतत्त्व को नहीं पहिचान लेता, वहाँ तक सारी ही साधना बेकार है, मिथ्या है।'

एक ओर तो सभी आस्तिकों की ओर से आत्मतत्त्व को पहिचानने की बात की जाती है, और दूसरी ओर पंचभूतों से बने हुए शरीर के अलावा आत्मा नाम की कोई अलग चीज न मानने वाले नास्तिक लोग या आत्मा का अस्तित्त्व ही शरीर या किसी भी रूप में न मानने वाले आधुनिक भौतिकवादी लोग यह कहते हैं कि आत्मा, परमात्मा आदि सब ढोंग हैं। आत्मा है ही नहीं तो उसे पहिचानने की जरूरत क्या है? ऐसे लोगों के लिए भी आत्मा को विविध प्रमाणों से सिद्ध

आत्मा में है। आत्मा की शक्ति कर्मों के आवरणों से ढकी है और परमात्मा की शक्ति कर्मक्षय के कारण समस्त आवरणों से रहित है। वह पूर्णरूप में प्रगट हो चुकी है, हमारी शक्ति पूर्णरूपेण प्रगट नहीं हुई। उसे पूर्णरूपेण प्रगट करने के लिए सरल मार्ग यह है कि परमात्मा के प्रति आत्मा में परिपूर्ण प्रेम जागृत होजाय। वह प्रेम ऐसा होना चाहिए कि किसी भी परिस्थिति में परमात्मा का ध्यान खण्डित न हो। हमेशा यही ध्यान रहे—

"सिद्धोऽहं सुद्धोऽहं अणंतणाणादिगुणसमिद्धोऽहं"

अर्थात्—'मेरी आत्मा सिद्ध है, शुद्ध है, अनन्तज्ञान आदि निज-गुणों से युक्त है।' इसी बात का निर्देश श्रावक विनयचंदजी अपनी चौबीसी में कर रहे हैं—

'तू सो प्रभू प्रभू सो तू है, द्वैतकल्पना मेटो।
शुद्ध चेतन आनन्द 'विनयचंद' परमातम पद भेटो॥'

इस प्रकार सदा आत्मा जब परमात्मध्यान में तल्लीन रहेगा तो उसके समस्त आवरण हट जाएँगे, तब आत्मा और परमात्मा एक समान हो जायेंगे। उस समय आत्मा स्वयमेव परमात्मा बन जायगा।

स्थान—गौड़ीजी का उपाश्रय
पायधुनी, बम्बई

वि० सं० २००६
श्रावण सुदी १२

कहलाता है और जिसके न रहने पर वही शरीर मृत कहलाने लगता है। उस सूक्ष्म तत्त्व को 'आत्मा' कहा जाता है। वह हाड़, मांस आदि शरीर के अवयवों, तथा सारे शरीर व इन्द्रियों एवं पंच भूतों से सर्वथा भिन्न है।

उन नास्तिकों से पूछा जाय कि अगर पंचभूतों से बना हुआ शरीर ही आत्मा हो तो उन पंचभूतों को आँखों से देखने वाला, पंच-भूतों की आवाज को कानों से सुनने वाला, पंचभूतों की गंध को नाक से सूंघने वाला, उनके स्पर्श का स्पर्शेन्द्रिय से अनुभव करने वाला और जीभ से उन पंचभूतों के स्वाद का अनुभव करने वाला कौन है? अगर आँख, कान, नाक, जीभ और स्पर्शेन्द्रिय में खुद में ही यह सब अनुभव करने की शक्ति हो तो मुर्दे के शरीर में रही हुई इन्द्रियाँ यह अनुभव—संवेदन-क्यों नहीं कर लेतीं? इससे सिद्ध होता है कि उन पंचभूतों का और इन्द्रियों के विषयों का द्रष्टा कोई और ही है। शरीर स्वयं अगर उनका या इन्द्रिय-विषयों का द्रष्टा या संवेदनकर्ता होता तो मृतशरीर भी जरूर द्रष्टा होता, ज्ञाता होता, संवेदनकर्ता होता! मगर ऐसा तो होता नहीं। इसलिए अन्ततो-गत्वा यह मानना ही पड़ेगा कि इन दृश्यों को देखने, जानने और संवेदन करने वाला कोई अन्य तत्त्व है और वह आत्मा ही है।

मांस और रक्त जैसे जीभ में है, वैसे हाथ में भी है। पांचों भूत जैसे जीभ में हैं, वैसे हाथ में भी हैं। फिर क्या कारण है कि खट्टे-मीठे आदि रसों के स्वाद का अनुभव जीभ अकेली ही क्यों करती है, हाथ क्यों नहीं करते? जबकि हाथ और जीभ दोनों शरीर के अवयव हैं और दोनों में पंचमहाभूत समान हैं। इतनी भिन्नता यह बताती है कि देह से भिन्न और कोई तत्त्व है, जो इन सबका संचालन करता है। अगर देह और इन्द्रियाँ ही इनका संचालन

करना अनिवार्य जरूरी है। आस्तिक लोगों के अपने समझने एवं आत्मा और उसकी शक्तियों को पहचानने के लिए आत्मा की सिद्धि जरूरी है।

आत्मा का अस्तित्व, विभिन्न युक्तियों से

पुराने नास्तिकों का कहना है कि आत्मा नाम की कोई अलग चीज नहीं है, यह शरीर ही आत्मा है। जैसे घड़ी के पुर्जों को यथास्थान जोड़ देने से वह टक् टक् शब्द करती हुई चलती रहती है, इसी तरह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पांच भूतों के मिलने से यह शरीर बना है। यथास्थान इन पांचों भूतों के सम्मिश्रण होने से यह शरीर विविध क्रियाएँ करता है। जब तक ये पांचों भूत बिखर नहीं जाते तब तक शरीर अपना काम करता रहता है। जब ये पांचों भूत बिखर जाते हैं, तब शरीर अपना काम करना बन्द कर देता है। शरीर के सिवाय आत्मा कोई पृथक् चीज नहीं है। शरीर में से पांच भूत बिखर जाने के बाद कुछ भी शेष नहीं रहता।

गहराई से सोचने पर नास्तिकों का यह मत गलत मालूम देगा। अगर आत्मा का अस्तित्व शरीर से भिन्न न होता यानी शरीर ही आत्मा होता तो मृतशरीर और जीवित शरीर में कोई अन्तर ही न होता। मुर्दा शरीर भी हूबहू जीवित शरीर जैसा लगता है, उसमें कोई भी चीज निकली हुई या निकलती हुई चर्मचक्षुओं से मालूम नहीं होती। पंचभूत प्रायः ज्यों के त्यों रहते हैं, फिर भी वह बोलता नहीं, चलता नहीं, श्वास नहीं लेता, चखता नहीं, सुनता नहीं, सूंघता नहीं और देखता नहीं। जबकि जीवित शरीर बोलता है, चलता है, श्वास लेता है, सूंघता है, चखता है, देखता है, सुनता है। इसलिए जीवितशरीर और मृतशरीर में पाया जाने वाला यह अन्तर साबित करता है, शरीर से भिन्न और कोई ऐसा तत्त्व है, जिसके रहने पर शरीर जीवित

से भिन्न आ मतत्व को अलग से मानने की बात को उदाहरण देकर समझाता हूं—मानलो, आप पापड़ खा रहे हैं। उस समय जीभ उसका स्वाद जान रही है, नाक उसकी गंध का अनुभव कर रही है, आँखें उसका रूप देख रही हैं, कान उसका चर्र-चर्र होने वाला शब्द सुन रहे हैं और हाथ उसके स्पर्श का अनुभव कर रहे हैं। इन्द्रियों के इन पांचों विषयों का सम्मिलित ज्ञान तो किसी भी एक इन्द्रिय को होना असम्भव है। क्योंकि एक इन्द्रिय सिर्फ अपने एक ही नियत विषय को जान या अनुभव कर सकती है। अगर एक ही इन्द्रिय रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इन पांचों विषयों को जान सकती तो पांचों इन्द्रियों के अलग-अलग बनाने की आवश्यकता ही क्या रहती? यही कारण है कि इन पांचों इन्द्रियों के ग्रहण किए हुए विषयों को पांचों इन्द्रियों के अतिरिक्त जो जानता है वह आपका ज्ञाता-द्रष्टा आत्मा ही है; जो एक साथ इन पांचों इन्द्रियों के विषयों का ग्रहण और अनुभव करता है।

और एक उदाहरण लीजिए—आप मेरे व्याख्यान के शब्दों को सुनते हैं, वे के वे ही शब्द हरदम तो नहीं बोले जाने, फिर व्याख्यान के शब्द बाद में आपको याद रहते हैं कि महाराज ने आज फलां बात व्याख्यान में कही थी। मैं आपसे पूछता हूं कि व्याख्यान के वे शब्द कालान्तर में याद करने वाला कौन है? क्या कोई छठी इन्द्रिय है, जो इन शब्दों को स्मरण कर लेती है? इसी प्रकार आपने मेरा चेहरा देख लिया। अगर मैं महीने दो महीने बाद आपके यहाँ आऊँ तो भी आप मेरे देखे हुए चेहरे को याद करके मुझे झट पहिचान लेंगे कि यह तो 'वल्लभविजय' है। भला यह सब सुनना और देखना किसे याद रहता है? आपके शरीर में विराजमान ज्ञाता-द्रष्टा, अविनाशी चिदानन्द आत्मा को ही तो यह स्मरण रहता है।

करतीं तो मृतशरीर और उस शरीर से सम्बद्ध इन्द्रियाँ क्यों नहीं संचालन कर लेतीं ? आप यहाँ व्याख्यान सुनने के लिए बैठे हैं, लेकिन कानों में उँगलियाँ डाल कर आँखें फाड़कर सुनना चाहें तो क्या व्याख्यान सुन सकते हैं ? नहीं। आँखें दिखाने का काम कर सकती हैं और कान सुनाने का। मगर इस व्यवस्था को उलट दिया जाय, अर्थात् आँखों को बन्द करके कानों को देखने में लगाया जाय तो कोई वस्तु देखी नहीं जा सकती। इसी प्रकार कानों में उंगलियाँ डाल कर आँखों से सुनने का काम लेना चाहें तो आप सुन नहीं सकेंगे। जो इन्द्रिय जिस काम के लिए है, वही काम उससे हो सकता है, दूसरा नहीं। मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, यह ज्ञान क्या आँख आदि किसी भी इन्द्रिय को होता है ? नहीं। यह ज्ञान तो सभी इन्द्रियों के राजा आत्मा को ही होता है ! दरअसल बात यह है कि सुनने, देखने, सूंघने, चखने, सुख-दुःख, शर्दी-गर्मी का अनुभव करने वाला कोई और ही है, कान, आँख आदि तो सुनने, देखने आदि के लिए उपकरण-औजार हैं। वह सुनने, देखने, सूंघने, चखने, सुख-दुःख, शर्दी-गर्मी आदि का अनुभव करने वाला ही आत्मा कहलाता है। अन्यथा, अगर इन्द्रियाँ ही ये काम कर लेतीं तो मृत-अवस्था में क्यों नहीं करतीं ? कोई यह कहे कि आप शरीर से भिन्न जिस आत्मा को इन सबका ज्ञाता-द्रष्टा कहते हैं, वह भी मृत-अवस्था में देखने-सुनने आदि का काम क्यों नहीं कर लेता ? इसका उत्तर स्पष्ट है कि उस समय मृतक के शरीर से आत्मा निकल कर अन्यत्र चली जाती है, जहाँ मृतक को कर्मानुसार योनि मिली है।

अगर कोई यह कहे कि एक-एक इन्द्रिय अपना नियत काम ही कर सकती है, उससे दूसरी इन्द्रिय का काम नहीं हो सकता। जब इन्द्रियों से काम चल जाता है तो फिर आत्मा को मानने की क्या जरूरत है ? इसका उत्तर पहले आ ही चुका है फिर भी पांच इन्द्रियों

सकतीं। इस प्रकार का भेदज्ञान आत्मा ही कर सकती है। जड़ को जड़ कहने वाला आत्मा है। आत्मा का अस्तित्व प्रमाणों से सिद्ध करने वाला भी आत्मा है। नाना प्रकार की अभिलाषा या संवेदन करने वाला भी आत्मा है। यही नहीं, जो आत्मा का निषेध या शंका करते हैं, वे स्वयं ही आत्मा हैं। पर वे इस तथ्य को नहीं समझते। क्या पदार्थों को अपने-आपका ज्ञान होता है? भंग घोट कर रखी हुई है। क्या भंग जानती है कि मैं नशा चढ़ाने वाली हूं? वह नहीं जानती। और जब तक ग्लास में रहती है, तब तक भी नशा नहीं चढ़ाती। ओठ तक अड़ाने पर भी भंग नशा नहीं चढ़ाती। किन्तु जीवितशरीर वाला व्यक्ति जब उसे गले से नीचे उतार देता है, तब वह नशा चढ़ाती है। परन्तु वही भंग यदि मुर्दे के पेट में डाल दी जाय या किसी जड़ वस्तु में—लोटे, ग्लास या शीशी आदि में डाली जाय तो वह नशा नहीं चढ़ाती। ऐसा क्यों होता है? वास्तव में नशे का अनुभव कोई भी जड़ पदार्थ नहीं कर सकता। चेतन के साथ संयोग होने पर ही नशे की अनुभूति होती है। मुर्दे शरीर में या लोटे, ग्लास आदि जड़ पदार्थों में चेतना नहीं होती। इससे सिद्ध हो जाता है नशे का अनुभव करने वाला कोई और तत्त्व है, जो चेतन है। उसे ही आत्मा कहते हैं। जड़ पदार्थों में चेतना न होने के कारण उन्हें अपने आपका और पर का ज्ञान नहीं होता, इन सबको जानने वाला आत्मा है। आत्मा ज्ञाता-द्रष्टा है, पदार्थ ज्ञेय या दृश्य है।

अनादिकाल से शरीर के साथ गाढ़ सम्बन्ध होने के कारण, अज्ञान के कारण यह शरीर ही आत्मा के समान भासित हो रहा है। परन्तु जैसे तलवार और म्यान दोनों ही भिन्न-भिन्न हैं, उसी प्रकार आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न हैं।

इसलिए पांचों इन्द्रियों से अतिरिक्त देखी-सुनी बातों का याद करने वाला आत्मा नामक तत्त्व माने बिना कोई चारा नहीं।

एक स्त्री है। वह गहने-कपड़ों से सुसज्ज हो कर किसी रिश्तेदार के यहाँ जा रही है। रास्ते में उसके लड़के ने उसे देख लिया और पूछा—"माँ, कहाँ जा रही हो?" उसके किसी प्रेमी ने उसे देख लिया और कामीबुद्धि से प्रेरित होकर उसे छेड़खानी करने की सूझती है। इतने में एक संत ने उसे जाते देखा तो विरभक्तिभाव से देख कर वे आगे चल पड़े। एक ही दृश्य को तीन व्यक्तियों ने देखा, लेकिन तीनों को अलग-अलग बुद्धि सूझी। तो इन तीनों को अलग—अलग बुद्धि देने वाला कौन है? वह आत्मा ही तो है, जिसने भिन्न—भिन्न बुद्धि दी है। देखने का काम भले ही एक इन्द्रिय-नेत्र ने किया हो, लेकिन विभिन्न प्रकार के संवेदन का काम करने वाली तो आत्मा ही है और वह सबकी अलग-अलग है।

आप मेरे सामने बैठे हैं। जैसे मैं आपके आँख, कान, नाक आदि अवयवों को देख रहा हूं, वैसे मैं अपने इन अवयवों को भी देख रहा हूं। दोनों के अवयवों को देखते हुए भी मैं यह जानता हूं कि दूसरों के आँख, कान आदि अवयव मेरे नहीं हैं। जिस प्रकार मैं दूसरों के आँख, कान आदि अंगों को अपने नहीं मानता, वैसे ही अपने इन अंगों को भी मुझे पराये समझना चाहिए। यानी दूसरों के अवयवों के बारे में जैसे मुझे भिन्नता का ज्ञान होता है, वैसे अपने अवयवों के विषय में भी भिन्नता का ज्ञान होना चाहिए। मगर वैसा होता नहीं। आत्मा जिस शरीर में बैठा है उसे या उसके ही अंगों को अपने मानता है, दूसरों के नहीं। क्या शरीर या इन्द्रियाँ इस प्रकार का अपने-पराये का भेदज्ञान कर सकती है? नहीं कर

के भीतर ऐसा कौन-सा विज्ञानवेत्ता बैठा है, जो रेडियो ही नहीं, टेलीविजन, टेलीफोन, एरोप्लेन, कम्प्यूटर आदि एक से एक बढ़ कर आश्चर्य में डालने वाले अद्भुत काम कर डालता है? उस शक्ति को माने बिना कोई छुटकारा नहीं। अतः रेडियो-निर्माता वैज्ञानिक के भीतर जो परम विज्ञानवेत्ता बैठा है, उस शक्ति का नाम है आत्मा। वह आत्मा केवल रेडियोनिर्माता के अन्दर ही नहीं, वरन् तमाम छोटे-बड़े प्राणियों में मौजूद है। इसी प्रकार घड़ी को देख कर आप उसके वैज्ञानिक की तारीफ करते हैं, उस घड़ी के बनाने वाले के अन्दर जो यंत्रवेत्ता बैठा है, जो घड़ी बनाने वाले को ही नहीं, सारे चैतन्य-शील प्राणियों को बुद्धि देता है, उसका भी विचार करिए। वह आत्मा के सिवाय और कौन हो सकता है?

इस आत्मा में जबर्दस्त शक्ति है। अपनी प्रचण्ड शक्ति के प्रभाव से वह संसार का कायापलट कर सकती है। जिस विज्ञान ने आज सारे संसार को चकित कर दिया है, उसके मूल में इस आत्मा की ही शक्ति है। आत्मा न हो तो अकेला साइन्स (विज्ञान) क्या कर सकता था? वह तो उस वैज्ञानिक के आविष्कार से पहले ही विद्यमान था। साइन्स अपने आप में जड़ है। वह स्वयं कुछ भी नहीं कर सकता और न आत्मा की शक्ति के सहयोग बिना कुछ कर सकता है। अगर आत्मा की शक्ति के सहयोग के बिना कुछ कर लेता तो जो वैज्ञानिक मर चुके उन मृतशरीरों के सहयोग से भी नये-नये आविष्कार कर सकता। मगर ऐसा नहीं होता। इसलिए साइंस की चकाचौंध में पड़ कर साइन्स के प्रेरक—आत्मा-को नहीं भूलना चाहिए। आत्मा एवं आत्मा की शक्तियों को भी पहिचानने का प्रयत्न करना चाहिए। उन वैज्ञानिकों से पूछा जाय कि घट, पट आदि जिन पदार्थों को तुम जानते हो और कहते हो कि वे हैं, पर घट, पट आदि

आँखें आत्मा को नहीं देख सकतीं किन्तु आत्मा ही आँखों को देखती है। आँखें केवल स्थूल रूप को देख सकती हैं किन्तु आत्मा तो स्थूल-सूक्ष्म आदि सबको जानती है। इन्द्रियजन्य ज्ञान में तो अन्य कारणों से रुकावट आ सकती है, परन्तु आत्मा से होने वाले ज्ञान में कोई रुकावट नहीं पहुंचा सकता। अतएव वही ज्ञान या अनुभव आत्मा का स्वरूप है। निष्कर्ष यह है कि आत्मा को न तो शरीर जानता है, न इन्द्रियाँ जानती हैं और न श्वासोच्छ्वास ही जानते हैं। किन्तु ये सब आत्मा के सहयोग से ही अपनी-अपनी प्रवृत्ति कर सकते हैं। अगर आत्मा का इन्हें सहयोग न हो तो ये जड़ ही बने रहें।

यदि शरीर ही आत्मा होता तो दुबलेपतले शरीर वाले की बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण और स्थूल शरीर वाले की बुद्धि स्थूल-मन्द-दिखाई देती है, इस प्रकार का विरोध दिखाई न देता।

फिर जिस वस्तु में कभी जानने की शक्ति या स्वभाव नहीं होता, वह जड़ और जानना जिसका स्वभाव है, वह चेतन है; इस प्रकार जड़ और चेतन दोनों का भिन्न-भिन्न स्वभाव है और वह कभी एक न होगा। जड़ तीनों काल में जड़ ही बना रहेगा, और चेतन चेतन ही।

जो वैज्ञानिक या भौतिकवादी लोग आत्मा का अस्तित्व नहीं मानते हैं, उन्हें कोई पूछे कि रेडियो आश्चर्यजनक है या रेडियो का आविष्कर्ता ? आश्चर्यजनक तो रेडियो का आविष्कर्ता ही है। जिस ने ऐसे अद्भुत पुर्जे डाल कर हजारों मील दूर बैठे हुए आदमी को समाचार व संगीत आदि सुनने योग्य रेडियो का निर्माण कर दिखाया है। अगर वैज्ञानिक में यह शक्ति न होती तो वह रेडियो का निर्माण कैसे कर सकता ! तब सवाल यह खड़ा होता है कि रेडियो-निर्माता

ऐसे पेचीदा आत्मतत्त्व को भी अपनी बुद्धि और क्षयोपशम अनुसार मैं समझाने और सिद्ध करके बताने का प्रयास करूंगा।

सर्वप्रथम तो 'आत्मा नहीं है' यह कथन ही आत्मा की सिद्धि करता है। उदाहरण के तौर पर—एक आदमी को अंधेरे में रस्सी सांप जान पड़ती है। लेकिन इस प्रकार की भ्रान्ति तभी हो सकती है, जब कि सांप का अस्तित्व संसार में हो। अगर सांप का संसार में कहीं अस्तित्व न होता तो सांप की भ्रान्ति भी कैसे हो सकती थी? जिसने जल देखा है, वही मृगजल में जल की कल्पना कर सकता है। जिसने कभी जल ही नहीं देखा, वह मृगजल में जल की कल्पना कैसे कर सकता है? इसी तरह 'आत्मा नहीं है' यह कल्पना भी तभी हो सकती है, जब संसार में कहीं न कहीं आत्मा का अस्तित्व हो। अगर आत्मा का अस्तित्व ही न होता तो उसका नाम ही कहाँ से आता? और उसके निषेध की आवश्यकता ही क्यों पड़ती? इसलिए आत्मा का निषेध ही आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

आत्मा का अस्तित्व मानने का दूसरा कारण यह है कि संसार में जितने भी समास-रहित होते हैं, उनके वाच्य पदार्थ भी अवश्य होते हैं। मगर जो पद समासयुक्त होते हैं, उनके वाच्य पदार्थ कदाचित् नहीं भी होते। पर जिन-जिन पदों का समास होता है उन-उन पदों का वाच्यपदार्थ जरूर होता है। उदाहरण के तौर पर शशशृंग या आकाशपुष्प ये दोनों पद समासयुक्त हैं, इन सामासिक पदों के वाच्य पदार्थ कोई नहीं हैं, लेकिन तभी हैं जब दोनों पदों को अलग-अलग किया जाय। शश यानी खरगोश भी है, शृंग यानी सींग भी जगत् में है। इसी प्रकार आकाश और पुष्प दोनों पदार्थ जगत् में हैं। परन्तु 'आत्मा' पद तो समासरहित है, उसका वाच्य आत्मा नामक पदार्थ अवश्य होना चाहिये। अतः हाथी, घोड़ा आदि असामासिक जितने

को जो जानने वाला है, उस पर तुम्हें विश्वास नहीं होता, तो तुम्हारे इस ज्ञान को क्या कहा जाय ?

आत्मा की सिद्धि; विभिन्न प्रमाणों से

नास्तिकों तथा भौतिकविज्ञानवादियों का कहना है कि जैसे हमें शरीर, इन्द्रियाँ तथा अन्य सांसारिक पदार्थ आँखों से दिखाई देते हैं, वैसे आत्मा तो आँखों से दिखाई नहीं देता। जब आत्मा प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता तो हमें कहना चाहिए आत्मा है ही नहीं। इसीलिए आत्मा को हम नहीं मानते और न उसे पहिचानने का व्यर्थ प्रयत्न करते हैं।" यद्यपि पहले मैं विविधयुक्तियों के द्वारा आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि के बारे में कह चुका हूं। फिर भी प्रमाणों के द्वारा आत्मा को सिद्ध करना भी जरूरी समझता हूं। यद्यपि आत्मा का तत्त्व बड़ा गहन है वेदों में और जैनशास्त्रों में इसके स्वरूप का निषेधात्मक रूप से वर्णन किया गया है कि आत्मा यह नहीं, आत्मा ऐसा नहीं आदि, परन्तु अन्त में तो कोई भी उस अमूर्त वस्तु का शब्दों से कथन करके प्रत्यक्ष अनुभव नहीं करा सकता। इसलिए उन्होंने घोषणा की—'नेति नेति'। यानी हमारी मन सहित वाणी भी आत्मा का पार नहीं पा सकी। गीता में भी इसके लिए कहा गया—

"आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति, श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥"

इस चिदानन्द आत्मा के बाह्य और आभ्यन्तर स्वरूप को कई आश्चर्यजनक दृष्टि से देखते हैं, कई इसके बारे में वाणी से आश्चर्य प्रगट करते हैं, कई इसके वर्णन को आश्चर्यचकित होकर सुनते हैं। परन्तु सुनकर भी इसके असली स्वरूप को ज्ञानी के सिवाय कोई जान न सका।

राजा निरुत्तर हो गए और उनके नम्र चरणसेवक बनकर सद्धर्म में रत हो गए। जो लोग अमूर्त वस्तु को भी प्रत्यक्ष देखने का हठ करें, उन्हें यह पूछा जाय कि तुमने जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया है, उसे दिमाग में से निकाल कर हमें प्रत्यक्ष बताओ। तो वे कदापि नहीं बता सकेंगे, क्योंकि ज्ञान अमूर्त वस्तु है, वह आँखों से नहीं देखी जा सकती। अमूर्त वस्तु ही क्यों, कई स्थूल वस्तुएँ भी आँखों से नहीं देखी जा सकतीं। जैसे हवा, बिजली आदि चीजें स्थूल होते हुए भी आँखों से नहीं दिखाई देतीं। हवा का कार्य दिखाई देता है, स्पर्श जरूर होता है। इसी प्रकार बिजली के कार्य—प्रकाश, गर्मी, यंत्र-चालन आदि-दिखाई देते हैं, जिन पर से बिजली के होने का अनुमान किया जाता है। इसलिए धर्मशास्त्र में कहा—

"पुष्पे गन्धं तिले तैलं काष्ठेऽग्निं पयसि घृतम्।
इक्षौ गुडं तथा देहे पश्याऽत्मानं विवेकतः॥"

अर्थात्—"जैसे फूल में सुगन्ध तिलों में तेल, काष्ठ (अरणि की लकड़ी) में आग, दूध में घी और ईख में गुड़ दिखाई नहीं देता, किन्तु उसका अस्तित्व छिपा रहता है, तथैव शरीर में छिपे हुए आत्मा के अस्तित्व को भी विवेक से जान लो।" कार्य के दिखाई देने पर उसके कारण के होने का अनुमान किया जाता है। क्योंकि संसार में कोई भी कार्य कारण के बिना नहीं हो सकता। आत्मा का कार्य ज्ञान है। क्योंकि घटपटादि वस्तुओं व इन्द्रियों के विषयों का जानने वाला ज्ञान ही है, जो आत्मा के साथ अभिन्न है। चूंकि ज्ञान आत्मा का निजगुण है, वह उससे कभी अलग नहीं हो सकता। अगर ज्ञान आत्मा से अलग हो जाय तो आत्मा जड़ हो जाय। इसलिए ज्ञानरूप कार्य को देख कर उस ज्ञान के (करने वाले) कारणरूप आत्मा के होने का अनुमान होता है; कि आत्मा अवश्य है, क्योंकि उसका कार्य ज्ञान उपलब्ध होता है। फिर ज्ञान आत्मा का धर्म है। जब ज्ञानरूपी

भी पद हैं, उनके वाच्यार्थों का अस्तित्व सिद्ध है तो फिर अकेले आत्मा नामक असामासिक पद के वाच्य पदार्थ का अस्तित्व क्यों नहीं सिद्ध होगा ? जरूर होगा।

अब लीजिए, आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले प्रमाण। आत्मा के विषय में पहला प्रमाण तो स्वानुभव ही है। जब आप कहते हैं, 'मैं हूं; मैं फलाना हूं' तब ऐसा कहने वाला कौन है ? आत्मा ही तो है ! आत्मा स्वयं ही अपने अस्तित्व का साक्षी है। आप विचार करें कि स्वयं आप क्या हैं ? जड़ हैं या चेतन ? अगर आप जड़ से भिन्न-चेतन हैं तो आपका निजी स्वरूप क्या है ? क्या आप हाड़, मांस, चमड़ी, रक्त, मज्जा या शरीर अथवा शरीर के किसी अंगों-पांग के रूप में हैं या आपका स्वरूप इन सबसे निराला है ? यह तो पहले सिद्ध किया जा चुका है कि आत्मा इन सबसे निराला है, इन सब का ज्ञाताद्रष्टा है।

इसके पश्चात् अनुमानप्रमाण से भी आत्मा सिद्ध होती है। कोई कहे कि हम तो आत्मा को प्रत्यक्ष दिखाने पर ही मानेंगे। जैसे प्रदेशी राजा इतना नास्तिक और खूंख्वार था कि वह आत्मा की बात कहने वालों से प्रत्यक्ष बताने का कहता। और जीवित शरीरों को काट कर टुकड़े-टुकड़े करके देखता कि उसमें आत्मा नाम का कोई पदार्थ हो ! इस प्रकार वह सबको निरुत्तर कर देता। क्योंकि आत्मा कोई मूर्त या स्थूल पदार्थ तो है नहीं, जो इन चमड़े की आँखों से देखा जा सके, कानों से उसकी आवाज सुनी जा सके, नाक से उसे सूंघा जा सके, जीभ से उसे चाट कर उसके स्वाद का अनुभव किया जा सके, या स्पर्श करके उसका अनुभव किया जा सके। परन्तु केशी-श्रमण मुनि ने उन्हें विविध युक्तियों और प्रमाणों से आत्मा का स्वरूप समझा दिया। उनकी युक्तियों और प्रमाणों के आगे प्रदेशी

रहा होगा, ऐसे अनुमान प्रमाण से परदादे को उसे मानना पड़ता है। कहीं रात में बरसात होने से जमीन गीली हो गई, किन्तु नास्तिक ने वहाँ वर्षा होते नहीं देखी। सुबह होते ही नास्तिक जब घर से बाहर निकलता है और जमीन गीली देखता है तो उसे अनुमान द्वारा मानना ही पड़ता है कि यहाँ रात को वर्षा हुई थी, क्योंकि जमीन अभी भीगी हुई है। तब आत्मा जैसे अमूर्त और अतीन्द्रिय पदार्थ को अनुमान-प्रमाण से मानने में उसे क्या आपत्ति है ?

आगमप्रमाण से भी आत्मा सिद्ध होती है। सर्वज्ञ, वीतराग महापुरुष आप्त कहलाते हैं। उनका वचन आगम-प्रमाण कहलाता है। आप्त पुरुषों के वचन शास्त्रों में अंकित हैं। हमें उन पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं। उन्होंने आत्मा का वर्णन शास्त्रों में किया है। यदि कोई नास्तिक कहे कि हम तो आगम-प्रमाण को नहीं मानते तो उससे यह पूछा जाय कि तुम लौकिक व्यवहार में अपने पिता, माता, बड़े भाई आदि हितैषी जनों के वचन को प्रमाण मान कर चलते हो या नहीं ? अदालत में साहूकार की बहियाँ भी जब प्रमाण मानी जाती हैं तो तुम्हें निःस्पृह, परमकल्याणशील, एकान्तहितैषी आप्त वीतरागी महापुरुषों द्वारा प्ररूपित शास्त्रों को प्रमाण मानने में क्यों ऐतराज है ? एक वैज्ञानिक को नये आविष्कार करने से पहले प्राचीन विज्ञानवेत्ता पुरुषों की थ्योरी को प्रत्यक्ष न होते हुए भी प्रमाणभूत मानना पड़ता है। तब आगमप्ररूपित सिद्धान्तों और वचनों को प्रमाणभूत मानने में क्या हर्ज है ?

कहा जा सकता है कि भूतकाल में किसी को आत्मा की उपलब्धि हुई थी, ऐसा मानने का आधार क्या है ? इसका उत्तर यह है कि यदि किसी भी महात्मा ने भूतकाल में आत्मा की उपलब्धि न की होती तो शास्त्रों में आत्मा का वर्णन ही कैसे आता ? यह ठीक है कि

धर्म की उपलब्धि हो जाती है तो उसके धर्मी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। क्योंकि धर्म धर्मी से कभी पृथक् नहीं होता। जहाँ धर्म रहेगा, वहाँ उसका धर्मी भी रहेगा। इसलिए ज्ञानरूप धर्म की उपलब्धि होने से उसका धर्मी आत्मा अवश्य है, ऐसा अनुमान हो जाता है। ज्ञान तो स्वसंविदित है। यानी ज्ञान अपने आपको जानता है। जब खुद को वह जानता है तो खुद के धर्मी को भी जानता है। इस प्रकार आत्मा स्वसंविन् प्रत्यक्ष हुआ। 'नील रंग की मुझे प्रतीत हुई' ऐसा कहने वाले व्यक्ति को नीलगुण के साथ-साथ नीलगुण जिस वस्तु में है, उस गुणी की भी प्रतीति हो जाती है। क्योंकि गुण और गुणी का अभिन्न सम्बन्ध होता है। अतः आत्मा का ज्ञान-गुण स्वसंविद् से प्रत्यक्ष होने से गुणी आत्मा भी अनुमान से सिद्ध हो जाती है। इसी तरह एक यह अनुमान-प्रमाण भी आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करता है कि यह जो विविध शरीर बनते हैं, वे आत्मा के बिना बन नहीं सकते, क्योंकि आत्मा ही विविध कर्मबन्धनों से लिप्त होकर शरीर धारण करती है। जड़वस्तु शरीर बनने का कारण नहीं बनती। अगर जड़ वस्तुओं में शरीर बनाने या बनने का सामर्थ्य हो तो मुर्दा शरीर क्यों नहीं बना देता? या पत्थर, ईंट, लोहा आदि जड़पदार्थ भी शरीर क्यों नहीं बना देते? इससे सिद्ध होता है कि आत्मा है; क्योंकि वही शरीर बनाने का कारण है। शरीररूप कार्य को देख कर आत्मा रूपी कारण का अनुमान स्वतः हो जाता है। शरीर को देख कर उस शरीर को बनाने वाले का अनुमान होता है। वह आत्मा ही है।

नास्तिक से नास्तिक व्यक्ति को भी अनुमान प्रमाण का सहारा लेना पड़ता है। नास्तिक ने अपने परदादे को नहीं देखा, लेकिन वह स्वयं है, इसलिए उसका पिता, पितामह और प्रपितामह भी अवश्य

अवस्थाओं में उसे इस बदलने की खबर ही न होती। इससे स्पष्ट हो जाता है कि तीनों अवस्थाओं में 'मैं' बदला नहीं, वरन् उसने तीनों अवस्थाओं में मौजूद रह कर बदलना देखा है। अतः जो स्वयं बदलता नहीं, लेकिन शरीर के बदलने का अनुभव करता है, वही 'मैं' आत्मा है। यद्यपि आत्मा एक देह का परित्याग करके दूसरे देह में जाता है, एक योनि से दूसरी योनि में गमन करता है, तथापि उसका मूलस्वरूप नहीं बदलता। उसके प्रदेशों की संख्या उतनी की उतनी रहती है। देह बदल जाता है, आत्मा नहीं बदलता। इसीलिए आत्मा की व्युत्पत्ति की गयी है—'अतति सततं गच्छतीति आत्मा' जो निरन्तर अपने स्वरूप में गमन करता रहता है, वह आत्मा है। आत्मा में जो गुण—वैभाविक-उपाधिजन्य हैं, स्वभाविक नहीं हैं, वे गुण बदल जाते हैं। परन्तु आत्मा के स्वाभाविक गुण नहीं बदलते।

आत्मा का दूसरा रूप चित् है। चित् के द्वारा आत्मा के असाधारण रूप का पता लगता है। जो स्वयं प्रकाशमान है, जिसे प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य की सहायता की जरूरत नहीं। आत्मा सूर्य से भी अधिक प्रकाशमान है। उत्कृष्ट साधना करने वाला इस रहस्य को जान सकता है। सूर्य को आत्मा देख सकता है, पर सूर्य आत्मा को नहीं देख सकता। वास्तव में नेत्रों में देखने की शक्ति नहीं, वह तो आत्मा की ही शक्ति होती है। नेत्र केवल कारण होते हैं। चित् (ज्ञान) आत्मा के सिवाय किसी भी पदार्थ में नहीं है।

और तीसरा रूप है आनन्द। जिसमें देश, काल और वस्तु से बाधा न पड़ती हो, जो अनुकूल-संवेदनरूप हो, वह आनन्द है। यों तो मोटे तौर पर इन्द्रियों से आनन्द का पता लगता है, पर पूर्ण आनन्द इन्द्रियों से पर है। मिठाई खाने वाला यह कहे कि मिठाई

विभिन्न शास्त्रों में आत्मा और उसके साक्षात् होने का वर्णन अलग-अलग प्रकार का मिलता है। परन्तु यह भेद तो विवरण के विषय में है, मूल वस्तु-आत्मा-की सत्ता के बारे में तो किसी की दो राय नहीं। अतः स्पष्ट है कि विभिन्न शास्त्र आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, उसकी अनुभूति का भी वर्णन करते हैं। इसलिए आगम-प्रमाण से भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

आत्मा की पहिचान कैसे हो ?

अब हमें आत्मा की पहिचान का तरीका बताना है। किसी वस्तु के लक्षणों से उसकी पहिचान हो जाती है। लक्षण एक प्रकार का असाधारण धर्म होता है, जो उस वस्तु के सिवाय दूसरी वस्तुओं में नहीं पाया जाता। आत्मा का लक्षण शास्त्र में बताया गया है—सत् चित् और आनन्द। सत् का अर्थ है—जिसका तीनों कालों में नाश न हो। जिसे जिस समय देखें उस समय उसका वही रूप दिखाई दे, उसमें घट-बढ़ न हो, वह सत् है। आत्मा सत् यानी स्वरूप से सदा एक-सी रहती है। वह अविनाशी है। आत्मा जितने प्रदेश वाली है, उनमें से एक भी प्रदेश कभी कम या अधिक नहीं होता। वह भूत, भविष्य और वर्तमान में स्वरूपतः समानरूप से रहती है। कोई कहे कि बाल, युवा और वृद्ध आदि अवस्थाएँ दिखाई देती हैं, तो आत्मा के रूप में परिवर्तन होता है, इसलिए वह सत् कैसे हुई ? इसका उत्तर यह है कि ये तीन अवस्थाएँ जो परिवर्तन की सूचक हैं, वे शरीर की हैं, आत्मा की नहीं। अगर कोई तब भी कहे कि यह परिवर्तन आत्मा का है, शरीर का नहीं तो उसकी शंका का समाधान यह है कि वह व्यक्ति जब यह कहता है कि मैं बालक था, मैं युवक बना, मैं वृद्ध हूं; यहाँ तीनों अवस्थाओं में जिसे आप 'मैं' कहते हैं, वह तो मौजूद है। अगर आत्मा बदलती रही होती तो तीन

७

आत्मा के उद्धार की कुंजी

सज्जनो और सन्नारियो !

आज मैं आत्मा के उद्धार के सम्बन्ध में कुछ बातें बताऊँगा। आत्मा के उद्धार की बात सुन कर आपके मन में शायद यह शंका पैदा होती होगी कि आत्मा तो शुद्ध, बुद्ध, निरञ्जन, ज्ञानस्वरूप है, फिर उसके उद्धार की जरूरत क्या ? परन्तु आपको यह पता होगा कि जैनदर्शन निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से वस्तु को तौलता है। आत्मा के शुद्ध, बुद्ध, ज्ञानमय होने की बात निश्चयदृष्टि से तो ठीक है, लेकिन व्यवहारदृष्टि से जब तक आत्मा अपने आपको भूल कर शरीर और शरीर से सम्बन्धित पर वस्तुओं पर आसक्त है, तब तक कर्मबन्धन में बंधता रहेगा, अपनी शुद्धता और ज्ञानमयता पर पर आवरण डालता रहेगा। इसीलिए आत्मा के उद्धार की अनिवार्य जरूरत है। एक विचारक ने आत्मा को सम्बोधित करते हुए कहा है—

"देहं विमुह्य कुरुषे किमघं न वेत्सि,
देहस्थ एव भजसे भवदुःखजालम् ।
लोहाश्रितोऽपि सहते घनघातमग्नि-
र्बाधा न तेऽस्य न च भो वदनाश्रयत्वे ॥"

में आनन्द है, तो बीमारी में भी मिठाई खाने में आनन्द क्यों नहीं आता ? अतः स्पष्ट है कि आनन्द मिठाई में नहीं, आत्मा में है। पापकर्मों के कारण उस पर आवरण आ जाता है। पापकर्मों के दूर होने पर आत्मा असली आनन्द का अनुभव कर सकती है।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि सत्, चित्, आनन्द ये तीन आत्मा के असाधारण धर्म हैं। इन असाधारण धर्मों पर से धर्मी आत्मा की पहिचान की जा सकती है।

भाग्यशालियो ! आत्मा का विचार बहुत ही गहन है। जिसे आत्मा के स्वरूप का भलीभांति बोध हो जाता है, वह फिर अपनी शक्तियों के खजाने को प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ करता है। आप भी आत्मा का सच्चिदानन्द स्वरूप समझ कर उसकी साधना करेंगे तो अपने जीवन को परमात्मा के निकट ले जा सकेंगे।

स्थान—गौड़ीजी का उपाश्रय पायधुनी, बम्बई } वि० सं० २००६ श्रावण सुदी ४, शनिवार

बन्धन में डालने वाला आत्मा ही है

सवाल यह होता है कि इस आत्मा को वन्धन और दुःख में डालने वाला कौन है ? वास्तव में इस वन्धन और दुःख का निर्माता या जिम्मेवार आत्मा स्वयं ही है। अपने अज्ञान के कारण स्थूल और निर्जीव पदार्थों के चक्कर में पड़ कर शरीर की वाह्य चकाचौंध में फंस कर स्वयं को वन्धन और दुःख में डालता है। इसीलिए कहा है—

'संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा'

आत्मा की यह दुःख की परम्परा संयोगमूलक है। मिथ्याज्ञान के कारण स्वयं ही अच्छे के संयोग और वुरे के वियोग का मोह करके स्वयं दुःख का निर्माण करता है। अपने वन्धन का निर्माता भी स्वयं ही है। अज्ञानवश आत्मा दुःखों के नाश के लिए जिन परपदार्थों का संयोग सुखजनक मान कर करता है, उसी प्रयत्न में से अनेक दुःख फूट निकलते हैं। इस प्रकार दुःखों की दीर्घपरम्परा चल रही है।

अज्ञानी आत्मा रेशम के कीड़े की तरह है। रेशम का कीड़ा अपने मुंह में से ही सूत निकाल कर कोष का निर्माण करता है और कुछ समय वाद स्वयं उसी के भीतर कैद हो जाता है। कर्मों का यह महा-जाल मकड़ी की तरह मिथ्याज्ञानवश आत्मा ने चारोंओर वुन रखा है। और मिथ्याज्ञान के कारण ही उस आत्मा को ऐसा प्रतीत होता है कि मैं वद्ध हूं और सहायता के लिए चिल्लाता है। परन्तु यह नहीं सोचता कि सहायता कहीं वाहर से नहीं आएगी, वह तो भीतर से ही मिलेगी।

तोता पकड़ने वाले लोग अकसर जंगल में एक गिर्री लगाया करते हैं। तोता आकर जव उस पर बैठ जाता है; तव गिर्री घूमने लगती है। तोता यह सोचता है कि मैंने अगर गिर्री को छोड़ दी तो गिर

अर्थात्—'हे आत्मन् ! तू देह पर मोहित होकर पाप करती है। क्या तू इस बात को नहीं जानती कि तू शुद्ध चिदानन्दमय होते हुए भी देह में रह कर जन्ममरण के दुःखों को पा रही है ? जैसे शुद्ध अग्नि लोह के आश्रित होने से घन की चोट भी सहती है, वैसे ही तुझे शरीराश्रित होने में और दुःख की चोटें खाने में कोई आपत्ति नहीं मालूम होती।'

हे आत्मन् ! शरीर तेरे निकट है, तेरा उपकारक और सहायक भी है, तू उसे खिलाता-पिलाता और पुष्ट बनाता है। इसी कारण शरीर के साथ तेरी इतनी निकटता हो गई है कि तू अपने आपको शरीर ही समझने लगा है। पर तू यह निश्चय समझ कि यह स्थूल शरीर एक दिन यहीं पड़ा रहेगा और तू अन्यत्र चला जायगा। जैसे तलवार से म्यान, घड़े से घी और तेल की शीशी से तेल भिन्न है, इसी प्रकार तू भी शरीर से भिन्न है। शरीर रूपी है, तू अरूपी है। शरीर जड़ है, तू चेतन है। जब तू शरीर से भिन्न है तो शरीर के मोह में फंस कर अनेक प्रकार के पापकर्म करके जानबूझ कर दुःख और बंधन में क्यों पड़ता है ? इसीलिए आचार्य अमितगति ने परमात्मा से प्रार्थना करते हुए कहा—

"शरीरतः कर्तुमनन्तशक्तिं विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम्।
जिनेन्द्र ! कोषादिव खड्गयष्टिं तव प्रसादेन ममाऽस्तु शक्तिः ॥"

हे वीतराग प्रभो ! जैसे म्यान से तलवार को अलग कर लिया जाता है, वैसे ही आपकी कृपा से मुझ में ऐसी शक्ति पैदा हो जाय कि मैं इस शरीर से अपने अनन्तशक्तिमान विशुद्ध आत्मा को अलग कर सकूँ।"

इसी प्रकार अज्ञानी जीव कहते हैं कि हमें फलां पदार्थ ने पकड़ रखा है। परन्तु यह सोच लें कि और किसी ने नहीं, हमने स्वयं ही उसे पकड़ा है, स्वयं ही उसे छोड़ देंगे तो सुखशान्ति होगी।

बन्धुओ ! जरा सोचो तो सही; इस आत्मा ने परपदार्थों के चक्कर में पड़ कर बार-बार खुद को नरक और तिर्यञ्च के बन्धनों में डाला है। अनन्त बार नरक की दुःसह वेदना इन्हीं को आसक्तिवश पकड़ने से मिली है। अब और कहाँ तक नरक और तिर्यञ्च में चक्कर खाया करोगे ? आत्मा किस प्रकार स्वयं कर्मबन्धन में पड़ता है, इसके लिए एक उदाहरण लीजिए—

एक वेश्या सोलह शृंगार सज कर बाजार में से हो कर जा रही है। उसे देखकर अगर किसी के चित्त में विकारभाव आता है तो वह स्वयं ही तो कर्मबन्धन बांधता है ? अगर उस समय आत्मा अपना ज्ञानबल लगाकर उस वेश्या को बुरी दृष्टि से देखने के बजाय मातृ-भाव से देखे या विरक्तिभाव से देखे तो क्या वह अपने कर्मबन्धन को स्वयमेव तोड़ नहीं सकता ? अवश्य तोड़ सकता है। वेश्या अपने आप में न तो कर्म बांधने वाली है और न तुड़ाने वाली। वह तो आत्मा की अपनी चित्तवृत्ति पर निर्भर है। कर्मबन्धन कराने में जैसे वेश्या निमित्त बन सकती है, वैसे छुड़ाने में भी तो निमित्त बन सकती है। संसार के सर्वसामान्यजन तो यही समझते हैं कि वेश्या नरक का द्वार है। व्यभिचार में व घोर मोह में फंसाने वाली है। लेकिन ज्ञानवान आत्मा स्थूलिभद्र मुनि ने जैसे कोशा वेश्या को अपने कर्मनाश का कारण बनाया, वैसे वेश्या को कर्मनाश का कारण बना लेता है।

आत्मा के सहज गुणों और स्वरूप को भूलकर अज्ञान और मोह के वश शरीर में गाढ़ आसक्त हुआ आत्मा भी ज्ञानबल का निमित्त पाकर

जाऊँगा। इसलिए और अधिक मजबूती के साथ गिर्री को पकड़ता जाता है। फलतः गिर्री भी अधिकाधिक तेजी से घूमती जाती है। अगर तोता अपने पंखों का बल लगाकर गिर्री को छोड़ दे तो वह उड़ सकता है और गिर्री का घूमना भी बन्द हो सकता है। लेकिन तोता अपने पंखों की शक्ति भूलकर गिर्री पर बैठा हाय-हाय करता रहता है। नतीजा यह होता है कि उसे बन्धन में फंसना पड़ता है।

यही हाल अज्ञानी आत्मा का है। वह गिर्री की तरह घूमते हुए संसार को और संसार के परपदार्थों को पकड़ कर उसके साथ स्वयं भी चक्कर खा रहा है। ऐसा आत्मा अपने ज्ञान-दर्शनरूपी पंख का बल भूल कर यही सोचता है कि अगर संसार या परपदार्थों को छोड़ दिया तो मेरा आनन्द लुट जायगा, मैं दुःख के गर्त में गिर पड़ूंगा। इसलिए ज्यों-ज्यों संसार और परपदार्थ घूमते हैं त्यों-त्यों वह आत्मा उन्हें और अधिक दृढ़ता से पकड़ता है। तोते की तरह आत्मा इसी भ्रम में पड़ा है। अगर आत्मा अपना ज्ञानबल लगा कर संसार और परपदार्थों रूपी गिर्री का संयोग छोड़ दे तो उसे कर्मजाल के बन्धन में नहीं फंसना पड़े। मगर जब आत्मा यह अच्छी तरह समझ ले कि मेरे घूमने से ही संसार और परपदार्थ घूमते हैं; तभी उसके चक्कर मिट सकते हैं। पर आत्मा तो संसार और परपदार्थों को इसके लिए दोषी ठहराता है। यह नहीं सोचता कि संसार और परपदार्थों को पकड़ किसने रक्खा है?

एक व्यक्ति ने थंभा पकड़ लिया और अपने गुरुजी के सामने जोर-जोर से चिल्लाने लगा—"गुरुजी! मुझे यह थंभा नहीं छोड़ रहा है?" गुरुजी ने कहा—"भले आदमी! थंभे को तूने पकड़ रखा है या तुझे थंभे ने? थंभे को तू ने ही खुद-ब-खुद पकड़ा है, इसे छोड़ दे तो यह छूट जायगा।"

उस बहन के साथ चल पड़ा। बाई उसे एक बड़े अस्पताल में ले गई; जहाँ कई बीमारों की चीरफाड़ की जाती थी। कइयों के शरीर से रक्त, कइयों के मवाद भर रहे थे। कटे हुए अंग सड़ रहे थे। बदबू के मारे नाक फटा जा रहा था।" यह घिनौना दृश्य देख कर वह पुरुष बोला—"तुम मुझे यहाँ क्यों ले आई? मारे दुर्गन्ध के सिर चकरा रहा है। चलो जल्दी यहाँ से!" बहन बोली—'जरा ठहरो। अभी चलती हूं।' इतना कह कर वह बीमारों से पूछने लगी—"भाइयो! तुम्हें ये भयंकर रोग कैसे लग गये?" एक बीमार ने कहा—"बहन! क्या बताएँ हमारे ही कुकर्मों का फल हम भोग रहे हैं। हमने अज्ञानवश विषयसेवन की कोई मर्यादा न रखी, इसलिए किसी को सुजाक, किसी को टी. बी., किसी के भयंकर फोड़ा, किसी के भगंदर आदि रोग हो गए। अगर हम परस्त्री को माता-बहिन समझते और मर्यादापूर्वक चलते तो आज हमारी ऐसी दुर्दशा क्यों होती? मगर अब क्या किया जाय? अब तो बाजी हाथ में नहीं रही।"

बहन ने उस कामीपुरुष को कहा—"देखिए ध्यान से सुन लीजिए, बुरे कर्मों के फल की कहानी, इन बीमारों के मुख से।" कामीपुरुष—"हाँ, सुन लिया, बस। अब काफी देर हो गई। जल्दी चलो यहाँ से। बदबू असह्य हो रही है।" दोनों वहाँ से चल कर अपने-अपने घर आए। बाई ने सोचा—'अभी तीर सीधा निशाने पर नहीं लगा है। चलो और प्रयत्न करेंगे।' दूसरे दिन फिर वह उसके यहाँ पहुंची और चलने के लिए कहा तो वह बोला—"तुम कहीं मुझे चकमा तो नहीं दे रही हो? यह बताओ कि उससे कब मिलाओगी?" स्त्री—"भैया! उसी से मिलाने के लिए इतनी मेहनत कर रही हूं। बिना तरकीब के काम नहीं होता। मैं तुम्हें तरकीब से उसके पास ले जाना चाहती हूं। यों जायेंगे तो उसके घर कोई घुसने

कर्मबन्धन में पड़ने के बदले कर्म का नाश भी कर सकती है। एक व्यावहारिक उदाहरण लीजिए—

एक आदमी किसी सुन्दरी के रूप पर इतना मोहित होगया कि रातदिन उसी का चिन्तन करता रहता। हर समय उसे उसी का ध्यान रहता। कब मिले और कब मैं अपनी प्रेमिका से मिल कर मन की मुराद पूरी करूं, यही विचार उसके दिमाग में चलता रहता। उसके पड़ौस में ही एक विचारशीला सदाचारिणी बहन रहती थी। उसने इस पुरुष की यह हालत देखकर उसकी बेचैनी के कारण का पता लगा लिया। उस सदाचारिणी बहन ने सोचा—"यह उस बहन के शरीर पर आसक्त होकर स्वयं तो डूबेगा ही, उस बहन को भी डुबायेगा। आत्मा का इसे जरा भी भान नहीं है। अतः इसे युक्ति से समझा कर इस पापकर्म से बचाना चाहिए।" वह बहन उस कामान्ध पुरुष के यहाँ जाकर कहने लगी—भाई ! तू चिन्ता ही चिन्ता में दुबला क्यों होता जा रहा है ? मैं तेरे मन की बात जान गई हूं। अगर तू मेरा कहना माने तो मैं तुम्हें उस महिला से मिला सकती हूं।" यह सुनते ही वह चौंक कर बोला—"ऐं ! तुम मेरे मन की बात कैसे जान गई ? क्या उससे मुझे मिला दोगी ?" वह बोली—मैं तुम्हारी चेष्टा पर से ताड़ गई हूं। चिन्ता न करो। मेरे कहे-कहे चलोगे तो जरूर एक दिन मैं तुम्हें उससे मिला दूंगी।" कामी पुरुष की बेचैनी कम हुई। सोचा-अनायास ही मुफ्त में एक दूती मिल गई। मुझे इसका कहा मानने ही हर्ज ही क्या है ?" कामान्ध पुरुष ने उस बहन से कहा—"अगर तुम मेरा यह काम कर दोगी तो मैं तुम पर अपना तन-धन सर्वस्व न्योछावर कर दूंगा। तुम्हारी कहना तो मैं बेशक मानूंगा।" 'तो बस, ठीक है' इतना कह कर वह बहन चली गई। वह दूसरे दिन फिर आई और उस पुरुष से कहा—"चलो भैया !" उसने सोचा-काम बन रहा है तो देर क्यों की जाय ! प्रसन्नतापूर्वक वह सजधज कर

अपनी गृहस्थी चलाते हैं। अगर इन पर रहम करें तो कमाएँ क्या ?" साथ वाले पुरुष ने कहा—"बस, अब खड़ा नहीं रहा जाता, चलो यहाँ से !" बहन ने सोचा—हाँ, कुछ तो पिघला है।" कसाईखाने से ज्यों ही वे बाहर निकले कि पुरुष ने उस बहन से पूछा—"ये पशु क्यों मारे जाते हैं ?" स्त्री–"इन्होंने पूर्वजन्म में कोई पापकर्म किये होंगे। चोरी, जारी, विश्वासघात, ठगी, परस्त्रीगमन आदि खराब कामों का ही फल है।" पुरुष—"इन कामों का इतना भयंकर फल !" "सो तो तुमने अपनी आँखों से देखा है" कह कर बाई अपने घर चली गई। उसने सोचा—इतने भयंकर दृश्य दिखलाने पर भी अभी परिणाम यथोचित न हुआ। अभी तक उसी रंग में रंगा हुआ है। अब क्या करना चाहिए ?" संयोगवश जिस स्त्री पर वह पुरुष आसक्त था, उसका यकायक देहान्त हो गया। बाई को खबर मिलते ही वह दौड़ी-दौड़ी पहुंची उस कामीपुरुष के पास। कहने लगी-भैया, चलो, आज उससे मिलने का मौका है, देर मत करो।" खुशीखुशी तैयार हो कर इत्र लगा कर सुन्दर वस्त्र पहिन कर वह चल पड़ा। पुरुष के साथ आने वाली बाई को सभी जानते और आदर की दृष्टि से देखते थे। मृत बहन के घर के लोगों ने उसे आती देख स्वागत करते हुए पूछा—"आज आपका कैसे पधारना हुआ ?" वह बोली—"आज मैं एक विशेष काम से आपके यहाँ आई हूं। जरा आप लोग एक तरफ चले जाइए। मुझे उस मृत बहन के पास जाकर कुछ धार्मिक क्रिया करनी है।" सब लोग उसका कहना मान कर एक ओर चले गए। बाई पहले अकेली अन्दर चली गई। और मृत स्त्री को अच्छे गहने कपड़े पहनाए। भीतर जाते ही बाई ने दूर से ही कहा—"लो भैया, यह तैयार है। मिल लो इससे।" वह पुरुष आगे बढ़ा तो सही, लेकिन ज्यों ही देखा वह तो निश्चेष्ट होकर मरी पड़ी है तो लौट कर बोला—"वह तो मर गई है।" बहन—"क्या मर गया ? वही शरीर,

न देगा।" कामीपुरुष—"समझ गया मैं तुम्हारी बात। चलो, तुम कहोगी वैसे करूंगा।" आज वह उसे एक जेलखाने में ले गई। जहाँ आजीवन कैदी भी थे, ८-१० साल की सजा पाए हुए भी थे। उस वहन ने एक कैदी से पूछा—"भाई! यह तो बताओ, तुम्हें किस-किस अपराध के कारण यह सजा मिली है? कैदी—"वहन! हमने अलग-अलग किस्म के अपराध किये हैं। किसी ने चोरी, किसी ने डाका, किसी ने धोखा, किसी ने परस्त्रीगमन किया। किसी ने और कोई भयंकर अपराध किया। इसी कारण हम इस जेलखाने में नरक-की-सी यातना भोग रहे हैं। न भरपेट रोटी मिलती है, न रहने को पूरी जगह। उसी तंग कोठरी में खाना और वहीं पाखाना। चक्की पीसनी पड़ती है, न पीसें तो नंगी पीठ पर बैंत पड़ते हैं। जीते-जी हमें यह नरक मिल गया है।" उस बाई ने उक्त कामी से कहा—"भैया, सुन लो, इनकी वातें! वेचारे कितनी तकलीफ पा रहे है?" वह बोला—"इससे हमें क्या मतलव! चलो, चलें यहाँ से।" बाई ने सोचा—"अभी तक मेरा प्रयोजन सफल नहीं हुआ। खैर, दूसरा कोई उपाय करूंगी।" यह सोच कर वह लौट गई। प्रातःकाल होते ही फिर उसे अपने साथ लेकर कसाईखाने में पहुंची। वहाँ कहीं तो गायों-भैंसों का सिर कटा पड़ा था, कहीं वकरों के गर्दन पर खचाखच छुरियाँ चल रही थीं, कहीं किसी पशु की खाल उधेड़ी जा रही थी। कहीं हड्डियों के तो कहीं मांस के ढेर लगे थे। वड़ा ही करुण दृश्य था। दुर्गन्ध का तो पूछना ही क्या!" वह पुरुष यह सब देख कर घवराया। वोला—"यह सव क्या और क्यों कर रहे हैं?" वहन ने कहा—"भैया, ठहरो। मैं इन सवसे अभी पूछ लेती हूं।" कसाई से जब उन जानवरों के मारने का कारण पूछा तो वह बोला—"इन्हें मारें नहीं तो क्या करें? पैसे कमाने के लिए ही इन्हें मारते हैं। इन्हें मार कर इनका मांस, हड्डी, खून, चर्वी आदि सब वेच कर

ही है। सन्मार्गगामी आत्मा ही मित्र है और कुमार्गगामी आत्मा ही शत्रु है। मेरी आत्मा ही वैतरणी नदी है, आत्मा ही कूटशाल्मलि वृक्ष है। आत्मा ही कामधेनु है और आत्मा ही नन्दनवन है।

कर्म करके बन्धन में पड़ने में भी आत्मा स्वतंत्र है और कर्मों को नष्ट करने में भी आत्मा स्वतंत्र है। मतलब यह है कि अच्छा या बुरा सभी कुछ करने वाला आत्मा ही है। अपने ही कर्त्तव्यों से आत्मा स्वतंत्र भी बन सकता है और अपने ही कर्त्तव्यों से परतंत्र भी बन सकता है। आत्मा को अधिकार है कि वह चाहे तो खुद को वैतरणी बनावे या कामधेनु बनावे, चाहे नन्दनवन बनावे या कूट-शाल्मलि वृक्ष बनावे। उसमें अपने आपको सब कुछ बनाने की शक्ति मौजूद है। सोचना यह है कि अब तक इस आत्मा न सुख और दुःख का निर्माण किस प्रकार किया है?

अब तक इस आत्मा ने बहुतों पर दोषारोपण किया है कि फलां मुझे दुःख देता है, फलां व्यक्ति ने मेरे लिए ऐसा कर दिया, परन्तु अब इस निश्चय पर आजाओ कि यह आत्मा ही दुःखों और कष्टों का कर्त्ता है और वही उन्हें मिटाने में समर्थ है। जो कर्म अपने द्वारा किये हुए हैं, उन्हें आत्मा स्वयं ही तोड़ सकता है। जो हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ आत्मा ने अपने हाथों-पैरों में स्वयं डाल रखी हैं उन्हें तोड़ भी स्वयं ही सकता है। मगर यह तभी होगा जब आत्मा अपने में शुद्ध आत्मज्ञान का तेज निम्न प्रकार से आने देगा—

"एकः सदा शाश्वतिको ममाऽत्मा, विनिर्मलः साधिगमस्वभावः।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ताः न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः॥"

मेरी आत्मा अकेली है, नित्य है, विशुद्ध है और ज्ञानस्वरूप है। शेष सारे पदार्थ परभाव हैं, वे शाश्वत नहीं हैं, और न निजी है, बल्कि कर्मजन्य हैं।

वही आँख, कान, नाक हैं और वही गहने कपड़े हैं। सभी कुछ वही हैं तो मर कैसे गई ?" पुरुष—"इसमें आत्मा नहीं रही।" बाई—"तुम्हारा प्रेम आत्मा (प्राणों) से था या इस शरीर से ?" जिसके लिए तुम कई दिनों से तड़प रहे थे, आज उसी को देख कर घबरा रहे हो।" पुरुष बोला—"यह शरीर तो बड़ा घिनौना और भयंकर मालूम होता है। इसके पास जाने में ही हिचक होती है।" बाई—'तो क्या तुम इसकी आत्मा को और खुद को भ्रष्ट करना चाहते थे ? अरे बावले ! जरा सोच उस कसाई में और तुम में क्या अन्तर है ? वह बकरे को मार कर उसके शरीर पर अधिकार जमाता है, तुम जीतेजी इसके शरीर पर कब्जा करना चाहते थे। दोनों ही मांस लेना चाहते हो। मेरा कहना मानो तो तुम जितना प्रेम इस स्त्री के शरीर पर करते थे, उतना अगर इसकी आत्मा पर करते तो तुम्हारी आत्मा का भी बेड़ा पार होता और इसका भी। क्योंकि सब आत्माएँ समान हैं।" सदाचारिणी बाई की यह बात तीर की तरह उसके हृदय में उतर गई। उसी दिन से वह शरीर के बदले आत्मा पर प्रेम करने लगा।

वही कामी पुरुष जो एक दिन किसी स्त्री के शरीर पर मोहित होने में स्वतंत्र था। वह सदाचारिणी बहन के निमित्त से सुधर कर अपनी और उस स्त्री की आत्मा पर प्रेम करने भी में स्वतंत्र था। दोनों समय में आत्मा स्वयं ही तो कारण था। इसलिए कहा है—

"अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुपट्ठिओ सुपट्ठिओ।"
अप्पा नई वेयरणी अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदूहा धेणू अप्पा मे नंदणं वणं॥

अर्थात्—आत्मा ही सुखों और दुःखों का कर्ता है, हर्ता भी आत्मा

है। जब आत्मा अपने प्राप्त साधनों को धर्माचरण में लगाता है यानी उनसे धर्म या कम से कम पुण्य का उपार्जन करता है तो उसका उद्धार है और जब आत्मा अपने प्राप्त साधनों को पापाचरण में, बुरे कार्यों में लगाता है, उनसे पापकर्म का उपार्जन करता है, तब उसका पतन है। परन्तु उद्धार या पतन है आत्मा के ही हाथों में। गीता में भी कहा है—

"उद्धरेदात्मनात्मानमात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥"

मनुष्य अपनी आत्मा का उद्धार अपनी आत्मा से ही करता है और अपनी आत्मा का पतन भी अपनी आत्मा से ही करता है। इसीलिए आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है।

आत्मा से आत्मा का उद्धार करने के लिए एक सुगम और सुलभ उपाय यह है कि आत्मा किसी भी प्रवृत्ति को करते समय सर्वव्यापक परमात्मा को न छोड़े, उसे चित्त के समक्ष रखे। जैसे पनिहारी दूसरी बहनों के साथ बात-चीत करती जाती है, इधर-उधर भी देखती है, लेकिन वह अपने सिर पर रखे हुए पानी के घड़े को कभी नहीं भूलती। हर समय ध्यान रखती है। पतिव्रता स्त्री भी गृहस्थाश्रम के सभी कार्य करती है, लेकिन अपने पति को नहीं भूलती, उसी प्रकार जगत् के सभी कर्त्तव्यों का पालन करते हुए परमात्मा को न भूलो। परमात्मा को न भूलना ही शुद्ध आत्मा को न भूलना है। परमात्म-विस्मृति आत्मविस्मृति है और परमात्मस्मृति आत्मस्मृति है। आत्मा और परमात्मा की स्मृति को सुदृढ़ और संस्कारगत बनाने के लिए जप, तप, ध्यान आदि साधनाएँ करनी पड़ती हैं। परन्तु इतना अगर कोई न कर सके तो कम से कम इतना तो करे कि जो काम

अपना शत्रु और मित्र भी अपनी ही आत्मा

प्रत्येक आत्मा में यह शक्ति विद्यमान है कि वह श्रेष्ठ से श्रेष्ठ वस्तु को निकृष्ट से निकृष्ट बना सकती है और निकृष्ट से निकृष्ट को श्रेष्ठ। आत्मा जब दुष्कर्म में संलग्न होती है तब आत्मा ही अपनी शत्रु बन जाती है और जब सत्कर्म में लगती है तो वही अपनी मित्र बन जाती है। आत्मा दुष्कर्म में कैसे प्रवृत्त हो जाती है और सत्कर्म में कैसे ? इसे स्पष्ट समझने की जरूरत है।

आपको अनन्त पुण्योदय से पञ्चेन्द्रिय दशा प्राप्त हुई तब पाँचों इन्द्रियाँ, शरीर, मन, वाणी और बुद्धि आदि साधन मिले हैं। ये साधन इतने ऊँचे हैं कि इन्हीं साधनों का सदुपयोग करके आत्मा पुण्यकर्म का उपार्जन कर लेता है तो अपना मित्र बन जाता है और इन्हीं साधनों का दुरुपयोग करके आत्मा पापोपार्जन कर लेता है तो अपना शत्रु बन जाता है। कानों से धर्मोपदेश सुना, भगवद्वाणी सुनी या कोई भी अच्छी बात सुनी तो आत्मा ने अपने आपको मित्र बनाया और इन्हीं कानों से किसी की निन्दा, अपशब्द, अश्लील शब्द, मोहवर्द्धक रागरंग सुने तो आत्मा ने अपने आपको शत्रु बनाया। इन आँखों से संत-महात्माओं के दर्शन कर सकते हैं और इन्हीं से वेश्या का नृत्य, अश्लील नाटक-सिनेमा भी देखा जा सकता है ? किसको देखने से आत्मा मित्र बनती है, किसको देखने से शत्रु, यह आप स्वयं ही सोच सकते हैं। अपने शरीर को तप, जप, सेवा आदि कार्यों में लगा कर सदुपयोग भी कर सकते हैं और इससे अत्यधिक खा पीकर, ऐशआराम में इसे लगा कर, या बुरे कर्मों में लगा कर दुरुपयोग भी कर सकते हैं। इसी प्रकार सभी साधनों के बारे में समझ लें। आत्मा का उद्धार कहीं किसी दूसरे के साथ में नहीं है। वह अपने हाथ में ही है। और आत्मा का पतन भी अपने ही हाथ में

न सोचे। हमला होने पर ही आत्मा की शक्ति की परीक्षा होती है। हमला होने पर आत्मा अपनी शक्तियों का चिन्तन करे अपनी अविनाशिता पर दृढ़ विश्वास करके परमात्मा की शरण लेकर उन शत्रुओं से जूझ पड़े तो उसे इस परीक्षा में सफलता मिले बिना नहीं रहती।

कामदेव श्रावक की आत्मा की अमरता पर श्रद्धा की एक देव ने परीक्षा ली थी। देव ने अपनी माया से कामदेव के शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये और उसे सम्यक्त्व और धर्म से विचलित करने के लिए अनेक कष्ट दिये; लेकिन वह अपनी श्रद्धा पर अटल रहा। वह यही सोचता रहा—मेरे अन्तःकरण में आत्मा और शरीर की पृथक्ता तथा आत्मा की अमरता की जो श्रद्धा है, उसकी कसौटी यह देव कर रहा है। अगर कामदेव देव द्वारा दिखाये गये भय से डर जाता तो वह श्रद्धा से डिग जाता। परन्तु वह देह के प्रति अहंता-ममता को छोड़ कर आत्मा की नित्यता को समझ चुका था कि—

> नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
> न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

आत्मा तो वह है, जिसे तलवार आदि शास्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, पानी गला नहीं सकता और हवा सोख नहीं सकती। आत्मा तो अजर-अमर, नित्य, अविनाशी है और अपनी ज्ञानशक्ति के द्वारा व्यापक है। वह कभी अपने मूलस्वभाव-गुण-को नहीं छोड़ती। शरीर खोखा है, नाशवान है। अतः कामदेव देव से कहता है—"मेरी आत्मा कभी तलवार से कट नहीं सकती। तू काटने को कहता है। शरीर के चाहे टुकड़े-टुकड़े कर ले, आत्मा के टुकड़े नहीं कर सकता। तू ही हारेगा। मैं तो अपने सिद्धान्त पर अचल हूं। मुझे कोई डर नहीं है।" जिसे इतनी आत्मश्रद्धा हो उसे देव-

परमात्मा की आज्ञा में (ईश्वरीय आदेश के अनुरूप) हैं, उन्हें स्मरण रख कर करे और जो उनकी आज्ञा के बाह्य हैं, उन्हें स्मृति रखकर उनसे दूर रहे। अगर आज्ञाबाह्य कार्यों के आने पर तुम्हारी स्मृति गायब हो जाय तो तुरन्त ही परमात्मा (अरिहन्तों और सिद्धों) की शरण में जाओ। क्योंकि आज्ञाबाह्य कार्य ही तुम्हारी आत्मा के दुश्मन हैं। काम, क्रोध, अभिमान, कपट, लोभ, राग, द्वेष, मोह, स्वार्थ, भय आदि सब परमात्मा की आज्ञा से बाह्य हैं यानी शुद्ध आत्मा के निज गुण नहीं हैं। ये आत्मा के शत्रु हैं। जब भी ये शत्रु तुम पर हमला करें तो उस समय कायर बनकर इनके सामने हथियार मत डाल दो, अथवा इनसे समझौता करके इनके आगे घुटने मत टेक दो। उस समय शुद्ध आत्मा की अनन्तशक्ति, नित्यता, अविनाशिता, आदि का विचार करो। और उन शत्रुओं को दूर भगाने का प्रयत्न करो। यदि इतना भी न कर सको तो परमात्मा से प्रार्थना करो—हे प्रभो! हमें ऐसी शक्ति दो, जिससे हम इन शत्रुओं से बचकर आपकी आज्ञा का पालन कर सकें और आत्मा की शक्तियों व निजी गुणों को भूलें नहीं।" ऐसा करने से आत्मा का उद्धार बहुत ही आसानी से हो सकेगा।

लेकिन ऐसा न करके आत्मा के सामने काम-क्रोधादि शत्रुओं के आते ही अपनी अनन्त शक्तियों को भूल कर, स्वगुणों को विस्मृत कर, अथवा परमात्मा की आज्ञा को या परमात्मा को भूल कर शत्रुओं को अपना लेंगे, उनके साथ घुलमिल जायेंगे तो अपनी आत्मा का पतन अपने ही हाथों से करके अपनी आत्मा को दुरात्मा बना कर उसे अपनी ही शत्रु बना लेंगे।

आत्मा के शत्रुओं का हमला कभी न कभी होता ही है। हमला न हो तो आत्मा सावधान ही न रहे और अपने उद्धार की बात ही

उठता, बैठता था। दोनों का घनिष्ट प्रेम था। एक ही मित्र काफी नहीं है, यह सोच कर राजकुमार ने दूसरा मित्र भी बनाया। जिसे वह किसी पर्व या त्यौहार के दिन बुलाता, खिलाता-पिलाता और गपशप करता था। एक दिन राजकुमार कहीं जा रहा था कि रास्ते में एक युवक मिल गया। उसने राजकुमार को जुहार किया; हाथ मिलाया और कुछ हित की बातें की। राजकुमार को उसकी बातें बड़ी अच्छी लगीं। परन्तु नित्यमित्र के कारण वह उससे ज्यादा बातचीत नहीं कर सकता था। जब कभी किसी अटपटे प्रश्न के बारे में निष्पक्ष सलाह लेनी होती तो वह उस जुहारमित्र के पास चला जाता। इस प्रकार राजकुमार ने तीन मित्र बना लिये।

समय ने पलटा खाया। कुछ चुगलखोरों ने राजकुमार के विरुद्ध षड़यंत्र रच कर राजा से उसकी शिकायत की। षड़यंत्र इस खूबी से रचा गया था कि राजा को राजकुमार के भयंकर अपराधी होने में कोई शक न रहा। अतः तत्काल राजकुमार को गिरफ्तार करके फांसी पर चढ़ाने की आज्ञा दे दी।

इधर राजकुमार के किसी हितैषी ने राजा की इस कठोर आज्ञा की सूचना देकर कहा—"अगर जान और इज्जत बचाना हो गिरफ्तार किए जाने से पहले ही कहीं शरण लेकर छिप जाओ।" राजकुमार ने सोचा-ऐसी आफत के समय मित्रों को टटोलना चाहिए। कहा भी है—

"धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी। आपतकाल परखिये चारी॥"

राजकुमार सीधे नित्यमित्र के पास पहुंचा। उसने पूछा—कौन है? इतनी रात गए कैसे आए?" राजकुमार—"मैं तुम्हारा मित्र हूं।" पहले तो नित्यमित्र ने उसका नाम भूल जाने का बहाना किया। लेकिन अन्त में किवाड़ खोल कर आधी रात के समय आने

दानव क्या हरा सकते हैं ? कामदेव को देव श्रद्धा से न डिगा सका। इसी प्रकार जिसने शरीर को नाशवान और आत्मा को अविनाशी समझ लिया क्या उसे शरीर के नाश होने पर दुःख हो सकता है ? आत्मतत्त्व का परिज्ञान हो जाने पर शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो जाएँ तो भी दुःख का स्पर्श नहीं होता। अविनाशी वस्तु स्वयंरक्षित होती है, उसकी रक्षा की आवश्यकता नहीं होती। रक्षा की चिन्ता तो विनाशी वस्तु की की जाती है। शरीर विनाशी है, उसी की रक्षा की जाती है, आत्मा अविनाशी है, इसलिए उसे रक्षा की जरूरत नहीं।

परन्तु आज लोग अविनाशी आत्मा को भूल कर उसे मित्र बनाने के बदले नाशवान शरीर से दोस्ती कर रहे हैं। उससे धर्मपालन व सत्कार्य करने के बदले कई पापकर्मों का उपार्जन करा कर आत्मा अपने शत्रु को बढ़ावा दे रही है। वास्तव में मित्र किसे कहते हैं, और शत्रु कौन है ? इसकी परख ज्ञानविकल आत्मा को नहीं होती। मिठाई और माल खाने वाले मित्र तो बहुत मिलते हैं, मगर विपत्ति के समय साथ देने वाले मित्र विरले ही होते हैं। सम्पत्ति के समय हाँ-जी-हाँ कहने और मालमलीदा खाने वाले तथा विपत्ति के समय किनाराकसी करने वाले मित्र के वेष में छिपे शत्रु हैं। यह आत्मा कई दफा अज्ञानवश मित्र-शत्रु का निर्णय करने में गफलत कर बैठती है, और शत्रु के बहकावे में आकर फिर दुःख पाती है। एक व्यवहारिक दृष्टान्त लीजिए—

एक राजा का पुत्र था। राजा राजकुमार को बहुत लाडप्यार करता था। परन्तु फिर भी वह राजा के सामने दिल खोल कर अपनी बात नहीं कह सकता था। इसलिए उसने मित्र बनाने का विचार किया। राजकुमार ने एक नित्य मित्र बनाया, जो हर समय परछांई की तरह उसके साथ रहता। राजकुमार के साथ ही वह खाता, पीता,

राजकुमार—"मैं तो सिर्फ संकट के समय शरण चाहता हूं। संकट के समय सहायता नहीं कर सकता, वह मित्र ही कैसा ?"

पर्वमित्र—"मैं यह नीति भलीभांति जानता हूं। मगर राजविरोधी को आश्रय देना मेरे बूते की बात नहीं।" राजकुमार ने अधिक विवाद करना उचित न समझ कर वहाँ से आगे चलना ही उचित समझा। राजकुमार निराश होता हुआ आगे कदम बढ़ा रहा था। अब तो उसके मन में सिर्फ जुहारमित्र से थोड़ी आशा की झलक थी। सोचा-मैंने कभी उसे सहायता नहीं की। केवल कभी-कभी जुहार हो जाती और किसी समस्या पर बातचीत करके चल देता था। इस पर कोई बस तो नहीं है, लेकिन कसौटी करने में क्या हर्ज है ? यों सोच कर राजकुमार जुहारमित्र के यहाँ पहुंचा और राजा के कुपित होने की कहानी सुना कर आश्रय देने की प्रार्थना की। जुहारमित्र ने दृढ़ता के साथ कहा—"यह तो राजा का कोप है, अगर देवेन्द्र का कोप हो और मैं सहायता न दूँ तो फिर मित्र ही कैसा ? आप ऊपर चलिए, निश्चिन्त हो कर रहिए और कोई आवश्यकता हो तो निःसंकोच कहिए। यह घर आपका ही है।" राजकुमार को आश्वासन मिला। प्रसन्नता हुई। मन ही मन सोचा—इसे कहते हैं मित्रता ! समय पर ही मित्रता की परीक्षा होती है। सुबह होते ही जुहारमित्र ने उसे नाश्ता करवा कर एकान्त में ले जाकर सारी बात पूछी। सारी बात सुन कर उसको राजकुमार के निर्दोष होने का पक्का विश्वास हो गया। जुहारमित्र ने राजकुमार को आश्वासन दिया कि 'घबराओ मत। मैं स्वयं राजाजी से बात करके तुम्हें निर्दोष सिद्ध करके राजाज्ञा वापिस लिवाने और फांसी की सजा रद्द कराने का पूरा प्रयत्न करूंगा।' जुहारमित्र ने खाना तब तक न खाया, जब तक राजा को सारी बात समझा कर राजकुमार को निर्दोष मान कर सजा रद्द न करवा दी।

का कारण पूछा। राजकुमार ने राजा के कोप की बात कह कर शरण देने के लिए कहा। नित्यमित्र ने कहा—"ना भाई! मेरे से ऐसा नहीं हो सकेगा। मैं ठहरा बाल-बच्चों वाला आदमी। राजा को पता चल जायगा तो तेरे साथ मेरी भी मिट्टी पलीद हो जायगी। अगर आप मेरे मित्र हैं तो आपको मुझे संकट में न डाल कर अभी के अभी चला जाना चाहिए।" राजकुमार—"मित्र! क्या ऐसा ही उत्तर देने के लिए मित्रता बांधी थी! तुझे मैं साथ-साथ खिलाता-पिलाता रहा, मौज कराई। और आज संकट के समय आँखें चुरा रहे हो?"

मित्र—"आप मेरे मित्र हैं, इसी कारण मैं आपका लिहाज रख कर राजा को खबर नहीं दे रहा हूं। नहीं तो, फौरन पुलिस के हवाले नहीं करा देता? लेकिन आप अगर जल्दी यहाँ से रवाना नहीं होंगे तो मुझे बरबस यही करना पड़ेगा।"

राजकुमार—"अरे निर्लज्ज! तू इतना स्वार्थी और नीच निकला! आफत का समय चला जायगा, लेकिन तेरी करतूत सदा याद रहेगी।"

यों कह कर रात्रि के घोर अन्धकार में नित्यमित्र के यहाँ से राजकुमार एकदम निकल गया। उसे निराशा के घोर अंधेरे में भी आशा की एक किरण 'पर्वमित्र' दिखाई दे रहा था। पहले तो उससे आशा न थी, लेकिन फिर सोचा—"चलो! चल कर देख लेने में हर्ज ही क्या है?" यह सोच कर राजकुमार पर्वमित्र के यहाँ पहुंचा। उसने सारी करुण कहानी सुन कर हाथ जोड़ कर कहा—"भाई! मेरी इतनी शक्ति नहीं कि मैं राजा के विरोधी व अपराधी को स्थान दे सकूं। आप के लिए भोजन चाहिए तो तैयार है, वस्त्र व धन की जरूरत हो तो वह भी तैयार है, लेकिन स्थान देने में मैं मजबूर हूं।"

है, तो अपना ही मित्र बनता है। ऐसी स्थिति में हमारा कर्त्तव्य है कि हम मित्र-आत्मा के साथ दोस्ती करें और शत्रु-आत्मा से वैर करें। शत्रु आत्मा हमें घोर कष्टों में डालता आ रहा है। इस दुरात्मा ने जितना हमारा अहित किया है, उतना किसी दूसरे वैरी ने नहीं किया। सिर काटने वाला वैरी तो अनित्य शरीर का ही नाश करता है, नित्य आत्मा का नहीं। लेकिन दुरात्मा तो अनेक भवों में भटका कर अनेक बार सिर काटता है, दुःख में डालता है। बल्कि दुष्ट-आत्मा तो अपना सिर स्वयं कटाता है। सिर काटने वाले शत्रु के प्रति द्वेष, घृणा या वैरविरोध का भाव न रखा जाय तो वह उस आत्मा को कुछ भी हानि नहीं पहुंचा सकता। यही नहीं, गजसुकुमार मुनि की तरह तात्त्विक दृष्टि से चिन्तन किया जाय तो वह आत्मा की मुक्ति में सहायक भी बन जाता है। निश्चयदृष्टि से विचार करें तो आत्मा बुरे कर्मों के कारण अपना सिर स्वयं कटाता है, अगर बुरे कर्म न किए हों तो कोई भी उस आत्मा का कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता। इसलिए दुरात्मा को कण्ठ-छेदन करने वाले शत्रु से भी बढ़ कर शत्रु समझो। और सिंह की तरह ज्ञानस्वरूप आत्मा बन कर निमित्त को न पकड़ कर उपादान को पकड़ो। यानी, जो सिर भी काट रहा हो तो ज्ञानस्वरूप आत्मा यही समझती है कि यह तो बेचारा निमित्तमात्र है, वास्तव में मेरी दुष्कर्मकारी आत्मा ही अपना सिर कटा रही है। ऐसा ज्ञान हो जायगा तो आत्मा किसी दूसरे (निमित्त) के साथ युद्ध न करके अपनी आत्मा के ही साथ जूझेगा। किन्तु कुत्ते की तरह ज्ञानविकल आत्मा बन कर निमित्त को मत पकड़ो। कुत्ते को कोई लाठी मारता है तो वह उस मारने वाले पर न झपट कर लाठी पर झपटता है। इसी प्रकार अज्ञानी आत्मा विभिन्न निमित्तों को कोसता रहता है, वह अपने उपादान (आत्मा) को नहीं सुधारता।

राजा ने राजकुमार को निर्दोष जान कर जुहारमित्र के यहाँ से सम्मान-सहित बुलवाया और प्यार से अपने पास बिठाया।

तीसरे मित्र ने ही राजकुमार को आफत के समय शरण दी और कष्टमुक्त किया। यह एक दृष्टान्त है सच्चे-झूठे मित्र को परखने के लिए। हमारी आत्मा के भी ये तीन प्रकार के मित्र लगे हुए हैं। नित्यमित्र यह शरीर है, जो चौबीसों घंटे आत्मा के साथ रहता है। इसे खूब खिलाया, पिलाया, नहलाया, धुलाया जाता है, खूब लाड लडाया जाता है, फिर भी यह कष्ट, रोग बुढ़ापा या आफत आने पर धोखा दे देता है। इतना सत्कार-सम्मान देने पर भी शरीर आत्मा के बंधन नहीं काट सकता। अतः आत्मा से शरीर को भिन्न और अन्त में साथ न देने वाला नकली मित्र समझ कर उस पर ममता न रखना उचित है। माता, पिता, पत्नी सगे, संबन्धी आदि पर्वमित्र हैं। वे कर्मरूपी राजा का कोप होने पर उसके बंधन से छुड़ा नहीं सकते। तीसरा मित्र है—'धर्म।' जो आत्मा को विपत्ति में शरण देता है। इसकी बदौलत आत्मा कर्मों से मुक्त होता है। आत्मा और कर्म को भिन्न समझता है। वस्तुतः सच्चा मित्र वही है, जो उपकार करता है, संकट से बचाता है और सन्मार्ग पर ले जाने का प्रयत्न करता है। यहाँ आत्मा का सच्चा मित्र आत्मा ही बताया गया है। आचारांगसूत्र में कहा है—

पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि ?

हे पुरुष (आत्मन्) ! तू अपना मित्र आप ही है। दूसरे मित्र की इच्छा क्यों करता है ?"

हमारी आत्मा ही एक तरह से हमारा मित्र भी है और दूसरी तरह से शत्रु भी। जब आत्मा इन नकली मित्रों को अपना लेता है, तब खुद का शत्रु बन जाता है और जब असली मित्र को अपनाता

८

समाजोद्धार के मूलमंत्र

सज्जनो !

आज मैं समाज के उद्धार के सम्बन्ध में आपके सामने अपने विचार रखूंगा।

आत्मोद्धार और समाजोद्धार का सम्बन्ध

कोई यह कह सकता है कि साधुओं को तो आत्मोद्धार की ही बातें करनी चाहिए, उन्हें समाजोद्धार से क्या मतलब ? समाज तो संसार है। सांसारिक बातों में पड़ कर साधु अपने कल्याण को भूल जायगा। किसी हद तक यह बात ठीक है कि साधु को अपनी आत्मा का कल्याण भूलना नहीं चाहिए। मगर आत्मोद्धार का सम्बन्ध केवल अपनी आत्मा से हो तब तो ठीक है, परन्तु जैनधर्म की दृष्टि से सारे विश्व (६ काया के प्राणियों) के साथ आत्मोद्धार का सम्बन्ध बताया गया है। भ० महावीर की अनुभवी वाणी कहती है—

"धम्मस्स णं चरमाणस्स पंच निस्सा ठाणा पणत्ता, तंजहा-छ काया, गणे, राया, गाहावई सरीरं।"

अतः ज्ञानस्वरूप आत्मा बन कर किसी दुःख या संकट के समय निमित्त पर दोषारोषण न करके अपनी आत्मा (उपादान) को ही देखो और उसे सुधारो। सुख या दुःख का मूल स्रोत आत्मा ही है। वही सुख-दुःख का कर्त्ता-हर्त्ता है। लेकिन अज्ञानी आत्मा सुख के समय अपने को सुख का कर्त्ता मानकर अहंकार में डूब जाता है, और दुःख के समय निमित्तों को कोस कर हाय-तोबा मचाता है। इस तरह अज्ञानवश आत्मा सुख में अहंकारी और दुःख में दीन बन जाता है। अथवा सुख और दुःख को दूसरों के दिये हुए मान कर आत्मा ऐसी विषमय भावना को स्थान दे कर अमृत को विष बना लेता है। अतः आत्मा को ज्ञानघन व 'सर्वभूतात्मभूत या सव्वभूयप्पभूयस्स' के सिद्धान्त से ओतप्रोत करके अमृतमय बनाओ। आत्मोद्धार की सरल और सुगम कुंजी यही है। इसी से मोक्ष का ताला खुलेगा।

स्थान—गौड़ीजी का उपाश्रय पायधुनी, बम्बई	वि० संवत् २००६ श्रावण सुदी १५

संसार गन्दा होगा; संसार में वदमाश, चोर, डाकू, व्यभिचारी आदि लोग अधिक मात्रा में वढ़ेंगे तो साधुवर्ग की साधना में भी विक्षेप पड़ेगा। मान लीजिए, एक साधु उपाश्रय में अपनी साधना में वैठा है। अचानक पड़ौस में आग लग गई, या दंगा हो गया, अथवा शोरगूल हो रहा है तो क्या वह साधु निर्विघ्नतापूर्वक शान्ति से अपनी साधना कर सकेगा ? नहीं कर सकेगा। इसीलिए मैं कहता हूं कि साधुवर्ग को अपनी साधना निर्विघ्नतापूर्वक करने के लिए, अच्छे साधुओं की वृद्धि के लिए, संसार के जीवों के प्रति करुणा को सक्रिय वनाने के लिए, अपने उपकारियों और सहायकों के उपकार का वदला चुकाने के लिए आत्मोद्धार के साथ-साथ समाजोद्धार के लिए प्रयत्न करना अत्यन्त जरूरी है। समाज के उद्धार की ओर लक्ष्य देने से वह अपनी आत्मसाधना की वात भूल जायगा, यह भी भ्रान्ति है। वल्कि यों कहना चाहिए कि समाजोद्धार की ओर ध्यान देने पर साधु की आत्मिक साधना चमकेगी, उसमें जागृति रहेगी, उसमें क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, स्वार्थ, काम, मोह आदि विकार कितने कम हुए हैं, या वह कम करने के लिए प्रयत्नशील है या नहीं ? इस रूपमें उसकी आत्मिक साधना की परीक्षा भी होती रहेगी। मतलव यह है कि सामाजिक उद्धार होने से उसकी आत्मसाधना चमकेगी ही, उसमें घाटा नहीं, फायदा ही है। क्योंकि साधु के कई समाजहित-कर कार्य भी उसकी आत्मिकसाधना के अंग होते हैं। साधुवर्ग जो भी प्रवचन करता है, उपदेश या धर्मप्रेरणा देता है, वह सव समाज की आत्माओं को सुधारने और धर्म के मार्ग पर चलाने के लिए ही तो देता है। अतः जिन वातों से संसार का कल्याण होता हो, संसार के जीवों को शान्ति मिलती हो, उन वातों का आचरण करने-कराने और उपदेश या प्रचार करने का पुरुषार्थ साधुवर्ग को करना ही चाहिए।

अर्थात्—"जो धर्माचरण करके आत्मश्रेय साधना चाहता है, उसके लिए पांच स्थानों का आश्रय (सहयोग) अनिवार्य बताया है—(१) षट्काय (विश्व के प्राणिमात्र), (२) गण (जिस संघ या समाज में रहता हो वह), (३) राजा (शासनकर्ता), (४) गृहस्थ समाज और (५) शरीर।

मतलब यह है कि साधुजीवन का निर्वाह गृहस्थ-समाज के अस्तित्व पर रहता है और समाज में जितनी अधिक उज्ज्वलता, धार्मिकता होगी, उतना ही साधुजीवन उज्ज्वल होगा, क्योंकि साधु बनने वाले व्यक्ति समाज में से ही आते हैं। यही कारण है कि साधु-वर्ग एकान्ततः व्यक्तिगत साधना में ही अपनी साधना की इतिसमाप्ति नहीं समझते और उपदेश, प्रेरणा और मार्गदर्शन द्वारा समाजश्रेय की ओर भी लक्ष्य रखते हैं। यहाँ तक की शासकवर्ग को भी सुधारने की व नीति-धर्म पर दृढ़ रखने के लिए प्रेरणा समय-समय पर साधु न करें तो सारा ही राष्ट्र या समाज का एक अंग राज्य बिगड़ जाता है। विश्व के प्राणिमात्र के प्रति साधुवर्ग की करुणा और रक्षा का थर्मामीटर यही है कि वह समस्त प्राणियों के प्रति स्वयं रक्षा की सक्रिय आचरण की भावना रखते हुए मानवसमाज को भी इस ओर कितना प्रयत्नशील रहता है।

प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा है—

"सव्वजगजीवरक्खण दयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।"

अर्थात्—जगत् के समस्त जीवों की रक्षारूप दया से प्रेरित होकर ही भगवान् ने प्रवचन कहे हैं।

कितना सुन्दर दृष्टिकोण है संसार के प्रति करुणा का!

साधुवर्ग की आत्मसाधना सुन्दर, अच्छे ढंग से और निर्विघ्न हो इसके लिए भी संसार को अच्छा बनाना आवश्यक है। अगर

या संसार में फंसाने वाले कार्यों की प्रेरणा करना या उनमें स्वयं फंसना संसार के कामों में पड़ना कहलाता है, किन्तु संसार को धर्म-कार्य की ओर मोड़ना या अच्छे कार्यों में लगा कर उसे सुधारना सांसारिक कार्य में पड़ना नहीं कहलाता।

दूसरी बात यह है कि साधुओं को जगत् की समस्त आत्माओं का उद्धार करने के लिए प्रयत्न करना है, तब समाज की आत्माओं का उद्धार तो उसके अन्तर्गत आ ही गया। और आत्मोद्धार कुछ व्यक्तियों का हो सकता है, सारे समाज की आत्माओं का उद्धार प्रायः अशक्य होता है। एक व्यक्ति के सुधरने से सारा समाज नहीं सुधर जाता। इसलिए आत्मोद्धार एक या अनेक व्यक्तियों का होने से उसे व्यापक रूप देना या उस आत्मोद्धार का समाजीकरण करना यानी आत्मोद्धार को सारे समाज में व्याप्त करना ही समाजोद्धार है। दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। इसलिए आत्मोद्धार के साथ-साथ समाजोद्धार की बात कहना जरूरी है। समाजोद्धार की बात प्रचलित होने पर या समाज के व्यक्तियों के सुधर जाने पर व्यक्ति के आत्मोद्धार में कोई अड़चन नहीं आती, वह निर्विघ्नता पूर्वक शान्ति से हो सकता है। एक उदाहरण द्वारा इसे समझाना ठीक होगा—

जीवनलाल नामक एक मध्यमवर्गीय धर्मात्मा गृहस्थ है, आत्मा को उन्नत बनाने के लिए वह भरसक प्रयत्न और चिन्तन करता रहता है। परन्तु उसकी आय सीमित है। और जिस समाज में वह रहता है उसमें कुछ खर्चीली सामाजिक कुरीतियाँ हैं। उसकी लड़की जवान व विवाहयोग्य हो गई है। समाज में दहेज की भयंकर प्रथा है। दहेज के उपरांत भी वरपक्ष की ओर से नकद रकम, सोना व सुख-सामग्री मांगने की अहितकर प्रथा है। जीवनलाल की इतनी हैसियत नहीं कि वह वरपक्ष की मांगें पूरी कर सके। वह नीति-धर्मपूर्वक

दूसरी बात यह है कि जिस गृहस्थ समाज से वह जीवननिर्वाह के लिए आहार, पानी, मकान, अन्य आवश्यक साधन, प्रतिष्ठा आदि प्राप्त करता है, उसे बदले में कुछ भी न देकर, केवल अपनी ही साधना में रत रहे तो वह स्वार्थी और कृतघ्न कहलाएगा। हाँ, देगा वह अपनी साधुता की मर्यादा में रह कर ही। ऐसा करने से साधु के संयम का भी निर्वाह हो जायगा और धर्मसाधना में सहायकों के प्रति कृतज्ञता भी प्रगट हो जायगी। पण्डितराज जगन्नाथ ने भामिनी-विलास में राजहंस को सम्बोधित करते हुए एक सुन्दर अन्योक्ति इस सम्बन्ध में कही है—

> "भुक्ता मृणालपटली भवता निपीता-
> न्यम्बूनि यत्र नलिनानि निषेवितानि।
> रे राजहंस! वद तस्य सरोवरस्य
> कृत्येन केन भवितासि कृतोपकारः ॥"

अर्थात्—"हे राजहंस! तुमने जिस सरोवर की कमलनालों का उपभोग किया, जिसका पानी पीया और जहाँ कमलों का सेवन किया, बताओ किस कार्य के द्वारा उस सरोवर के उपकार का बदला चुकाओगे।"

यह अन्योक्ति साधुरूपी राजहंस पर हूबहू घटती है। साधु ने जिस समाजरूपी सरोवर में रह कर उससे आहारपानी लिया, अन्य संयम के साधन प्राप्त किये, समाज से आदर-सत्कार पाया, धर्म-में सहयोग प्राप्त किया। उससे भी कवि पूछता है कि हे साधु! बताओ समाज के उस उपकार के बदले में कौन-सा सुकृत्य करके समाज के उपकार से उऋण होओगे?"

इन सब दृष्टियों से आत्मोद्धार के साथ समाजोद्धार का प्रयत्न करना साधुओं के लिए अनुचित नहीं है। संसार को बिगाड़ने वाले

समाज की संगठनशक्ति को कमजोर बनाने वाली भयंकर बातों का उन्मूलन होना जरूरी होता है। उद्धार का अर्थ जैसे उन्नत करना होता है वैसे एक अर्थ उखाड़ना भी होता है। इसलिए सर्वप्रथम समाज में प्रचलित खोटी बातों को उखाड़ना चाहिये। तब सही माने में सर्वांगीण समाजोद्धार होगा।

एक तत्त्वज्ञानी ने कहा है कि 'जो देव बनने के लिए ऊँचा नहीं चढ़ता है, तो समझ लेना चाहिए, राक्षस बनने के लिए वह नीचे गिर रहा है।' जो बात व्यक्ति के लिए है, वही समाज के लिए है। जो समाज उत्तमोत्तम सुरीतियों, सुप्रथाओं और सद्गुणों को अपना कर धर्ममार्ग के सहारे देव बन कर ऊँचा नहीं उठेगा, वह समाज विलासिता, दुश्चारित्र्य, नैतिक पतन और पापाचार के कारण राक्षस बन कर विनाश के गड्ढे में गिरेगा।

परन्तु आज परिस्थिति विपरीत ही नजर आ रही है। जो लोग आस्तिक कहलाते हैं, आत्मा-परमात्मा को मानते हैं, वे दिव्य व देवानुप्रिय बनने के बदले उलटे काम करके राक्षस या राक्षसप्रिय बनते जा रहे हैं। ऐसे बहुत से आस्तिक कहलाने वाले लोग समाज के अगुआ बने हुए हैं, लेकिन उनका जीवन झूठ-फरेब, बेईमानी और अन्याय-अनीति से धन बटोरने में लगा हुआ है। उधर विवाह-शादियों व उत्सवों में कुरीतियों का पोषण करके लाखों रुपयों का धुंआ उड़ा देंगे, धूमधाम करने के लिए रातदिन एक कर देंगे; मगर समाज के निराधारों, अनाथों, अपाहिजों, गरीबों और बेकारों को राहत देकर ऊँचा उठाने, रोजगारधंधे देकर स्वावलम्बी बनाने में धन खर्च करना हो तो बहाने बनायेंगे। यह कैसा आस्तिकपन है? एक राजा अगर राज्यसत्ता हाथ में लेकर प्रजारक्षा का कुछ भी काम न करे तो उसे आप क्या कहेंगे? इसी प्रकार जब आप आस्तिक हैं,

आजीविका करना चाहता है। परन्तु इन सामाजिक कुप्रथाओं में सुधार न होने से वह लाचारीवश कोई ऐसा अनीतिमय धंधा करता है, जिससे वरपक्ष की मांग पूरी कर सके।

अब आप बताइए, जीवनलाल के आत्मोद्धार की बात समाजोद्धार न होने से ताक में धरी रह गई न ? अगर समाजोद्धार होता यानी समाज में अमुक अहितकर कुप्रथाओं को दूर कर दिया जाता तो जीवनलाल का आत्मोद्धार सहीसलामत बरकरार रह सकता था। जीवनलाल के जैसे समाज में अनेक मध्यमवर्गीय सीमित आयवाले परिवार हैं, जिन्हें समाजोद्धार न होने के कारण आत्मोद्धार की उपेक्षा करके सामाजिक कुरीतियों की चक्की में पिसना पड़ रहा है। अब तो आपको समझ में आ गया होगा कि आत्मोद्धार के लिए समाजोद्धार कितना जरूरी है ?

समाज दिव्य बने तभी समाजोद्धार

मैंने आज आपको 'सज्जनो' नाम से सम्बोधित किया। शास्त्रकारों ने उसके बदल 'देवानुप्रिय' शब्द से सम्बोधन का जगह-जगह उल्लेख किया है। बात एक ही है। सज्जन शब्द वर्तमान समाज में प्रचलित है, उसे आप देवानुप्रिय की जगह समझें। परन्तु मनुष्य देवताओं का प्यारा या भला आदमी तभी बन सकता है, जब उसमें दैवीगुण प्रगट हों। और वे दैवीगुण धर्म की आराधना-साधना करने से ही प्रगट हो सकते हैं। सारे समाज में धर्म की साधना या आराधना चले तो वह समाज दिव्यगुणों वाला सज्जनों का समाज बन सकता है। सारे समाज में धर्म की साधना या आराधना को व्याप्त करने या प्रचलित करने के लिए सर्वप्रथम समाज में प्रचलित अधर्मवर्द्धक, पापोत्तेजक, अहितकर, एवं विषमता फैलाने वाली,

मर्यादाओं (नियमों, व्रतों आदि) का पालन नहीं होता है, उसमें शीघ्र ही अव्यवस्था और अशान्ति फैलने लगती है। आज व्यवहार और धर्म को बिलकुल अलग-अलग मानने के कारण समाज निर्जीव और धर्म निर्वीर्य हो गया है। धर्म को अपना पराक्रम दिखलाने का क्षेत्र तो समाज ही है। अकेले व्यक्ति के जीवन में धर्म हो और सारे समाज के जीवन में धर्म का वातावरण न हो तो वह व्यक्तिगत धर्म भी तेजस्वी नहीं बनता; रुढ़िग्रस्त हो जाता है। इसलिए सामाजिक व्यवहार में हर कदम पर, हर मोड़ पर धर्म का पुट होना चाहिए। धर्म से विरुद्ध कोई भी सामाजिक कार्य या व्यवहार नहीं होना चाहिए। तभी समाजोद्धार की नींव मजबूत होगी।

(२) परस्पर संप बना रहे— संप ही समाज में संपत्ति की वृद्धि कराने वाला होता है। समाज में संप न होने पर आपसी कलह, मनमुटाव, मतभेद और संघर्ष के कारण समाजोन्नति के कई महत्त्वपूर्ण काम ठप्प हो जाते हैं। समाज के सदस्यों की शक्ति संप न होने से तितरबितर हो जाती है, जहाँ अच्छे कामों में शक्ति लगनी चाहिए, वहाँ नहीं लगती और व्यर्थ के कार्यों में लगेगी। इसलिए संप समाजोद्धार में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

(३) वात्सल्य का परस्पर आदान-प्रदान—समाज में परस्पर वात्सल्यभाव होगा तभी समाजोद्धार भलीभांति चल सकेगा। समाजोद्धार की बातों में एक दूसरे के प्रति वात्सल्य होने पर ही लोग दिलचस्पी लेंगे। समाज में पिछड़े-पददलित, असहाय, अनाथ, अपाहिज एवं निर्धन व्यक्तियों के प्रति वात्सल्यभाव से प्रेरित होकर ही सम्पन्न लोग सामाजिक कुप्रथाओं को बदलने या सुधारने के लिए प्रयत्नशील होंगे और वे उनकी सेवा करने की भावना में वृद्धि करेंगे। साधर्मी-वात्सल्य का अर्थ आज बहुत ही संकुचित कर दिया गया है।

उच्च धर्म को पाए हुए हैं, धर्म में विश्वास रखते हैं तब फिर विलासिता, फैशन, प्रमाद व समाजसुधार के प्रति उपेक्षा, धर्माचरण में आलस्य अपनाकर उलटे काम करें, यह कहाँ तक उचित है ? क्या आप अपने उलटे कामों से आस्तिक धर्मात्मा या देवताओं के प्यारे कहलाने लायक रह सकेंगे ? अगर कोई आस्तिक होकर झूठ बोलता है, चोरी करता है, या और कोई पापकर्म करता है तो क्या वह अपने व्यवहार से नास्तिकता फैलाने वाला या नास्तिक कहलाने लायक नहीं है ? आज कई जगह आत्मा को न मानने वाले नास्तिक लोग आस्तिकों की अपेक्षा अधिक सच्चरित्र, बात के धनी, सत्यवादी और अन्याय-अनीति से घृणा करने वाले मिलते हैं, तो क्या व्यावहारिक दृष्टि से उन्हें आस्तिक नहीं कहा जा सकता ? सच्चे आस्तिक और धर्मशील व्यक्ति के विचार, धन एवं उसके पास की तमाम शक्ति समाजोद्धार के लिए, प्राणिमात्र की भलाई के लिए, देश, धर्म और समाज की रक्षा के लिए, सम्यक्ज्ञान फैलाने के लिए होती है।

आस्तिक कहलाने वाले व्यक्ति जब दैवी गुणों से सम्पन्न होंगे तभी वे देवताओं के प्यारे और सज्जन कहला सकेंगे, और तभी सच्चे अर्थों में समाजोद्धार की नींव पड़ेगी।

समाजोद्धार के मूल तत्त्व

समाजोद्धार की नींव कुछ मूलतत्त्वों पर आधारित है; जिनके अपनाए बिना समाजोद्धार का काम ढीलाढाला और कच्चा रहेगा। उन मूलतत्त्वों पर हम क्रमशः विचार करेंगे :—

(१) धर्ममर्यादा पर चलना—शुद्ध और व्यापक धर्म समाज का प्राण है। उस धर्म की मर्यादाओं पर समाज का हर सदस्य चले तभी समाज स्वस्थ और सुखी रह सकता है। जिस समाज में धर्म-

नहीं होता। नतीजा यह होता है कि समाज निर्बल और कायर बन जाता है। कोई भी व्यक्ति उस समाज को दबा सकता है, हरा सकता है, और उस पर हावी होकर उसे गुलाम बना सकता है। प्रगति की घुड़दौड़ में ऐसा कमजोर और दब्बू समाज पिछड़ जाता है। समाज में परस्पर सहयोग के अभाव में तुच्छस्वार्थी और प्राण-मोही लोग कितना भारी नुकसान कर बैठते हैं, इसके लिए एक उदाहरण लीजिए—

एक ५०० घरों की बस्ती वाला गाँव था। सभी कौम के लोग उनमें रहते थे। सभी अपनी-अपनी आजीविका के कामों में मशगूल रहते थे। गाँव की उन्नति, सुरक्षा या सुव्यवस्था की किसी को खास चिन्ता न थी। अपने-अपने तुच्छस्वार्थ में सब लीन रहा करते थे; खास मौके पर भी कोई किसी को मदद न देता था। चार डाकुओं के एक दल ने एक बार गाँव की जनता को चेतावनी दी कि "हम फलां दिन तुम्हारे गाँव पर हमला करेंगे और लूटेंगे।" यह खबर सुन कर गाँव के लोगों में खलबली तो मच गई, लेकिन झटपट कहीं एक जगह इकट्ठे होकर इसके उपाय का विचार न कर सके। जिन लोगों के पास ज्यादा धनमाल था, वे लोग सारे दिनभर प्रत्येक आदमी के पास घूम-घूम कर एक जगह इकट्ठे होने के लिए मिन्नतें करने लगे। तब जाकर कहीं थोड़े-से लोग इकट्ठे हुए। निहितस्वार्थी लोगों ने जोशीले भाषण देकर गाँव के युवकों को डाकुओं का सामना करने के लिए तैयार कर लिया। उन्होंने सभी नौजवानों को हथियार भी दे दिए। किसी तरह कमर कस कर हथियारों से लैस हो कर गाँव के कोई १०० युवक शाम को गाँव की सीमा पर डेरा डाल कर नंबरवार बैठ गए। सबने सोचा—"डाकू आएँगे तो इसी रास्ते से! हम बारी-बारी से पहरा देते रहेंगे।" प्रति घंटे ८-८ युवकों की टुकड़ी

साधर्मी को केवल भोजन करा देने में ही साधर्मीवात्सल्य की इति-समाप्ति नहीं हो जाती। आदरपूर्वक भोजन कराना भी वात्सल्य वढ़ाने का एक कारण है, लेकिन सही माने में साधर्मी-वात्सल्य का मतलब है—समाज के पिछड़े, असहाय, निर्धन और वेरोजगार लोगों को रोजगार धंधे दिला कर, नौकरी दिला कर, सहयोग देकर अपनी वरावरी के बनाना। अपनी नामवरी और वाहवाही के लिए समाज के भाइयों को एक रोज के लिए खिला देना और कभी मुसीवत पड़ने पर वे उन सम्पन्न भाइयों के पास आ जाएँ तो भोजन कराना तो दूर रहा, धक्के देकर या टका-सा जवाब देकर निकाल देना, उन्हें अपमानित कर देना क्या वास्तव में साधर्मीवात्सल्य है? साधर्मीवात्सल्य का प्राचीन ज्वलन्त उदाहरण मांडवगढ़ का दिया जा सकता है, वहाँ वसने के लिए जो कोई भी भाई जाता उसे फी घर से एक-एक ईंट और एक-एक रुपया दिया जाता। ईंटों से उसका रहने का मकान तैयार हो जाता और रुपयों से व्यापारधंधा चल जाता। इस प्रकार का समाजवात्सल्य प्राप्त करने वाले आगन्तुक व्यक्ति भी समाज के उत्थान के कार्यों में दिल खोल कर देते थे।

हाँ, तो वात्सल्य का परस्पर आदानप्रदान समाजोद्धार के कार्य को बहुत ही आसान और सुलभ बना देता है।

(४) सहयोग का आदान-प्रदान—समाज में विविध प्रकार की शक्ति वाले लोग होते हैं। किसी के पास श्रम की शक्ति होती है, किसी के पास धन की। किसी के पास विद्या (ज्ञान) की और किसी के पास शारीरिक वल होता है। परन्तु परस्पर सहयोग न होने से ये सब वल अलग-अलग रह कर कुण्ठित हो जाते हैं, अपने में ही वन्द हो जाते हैं, अपने ही तुच्छ स्वार्थों में रचेपचे रहते हैं। समाज-उत्थान के कामों में कोई भी अपनी शक्ति का दान देने को तैयार

करने में लगेगा कि कैसे इस कांटे को जल्दी से जल्दी निकाला जाय; कान कांटे की आवाज को सुन कर उसके निकालने का उपाय दूसरों से सुनने में जुट पड़ेंगे। यानी सभी अवयव अपनी-अपनी योग्यतानुसार कांटे निकालने में सहयोग देने को जुट पड़ेंगे। इसी प्रकार समाज में विविध प्रकार की शक्ति वाले लोगों को परस्पर सहयोग के लिए और समाज पर कोई आफत या मुसीबत आए तो एकमत हो कर दूर करने के लिए जुट पड़ना चाहिए। तभी समाजोद्धार के काम में चार चांद लगेंगे।

(५) योग्य को योग्य काम में लगाना—समाज में योग्य पदों, योग्य व्यवस्थाओं और कार्यों में उनके योग्य व्यक्तियों को नियुक्त करने पर ही सामाजिक सुखशान्ति व व्यवस्था बनी रह सकती है। अयोग्य व्यक्तियों को योग्य पदों, कार्यों या व्यवस्थाओं पर नियुक्त कर देने पर सारी व्यवस्था व सुखशान्ति चौपट हो जाती है। अयोग्य व्यक्ति ठीक ढंग से विधिपूर्वक काम करना नहीं जानता, इस लिए लोगों में सामाजिक कामों से असन्तोष पैदा होता है और असन्तोष का परिणाम कभी बगावत में भी आ जाया करता है। इसलिए 'योग्यं योग्येन योजयेत्' यह मंत्र समाजोद्धार के लिए बहुत जरूरी है। संस्कृत भाषा में एक कहावत है—

'नहि वारणपर्याणं वोढुं शक्तो वनायुजः'

'हाथी का पलान गधा कभी सहन नहीं कर सकता।'

जो काम जिसके योग्य हो, वही काम उसे सौंपा जाना चाहिए। भारतीय समाज की प्राचीन चातुर्वर्ण्यव्यवस्था में यही भावना थी। इससे समाज की सुव्यवस्था दीर्घकाल तक टिकी रही। आज वर्णव्यवस्था की गड़बड़ी के कारण भारतवर्ष की बड़ी हानि और अन्य-

ने पहरा देने का तय कर लिया। युवकों का पड़ाव गाँव से काफी दूर था। लेकिन जिस आगे वाली टुकड़ी का पहरा होता, वह यही सोचती—"यार, हम क्यों आगे रह कर व्यर्थ में अपने प्राण खोएँ! आगे रहेंगे तो सबसे पहले डाकुओं का हमला हम पर होगा।" अतः जो टुकड़ी सबसे आगे और सबसे पहले पहरे पर थी, वह एकदम सबसे पीछे और गाँव के किनारे आकर सो गई। उससे पीछे वाली टुकड़ी को भी ऐसा ही तुच्छस्वार्थी विचार आया। वह भी सबसे पीछे आकर लेट गई। यों क्रमशः आठों ही टुकड़ियों ने किया। सवेरा होते-होते तो वे सब युवक गाँव के अन्दर घुस आए। डाकुओं के दल ने मौका देख कर सवेरा होते-होते आकर हमला किया। सभी पहरेदार खुर्राटे भर रहे थे। डाकुओं ने सारे गाँव को अच्छी तरह लूटा और जिसने सामना किया उसे मारापीटा और जान से भी मार डाला। डाकू अपना काम करके भाग गये। जब वे जवान पहरेदार लोग उठे तो गाँव में कोहराम मचा हुआ था। युवकों की समझ में तो आगया कि हमारी लापरवाही और खुदगर्जी के कारण ही ऐसा हुआ है। नहीं तो, ४ डाकू हमारे गाँव को क्या लूट जाते"? पर अब क्या हो सकता, जब चिड़ियाँ चुग गई खेत!

सज्जनो! प्राणमोही स्वार्थी लोगों के स्वार्थीपन से सारे ग्राम (समाज) ने नुकसान उठाया। इसलिए सहयोग समाजोद्धार के लिए आवश्यक तत्त्व है। सहयोगरूपी खंभों के बिना समाजरूपी महल टिक नहीं सकता। हमारे शरीर के सभी अवयवों में परस्पर कितना सहयोग है? अगर पैर में कांटा चुभ जाय तो आँख उसे देखने के लिए आतुर होगी, अधिक पीड़ा होने पर आँसू बहाएगी। हाथ उस कांटे को निकालने का प्रयत्न करेंगे। जीभ दूसरे व्यक्ति से कांटे निकालने के लिए मदद करने का कहेगी, मस्तिष्क यह विचार

बाबर को अपनी भूल मालूम हो गई है, इस बार ऐसा नहीं होगा।" फलतः ईरान के बादशाह ने बाबर की मदद के लिए अपनी सेना भेजी। बाबर ने फिर भारत पर चढ़ाई की और इस बार अपनी जीत का डंका बजा दिया।

निष्कर्ष यह है कि समाज में जो व्यक्ति जिस योग्य हो उसे वैसा ही काम सौंपा जाने पर सुव्यवस्था रहने से समाजोद्धार का काम आसानी से हो सकेगा। समाज में नारी का स्थान काफी ऊँचा और महत्त्वपूर्ण था, लेकिन उसे नीची व घृणास्पद समझी जाने लगी, तब से समाज में विषमता फैली; समाज का पतन हुआ।

(६) देश, काल, परिस्थिति देख कर हितकर सुधार का शुभ संकल्प करना—जमाना बदल रहा है। अगर समाज भी जमाने के अनुसार नहीं बदलता है तो जमाने की तेज रफ्तार उसे बदल देगी। लेकिन अपनी इच्छा से देश, काल और परिस्थिति देख कर समाज का हित सोच कर युगानुसार समाज की प्रथाओं में परिवर्तन करना और काल के थपेड़ों के कारण बलात् विवश हो कर परिवर्तन करने में बड़ा अन्तर है। जैसे एक आदमी घोड़े पर सवार होकर चलता है, दूसरा घोड़े की पूंछ के साथ बंध कर घिसटता हुआ चलता है। मुकाम पर दोनों पहुंचते हैं। मगर दोनों के चलने और पहुंचने में जैसा अन्तर होता है, वैसा ही अन्तर इन दोनों परिवर्तनों में है। एक बीमार बन कर सोता है, दूसरा थक कर सोता है। थक कर सोने वाला गाढ़ी नींद लेकर ताजगी प्राप्त करता है, बीमार बन कर सोने वाला विवशता से सोता है। परिवर्तन तो हमारे अन्दर आज भी हो रहा है, परन्तु वह होता है अविवेकपूर्वक। इस लिए समाज की जो प्रथाएँ, रीतिरिवाज, नियमोपनियम व रूढ़ियाँ युगबाह्य, दम्भवर्द्धक, विकासबाधक अत्यन्तखर्चीली अहितकर या

वस्था हो रही है। शरीर में भी प्रत्येक अवयव अपने उचित स्थान पर ही शोभा देता है। हाथ की जगह पैर हों और पैर की जगह हाथ हों तो न हाथ का काम होगा, न पैरों का ही। इसी प्रकार भुजाओं का काम सिर से और सिर का काम भुजाओं से लेना चाहें तो असम्भव होगा। सभी अंगों को अपनी जगह होने में ही शोभा और शरीर सुन्दरता है। सभी अंग अपना-अपना काम न करें तो वे स्वयं निकम्मे हो जायेंगे।

इसी प्रकार समाज-शरीर में भी विभिन्न वर्गों या योग्यताओं वाले व्यक्तियों को उनके योग्य काम सौंपा जाना चाहिए और उन्हें भी अपने जिम्मे का काम करना चाहिए। अन्यथा, समग्र समाज की व्यवस्था चौपट हो जायगी। इस विषय में एक ऐतिहासिक उदाहरण लीजिए—

वावर वड़ा मेहनती था। एक वार चढ़ाई करके भी वह हिन्दुस्तान को न जीत सका पर उसके दिल में हिन्दुस्तान को जीतने की महत्त्वाकांक्षा थी। इसी इच्छा से प्रेरित होकर उसने ईरान के वादशाह को दूत भेज कर संदेश कहलाया—"वावर हिन्दुस्तान को जीतना चाहते हैं, उन्हें आपकी सहायता की जरूरत है।" ईरान के वादशाह ने कहा—"मैं सहायता देने को तैयार हूं, लेकिन पहले यह वताओ कि वावर पहले हारे क्यों ?" दूत वड़ा होशियार था। उसने जवाव दिया—'योग्य पदों पर योग्य व्यक्तियों को नियुक्त न करने से उन्हें हार खानी पड़ी। जो पद अक्लमंदों के लायक था, उस पर मूर्खों को और जो पद मामूली आदमियों के लायक था, उस पर अक्लमंदों को नियुक्त कर दिया गया। वड़े कामों को मूर्ख नहीं कर सकते थे और साधारण कामों को करने में वुद्धिमानों का जी नहीं लगता था। इस तरह सभी कामों में गड़वड़ी होने के कारण वावर को पराजित होना पड़ा।

से धर्म चला जाता है, यह कुप्रथा कितनी भयंकर, युगवाह्य और असमानता के पाप को बढ़ाती है ? अपने मृत सम्बन्धी के पीछे, कई महीनों तक रोने और छाती कूटने की कुप्रथा भी समाज का पिछड़ापन सूचित करती है। ऐसी कुप्रथाओं को चुन-चुन कर बन्द कर देना चाहिए।

कई नई हानिकर प्रथाएँ पाश्चात्य सभ्यता के प्रवाह में वह कर कहीं-कहीं समाज में प्रचलित की गई हैं। जैसे लड़के-लड़की की शादी होने से पहले उनका एकान्त में मिलना, दोनों का साथ घूमना, साथ में सिनेमा देखने जाना, प्रेमपत्र लिखना आदि। ये कुप्रथाएँ भारतीयसंस्कृति और नीति के विरुद्ध होने से समाज में त्याज्य होनी चाहिए। अतः जो रीतिरिवाज समाज के लिए हानिकारक, अहितकर, खर्चीले, विकासघातक, भारतीयसंस्कृति और नीति के विरुद्ध व युग-वाह्य वने हुए हैं, वर्तमान युग के लिए अनावश्यक हैं या जिनमें विकृति आ गई है; जो विना मतलव के निरर्थक-से हैं, उनमें अवश्य परिवर्तन करना चाहिए। तभी समाजोद्धार सच्चे अर्थों में हो सकेगा।

समाजविकास में लगे हुए घुन

वर्तमान समाज की परिस्थिति को देखते हुए कुछ सामाजिक कुप्रथाओं की ओर मैं आपका ध्यान खींचना चाहता हूं, जो समाज के विकास में लगे हुए घुन हैं। समाज की उन्नति में ये कुरीति-रिवाज रोड़े वने हुए हैं। इसलिए शीघ्र ही इनमें परिवर्तन करने की आवश्यकता है। कुछ कुप्रथाएँ ये हैं—

कन्याविक्रय—कन्याविक्रय का अर्थ है, वरपक्ष से धन लेकर

अनर्थक हो गई हैं, उन्हें देश, काल, परिस्थिति आदि को देखते हुए शीघ्र बदलने या सुधारने का शुभ संकल्प करना चाहिए। जो समाज अपनी अहितकर प्रथाओं को बदल कर हितकर प्रथाओं को प्रचलित करता है, वही समाज जिंदा कहलाता है, वही उन्नति और प्रगति कर सकता है। समाज के मूल सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन नहीं होता, लेकिन द्रव्य, क्षेत्र, काल और परिस्थिति के अनुसार उसके बाह्य ढांचे में परिवर्तन करते रहना चाहिए। तभी समाजोद्धार का काम सतत स्थायी रहता है। पोशाक ऋतु के अनुसार बदलते रहने पर भी आदमी में कोई परिवर्तन नहीं होता। इसी प्रकार समाज की प्रथाओं में द्रव्यक्षेत्रकालभावानुसार परिवर्तन होने पर भी समाज तो वही रहता है। बल्कि समाज का जीवन उन्नत बनता है। इसलिए समाजोद्धार के लिए यह तत्त्व तो अनिवार्य है। ऐसे शुभ संकल्पों के बल पर ही तो समाज सुदृढ़ बनता है।

वर्तमान युग क्रान्ति का युग है। इस युग में मानवजीवन के सभी क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। असंभव प्रतीत होने वाली वस्तुएँ संभव हो रही हैं। राजनैतिक, आर्थिक आदि क्षेत्रों में क्रान्ति हो रही है, वैसे सामाजिक क्षेत्र भी क्रान्ति के असर से अछूता नहीं रह सका। लेकिन यह कहना होगा कि सामाजिक क्षेत्र में संतोषजनक सुधार नहीं हो पाये हैं। कई सामाजिक प्रथाओं में जो सुधार नये जमाने के अनुसार हुए हैं, वे धर्म को नजरअंदाज करके हुए हैं। कई जगह पुराने रीति-रिवाजों के अहितकर होने पर भी उनके साथ धर्म को ऐसा चिपका दिया गया है कि लोग उसे छोड़ने में हिचकिचाते हैं। वास्तव में उन रीतिरिवाजों का धर्म से कोई खास सम्बन्ध नहीं है। बल्कि ऐसे अहितकर और समाज के पिछड़ेवर्ग के लिए त्रासदायक रीतिरिवाजों से चिपटे रहने से अधर्म ही होता है। जैसे छूआछूत की मान्यता। हरिजन को छू जाने
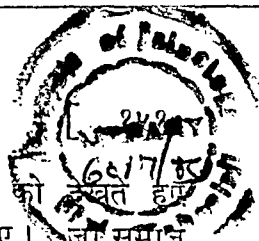
हैसियत नहीं होती। घर में रोटी के लाले पड़ रहे हों, व्यापार मंदा चलता हो, मंहगाई बढ़ गई हो, ऐसे मौके पर बड़ी उम्र की कन्या के पिता की स्थिति कितनी दयनीय हो जाती है? वह कहाँ से इतनी रकम या साधन वरपक्ष के लोगों को लाकर दे? फलतः इस चिन्ता के मारे कई कन्या के माता-पिता तो आत्महत्या करके मर जाते हैं। यह भयंकर पाप यहीं तक समाप्त नहीं होता। अगर लड़की के पिता ने आशा से कम दिया तो उसकी कसर लड़की पर निकाली जाती है। ऐसी लड़की जब बहू बन कर ससुराल में आती है तो उसे सास-ससुर और ननन्दों के ताने मिलते हैं, गालियाँ मिलती हैं, पति द्वारा हैरान किया जाता है विविध यातनाएँ दी जाती हैं; मारी-पीटी जाती है, कई जगह तो जान से मारने की धमकी दी जाती है, कई जगह तो जान से मार भी डाला जाता है। क्या ऐसा पापकर्म, इतनी भयंकर हिंसा किसी भी धर्म को मानने वाला, आस्तिक पुरुष कर सकता है? परन्तु समाज में ऐसी कुप्रथा को सरेआम प्रचलित होते देख कर भी सहन किया जाता है, बल्कि धनिक लोग अपनी लड़कियों को अपनी बराबरी के ठिकाने में देने के लिए बड़ी-बड़ी रकमें वरपक्ष को देते हैं और इस कुप्रथा को चालू रखते हैं, इसलिए इस भयंकर पापी रिवाज को भी पुण्यवानी का मुलम्मा चढ़ा कर चलाते रहते हैं। उस समाज का अधःपतन क्यों नहीं होगा, जहाँ लड़के-लड़की मुंहमांगे दामों में बेचे जाते हों? इस कुप्रथा को तो जितना शीघ्र हो सके समाज से धक्का देकर निकालना चाहिए।

बालविवाह और वृद्धविवाह—ये दोनों अनिष्ट समाज के विकास में घातक हैं; समाज को निर्वीय और निर्बल बनाने वाले हैं। इनके दुष्परिणाम आप सब जानते ही हैं। बालविवाह से असमय में कच्चा वीर्य नष्ट होने से कई रोग लग जाते हैं, असमय में ही

अपनी कन्या देना। इसके पीछे आशय तो यही था, कोई कन्या वाला निर्धन हो तो उस पैसे से लड़की की शादी का खर्च चला सके। लेकिन उस पैसे को कोई अपने घर में रखता न था। शादी के खर्च के लिए लाचारीवश लेते हुए भी शर्म महसूस होती थी। उल्टे कन्या-दान किया जाता था। लड़की के घर का पानी तक नहीं पीया जाता था। मगर बाद में कई पैसे के लोभी लोग कन्या का हिताहित न देख कर कन्या के रुपये गिना कर उसे बूढ़े, बीमार, अपाहिज या दूजवर के गले मढ़ने लगे। कन्या बेचने का व्यापार चल पड़ा। कुछ समाज-हितैषियों का ध्यान इस पाप की ओर गया, उन्होंने इस कुप्रथा को बन्द करने का विधान बनाया। अब तो कन्याविक्रय लगभग समाप्त-सा है। कहीं कोई प्रसंग बनता है, वह भी समाज की आँखें चुरा कर।

वरविक्रय—आज तो वरविक्रय का रोग कन्याविक्रय के बदले लगा हुआ है। यह रोग इतना चेपी है कि समाज इस भयंकर टी.बी. के रोग के कारण मृतप्राय बन रहा है। जहाँ देखो वहाँ लड़कों का नीलाम हो रहा है। लड़की वालों से बड़ी-बड़ी रकमें तिलक-बींटी के रूप में मांगी जाती हैं, सोना या सोने के जेवर मांगे जाते हैं, घड़ी रेडियो, सोफासेट, स्कूटर या अन्य फर्नीचर की मांग तो मामूली बात है। विदेश जाने और पढ़ाई का खर्च तक मांगा जाता है। इस प्रकार पराये और बिना मेहनत के धन पर गुलछर्रे उड़ाये जाते हैं। युवकों के लिए तो यह बेहद शर्म की बात है। परन्तु उन जवान लड़कों के माता-पिता के लिए भी इस कुप्रथा का पालन कम पाप-जनक नहीं है। बेचारे कन्या के मध्यमवर्गीय गरीब पिता की स्थिति बड़ी नाजुक हो जाती है; जब एक ओर घर में २०-२५ साल की लड़की कुँवारी बैठी रहती है, दूसरी ओर वरपक्ष को मुंहमांगे दाम देने की

सहीसलामत रखने के लिए खर्च की चक्की में पिसना पड़ता है। अतः शीघ्र ही ध्यान देकर समाज में प्रचलित ऐसी कुप्रथाओं का अन्त कर देना चाहिए। मृत्युभोज की कुप्रथा भी इतनी भयंकर है कि वह कहीं-कहीं तो समाज के प्रतिष्ठित लोगों द्वारा मृतक के कुटुम्बियों पर ताने मार-मार कर, दवाव डाल कर जवरन पालन कराई जाती है।

कर्त्तव्यनिर्देश

एक ओर ऐसी निरर्थक और खर्चीली कुप्रथाओं में समाज के लाखों रुपये वर्वाद किये जाते हैं, दूसरी ओर हमारी संतान अनपढ़, अज्ञान और अशिक्षित रहती है। शिक्षा के मामले में हमारी समाज दूसरी समाजों से वहुत ही पिछड़ी हुई है। जो समाज शिक्षा के क्षेत्र में वहुत पिछड़ी रहती है, वह उद्योगधंधों, आधुनिक यंत्रों आदि के ज्ञानविज्ञान में प्रगति नहीं कर सकती। समाज का यह पिछड़ापन नई पीढ़ी के विकास को रोक देता है। अतः खर्चीली निरर्थक कुप्रथाओं को वन्द करके उस रकम को समस्त विकासों के मूल–शिक्षा–विद्या–के लिए मुक्त हस्त से खर्च करो। विद्यादान में दिया गया पैसा व्यर्थ नहीं जाता। 'महावीर विद्यालय' का उदाहरण आपके सामने मौजूद है। शुरूआत में लोग लकीर के फकीर वन कर विद्यादान का कितना विरोध करते थे? इतने जोर का अन्धड़ समाज में आया कि वह महावीर विद्यालय को उड़ा देने को तत्पर था। लेकिन समाज के भाग्य प्रवल थे। समाज के अगुओं ने मेरी वात पर ध्यान देकर इस विद्यालय को पनपाने की ओर ध्यान दिया। आज उसका मधुर फल आप चख रहे हैं। महावीर विद्यालय के निमित्त से हजारों युवक विद्यादान प्राप्त करके आज अपना जीवन सुखपूर्वक व धर्मयुक्त वीता रहे हैं। 'वूंद-वूंद से सरोवर भर जाता है' इस कहावत पर ध्यान देकर आप

बुढ़ापा, पुंस्त्वहीनता आदि आ जाते हैं। संतान भी निर्वीर्य पैदा होती है। और वृद्धविवाह तो कन्या के जीवन में जानबूझ कर आग लगाने जैसा है। इससे कन्या को वैधव्य, असहायता, पराधीनता आदि दुःख घेर लेते हैं। कई मांबाप जानबूझ कर पैसे के लोभ में आकर, अथवा अपनी लड़की को बहुत जेवर व सुखसामग्री मिलेगी, इस प्रलोभन में आकर बूढ़े के गले मढ़ देते हैं। इसे भी समाज के सुधारकों को शीघ्र ही रोकना चाहिए।

दहेजप्रथा—दहेजप्रथा भी समाज के लिए बड़ी घातक है। कन्यावाला अपनी लड़की को अपनी इच्छा से चाहे जो कुछ दे, पर उसका दिखावा न करे, और न वरपक्ष वाले उस पर दवाव डालें कि इतना दहेज तो देना ही पड़ेगा। नहीं तो हम तुम्हारी लड़की नहीं लेंगे। दहेज दानव ने भी लाखों लड़कियों का खून पिया है, जीवन का सत्यानाश कर दिया है। अतः इस पाप को भी जितना जल्दी हो सके, विदा करो।

खर्चीले रीतिरिवाज - आजकल महंगाई के जमाने में विवाह जन्म। मरण के प्रसंग, उत्सव या किसी खास अवसर पर कई खर्चीले रीतिरिवाज चालू हैं। मध्यमवर्ग की कमर खर्च के बोझ से इतनी टूट चुकी है कि अब वह और बर्दाश्त नहीं कर सकता। बेचारा कर्ज करके, मकान, गहने आदि गिरवी रख कर लाचारीवश समाज में अपनी इज्जत बरकरार रखने के लिए ऐसे अवसरों पर रीतिरिवाजों के खप्पर में हजारों रुपये खर्च के रूप में डालता है। नतीजा यह होता है कि वह घर में भरपेट खाना नहीं खा सकता, बालकों को पूरा पढ़ा-लिखा नहीं सकता, अपने व परिवार के लिए पूरे कपड़े नहीं बना सकता। चूंकि समाज में वह रीतिरिवाज प्रचलित है, अभी तक बन्द नहीं किया गया है, इसलिए उसे समाज में अपनी आबरू

९

मोक्षयात्रा के पाथेय : रत्नत्रय

यात्री जब यात्रा करता है तो पहले से सोच लेता है कि मुझे रास्ते में इतनी लम्बी यात्रा में किन-किन चीजों की जरूरत पड़ेगी। सुखद यात्रा के लिए मुख्यत: तीन चीजों की आवश्यकता पड़ती है—(१) भोजन (२) वस्त्र और (३) बिछौना। इन तीनों को संस्कृत भाषा में पाथेय या सम्बल कहते हैं, हिन्दी या बोलचाल की भाषा में 'भाता' कहते हैं। यदि इन तीनों में से एक की भी कमी हुई तो यात्रा सकुशल नहीं होती। इसी प्रकार मोक्ष की यात्रा के लिए साधक यात्री को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप पाथेय की जरूरत है। यदि इनमें से एक की भी कमी हुई या एक को भी छोड़ दिया तो साधनापथ शान्तिपूर्वक पार नहीं किया जा सकेगा। साधनापथ में मोक्ष-यात्री के लिए ये तीनों अलौकिक रत्न अपेक्षित हैं। तीनों का अपने-अपने स्थान पर महत्त्व है।

हृदय, बुद्धि और शरीर की तरह रत्नत्रय आवश्यक

हमारे जीवन में जैसे हृदय, बुद्धि और शरीर तीनों की अपने-अपने स्थान पर अनिवार्य आवश्यकता है। उसी प्रकार साधनामय जीवन में हृदय के द्वारा साध्य सम्यग्दर्शन, बुद्धि के द्वारा साध्य सम्यग्ज्ञान और शरीर के सभी अंगोपांगों द्वारा साध्य सम्यग्चारित्र की

समाज के उत्कर्ष के कार्यों में यथाशक्ति अपनी सम्पत्ति और साधन लगा कर मानवजीवन सार्थक करें।

सज्जनो! समाजोद्धार के इन मूलमंत्रों को ध्यान में रख कर समाजोद्धार के कार्यों में आप अपना तन-मन-धन लगायेंगे तो आपके पुण्य में वृद्धि तो होगी ही, साथ ही समाज में भी धर्म की वृद्धि होगी, सर्वांगीण विकास का द्वार खुलेगा, जो समाज को मोक्षमार्ग पर ले जायगा, इसमें कोई सन्देह नहीं।

स्थान—चौपाटी मैदान
बम्बई

वि० संवत् २००६
भाद्रपद वदी ६, रविवार

है ?" ज्ञान के विना कोरी क्रिया यानी चारित्र की आराधना ठीक ढंग से नहीं हो सकती।

इसी तरह चारित्र के अभाव में अकेला ज्ञान भी काम का नहीं। न अकेला दर्शन ही कुछ कर सकता है। कोरा ज्ञान वघारने वाले व्यक्ति दर्शन और चारित्र के अभाव में अपना जीवन पवित्र नहीं बना सकते, वे अत्यन्त पापकर्म करते रहते हैं किन्तु ज्ञानमात्र से अपनी आत्मा को संतुष्ट कर लेते हैं कि हमने सब कुछ जान लिया। ऐसे लोग भी मुक्ति से दूर रहते हैं। ऐसे लोगों के लिए ही शास्त्र में कहा गया है—

"भणंता अकरंता य वन्धमोक्खपइण्णिणो।
वायावीरियमेत्तेण समासासेंति अप्पयं॥"

ज्ञान से ही वन्ध और मोक्ष मानने वाले लोग कहते तो हैं, पर करते नहीं हैं। वे अपनी वाणी की शूरवीरतामात्र से अपनी आत्मा को आश्वासन देते रहते हैं।

तात्पर्य यह है कि जो लोग ज्ञान प्राप्त करके दर्शन (श्रद्धा) के अभाव में उसके अनुसार आचरण नहीं करते। वल्कि ज्ञान प्राप्त करके ही अपनी आत्मा को तसल्ली दे देते हैं, कि हमने वन्ध क्या है और मोक्ष क्या है ? यह जान लिया, इतने से वेड़ा पार होजायगा। परन्तु ऐसे निर्वल आत्मा अपने आपको तो धोखा देते ही हैं, संसार की आँखों में भी धूल झोंकते हैं। परन्तु ज्ञानीपुरुषों की दृष्टि में ऐसे लोग मोक्षमार्ग के सम्यक् आराधक नहीं, मोक्षफल भी प्राप्त नहीं कर सकते। शास्त्रों में इसके लिए एक सुन्दर दृष्टान्त देकर समझाया गया है—

एक गाँव में एक धनी जमींदार था। उसने एक वहुत वड़ा वगीचा वनवाया। उसमें पेड़पौधे लगवाये। वगीचे की सुरक्षा के

नितान्त आवश्यकता है। एक के अभाव में दूसरे से काम नहीं लिया जा सकता। तीनों का जिंदगी में होना और ठीक हालत में होना जरूरी है। अगर शरीर बीमार हो जाय तो बुद्धि और हृदय भी गड़बड़ा जाते हैं, वे भी ठीक ढंग से काम नहीं कर सकते। अगर बुद्धि बिगड़ जाय या दिमाग में पागलपन छा जाय, नशा चढ़ जाय तो शरीर और हृदय भी अच्छे ढंग से या निष्ठापूर्वक अपना काम नहीं कर सकते। इसी प्रकार हृदय बिगड़ जाय, हृदय में दौरा पड़ने लगे या हृदय पर दवाव आ पड़े अथवा हृदय संकुचित, अनुदार और स्वार्थी व क्रूर बन जाय तो बुद्धि और शरीर भी अपना कार्य समीचीन रूप से नहीं कर सकते, बल्कि हृदय के अनुसार वे भी क्रूर, स्वार्थी व अनुदार बन जाते हैं। इसी तरह इन तीनों द्वारा साध्य दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों का साधनमयजीवन में होना और ठीक हालत में होना जरूरी है। एक के अभाव में दोनों से काम ठीक ढंग से नहीं चल सकता। साधनाजीवन में यदि केवल चारित्र ही हो, ज्ञान और दर्शन न हों तो वह चारित्र अन्धा आचरण और वहमों व अन्धविश्वासों से भरा हुआ होगा। उस चारित्र से साधनापथ ठीक ढंग से तय नहीं किया जा सकेगा। मार्ग में अन्धकार और अवरोध पैदा होंगे। मुक्ति की मंजिल तक पहुंचा नहीं जा सकेगा। निरे चारित्र का मार्ग अन्धा है। ज्ञान के अभाव में उसे मुक्तिरूपी फल नहीं सूझ सकता और दर्शन के अभाव में वह लाचारी से, विना श्रद्धा और उत्साह से चलेगा तो भी उसे यथेष्ट फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। दशवैकालिक सूत्र में वताया है—

'अन्नाणी किं काही किंवा नाही य सेयपावगं।'

वेचारा अज्ञानी जीव क्या कर सकता है ? अथवा वह अपने कल्याण और अकल्याण को (ज्ञान के अभाव में) कैसे जान सकता

नहीं कर सकता। इसी तरह अकेला दर्शन हो तो भी काम नहीं कर सकता। चारित्र और ज्ञान के अभाव में अन्धविश्वासों, वहमों और प्रमादों के चक्कर में पड़ा हुआ दर्शन क्या कर सकता है? वह अकेला मोक्ष-फल को नहीं प्राप्त करा सकता। अगर अकेला दर्शन ही मोक्ष प्राप्त करा देता और ज्ञान व चारित्र की जरूरत नहीं रहती तो सम्यग्दृष्टि के चतुर्थ गुणस्थान से ही मोक्ष प्राप्त हो जाता। पांचवें से लेकर बारहवें-तेरहवें गुणस्थान तक की प्राप्ति के लिए चारित्रपालनरूप पुरुषार्थ न करना पड़ता। यही कारण है कि मोक्षप्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की अनिवार्यता बताई गई है। इसीलिए शास्त्र में कहा गया है—

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरण गुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥

—उत्तराध्ययन अ. २८ गा. ३०

अर्थात्—दर्शन के विना ज्ञान सम्यक्ज्ञान नहीं होता, वह अज्ञान ही रहता है और ज्ञान के विना चारित्रगुण जीवन में सम्यक् रूप से नहीं आता। चारित्रगुणहीन को विषयकषाय व कर्मबन्धनों से मुक्ति नहीं होती और इनसे मुक्त हुए विना निर्वाण नहीं होता।

आगे चल कर इसी शास्त्र में बताया गया है—

"नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ॥"

ज्ञान से साधक पदार्थों की जानकारी कर लेता है कि यह पदार्थ हेय है, ज्ञेय है या उपादेय है?, और दर्शन से उनमें से उपादेय या कल्याणकर तत्त्व पर श्रद्धा कर लेता है और चारित्र से उन कल्याणकारी तत्त्वों को जीवन में सम्यग्रूप से ग्रहण (क्रियान्वित)

लिए उसने दो पहरेदार रखे—एक अंधा और एक लंगड़ा। जमींदार ने सोचा कि ये दोनों पहरेदार दोनों फाटकों के पास बैठ कर पहरा देंगे। न स्वयं फल खा सकेंगे और न दूसरों को खाने दे सकेंगे। ये दोनों बगीचे की रक्षा कर लेंगे। यह सोच कर जमींदार निश्चित हो कर महल में चला गया। समय पा कर पेड़-पौधों में फल लगे। पूर्णिमा की रात्रि थी। चांद की रोशनी बगीचे पर पड़ रही थी। सुन्दर-सुन्दर फल चमक रहे थे। तभी लंगड़े ने अंधे से कहा—"भाई! बड़े ही सुन्दर फल लगे हैं!" अन्धा बोला—'तो फिर ले क्यों नहीं आते? उन्हें हम खायेंगे।" लंगड़ा दीर्घनिश्वास लेकर बोला—"मैं चल नहीं सकता। फल कैसे ला सकता हूं? हाँ, यदि तुम मुझे अपने कंधे पर बिठा लो तो मैं फल तोड़ सकता हूं।" अंधे ने बात मंजूर की। और अपने कंधे पर लंगड़े को बिठा कर उसके इशारे से चल कर पेड़ के पास पहुंचा। लंगड़े ने उन फलों में से पके-पके फल तोड़े और दोनों ने दरवाजे के पास बैठ कर भरपेट फल खाए।

अगर अंधा पंगु को अपने कंधे पर बिठाने से इन्कार करता और पंगु अंधे को रास्ता बता कर पेड़ों के पास पंहुंचने का इशारा न करता और फल न तोड़ता तो दोनों को भूखों मरना पड़ता। दोनों फलों से वंचित रहते। अंधे और लंगड़े दोनों का संयोग ही दोनों के लिए कल्याणकारी था। इसी प्रकार ज्ञान (दर्शन) और चारित्र दोनों का संयोग ही मोक्ष का फल प्राप्त करा सकता है। अकेला ज्ञान लंगड़ा है, वह चलने में असमर्थ है और अकेला चारित्र अंधा है, उसे रास्ता नहीं सूझता और फल भी नहीं दिखता। इसलिए अगर दोनों साथ मिल कर काम न करें तो दोनों ही मोक्ष-फल की भूख नहीं मिटा सकते। दोनों मिल कर काम करें तभी उन्हें मोक्ष-फल की प्राप्ति हो सकती है।

बीज है। अगर हम यहाँ सुखशान्ति के बीज नहीं बोयेंगे तो परलोक में कैसे सुखशान्ति के फल मिलेंगे ? इसलिए अपना हित चाहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को यहीं से, इसी जीवन से सुखशान्ति के लिए सिद्धान्तत्रयरूपी बीज बो देने चाहिए।

कोई मनुष्य बीमार होता है तो पहले उसे विश्वास (श्रद्धा) होना चाहिये कि वास्तव में मैं बीमार हूं। साथ ही उसे यह ज्ञान होना चाहिए कि इस बीमारी का इलाज क्या है ? फिर उसे उस रोग से छुटकारा पाने के उपायों को क्रियान्वित करना चाहिए। तभी वह स्वस्थ और सुखी हो सकता है। इसी प्रकार समझदार मानव को पहले यह श्रद्धा होनी चाहिए कि मैं आत्मा हूं, कर्मविकार से रहित शुद्ध चेतन हूं। उसके बाद उसे यह ज्ञान होना चाहिए कि शरीर के साथ सम्बद्ध होने के कारण मैं (आत्मा) कर्मरूपी रोगों से ग्रस्त हूं। उसके बाद उन कर्मरूपी रोगों से छुटकारा पाने, उन्हें आने से रोकने, उन्हें कम करने के लिए जो-जो उपाय ज्ञानीपुरुषों ने बताए हैं, उन्हें अमल में लाने चाहिए। मतलब यह है कि जैसे लोकव्यवहार में किसी को गरीबी मिटा कर अमीरी प्राप्त करनी हो तो भी इन तीनों सिद्धान्तों को लेकर चलना पड़ता है। सर्वप्रथम अपनी गरीबी पर विश्वास या गरीबी मिट सकती है, ऐसा विश्वास, तत्पश्चात् गरीबी मिटाने के उपायों की जानकारी और उसके बाद गरीबी से छुटकारा पाने के उपायों को क्रियान्वित करना, इन तीनों की जरूरत रहती है। वैसे ही लोकोत्तर व्यवहार में इन भी पूर्वोक्त तीनों बातों की जरूरत है। मगर लोकोत्तर व्यवहार में इन तीनों के पीछे 'सम्यक्' शब्द लगाने की जरूरत है।

केवल वेष पहनने से मुक्ति नहीं, रत्नत्रय से ही मुक्ति

कई लोग यह मानते हैं कि अमुक वेष या बाना पहन लेने मात्र

कर लेता है और तप से जो हेय या विपरीत तत्त्व आत्मा में घुस गये हैं, उन्हें निकाल कर आत्मा को परिशुद्ध बना लेता है।

त्रिविध ताप से छुटकारे के लिए ये तीन साधन

आज सारा संसार आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक इन तीनों तापों से तप्त है। इन त्रिविध तापों से मुक्त होने और समाधि प्राप्त करने के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इन तीनों को संयुक्त रूप से अपनाना चाहिए। ये तीनों ही मिलकर मोक्ष के साधन बताए हैं :—

'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।'

'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र; यह तीनों मिल कर मोक्ष का मार्ग है।'

आप सब समाधि चाहते हैं, इन त्रिविध तापों से छुटकारा पाकर मुक्ति का परमसुख प्राप्त करना चाहते हैं। समाधि के लिए शास्त्रकार इन्हीं तीनों को राजमार्ग बताते हैं। दूसरे शब्दों में इन्हें हम श्रद्धा ज्ञान और क्रिया कह सकते हैं। वैष्णवधर्म में इन्हें ही भक्ति, ज्ञान और कर्म कहा है। इस त्रिवेणी में स्नान कर लेने पर ही मनुष्य को शान्ति, समाधि और संतुष्टि प्राप्त हो सकती है।

समझदार मानव को तीनों सिद्धान्तों की जरूरत

संसार का हर समझदार मानव यहाँ भी सुख से जीना चाहता है और परलोक में भी सुख पाना चाहता है। परन्तु सुखप्राप्ति के लिए यहाँ किन्हीं सिद्धान्तों पर न चले तो परलोक में सुख पाना तो दूर रहा, यहाँ भी सुख नहीं प्राप्त कर सकता। क्योंकि "इतो विनष्टिः महती विनष्टिः" इस नियम के अनुसार यहाँ का विनाश ही महाविनाश का

पत्नी—"इसमें गड़बड़ क्या होगी ? यह तो मैं सीख ही आई हूं।" दूसरे दिन पतिमहोदय ने अपने लगभग सौ मित्रों को भोजन का आमंत्रण दे दिया। पत्नी ने पूरण तैयार किया। आटे को गूंद कर पिंड बना लिया। पूरणपोली तो गर्मागर्म ही परोसी जाती है। इस लिए मेहमानों के लिए बाजोट और थालियाँ लगा दी गई। अब पूरणपोली की शुरूआत के समय वह बहन सोचने लगी—"आटे में पूरण डालना या पूरण में आटा ?" इस प्रकार वह उलझन में पड़ गई। फिर उसे ख्याल आया कि वह महाराष्ट्रीयन बाई तो सफेद साड़ी पहने हुई थी, मैं तो लाल साड़ी पहने हूं। चट् से उसने सफेद साड़ी पहन ली। फिर भी पूरणपोली नहीं बनी तो उसे याद आया कि उस बाई के तो गहने नहीं पहने हुए थे, मैं तो गहने पहने हुए हूं। अतः उसने गहने उतार डाले। मगर पूरणपोली अभी तक नहीं बनी। कुछ ही क्षण बाद उसे सूझा कि उस बहन के सिर पर तो बाल नहीं थे, मेरे सिर पर तो बाल हैं। उसे यह पता नहीं था, महाराष्ट्र में विधवा होने के बाद महिलाएँ सिर मुंडा लेती हैं। अतः उस बाई ने अपने पति को बुला कर कहा—मेरे बाल कटवा दीजिए, ताकि पूरण-पोली बन जाय ?" पतिमहोदय पशोपेश में पड़ गये कि अब क्या किया जाय ? इतने में ही उनके पड़ौस में रहने वाली महाराष्ट्रीयन बहन आ गई। उसने यह सब धमाल देख कर पूछा—"बात क्या है ?" मद्रासी बहन ने कहा—"इतना सब कर लेने पर भी पूरणपोली नहीं बन रही है, यही चिन्ता है।" उसने सारी बातें सुन कर मुस्कराते हुए कहा—"पूरणपोली बनाने के लिए न तो अमुक पोशाक पहनने की जरूरत है, न गहने या बाल उतारने की। उसके लिए तो पहले आत्मविश्वास की, फिर विधि की जानकारी की और तब तदनुसार क्रिया करने की जरूरत है। लाओ, इन मेहमानों के लिए तो मैं ही

से मुक्ति प्राप्त हो जाती है, मुक्ति के लिए इन तीनों साधनों की खटपट में पड़ने की आवश्यकता नहीं। परन्तु यह निरा भ्रम है। केवल रोटी-रोटी चिल्लाने से रोटी नहीं बन जाती और न मुंह में आ जाती है। उसके लिए आवश्यक साधनों व क्रियाओं का ज्ञान होना जरूरी है, उन साधनों पर श्रद्धा भी जरूरी है कि इनसे रोटी अवश्य बन जायेगी, और उन साधनों के जरिये रोटी को बेलने, सेकने और फिराने की क्रिया तथा टुकड़ा तोड़ कर मुंह में डालने की क्रिया करने की भी जरूरत है। इसी प्रकार मोक्षप्राप्ति के योग्य साधनों का ज्ञान, उन पर विश्वास और उनको अमल में लाने की क्रिया करने की जरूरत है, तभी मोक्ष हो सकेगा। अमुक वेष पहन लेने या वाणी से मोक्ष का नाम रट लेने से मोक्ष कदापि न हो सकेगा। इस विषय में मुझे एक रोचक दृष्टान्त याद आ रहा है—

मद्रास के एक धनाढ्य दम्पति तीर्थयात्रा करने के लिए पंढरपुर पहुंचे। वे वहीं एक धर्मशाला में ठहरे। उनके पड़ौस में एक महाराष्ट्रीयन परिवार ठहरा हुआ था। एक बार एकादशी के पारणे के दिन मराठी परिवार ने भोजन में पूरणपोली बनाई। मद्रासी पति-पत्नी को भी उन्होंने भोजन के लिए आमंत्रित किया। उन्हें महाराष्ट्र की पूरणपोली बहुत पसंद आई। मद्रास में तो वह बनती ही नहीं थी। इसलिए मद्रासी बहन ने पूरणपोली बनाना सीख लिया। पंढ-पुर से अन्य कई स्थानों पर यात्रा करते हुए वे मद्रास पहुंचे। कुछ दिनों के बाद एक दिन मद्रासी सेठ की पत्नी ने कहा—"स्वामिन्! आज आपके सौ के लगभग ईष्टमित्रों को बुला लीजिए। मैं जो महाराष्ट्र में पूरणपोली बनाना सीख आई हूं, उसे बनाकर सबको उसका नमूना चखाऊँगी। पति ने कहा—"तुम पहले दो-चार बार कर प्रेक्टिस कर लो, ताकि मेहमानों के आने पर गड़बड़ न हो।"

इन तीनों की जहाँ संगति न हो, या तीनों में से किसी एक या दो की कमी हो वहाँ जीवन में वर्षों तक साधना करते रहने पर भी साधक आगे नहीं बढ़ पाता। जब इन तीनों का रहस्य जान लेता है, तभी वह आगे बढ़ पाता है।

आचार्य शय्यंभव के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वेदवादी कट्टर ब्राह्मण थे। वे एक बार बहुत बड़ा यज्ञ कर रहे थे कि आचार्य प्रभव के शिष्यों ने उनके निकट से गुजरते हुए एक बात कही—'अहो कष्ट-महो कष्टं, तत्त्वं न ज्ञायते !' शय्यंभव के पाण्डित्य को यह चुनौती थी। सोचा—'मैं इतना बड़ा पण्डित और ये जैनमुनि कहते हैं अभी तत्त्व नहीं जानता ! यह मेरे गर्व पर करारी चोट है।" आचार्य ने तुरंत जैनमुनियों से पूछा—"तत्त्व-तत्त्व क्या कर रहे हो ? बतलाओ तो सही तत्त्व क्या है ?" जैनमुनि—"यह तो हमारे गुरु बतलाएँगे कि तत्त्व क्या है ? तत्त्व जानना है तो उनकी चरणसेवा कीजिए।" शय्यंभव उसी समय आ० प्रभवस्वामी के पास आए और पूछा—"तत्त्व क्या है ?" आचार्य ने कहा—"तुम यज्ञ कर रहे हो और अभी तक नहीं जान पाए कि यज्ञ क्या है ? यह कैसे किया जाता है ? यज्ञ करना तत्त्व है। पर यह यज्ञ बाहर में नहीं, भीतर में करो। मन के भीतर जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, वासना और अज्ञान के पशु बैठे हैं, उन्हें होमो। जो हैवानियत भीतर छिपी है, उसकी बलि दो। यही सच्चा यज्ञ है। इसे करने के लिए सम्यग्ज्ञान तो अपेक्षित है ही, सम्यक्श्रद्धा और सम्यग्चारित्र भी जरूरी है।" आचार्य शय्यंभव को ज्ञान की ऐसी चोट लगी कि वे वहीं दीक्षित हो गए आचार्य प्रभव के चरणों में और रत्नत्रय की सम्यक् आराधना करके प्रसिद्ध आचार्य बन गए।

इसीलिए अग्नि के तीनों गुण रत्नत्रय में स्पष्टतः विद्यमान हैं। अग्नि में तीन गुण हैं—प्रकाश, दहन और पाचन। अग्नि प्रकाश

पूरणपोली बना देती हूं।" अब मद्रासी दम्पति को भलीभांति समझ में आ गया कि पूरणपोली के लिए किन बातों की जरूरत है।

भाग्यशालियो ! इसी प्रकार मुक्ति के लिए भी अमुक वेश पहनने या सिर मुंडाने या गहने उतार डालने की जरूरत नहीं। जरूरत है सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचरण की।

विकास के चरम शिखर पर पहुंचने के लिए तीनों आवश्यक

मनुष्य जीवन का वास्तविक लक्ष्य जीवन का सर्वांगीण विकास करके विकास के चरम शिखर पर पहुंचना है। इसके लिए सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र ये तीनों अपेक्षित हैं। अगर तीनों में से एक भी छोड़ दिया जाय तो मुक्ति—विकास की अंतिम मंजिल-संभव नहीं है।

बहनें तिपाई पर मटकी को रखती हैं। अगर तिपाई का एक भी पाया निकाल लिया जाय तो मटकी लुढ़क पड़ेगी और पानी गिर जायगा। इसी प्रकार अध्यात्मरस से परिपूर्ण मोक्षरूपी कलश भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की तिपाई पर टिका हुआ है। अगर एक भी पाया निकाल लिया जाय तो मोक्षरूपी कलश अध्यात्मरस से भरा नहीं रह सकेगा। वह नीचे गिर जायगा। जैनशास्त्र कहते हैं कि ग्यारहवें गुणस्थान में पहुंचा हुआ साधक इस तिपाई का एक भी पाया कमजोर हो जाने या टूट जाने पर धड़ाम से गिर कर दूसरे गुणस्थान में आ पहुंचता है। क्योंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र ये तीनों आत्मा के निज गुण हैं। निज गुण की क्षति होने या कमी होने अथवा हट जाने पर तो आत्मा नीचे गिरेगा ही। नहीं तो आत्मा का स्वभाव उद्ध्र्वगमन करने का है और वह उद्ध्र्व-गमन करता है इन तीनों के संगम से।

को चमकाता है। और रंजन कहते हैं, आमोदप्रमोद को। चारित्र रंजन है। आत्मा जब निजगुणों में रमण करता है तो उसे आनंद आता है; वही रंजन है। ज्ञानरूपी अंजन आत्मा को प्रकाश देता है, दर्शनरूपी मंजन आत्मा की चमकदमक बढ़ाता है और चारित्ररूपी रंजन आत्मा को आनन्द की अनुभूति कराता है।

निष्कर्ष यह है कि आत्मा कोई हाथ में पकड़ कर दिखाई जाने वाली या मुट्ठी में बन्द करके रखी जाने वाली चीज नहीं है। आत्मा को उसके निजगुणों से ही जाना-पहिचाना जा सकता है। और सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये आत्मा के निजी गुण हैं। इस लिए यह निःसंकोच कहा जा सकता है ज्ञान, दर्शन और चारित्र इन तीनों निजी गुणों का समूह ही आत्मा है। और जब आत्मा अपनी असली स्थिति में गुणमय होकर प्रतिष्ठित हो जाता है यानी अनन्त-ज्ञानमय अनन्तदर्शनमय और अनन्तचारित्रमय बन जाता है, तभी उसे मुक्तात्मा मान लिया जाता है।

सज्जनो ! मैं रत्नत्रय के बारे में काफी विस्तार से कह गया हूं। आप भी अपने जीवन में रत्नत्रय को सम्यक् रूप से प्रतिष्ठित करके मोक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे तो अवश्य ही सफलता मिलेगी। देर भले ही हो जाय, अन्धेर नहीं होगा।

स्थान—गौड़ीजी का उपाश्रय　　　　वि० सं० २००६
पायधुनी, बम्बई　　　　भाद्रपद वदी ५

देती है जलाती है और पाचन का काम भी करती है। इसी प्रकार इस रत्नत्रय में भी अग्नि के समान तीनों आत्म गुण हैं। ज्ञान स्वयं प्रकाशस्वरूप है। वह वस्तुओं के स्वरूप को, हेयता, ज्ञेयता और उपादेयता को प्रकाशित कर देता है। दर्शन में मिथ्या धारणाओं और अन्धविश्वासों को भस्म करने की शक्ति है और चारित्र ज्ञान को हजम करने का काम, उसे विविध रसों में रमाने का काम करता है। जब तक चारित्र नहीं आ जाता ज्ञान बन्ध्य होता है, उसका पाचन नहीं होता, कई दफा ज्ञान का आजीर्ण भी हो जाता है, जो दम्भ, दर्प, अभिमान और कठोरता को जन्म देता है। अतः साधक के जीवन में तीनों की आवश्यकता है।

आचार्य शय्यंभव में ज्ञान तो था, पर दर्शन और चारित्र के अभाव में वह विपरीत काम कर रहा था। ज्यों ही आचार्य ने दृष्टि दी; ज्ञान प्रकाशमान और सच्चा हो गया, दर्शन के कारण मिथ्या-धारणाएँ और विपरीत विश्वास जल कर भस्म हो गए, चारित्र ग्रहण करके ज्ञान को उन्होंने अच्छी तरह पचा लिया।

जीवन में कोरी शक्ति से काम नहीं चलता। शक्ति के साथ भक्ति न हो तो वह शक्ति विपरीत काम कर डालती है और उसके साथ सेवा न हो तो वह शक्ति जीवन में भलीभांति रमती नहीं। उसका विस्फोट हो जाता है। इसलिए शक्ति, भक्ति और सेवा तीनों से ही जीवन की परिपूर्णता है। ज्ञान शक्ति है, दर्शन भक्ति है और चारित्र सेवा है। एक अंजन है, दूसरा मंजन है और तीसरा रंजन है। अंजन आँखों में आंजा जाता है। गुरुज्ञानरूपी अंजन शिष्य की आँखों (हिये की) में आंजता है। इसलिए ज्ञान अंजन है। और मंजन दांतों पर घिसा जाता है, वह दांतों को चमकाता है। दर्शन मंजन है, जो शंका, कांक्षा आदि दोषों के मैल को दूर करके आत्मा

फूल सुगन्धित बन सकेगा और न चारित्ररूपी फल सुन्दर और मधुर हो सकेगा। अतः मूल को सुधारो। प्रकृति का यह अटल नियम है कि जैसा मूल होगा वैसे ही उसके फूल या फल होंगे। सम्यक्दर्शन मूल है, वह अगर सुरक्षित या ठीक है तो ज्ञानरूपी फूल या चारित्ररूपी फल अच्छा व मधुर होगा।

एक बावाजी रेगिस्तान की ओर जा निकले। जंगल का मामला था। बावाजी को भूख और प्यास सताने लगी। रेगिस्तान में चारों ओर रेत ही रेत बिछी हुई थी। नीचे से रेती तवे की तरह तप रही थी। ऊपर से सूरज की तेज किरणें पड़ रही थीं। विश्राम के लिए कहीं कोई पेड़ नजर नहीं आ रहा था। बावाजी इस इलाके में नये-नये आये थे। थोड़ी दूर चले तो एक रेतीले टीबे पर तूम्बे की बेल दिखाई दी। तूम्बे का फल कभी देखा न था और न उसके गुणों-अवगुणों से वे वाकिफ ही थे। अतः पीले-पीले सुन्दर फल देखते ही वे बड़े खुश हुए। सोचा—बस, अब तो इन फलों को खाकर मैं अपनी भूख-प्यास मिटा लूंगा। ज्यों ही बावाजी ने एक फल तोड़ कर मुंह में डाला कि जीभ से स्पर्श होते ही मुंह कड़वा हो गया। बावाजी को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने सोचा—"जो फल दिखने में इतना सुन्दर है, उसका फल इतना कड़वा क्यों? इसका पता लगाना चाहिए।" कड़वेपन का पता लगाने के लिए बावाजी ने तूम्बे की बेल का एक पत्ता तोड़ कर चखा तो वह भी कड़वा निकला। फिर उसके तन्तु को चखा तो वह भी कटु! अन्त में उसकी जड़ उखाड़ कर जीभ पर रखी तो वह भी कड़वी ही पाई गई। बावाजी ने मन में तय कर लिया—"जिसकी जड़ ही कटु है उसका फल कैसे मीठा होगा, पत्ता या फूल भी कैसे मधुर होगा?" फल मधुर चाहिए या फूल सुन्दर सुगन्धित चाहिये तो मूल को सुधारना होगा।"

१०

सम्यग्दर्शन का प्रभाव

सज्जनो और सन्नारियो !

कल मैंने मोक्ष मार्ग की साधना के लिए तीन रत्न—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की महिमा पर काफी विस्तार से विवेचन किया था। आज सम्यग्दर्शन के प्रभाव के बारे में कहूंगा।

इन तीनों रत्नों में सम्यग्दर्शन प्रधान है। वही सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र का मूल है। सम्यग्दर्शन के होने पर ही ज्ञान और चारित्र में सम्यक्ता आती है। जहाँ सम्यग्दर्शन नहीं, वहाँ ज्ञान और चारित्र दोनों मिथ्या हैं। वैसे तो निगोद के जीवों में भी ज्ञान होता है, पर सम्यग्दर्शन के अभाव में वह झूठा होता है। हर आत्मा में ज्ञान तो मौजूद रहता ही है, लेकिन जब तक सम्यग्दर्शन न हो तब तक वह ज्ञान सच्चा और प्रशस्त नहीं कहलाता। इसीलिए सम्यग्दर्शन को सबसे पहला स्थान दिया गया है।

इस दृष्टि से सम्यग्दर्शन बीज है। उसके होने पर ही साधनारूपी वृक्ष में ज्ञान के फूल सुगन्धित और चारित्र के फल मधुर बन सकते हैं। सम्यग्दर्शनरूपी बीज नहीं होगा तो न तो ज्ञानरूपी

थों का सुचारुरूप से अध्ययन किया है। कृपा करके राज़-
ा सुनाने की मेरी इच्छा पूर्ण करें। विद्वानों का आदर-
सत्कार करना राजाओं का धर्म है।" राजा बुद्धिमान थे। समझ
गए कि पण्डितजी को ज्ञान तो है, लेकिन उस ज्ञान के पीछे इनकी
दृष्टि धुंधली है। धन और नामवरी कमाने की अभिलाषा इनके
ज्ञान को दूषित कर रही है। अगर ज्ञान के साथ इनकी दृष्टि सम्यक्,
सुधरी हुई और स्पष्ट होती तो ये अपने ज्ञान का ढिंढोरा पीटने के
लिए यहाँ न आते।" राजा ने पण्डितजी से कहा—"मैं आपसे
भागवत अवश्य सुनना चाहता हूं, लेकिन एक प्रार्थना है कि आप
उस पुण्यग्रन्थ को एक-दो बार और पढ़ लें। उसके बाद यहाँ पधारने
की कृपा करें।" पण्डितजी राजा की बातों से कुछ खिन्न तो हुए, पर
वहाँ क्रोध कैसे प्रगट करते? वे चुपचाप घर लौट आए। बड़बड़ाने
लगे—राजा मूर्ख मालूम होता है। वह विद्वानों की कद्र नहीं करता।
कहता है, एक-दो बार भागवत और पढ़ लीजिए। जानता नहीं कि
मैंने शास्त्र पढ़ने और समझने में १२ वर्ष विताए हैं।" घर पहुंचने
पर पण्डितजी ने अपनी पत्नी को सारी बातें बताईं। पंडितानी ने
कहा—'वह तो राजा ठहरे। चाहे जो कुछ कह सकते हैं। जब
उन्होंने कहा है तो क्यों नहीं, एक बार भागवत और पढ़ लिया जाय।
राजा के मुख्य पौराणिक बनने का मौका व्यर्थ ही क्यों गंवाया
जाय?" पौराणिक पण्डित को अपनी पत्नी की बात जची। उसने
क्रोध को रोक कर एक बार भागवत को और पढ़ा और पूछे जा सकने
योग्य प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देने में अपने को समर्थ बना कर एक
सुदिन देख कर वे राजदरबार में पहुंचे। राजा ने उनका अच्छा
स्वागत किया। पूछा—"अब तो आपने भागवत का खूब अध्ययन
कर लिया होगा?" पण्डितजी—"अवश्य! आपकी आज्ञानुसार
आद्योपान्त खूब अच्छी तरह से पढ़ लिया है। आप कहें तो मैं

इसी प्रकार ज्ञानरूपी फूल को सुगन्धित और चारित्र रूपी फल को मधुर बनाना चाहते हों तो दर्शनरूपी मूल को सुधारो। अगर दर्शन सम्यक् हुआ तो ये दोनों सम्यक् हो जायेंगे। आज लोग मूल को सुधारना नहीं चाहते, केवल शास्त्र पढ़-सुन कर या घोट कर खुद को ज्ञानवान मान लेंगे या अनेक प्रकार के क्रियाकाण्ड बेसमझबूझ या अविवेकपूर्वक श्रद्धा के बगैर करते रहेंगे। जब फल उलटा मिलेगा या अच्छा नहीं मिलेगा तब अपने कर्मों या भाग्य को कोसेंगे कि हमने इतनी क्रियाएँ कीं, इतने कष्ट सहे, इतना तप किया, व्रतपालन किया, इतने शास्त्र कण्ठस्थ कर लिये, इतना ज्ञान प्राप्त कर लिया, लेकिन अभी तक कोई सुन्दर परिणाम नहीं आया! परन्तु मूल में ही भूल है, उसे सुधारे बिना कैसे सुफल आएगा? मूल में दर्शन सम्यक् न हो, सुधरा हुआ न हो तो ज्ञान और चारित्र कैसे अच्छे होंगे?

साधना की नींव—सम्यग्दर्शन

इसीलिए यह कहने में कोई अत्युक्ति न होगी कि सम्यग्दर्शन साधना के भव्य महल की नींव है। यदि यह नींव न हो तो साधना का महल टिक नहीं सकता। सम्यग्दर्शन रूपी नींव के अभाव में ज्ञान और चारित्र की साधना का महल वहमों, अन्धविश्वासों और व्यर्थ के क्रियाकाण्डों के जरा-से अन्धड़ से ढह जायगा। सम्यग्दर्शन न हो तो कोरा शुष्क ज्ञान आत्मा को शान्ति नहीं दे सकता, न संसार परिभ्रमण के चक्र से मुक्ति दिला सकता है। इसको भलीभांति समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए—

एक पौराणिक पण्डित राजा के पास पहुंचे और राजमहल में कथा सुनने की इच्छा प्रगट करते हुए बोले—"राजन्! भागवत एक उत्तम ग्रन्थ है। उसे आपको अवश्य ही किसी आचार्य द्वारा सुनना चाहिए। आपकी अनुमति हो तो मैं पढ़ कर सुनाऊँ! सब जानते हैं कि मैंने

को सिद्ध नहीं कर सकते। वे भवभ्रमण का अन्त नहीं कर सकते। बल्कि प्रायः वे भवभ्रमण के ही कारण बनते हैं।

सम्यग्दर्शन के अभाव में की गई साधना का उतना ही महत्त्व है, जितना एक अंक के बिना लगाए हुए शून्य का। किसी भी संख्या के पूर्व में अगर एक का अंक है, तो उस पर जितनी बार बिंदियाँ लगाई जाएँगी, उतनी ही बार दसगुनी होती चली जायेंगी। परन्तु अगर एक का अंक हटा दिया जाय तो चाहे जितनी बिंदियाँ लगाई जाएँगी, उस संख्या का मूल्य शून्य ही रहेगा। इसी प्रकार सम्यग्दशन-रूपी एक के अंक के अभाव में चारित्र और ज्ञान कोरे शून्यों की तरह हैं। सम्यग्दर्शनरूपी एक का अंक पूर्व में हो तो ज्ञान और चारित्र की कीमत (गुणस्थान की दृष्टि से) बढ़ती जाती है।

एक बार एक बनिया जंगल में से होकर दूसरे शहर को जा रहा था। रास्ते में उसे ४ पठान मिले। उन्होंने तलवार दिखा कर कहा—"बस, रख दे तेरे पास जो हो सो। नहीं तो, अपने पुत्र के नाम खत लिख दे।" बनिये ने सोचा—'यहाँ मेरा जोर नहीं चलेगा। इसलिए चतुराई से काम लेना चाहिए। अतः उसने एक पत्र लिखा उसमें पहले तीन बिंदियाँ चढ़ा दीं, फिर उनके पूर्व १ का अंक लिखा। यानी एक हजार रु. देने का लिखा। बनिये ने फिर कहा—"कुछ मेहनताना भी दोगे ?" पठानों ने स्वीकृति दी तो बनिये ने खत में एक का अंक मिटा दिया, केवल तीन बिंदियाँ रहने दीं। पठान जब बनिये की दूकान पर चिट्ठी ले कर पहुंचे तो उसके मुनीम ने खत में केवल बिंदियाँ देख कर उन्हें कुछ भी पैसा देने से इन्कार कर दिया। कहा—इसमें तो कोरी बिंदियाँ हैं, एक का अंक तो है नहीं। इसलिए कुछ भी न देने की बात है। बनिया तो पठानों के चंगुल से पहले ही छूट कर नौ दो ग्यारह हो गया था। पठानों का जोर शहर में

राजदरबार में विस्तार से उसे समझा सकता हूं।" राजा बोला—श्रीमन्! मैं आपसे कथा निःसन्देह सुनूंगा। बस, आप एक बार और उस ग्रन्थ को देख लें।" बेचारे पण्डितजी बहुत निराश हुए। घर जाकर अपनी पत्नी को सारा हाल सुनाया। पण्डितानी समझदार थी। उसने कहा—"इसमें अवश्य कोई राज है? एक बार और सही। पुनः भागवत का अध्ययन करके राजा के पास जाइए।" पण्डितजी ने अपने प्रयत्न को छोड़ा नहीं। एक शान्त और एकान्त स्थान पसंद करके वे खूब एकाग्रता के साथ भागवत के अध्ययन में जुट पड़े। उसमें यहाँ तक तन्मय हो गए कि अपने तन-मन की सुध भी भूल गए। इस बार उनकी अन्तर्दृष्टि खुल गई। वे अब यह सोचने लगे कि भागवत का ज्ञान कोई धन और नाम कमाने की चीज नहीं। यह तो आत्मा को आनन्द देने वाला, भगवान् की भक्ति में आत्मा को सराबोर करने वाला है। अब तो पण्डितजी भागवत में ऐसे रम गए कि घर भी नहीं जाते, राजा के पास जाना भी भूल गए। अब उन्हें धन और नामवरी की भी इच्छा न रही। भागवत-पठन में ही उनका समय जाता। पण्डितानी को चिन्ता हुई कि पतिदेव को तो किसी बात की चिन्ता नहीं दिखाई देती। कुटुम्ब का निर्वाह अब कैसे होगा? वह राजा के पास पहुंची और उन्हें अपना सारा दुःख रो कर सुनाया। राजा अत्यन्त प्रसन्न हुए और स्वयं उस ब्राह्मण के पास पहुंचे और उनके मुख पर ज्ञान का अपूर्व तेज देख कर राजा ने चरणों में सिर झुकाया और क्षमा मांगी। पाण्डित्य एक चीज है, दृष्टिपूर्वक ज्ञान और चीज है। बिना सम्यग्दर्शन के पाण्डित्य-युक्त ज्ञान भी उलटी राह ले जाता है, यह इस उदाहरण से भलीभांति समझा जा सकता है।

सम्यग्दर्शन न हो तो ज्ञान और चारित्र आत्मा के असली प्रयोजन

' म्यग्दर्शन आत्मा का मित्र है

सम्यग्दर्शन से बढ़कर आत्मा का अन्य कोई मित्र नहीं है। मित्र का कर्त्तव्य अहितमार्ग से हटा कर सन्मार्ग में लगाना है। सम्यग्दर्शन आत्मा को मिथ्यात्व के उबड़खाबड़, उजड़ और अन्धेरे मार्ग से हटा सन्मार्ग पर लगा देता है। वह आत्मा को इन्द्रियों और बुद्धि के कुचक्र में पड़ कर गुमराह होने से बचाता है। क्योंकि सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाने पर उस आत्मा की दृष्टि शुद्ध हो जाती है, उसे हिता-हित, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, हेयोपादेय का विवेक हो जाता है। जब तक जीव मिथ्यात्व-दशा में रहता है तब तक उसे हिताहित का सम्यक् बोध नहीं होता। बल्कि वह अहित को हित और हित को अहित समझता रहता है और उसी के अनुसार उसकी प्रवृत्ति होती है। वह दृष्टिविभ्रम में पड़ जाता है। किन्तु सम्यग्दर्शनरूपी सूर्य का उदय होते ही बुद्धि पर छाया हुआ वह अज्ञानान्धकार या मोह का कोहरा साफ हो जाता है, वह हित-अहित, हेय-उपादेय को अच्छी तरह समझने लगता है। इस दृष्टि से अहितमार्ग से बचाने और हितमार्ग में प्रवृत्त कराने के कारण सम्यग्दर्शन आत्मा का परममित्र है।

मान लो, एक आदमी जन्मान्ध है। संसार के किसी भी पदार्थ को वह आँखों से नहीं देख सकता। परन्तु कदाचित् पुण्य की प्रबलता के कारण उसे सहसा नेत्र प्राप्त हो जांय और उसे दिखाई देने लग जाय तो उसे कितना आनन्द होगा ? इसी प्रकार मिथ्यात्वरूपी अन्ध-कार से जिसके हृदय की आँखें बन्द हैं, उसे संसार के पदार्थ वास्त-विक रूप में नहीं दिखाई देते। अगर उसे सम्यग्दर्शनरूपी नेत्र सहसा मिल जांय और उससे उसे हेय हेय दिखाई देने लगे, उपादेय उपादेय, तो उसे कितना आनन्द होगा ? उस दिव्य परमज्योति या हृदयनेत्र के प्राप्त होने पर आत्मा को जो अपूर्व आनन्द प्राप्त होता

नहीं चल सकता था। इसलिए मुनीम का टका-सा जवाब पाकर पठान निराश हो कर लौटे। खत में एक के अंक के बिना कोरी बिंदियों के लिखे होने से जैसे पठानों के पल्ले कुछ नहीं पड़ा, वैसे ही सम्यग्दर्शनरूपी एक के अंक के बिना कितना ही श्रुतज्ञान किये जाओ, या कितनी ही क्रियाएँ किये जाओ, उनसे आत्मा के कुछ भी पल्ले पड़ने वाला नहीं। इसलिए सम्यग्दर्शन साधना के लिए एक का काम करता है।

सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग का प्रथम साधन है। जब तक आत्मा को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती, तब तक उसका सारा आचरण, समस्त क्रियाकाण्ड और अनुष्ठान नगण्य है। सम्यग्दर्शन के अभाव में सारी धार्मिक क्रियाएँ हाथी के स्नान की तरह व्यर्थ हैं। आत्म-कल्याण की दृष्टि से उन क्रियाओं की कुछ भी कीमत नहीं है। कहा है—

> "ध्यानं दुःखनिधानमेव तपसः सन्तापमात्रं फलम्।
> स्वाध्यायोऽपि हि वन्ध्य एव कुधियां तेऽभिग्रहाः कुग्रहाः॥
> अश्लाघ्या खलु दानशीलतुलना, तीर्थादियात्रा वृथा।
> सम्यक्त्वेन विहीनमन्यदपि यत्तत्सर्वमन्तर्गडुः॥"

सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) के अभाव में जो भी क्रिया की जाती है, वह सब शरीर के अन्दर होने वाले फोड़े के समान दुःखकारक और आत्महित के लिए व्यर्थ होती है। वह ध्यान दुःख का निधान होता है। वह तप केवल सन्तापजनक फल देने वाला होता है। मिथ्या-दृष्टि का वह स्वाध्याय भी निष्फल होता है। उसके अभिग्रह कदा-ग्रह मात्र होते हैं। उसका दान, शील निन्दनीय होता है और तीर्थादि-यात्रा भी व्यर्थ होती है।

है लाभदायक समझ कर अपनाती है, वही उसके परमशत्रु हैं। इसलिए वस्तुतः वे लाभदायक नहीं, अलाभदायक हैं। लेकिन सम्यग्दर्शन का लाभ आत्मा के लिए कभी अहितकर नहीं होता। उसके लाभ से आत्मा तीव्रतम क्रोध, तीव्र माया, उत्कट अभिमान और तीव्रतम लोभ या आसक्ति का अन्त करके आगे की भूमिका पर क्रमशः कदम बढ़ाता जाता है। इस दृष्टि से सम्यग्दर्शन परमलाभ है। सम्यग्दर्शन आत्मा में विषय-कषायों की तीव्रता को समाप्त करके समता का अद्‌भुत संचार कर देता है; तीव्रतम राग-द्वेष के संताप को ठंडा कर देता है; जिससे आत्मा अपूर्व शान्ति के सरोवर में स्नान करने लगती है। सम्यग्दर्शी को और भी अनेक लाभ होते हैं। जैनशास्त्र श्रीआचारांगसूत्र में कहा है—

'समत्तदंसी न करेइ पावं'

अर्थात्—"सम्यग्दर्शी पाप नहीं करता है।" चौथे गुणस्थान से सम्यग्दर्शन का लाभ आत्मा को होता है, और चौदहवें गुणस्थान तक का जीव सम्यग्दर्शन का धनी कहलाता है। और सम्यग्दर्शी बन जाता है, वह नये पापकर्मों का बन्ध नहीं करता। उसे ऐसी दृष्टि मिल जाती है कि वह पुण्य और पाप, आस्रव और संवर, बन्ध और मोक्ष को भलीभांति जान और देख सकता है। जब वह यह जान लेता है कि ये कार्य, विचार या वचन पापकारी हैं, पापकर्म का बन्ध करने वाले हैं तो वह उनमें प्रवृत्ति नहीं करता। उसकी श्रद्धा इतनी मजबूत हो जाती है कि उसके कारण नये पापकर्मों का बन्ध रुक जाता है। दुःख से दुःख प्राप्त होने पर या अत्यन्त वैषयिक सुख प्राप्त होने पर भी वह नये पापकर्म से बचा रहता है। शास्त्रीय दृष्टि से भी यह बात निश्चित है कि सम्यग्दर्शन का लाभ जीव को तभी होता है, जब काललब्धि हो जाने से वह आयुष्यकर्म के सिवाय शेष

है, उसे शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता, गूंगे के गुड़ की तरह उस अनिर्वचनीय आनन्द को केवल अनुभव किया जा सकता है। उस आनन्द की अनुभूति कराने वाला और दिव्यनेत्र प्रदान करने वाला होने से सम्यग्दर्शन को आत्मा का परम मित्र कहा जा सकता है।

इसी प्रकार सम्यग्दर्शन आत्मा का परम वन्धु है। वन्धु का अर्थ है—सहायक। जव आत्मा में सर्वप्रथम कल्याणमार्ग पर बढ़ने की रुचि होती है, वह कल्याणमार्ग पर चलने के लिए जरा-सा तैयार होता है, तव उसे सर्वप्रथम सहायता करने वाला सम्यग्दर्शन ही होता है। सम्यग्दर्शन से जो सहायता मिलती है, वह स्थायी होती है। एक बार सम्यग्दर्शन की सहायता मिल जाती है तो आत्मा का भव-भ्रमण, जो पहले असीम था, वह सीमित हो जाता है। अर्द्ध पुद्गल-परावर्तनकाल के अन्दर-अन्दर उस आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति अवश्यम्भावी हो जाती है। अन्य सहायकों की सहायता से जो सफलता मिलती है, वह अस्थायी होती है। कभी उसमें असफलता भी पल्ले पड़ जाती है। परन्तु सम्यग्दर्शन की सहायता से मिलने वाली सफलता के गर्भ में असफलता नहीं छिपी रहती। वह सफलता चिरस्थायी होती है।

सम्यग्दर्शन परम लाभ है

इसी प्रकार संसार में जीव मोह और अज्ञान के वशीभूत होकर अनेक प्रकार के पदार्थों की कामना करते रहते हैं; फिर वे पदार्थ इष्ट हों या अनिष्ट। उनकी प्राप्ति होने को वे परमलाभ कहते हैं। लेकिन वे पदार्थ आत्मा को कल्याणपथ पर ले जाने में सहायक नहीं होते। वल्कि कई वार आत्मा उनके लाभ से दुर्गति का मेहमान वन जाती है, आत्मा स्वयं ही उनसे दुःखी और विपद्ग्रस्त वन जाती है। यानी

है या सत्य को असत्य के रूप में देखता है या असत्य को सत्य समझता है। उस समय सत्य के दर्शन कराने वाले सम्यग्दर्शन का प्रकाश प्राप्त होना कितना लाभदायक होता है ?

सम्यग्दर्शन क्या है ?

सम्यग्दर्शन का सीधा और स्पष्ट अर्थ होता है—सही देखना। वैसे तो सर्वसामान्य लोग, जिनकी आँखों में कोई खराबी या बीमारी नहीं है, सही देखते हैं, पर यहाँ चमड़े की आँखों से देखना ही दर्शन नहीं कहलाता। इसीलिए सम्यग्दर्शन का अर्थ होता है—हिये की आँखों से देखना। हिये की आँखों से देख कर किया गया दृढ़निश्चय दृढ़विश्वास ही सम्यग्दर्शन कहलाता है। बुद्धि की आँखें गलत निर्णय भी कर सकती हैं। अगर बुद्धि के साथ हृदय न हो तो अकेली बुद्धि का निर्णय सही नहीं होता। हृदय श्रद्धा और विश्वास का केन्द्र होता है, बुद्धि तर्क की केन्द्र। बुद्धि के द्वारा ऊँचा से ऊँचा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, बहुत ही ऊँची आध्यात्मिक बातों की उड़ान भरी जा सकती है; लेकिन आत्मा हृदय की आँखों से देख कर जब तक उस ज्ञान पर हेयोपादेयता की छाप नहीं लगा देती तब तक वह ज्ञान मिथ्याज्ञान ही रहता है। उस ज्ञान से सत्य के दर्शन नहीं होते।

ब्रह्मसमाज के विख्यात तत्त्ववेत्ता केशवचन्द्र एक बार रामकृष्ण परमहंस से मिलने दक्षिणेश्वर मन्दिर में गये। कुछ देर तक बातचीत करने के बाद उन्होंने श्रीरामकृष्ण से कहा—बात समझ में नहीं आती। लोग चाहे जितने ऊँचे दर्जे के विद्वान् व पढ़ेलिखे हों, फिर भी मायाजाल में क्यों फंसे रहते हैं ? क्या उनका ज्ञान उन्हें मायाजाल से दूर होने को प्रेरित नहीं करता ?" श्रीरामकृष्ण ने एक

सात कर्मों की स्थिति एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम से कुछ कम की स्थिति पैदा कर देने वाले यथाप्रवृत्तिकरणरूप परिणाम को पाता है, उसके बाद मिथ्यात्व और मिथ्याज्ञान को हेय और सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान को उपादेय समझने तथा पूर्वोक्त स्थिति में भी एक मुहूर्त और कम कर देने वाले अपूर्वकरण परिणाम (जो पहले जीव को कभी प्राप्त नहीं हुआ था) को प्राप्त करता है; तदनन्तर सम्यक्त्व की सीधी प्राप्ति के लिए आत्मा में अनादिकाल से बंधी हुई रागद्वेष की मजबूत गाँठ को खोल कर (ग्रन्थिभेद करके) पूर्वोक्त स्थिति में एक मुहूर्त और कम होजाने पर अनिवृत्तिकरण नामक परिणाम को प्राप्त करता है। इन तीनों परिणामों की उत्तरोत्तर विशुद्धि के साथ ही अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ, सम्यक्त्वमोह, मिथ्यात्वमोह और मिश्र-मोह इन सात बातों (दर्शनसप्तक) का उपशमन, क्षय या क्षयोपशमन कर लेता है। जब अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि चारों तीव्रतम कषाय नहीं रह पाते तो उस आत्मा को उसके कारण बंधने वाले पापकर्म भी नहीं बंधते। साथ ही तीनों प्रकार के मोहों के कारण जो पाप-कर्म की प्रकृतियों का बन्ध होता था, वह भी रुक जाता है। सम्य-ग्दर्शी को सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर इतना लाभ क्या कम है? यह लाभ करोड़ों रुपयों की रिश्वत देने से या वर्षों तक अज्ञान तप करने से या मिथ्याज्ञान (अविवेक) पूर्वक बिना सोचे-समझे व्यर्थ क्रियाएँ वर्षों तक करने से भी प्राप्त नहीं होता। यह तो सही दिशा में पुरुषार्थ करने की रुचि होने पर सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के कारण ही होता है।

मिथ्यात्व की अन्धेरी गलियों में भटकने के कारण जीव को हिताहित, सत्यासत्य या कर्त्तव्याकर्त्तव्य का भान नहीं रहता। मिथ्यात्ववश स्वार्थ और सत्य दोनों को या तो एक समझने लगता

में विकारी भावना नष्ट हो कर अविकारी भावना आ जाती है। जीवन और जगत् को वह सीधी, सरल और समभाव की दृष्टि से देखता है। संसार-व्यवहार में पड़ा हुआ भी सम्यग्दृष्टि उसके प्रति अनासक्त रहेगा, पापों के प्रति उसके दिल में घृणा पैदा हो जायगी। यद्यपि चौथे गुणस्थान वाला अविरति सम्यग्दृष्टि व्रतों का स्वीकार नहीं करता, फिर भी उसके अनेक बुरे काम छूट जाते हैं। शराब, मांस, चोरी, व्यभिचार आदि दुर्व्यसन, जो लौकिक और नैतिक-धार्मिक दृष्टि से निन्द्य हैं, सम्यग्दृष्टि उन्हें छोड़ देता है। इसी प्रकार स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि पापों को वह हेय समझता है और इन पापों का आचरण करने में उसकी रुचि नहीं रहती। हालांकि व्रत के रूप में वह अहिंसा आदि अणुव्रतों का स्वीकार नहीं करता, फिर भी मिथ्यादृष्टि की तरह इन पापों को भला भी नहीं समझता और कदाचित् इनमें से किसी पापस्थान का आचरण विवश हो कर करना पड़े तो वह अपने आपको धिक्कारता है।

सम्यग्दृष्टिवाला प्रत्येक बात को सीधी लेगा, प्रत्येक बात में से शुभतत्त्व निकाल लेगा। जबकि मिथ्यादृष्टि सही और सीधी बात को भी उलटे रूप में लेगा।

एक बार महात्मा गाँधीजी स्टीमर से विलायत जा रहे थे। इस जहाज में अधिकांश गोरे लोग थे। और उन दिनों ब्रिटिश साम्राज्य का दबदबा होने से गोरे लोग काले लोगों की निन्दा, अपमान, मार-पीट करने तक से नहीं चूकते थे। अतः महात्मा गाँधीजी को काला आदमी (भारतीय) समझ कर उन्होंने उस जहाज कम्पनी द्वारा प्रकाशित होने वाली पत्रिका के लिए एक लेख लिखा, जो गाँधीजी की निन्दा और आक्षेपों से भरा था। लेख पूरा होने पर एक अंग्रेज

उपमा देते हुए समझाया—"चीलें आकाश में बहुत ही ऊँचाई पर शुद्ध वायुमंडल में उड़ती रहती हैं, लेकिन उनकी नज़र नीचे पड़े हुए मृतप्राणी के मांस और हड्डी पर ही रहती है। इसी तरह चाहे हम कितने ही ऊँचे दर्जे की किताबें पढ़ लें, लेकिन जब तक हमारी नजर साफ और सही नहीं होगी, तब तक हम तीव्र काम-क्रोध, लोभ, मोह आदि के मायाजाल में ही फंसे रहेंगे। कोरी विद्या पढ़ने से सम्यक् ज्ञान-सम्पादन नहीं हो सकता। उसके लिए सच्ची दृष्टि चाहिए, जो हमें वासना और क्रोधादि विकारों के मायाजाल में न फंसने दे।

भस्मकरोग के शिकार को चाहे जितना भोजन कराओ, अथवा उदररोग से ग्रस्त व्यक्ति को भी चाहे जितना उत्कृष्ट भोजन दो, वह रोग के कारण शरीर को यथेष्ट लाभ नहीं पहुंचा पाता; बल्कि वह रोगी के लिए अहितकर सिद्ध होता है। इसी प्रकार जब तक मिथ्यात्व का रोग हो तब तक चाहे जितना ज्ञान का भोजन खिलाओ, वह उलटा ही परिणाम लाता है। इसलिए सम्यग्दर्शन एक ऐसा अंजन है, जिसके हृदय-नेत्रों पर आंजने से अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है, विवेकचक्षु खुल जाते हैं। यही एक ऐसी दवा है, जो मिथ्यात्व रोग का नाश करके ज्ञानरूपी भोजन को सम्यक प्रकार से पचा देती है।

सम्यग्दर्शन का जादू

सम्यग्दर्शन संसार को और संसार के सभी पदार्थों को अपने असली स्वरूप में देखने की दृष्टि दे देता है। सम्यग्दर्शी की दृष्टि में ही ऐसा जादू पैदा हो जाता है कि वह संसाररूपी कीचड़ में रहते हुए भी कमल की तरह निर्लेप रहता है। सम्यग्दर्शी की दृष्टि

यह है सम्यग्दर्शन का जादू ! जीवन में ऐसे कई अवसर आते हैं, जबकि मिथ्यादृष्टि या सामान्य संसारी मानव तीव्रतम क्रोध के वशीभूत हो कर कह बैठता है—"साले का खून पी जाऊँगा, कच्चा चबा जाऊँगा।" परन्तु सम्यग्दृष्टि के मुंह से ऐसी बातें नहीं निकलतीं। कदाचित् उसे कोई साले की गाली भी दे तो वह यही सोचता है—'जगत् की परस्त्रियाँ मेरे लिए बहन के समान हैं ही। इस नाते कोई मेरा बहनोई बनता है तो क्या हर्ज है !' ऐसा विचार कर सम्यग्दृष्टि गालीदाता से कहता है—इस उपाधि के लिए धन्यवाद ! मैं तो वैसे ही परस्त्रियों को माता-बहन के रूप में मानता हूं।" इसके विपरीत मिथ्यात्वी एक गाली देने वाले को बदले में दस गालियाँ सुनाएगा। और हित की बात कहने वाले को उलटे डांटेगा और कहेगा—कौन होते हो मुझे कहने वाले ? अपनी अक्ल अपने पास रहने दो।"

सम्यग्दृष्टि को कोई मारेगा, पीटेगा या बिना अपराध किये ही दण्ड देने लगेगा तो वह शान्ति के साथ सह लेगा। प्रतीकार भी करेगा तो शान्तिपूर्वक स्वयं कष्ट सह कर अहिंसक ढंग से। किसी भी बीमारी या वेदना के समय सम्यग्दृष्टि यही सोचेगा—मेरे ही अशुभकर्मों का परिणाम है। अगर अशुभकर्मों का उदय न होता तो मेरा कोई क्या बिगाड़ सकता था ? इस बीमारी, प्रहार या दण्ड का उपादानकारण तो मैं स्वयं ही हूं। निमित्त चाहे कोई भी बने ! निमित्त को दोष क्यों दूँ ? परन्तु मिथ्यादृष्टि कषाय की तीव्रता के कारण एक लात के बदले सौ जूते मारने को तैयार हो जायगा। बीमारी के समय हायतोबा मचा कर सबको परेशान कर देगा। घर या परिवार वालों को कोसेगा। निमित्त पर दोषारोपण करेगा।

नरक की भूमि बड़ी ही वेदनाकारी है। उसका स्पर्श ही ऐसा लगता है, मानो एक साथ हजार-हजार बिच्छुओं ने डंक मारा हो।

उस लेख को गाँधीजी को दिखाने के लिए ले गया। गोरों का यह मकसद था कि इस प्रकार निन्दा करके गाँधीजी तथा अन्य हिन्दुस्तानियों को अपमानित किया जाय। परन्तु गाँधीजी के हाथ में उस अंग्रेज ने लेख देते हुए उसकी प्रशंसा की कि हमारी पत्रिका के लिए यह बहुत सुन्दर लेख लिखा गया है। आप इसे देखिए और इसका सार रख लीजिए।" म० गाँधीजी ने लेख पढ़ा और अपनी कटु आलोचना से जरा भी उद्विग्न न होते हुए लेख के कागजों को नत्थी करने के लिए लगी हुई आलपिन रख कर लेख वापिस अंग्रेज को लौटा दिया। अंग्रेज ने वापिस लौटाने का कारण पूछा तो गाँधीजी ने कहा—"मैंने इसमें से सारभूत चीज रख ली है, बाकी लौटा दी है।" अंग्रेज भी यह मस्ती का उत्तर सुन कर दंग रह गया।

हाँ तो, सम्यग्दृष्टि इसी प्रकार असार वस्तुओं में से सार ग्रहण कर लेता है। बुराई में से अच्छाई ग्रहण करने का जादू उसकी दृष्टि में आ जाता है।

एक वार श्रीकृष्णजी की सवारी द्वारिका नगरी के मध्य में से हो कर जा रही थी। तभी एक देव ने उनकी सम्यग्दृष्टि की परीक्षा के लिए एक मरी हुई कुतिया सड़क के किनारे फैंक दी। श्रीकृष्णजी के आगे-आगे चलने वाले सब लोग उसकी असह्य दुर्गन्ध को न सह सकने के कारण नाक पर कपड़ा लगा कर नाकभौं सिकोड़ते और बड़बड़ाते हुए जा रहे थे। जब श्रीकृष्णजी का हाथी उस मरी हुई कुतिया के निकट आया तो उन्होंने कुतिया को देख कर घृणा प्रगट नहीं की, बल्कि मन में शरीर के नाशवान स्वरूप का विचार करके कहा—"देखो! इस कुतिया के दांत कितने चमक रहे हैं?" सब लोग उनकी गुणग्राही सम्यक्दृष्टि को देख कर दांतों तले उंगली दबाने लगे।

से पिंड छुड़ाता है। मिथ्यादृष्टि में यह वृत्ति और दृष्टि नहीं होती। वह ज्यादा से ज्यादा परिवार के जंजाल में फंसता रहता है, मोहमाया के चक्कर में पड़ा रहता है। वह प्रायः यही समझता है कि मेरे विना परिवार का काम नहीं चलता।

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम सम्यग्दृष्टि के आदर्श उदाहरण कहे जा सकते हैं। उन्होंने वनवास की वात सुन कर भी कोई दुःख प्रगट न किया और न राज्याभिषेक की वात सुन कर कोई हर्षातिरेक प्रगट किया। दोनों स्थितियों में वे समभाव पर स्थिर रह सके। महल और जंगल दोनों उनकी दृष्टि में समान थे। अपने लिए राज्याभिषेक की वात को तोड़ कर वनवास का दुःखद प्रसंग उपस्थित करने वाली कैकेयी माता के प्रति न तो उन्होंने रोष और द्वेष प्रगट किया और न राज्याभिषेक के लिए आग्रह करने वालों के प्रति मोह या आसक्तिभाव लाए। श्रीराम बुराई में से अच्छाई को ढूंढ लेने वाले थे! कैकेयी माता के मुंह से वनवास की वात सुन कर उसमें से श्रीराम ने अच्छाई ही ढूंढी कि मैं तो अपना विकास चाहता था, जो अयोध्या में रह कर नहीं हो सकता था, किन्तु आरण्यक लोगों व ऋषिमुनियों के सत्संग से हो सकेगा। माता ने मेरे लिए कितना सुन्दर अवसर दिया है!

सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद

सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाने के बाद आत्मा में इतना परिवर्तन अवश्य हो जाता है कि वह स्व और पर का भेद अच्छी तरह हृदयंगम कर लेता है। इस भेदविज्ञान के बाद आसक्ति अत्यन्त कम हो जाती है। जीवन के हर क्षेत्र में फिर वह अनासक्त हो कर, द्रष्टा व तटस्थ हो कर चलता है। ऐसा होने पर हृदय से एक बार जव वह यह तय कर लेता है तो संयोग-वियोग, हर्ष-शोक दोनों में सम

वहाँ सम्यग्दृष्टि भी रहते हैं, मिथ्यादृष्टि भी। नारकीय वेदना किसी का लिहाज नहीं करती। वहाँ परमाधामी देव (असुर) भी नाना प्रकार की पीड़ा पहुंचाते हैं। फिर नारकीय जीव परस्पर वैरस्मरण करके एक दूसरे से लड़ते-भिड़ते हैं; दुःख देते हैं। लेकिन सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों के इन कष्टों को भोगते समय की भावना में बड़ा अन्तर होता है। मिथ्यादृष्टि कष्ट देने वालों के प्रति तीव्र रोष व द्वेषभाव धारण करता है, भोगते समय बड़ा आकुल-व्याकुल रहता है और आर्त्त-रौद्रध्यान करता है। मगर सम्यग्दृष्टि नारक यही समझता है—मेरे ही पूर्वजन्मकृत पापों का यह फल मुझे भोगना पड़ रहा है! अपने सिर पर जो कर्ज चढ़ा रखा है, उसे उतारना भी तो है। इस प्रकार के दुःख को समभाव से सहे बिना यह भारी कर्ज कैसे उतरेगा? अतः ये दुःख मेरे लिए हितकारी हैं। इन्हें समभावपूर्वक भोग लेने से मेरी आत्मा पापकर्मों के बोझ से अत्यन्त हलकी हो जायगी।" मतलब यह है कि सम्यग्दृष्टि में कषाय की मन्दता के कारण समभाव होता है, जबकि मिथ्यादृष्टि में कषायों की तीव्रता के कारण विषमभाव होता है।

सम्यग्दृष्टि पुरुष गृहस्थजीवन में रहता हुआ तत्त्व को पहचान लेने के कारण उसमें आसक्त नहीं होता। अपने आपको बंदी मानता है। छूटने की भावना करता है। धनसम्पत्ति, कुटुम्ब-कबीले में रहते हुए भी भीतर से समझता है कि ये सब वस्तुएँ मेरी नहीं हैं, मैं इनका नहीं हूं। कहा भी है—

"रे रे समदृष्टि जीवड़ा करे कुटुम्बप्रतिपाल।
अन्तर से न्यारो रहे ज्यों धाय खिलावे बाल॥"

आप समझ गये होंगे इसका तात्पर्य! सम्यग्दृष्टि जीव परमार्थ का बहाना बनाकर अपने लौकिक कर्त्तव्यों से जी नहीं चुराता; धर्म के नाम पर अकर्मण्यता को प्रश्रय नहीं देता और न अपनी जिम्मेवारी

यह है सम्यग्दर्शनसम्पन्न व्यक्ति के जीवन का सजीव चित्र! वास्तव में सम्यग्दृष्टि खुद को दुनिया की नाट्यशाला का एक द्रष्टा समझता है। नाट्यशाला के मंच पर अनेक दृश्य आते हैं। एक राजा की हार भी होती है, जीत भी। लेकिन दर्शक के मन पर उस का कोई असर नहीं होता। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि दुनिया के दृश्यों को देख कर हर्ष या शोक नहीं करता। नाटक में मिला हुआ राज्य या राज्यनाश जैसे सत्य नहीं होता; वैसे ही सम्यग्दृष्टि स्वयं को मिले हुए वैभव, पद, प्रतिष्ठा या सत्ता को अथवा इन सबके नाश को सत्य नहीं समझता। सबको पर समझता है। इसलिए वह मस्ती से जीवन जीता है। लेकिन मिथ्यादृष्टि इन सबको—संयोगवियोगों को—अपना मान कर हर्ष-शोक करता रहता है। अगर पदार्थ के सत्यस्वरूप को पहचान लिया जाय तो दुःख का नामोनिशान नहीं रहेगा। और समस्त पदार्थों के सत्यस्वरूप-तत्त्व-को पहिचानना ही सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व है। पदार्थ के असली स्वरूप की जानकारी होने पर व्यक्ति हेय को त्याज्य, ज्ञेय को जानने लायक और उपादेय को ग्राह्य मानता है।

इसलिए सम्यग्दर्शनी संसार में रहता हुआ भी सांसारिकता में नहीं फंसता। क्योंकि वह यही समझता है कि मैं इन सांसारिक पदार्थों का केवल उपयोग करने का अधिकारी हूं, इनका मालिक नहीं। मुनीम के हाथ से रोजाना लाखों रुपयों का लेनदेन होता रहता है। लेकिन लाखों के जाने और आने का उसे शोक या हर्ष नहीं होता। मालिक अपने पास कुछ भी पूंजी नहीं रखता। तिजोरी की चाबी मुनीम के पास रहती है। जरूरत होती है तो मालिक मुनीम से मांगता है। लेकिन घाटे-नफे में मालिक को दुःख या सुख महसूस होगा; पर मुनीम को ऐसा नहीं होगा। हाँ, तो मुनीम की-सी दृष्टि

रहता है। वह यही सोचता है कि जो आया है, वह एक दिन जाएगा ही। फिर उसका हर्ष और शोक क्यों? क्योंकि वह मेरा था ही कब?

दिल्ली में एक श्रावक थे। वे साधु-साध्वियों की बहुत ही सेवा-भक्ति करते थे। प्रतिदिन दर्शन करने और व्याख्यान-श्रवण करने वे अचूकरूप से आते थे। एक दिन उनका एकाकी पुत्र मर गया। उन्होंने पुत्र की बीमारी में सेवाशुश्रूषा करने में कोई कसर नहीं रखी। लेकिन वह बच न सका। पुत्र की मृत्यु के समाचार सुन कर बहुत-से लोग समवेदना प्रगट करने आए। श्रावकजी ने सबको समझा दिया—"आप समवेदना प्रगट करने आए हैं। मैं इसके लिए आभारी हूं। लेकिन शोक प्रगट करने के लिए रोने-पीटने की प्रथा यहाँ बिलकुल बन्द रखी गई है। अतः इस प्रथा से दूर रहें।" लोगों ने उनकी बात मान ली। पुत्र का अग्निसंस्कार करके लालाजी सीधे धर्मस्थान में मुनिराजों के दर्शन करने पहुंचे। बड़े महाराज ने पूछा—"श्रावकजी! आज तो देर से आए। व्याख्यान भी न सुन सके।" श्रावकजी बोले—"आज एक मेहमान को विदा करने के लिए गया था। इससे देर हो गई।" यों कह कर वे सामायिक करने बैठ गये। कुछ और लोग आए। जिनसे पता चला कि श्रावकजी का इकलौता पुत्र आज गुजर गया था। सामायिक पूर्ण करके जब वे जाने लगे तब महाराज ने कहा—"लालाजी! आपका इकलौता पुत्र चल बसा और आपको कोई रंज नहीं!" उन्होंने कहा-महाराज! वह तो मेहमान था। रंज किस बात का करूं? मेरे घर में रहा, वहाँ तक मैंने उसके प्रति कर्त्तव्यपालन किया। एक दिन उसे जाना ही था। चला गया। मेरा था ही कहाँ? मेरे साथ तो केवल इस जन्म का दैहिक सम्बन्ध था।"

की निर्मलता, पवित्रता, सरलता, गुणग्राहकता और सम्यक्ता पर निर्भर है। इसीलिए आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण कहते हैं—

एयाइं चेव समयदिट्ठिस्स सम्मसुयं, मिच्छादिट्ठिस्स मिच्छासुयं।

अर्थात्—ये ही (अन्यमतों द्वारा मान्य) शास्त्र सम्यग्दृष्टि के लिए सम्यक् श्रुत (शास्त्र) हैं और मिथ्यादृष्टि के लिए मिथ्याश्रुत हैं।

इसी प्रकार सम्यग्दर्शन किसी जाति-कौम या धर्मसम्प्रदाय के ठेके की या वपौती की चीज भी नहीं है। जिसका हृदय सरल, पवित्र और समभाव से ओतप्रोत होगा, वहाँ अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क और मोहत्रय का क्षय, उपशय वा क्षयोपशम हो ही जायगा और उस व्यक्ति को अवश्य ही सम्यग्दर्शन की ज्योति प्राप्त हो जायगी। दृष्टि में समता या सम्यक्ता हृदयविशुद्धि की अपेक्षा रखती है, न कि किसी जाति, कुल, धर्म-सम्प्रदाय या वेष की। इसी लिए आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार में स्पष्ट कहा है—

"सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्॥"

अर्थात्—चाण्डाल के शरीर से पैदा हुआ व्यक्ति भी सम्यग्दर्शन-सम्पन्न हो तो देवता उसे राख में छिपे हुए अन्दर से तेजस्वी अंगारों की तरह दिव्यदृष्टि देव कहते हैं।

भाग्यशालियो! आप भी ऐसे सम्यग्दर्शनरूपी रत्न को प्राप्त करने का प्रयत्न कीजिए।

स्थान—गौड़ीजी का उपाश्रय
पायधुनी, बम्बई

वि० संवत् २००६
भाद्रपद वदी ७

प्राप्त करो। सम्यग्दृष्टि मुनीम की तरह का ही चिन्तन करता है।

इसी प्रकार सम्यग्दर्शनयुक्त व्यक्ति की दृष्टि में प्राणियों का केवल ऊपर चोला ही नजर नहीं आएगा, वह उसके अन्दर रहे हुए आत्म-तत्त्व को देखेगा। और आत्मतत्त्व की दृष्टि से दूसरे प्राणी को भी अपनी आत्मा के समान समझेगा। इसीलिए ऐसे सम्यग्दृष्टि को लक्ष्य में रख कर कहा गया है—

"मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति ॥"

अर्थात्—जो परस्त्रियों को माता की तरह देखता है, पराये धन को ढेले के समान समझता है और समस्त प्राणियों को आत्मवत् देखता है, वही वास्तविक द्रष्टा है—सम्यग्दर्शनकर्ता है।

सम्यग्दर्शन बिरासत में नहीं मिलता

सम्यग्दर्शन, सम्यक्त्व या सम्यग्दृष्टि कहीं पैसे से नहीं मिलती। जैसे पिता से पुत्र को विरासत में धनसम्पत्ति बिना कमाए ही मिल जाती है, वैसे सम्यग्दर्शन नहीं मिल सकता। जैसे डॉक्टर का लड़का बिना डाक्टरी पास किये डॉक्टर नहीं बन सकता, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनी का लड़का भी सम्यग्दर्शन के लिए पुरुषार्थ किये बिना उसे प्राप्त नहीं कर सकता और न ही सम्यग्दृष्टि या सम्यग्दर्शनी कहला सकता है। इसलिए सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन किसी के देने-लेने की चीज नहीं है, वह तो अन्तर्जागरण से प्राप्त होने वाली वस्तु है।

यह बात भी उतनी ही सच है कि सम्यग्दर्शन किसी ग्रन्थ या शास्त्र के पढ़ने या मानने से भी प्राप्त नहीं होता। वह तो दृष्टि

बहुत ही अच्छा; लेकिन वैसा न कर सकें तो आपकी दया का क्रम क्या रहेगा? यह सारा निर्णय ज्ञान द्वारा ही करना होगा।

हिन्दी के उच्चतमकवि निराला, जिनका पूरा नाम सूर्यकांतत्रिपाठी है, ऐसे ही ज्ञानपूर्वक दया करने वाले थे। वे दीनदुःखी को देख कर अपना सर्वस्व देते हुए नहीं हिचकिचाते थे। एक दिन निरालाजी को कवयित्री महादेवी वर्मा ने ठंड से ठिठुरते हुए देखा तो उनका हृदय भर आया। वे समझ गईं कि उन्होंने अपना गर्म कपड़ा किसी गरीब को दे दिया है। महादेवीजी उनके लिए एक गर्म कोट सिला कर लाईं। कोट निरालाजी को सौंपते हुए उन्होंने कहा—"यह कोट आपका नहीं, मेरा है। सिर्फ आपके शरीर की रक्षा के लिए मैंने सिलवाया है। मेरी अनुमति के विना इस कोट का और कोई उपयोग न करना।" कुछ दिन बाद निरालाजी महादेवीजी की दृष्टि से दूर रहने लगे। पर महादेवीजी की करुणामयी दृष्टि से दूर क्या था? एक दिन उन्होंने निरालाजी को सामने से नजर बचा कर जाते हुए देखा तो पूछ बैठीं—आज कोट क्यों नहीं पहना?" पहले तो निराला ने टालमटूल का जवाब दिया। पर बाद में महादेवीजी ने अनुभवी आँखों से सारी परिस्थिति जान ली। निरालाजी ने अब बात छिपाना उचित न समझ कर कहा—"कुछ दिन पहले रास्ते पर एक नग्न-भिखारी ठंड से कांप रहा था। मुझे लगा कि मेरी अपेक्षा इस कोट की इस समय इसे ज्यादा जरूरत है। अतः उस निद्रामग्न दरिद्र को वह कोट ओढ़ा कर मैं चला आया।"

यह है प्रथम ज्ञान और फिर दया का भव्य उदाहरण!

सौराष्ट्र के एक शहर में एक प्रसिद्ध दयालु डॉक्टर अपना प्राइवेट दवाखाना चलाते थे। एक दिन किसी दूसरे गाँव से उन्हें बुलाने को एक भाई आया। डॉक्टर ने कहा—मैं अपने नियमानुसार दूसरे गाँव

११

सम्यग्ज्ञान का प्रकाश

हर प्रवृत्ति में प्रथम ज्ञान जरूरी है

संसार में प्रत्येक कार्य को सम्यक् प्रकार से सम्पन्न करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है। एक इंजीनियर महल बनाना शुरू करता है तो उससे पहले महल का पूरा नकशा वह अपने दिमाग में ले लेता है। एक व्यापारी किसी चीज का व्यापार करने से पहले यह जान लेता है कि यह चीज इस इलाके में खपेगी या नहीं? कहाँ यह सस्ते भाव में मिलेगी? इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में भी हर क्रिया के पहले ज्ञान का प्रकाश आवश्यक होता है। यदि आपको दया करनी है तो पहले उसका कारणरूप ज्ञान होना चाहिए। बिना ज्ञान के दया अविवेकपूर्ण होगी। जब आप ज्ञान प्राप्त कर लेंगे और ज्ञानपूर्वक दया का आचरण करेंगे तो दया करते समय आप इतना अवश्य विवेक करेंगे कि मुझे पहले किसकी दया करनी चाहिए। आपके सामने दो आदमी दया के पात्र खड़े हैं। एक धर्मप्रेमी है, दूसरा धर्मप्रेमी नहीं है; अथवा एक को उस चीज की उस समय कम आवश्यकता है, दूसरे को उसकी तुरन्त सख्त जरूरत है; अब आप पहले किस पर दया करेंगे? अगर दोनों की दया कर सकें तब तो

दूँ ? अगर यह मेरी सगी बहन होती तो मुझे मदद देनी ही पड़ती। तो इसे सगी बहन मान कर देने में क्या हर्ज है ?" बस, अन्तर्ज्ञान के प्रकाश से डाक्टर साहब ने बहन को जाने से रोका और अपनी जेब में से २५) रु. निकाल कर देते हुए कहा—"लो बहन ! मुझे तुम अपना भाई समझ कर ये रुपये ले लो। फीस और दवा के पैसे मैं नहीं लूंगा। तुम इन २५) रु. से इनके लिए घी, दूध, फल आदि की व्यवस्था करना। अभी तो मेरे पास इतने ही रुपये हैं। बाद में फिर मैं भेजता रहूंगा।" बहन की आँखों में प्रेमाश्रु उमड़ पड़े और डाक्टर को कृतज्ञता भरी दृष्टि से देखती हुई, बहन डाक्टर भैया के चरणों में गिर पड़ी। मुंह से एक भी शब्द नहीं निकल रहा था। अन्तर की आशीष देती रही। डाक्टर वहाँ से घर लौट आए।

दया के पीछे भी ऐसे उत्तम ज्ञान की जरूरत है, जिससे वह दया किसी पर एहसानरूप या अपने अहंकार की पोषक न बन जाय। तभी वह दया सम्यग्चारित्र की कोटि में गिनी जायगी। इसीलिए दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

"पढमं नाणं तओ दया"

प्रथम ज्ञान और बाद में दया का क्रम ठीक होता है।

आज पशु-दया का काम आ पड़े तो जैनसमाज के लोग कुछ देने को तैयार हो जाते हैं, लेकिन मानवदया के लिए हिचकिचाते हैं, यह ज्ञान की कमी का सूचक है। ज्ञान के लिए प्रयत्न बहुत ही कम होता है। परिणाम यह होता है ज्ञान के बिना दया अन्धी रहती है। इस अंधी दया के कारण ही तो लोग हम पर या हमारी दया पर आक्षेप करते हैं। अगर हमें इस आक्षेप का निवारण करना है तो मैं कहूंगा कि आप दया करने के पहले ज्ञान प्राप्त करें। ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि पहले ज्ञान की आवश्यकता है, ताकि दया की

में जा कर रोगी को देखने की फीस १०) रु० लेता हूं। फीस लाये हो?" आगन्तुक ने कहा—'लाया तो नहीं। पर वहाँ जाकर दे दूंगा।" डाक्टर उसके साथ उस गाँव में पहुंचे। रोगी को देखा तो क्षयरोग का प्रभाव मालूम हुआ। डाक्टर ने रोगी के पास बैठी हुई बाई से पूछा—"अब तक क्या-क्या इलाज करवाया?" बाई बोली—कुछ दिन तक तो घर का ही इलाज करते रहे। फिर गाँव के एक वैद्य का इलाज करवाया। लेकिन अभी तक रोग की पहिचान नहीं हो सकी।" डा० ने कहा—"घबराओ मत। देर तो हुई है। रोग भयंकर है। मगर सर्वप्रथम आराम जरूरी है। अच्छी आबोहवा में रखना, पौष्टिक भोजन देना, घी, दूध, फल आदि देना। कुछ इंजेक्शन और दवा देनी पड़ेगी।" डाक्टर की बात से बाई को संतोष मालूम हुआ। पर उसके चेहरे पर विषाद की छाया थी। बाई ने डाक्टर से कहा—"डाक्टर साहब! आप ५ मिनट बैठें, मैं अभी आती हूं।" वह हाथ में कुछ छिपाती हुई-सी जाने लगी। डॉक्टर ने पूछा—"बहन! तुम अभी कहाँ और किस लिए जा रही हो?" उसने कहा—"आपसे क्या छिपाना है? थोड़ी-सी बचत थी, वह खर्च हो गई। ये (रुग्ण पति) दो महीने से काम पर नहीं जा रहे हैं। अब मेरे पास सोने की चूड़ी के सिवाय और कुछ नहीं। उसे किसी के यहाँ गिरवी रख कर आपकी फीस और दवा के लिए रुपये लेने जा रही थी। आप बैठिए। मैं आपका ज्यादा समय खराब नहीं करूंगी। गहने पर तो कुछ रुपये मिल ही जाएँगे।" डॉक्टर करुणार्द्र हो गए। उन्हें विचार आया कि मैं जब पढ़ता था तो पिताजी मुझे प्रतिमास खर्चे के लिए रुपये भेजते रहते थे। मेरे पूछने पर पिताजी ने कहा था कि तेरी मां की सोने की चूड़ियाँ गिरवी रख कर रुपये ले आता था। क्या मेरा फर्ज नहीं है कि मैं इस गरीब बहन से फीस व दवा के रुपये लेने की अपेक्षा इसे अपनी ओर से

'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥'

"ज्ञानवान्मां प्रपद्यते"

इस संसार में ज्ञान के समान और कोई निर्मल वस्तु नहीं है। ज्ञान सर्वोत्कृष्ट पदार्थ है और सारे के सारे कर्म (क्रियाएँ) शुद्ध ज्ञान में परिसमाप्त होते हैं। यानी कर्मों की शुद्धता सम्यग्ज्ञान पर ही निर्भर है। परमात्मा को ज्ञानवान ही प्राप्त कर सकता है।

जैनसिद्धान्त की दृष्टि से सोचें तो पहले से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक क्रिया या चारित्र (सकरणवीर्यरूप) रहता है। चौदहवें गुणस्थान में क्रिया की समाप्ति हो जाती है। उस समय क्रिया नहीं रहती। सिर्फ ज्ञान ही ज्ञान शेष रहता है। वही साथ जाता है। इस सिद्धान्त से भी गीता की बात की पुष्टि हो जाती है। भगवती सूत्र में गौतमस्वामी भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं—

"इहभविए भंते ! नाणे ? परभविए भंते ! नाणे ? तदुभयभविए नाणे ?"

"प्रभो ! आत्मा के साथ ज्ञान इसी भव तक रहता है, या अगले भवों में ही (इहभव-प्राप्तज्ञान) साथ आता है अथवा इस भव और परभव दोनों में सदैव साथ रहता है ?"

भ० महावीर ने समाधान करते हुए कहा—"गोयमा ! इहभविए वि नाणे, पर भविए वि नाणे, तदुभयभविए वि नाणे।"

'ज्ञान इस भव में भी आत्मा के साथ हमेशा रहता है, परभव में भी साथ आता है और दोनों भवों में भी सतत साथ-साथ रहता है। क्योंकि वह आत्मा का निजी गुण है।'

परन्तु चारित्र के सम्बन्ध में जब इसी प्रकार का प्रश्न किया गया

पहिचान हो सके। दया या कोई भी प्रवृत्ति कार्य है; ज्ञान उसका कारण है। पहले कारण होता है, फिर कार्य। कारण के बिना कार्य करने लग जायेंगे तो उस कार्य में अशुभ का अधिक अंश घुस जायगा। उस कार्य में तेज नहीं आएगा।

कोई भी क्रिया ज्ञानपूर्वक की जाती है तो उस क्रिया में तेजस्विता और शुभफल की बहुलता आ जाती है, परन्तु अज्ञानपूर्वक की जाने वाली क्रिया में न तो तेजस्विता आती है और न वह शुभफलदायिनी बनती है। इसी प्रकार क्रियाहीन ज्ञान भी वन्ध्य रहने के कारण तेजस्वी फलदायक नहीं होता। कहा भी है—

'हतं ज्ञानं क्रिया हीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया।'

'क्रियाहीन ज्ञान निष्फल होता है, इसी तरह ज्ञान से रहित क्रिया भी निष्फल होती है।'

ज्ञान की महिमा

सज्जनो! समय को पहचानो। अपनी बुद्धि को सम्यग्ज्ञान से पवित्र करो। ज्ञान के द्वारा निर्धारित कार्य को करने वाले ही संसार में विजयी हुए हैं। ज्ञान से निर्णय किए बिना ही अन्धाधुन्ध चलने वाले या लकीर के फकीर बनने वाले कभी सफल नहीं हो सकते। इसलिए ज्ञान की बहुत महिमा है। ज्ञान के बाद ही क्रिया की जाती है, वही क्रिया या चारित्र सम्यक् होते हैं। शास्त्रकारों ने इसलिए रत्नत्रय में पहले ज्ञान को स्थान दिया है बाद में चारित्र या क्रिया को। आज आप लोग ज्ञान को भूल रहे हैं, उसका कोई महत्त्व नहीं समझते और न कद्र ही करते हैं। लेकिन ज्ञान से बढ़ कर उत्तम व पवित्र वस्तु संसार में कोई नहीं है। गीता में कहा है—

आवरण के बावजूद भी इतनी रोशनी तो अवश्य रहेगी, जिससे दिन और रात का अन्तर मालूम हो सके। यही बात आत्मा के सम्बन्ध में कही जा सकती है कि ज्ञानावरणीय आदि कर्म के आवरण आत्मा के ज्ञानगुण को सर्वथा नहीं ढक सकते। आवरण से ढक जाने पर भी इतना-सा ज्ञान का प्रकाश जरूर उस आत्मा में रहेगा, जिससे चेतन और जड़ का अन्तर मालूम दे सके। अगर आत्मा का ज्ञानगुण सर्वथा तिरोहित हो जाय तो वह चेतन नहीं रह कर जड़ बन जाएगी। चेतन कभी जड़ नहीं हो सकता और जड़ कभी चेतन नहीं हो सकता। नन्दीसूत्र इस बात का साक्षी है—

"अक्खरस्स अणंतो भागो निच्चुग्घाडिओ"

अक्षर (ज्ञान) का अनन्तवाँ भाग सदैव खुला रहता है।

एक जगह यह भी कहा गया है कि ज्ञानावरणीय कर्म के परमाणु चाहे कितना ही आत्मा के ज्ञान को ढक दें, लेकिन आत्मा के आठ रुचक प्रदेशों में तो ज्ञान सदा ही अनावृत रहता है।

अनन्त-अनन्त काल से यह आत्मा विविध योनियों में भटक कर आई है। प्रत्येक भव में इसके ज्ञान पर ज्ञानावरणीय कर्म के अनन्त परमाणुओं ने पर्दा भी डाला है। इसके बावजूद भी आत्मा का ज्ञान गुण इसके साथ ही रहा, छूटा नहीं। आत्मा का यह ज्ञानदीपक कभी बुझता नहीं।

सम्यग्ज्ञान और अज्ञान में अन्तर

दूसरी बात यह है कि अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं है। अपितु उसका तात्पर्य मिथ्याज्ञान या कुज्ञान से है। अज्ञान भी ज्ञान तो है, पर सम्यग्ज्ञान नहीं है। इसलिए नरक और निगोद के जीवों

तो वीतराग प्रभु ने कहा—"गौतम ! चारित्र (क्रिया) इस भव तक ही आत्मा के साथ रहता है। वह भी ग्रहण करने के बाद ही वर्तमान पर्याय में। न तो वह परभव में साथ आता है और न इस भव की भूतकालीन पर्याय में साथ था, और परभव में साथ रहेगा।"

मतलब है कि समस्त क्रियाओं की समाप्ति केवलज्ञान में होजाती है।

आत्मा ज्ञानमय है

वास्तव में ज्ञान आत्मा का अपना गुण है। आचारांगसूत्र में आत्मा और ज्ञान को एकरूप बनाया है। वहाँ कहा है—

'जे आया से विन्नाणे, जे विन्नाणे से आया'

अर्थात्—जो आत्मा है, वही विशुद्ध ज्ञान है और विशुद्धज्ञान है, वही आत्मा है। यानी आत्मा और ज्ञान दूधपानी की तरह एकमेक हैं।

कोई यह कह सकता है कि आत्मा ज्ञानमय है तो फिर अज्ञानी क्यों बन जाता है और अज्ञान से आवृत क्यों हो जाता है ? इसके उत्तर में जैनसिद्धान्त यही कहता है कि संसार का प्रत्येक आत्मा ज्ञानमय है, चाहे वह निगोद का ही क्यों न हो ? परन्तु उस शुद्ध-ज्ञान पर जब रागद्वेष-मोह का मैल चढ़ जाता है, तो वह ढक जाता है। उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। मगर ज्ञानावरणीय कर्म के अनन्तानन्त परमाणु भी आत्मा को अपने प्रभाव से ढक दें, फिर भी वे आत्मा के सम्पूर्ण ज्ञानगुण को ढक नहीं सकते। सूरज के प्रकाश को हजारों बादल उमड़घुमड़ कर ढक दें, लेकिन वे सदा के लिए सर्वथा उसके सम्पूर्ण प्रकाश को ढक नहीं सकते। मेघों के

करता है, उन्हीं कर्मबन्धनों को ज्ञानी मन, वचन, काया तीनों गुप्तियों से मुक्त हो कर एक श्वासोच्छ्वास में क्षय कर डालता है।

सम्यग्ज्ञान में यह जादू है कि वह आत्मस्मृति को सदा जागृत रखता है किसी भी प्रवृत्ति को करते समय सम्यग्ज्ञानी आत्महित और सर्वहित सोच कर करेगा, जबकि अज्ञानी आत्मविस्मृत हो जाता है। वह भान भूल जाता है कि मैं क्या कर रहा हूं ? मैं जो कुछ कर रहा हूं उससे स्वपरहित है या नहीं ? राग, द्वेष, मोह आदि होने में अज्ञान निमित्त कारण है और दुःख, भय, शोक आदि होने में वह परम्परा-कारण है। सम्यक्ज्ञान होता है वहाँ राग, द्वेष या मोह आदि नहीं होते; सुख, निर्भयता और समभाव ही उसे जीवन में प्राप्त होता है।

अज्ञान के कारण दुःख, भय, लोभ, द्वेष, क्लेश आदि होते हैं। इसके लिए कुछ काल्पनिक दृष्टान्त देकर समझाता हूं —

एक बहन का पति दो वर्ष से परदेश में है। व्यापार-धंधा बहुत अच्छा चल रहा है। पत्नी को तार द्वारा खबर मिली कि उसका पति फलां तारीख को रवाना होकर देश आ रहा है। पत्नी को यह खबर सुन कर बड़ा ही हर्ष हुआ। वह उत्सुकतापूर्वक पति के आगमन की प्रतीक्षा करने लगी। सारा परिवार आनन्द से उछल रहा था। परन्तु रास्ते में ही ट्रेन-दुर्घटना हो गई। रेल्वे का पुल टूट जाने से ट्रेन के डिब्बे पानी में गिर गये। पतिमहोदय भी इस दुर्घटना में चल बसे। जिस समय पतिमहोदय के आने की इंतजार हो रही थी, उसी क्षण पत्नी को रेल्वेके सूचनाविभाग से तार मिला कि फलां भाई (तुम्हारे पति) ट्रेनदुर्घटना में मर गये। बस, यह जानकारी पत्नी की सारी प्रसन्नता को खिन्नता में बदल देती है। दुर्घटना का ज्ञान नहीं हुआ तब तक तो दुःख नहीं था और दुर्घटना का ज्ञान होते ही

में जो ज्ञान का थोड़ा बहुत अंश रहता है वह प्रायः अज्ञान-रूप होता है। और उस अज्ञान का कारण राग, द्वेष, मोह है; खास कारण सम्यग्दर्शन का अभाव है। नरक और तिर्यञ्च के जीव उस अज्ञान-वश बहुत ही कष्ट सहते हैं, इतना कष्ट सहते हैं कि जितना साधु-साध्वी भी परिषह सहन नहीं करते। इतनी कष्टदायक क्रियाएँ वे करते हैं, जितनी कष्टप्रद साधुवर्ग की धार्मिक क्रियाएँ भी नहीं होतीं। फिर भी उनका कष्टसहन सम्यकतप में नहीं गिना जाता और उनकी कष्टप्रद क्रियाएँ सम्यक्चारित्र में नहीं समझी जातीं। उनकी निर्जरा सकामनिर्जरा में परिगणित नहीं होती। ऐसा क्यों? क्योंकि उनका कष्टसहन या उनकी कष्टप्रदायक क्रियाएँ अज्ञानपूर्वक होती हैं। उनकी निर्जरा भी अकामनिर्जरा होती है, क्योंकि वह सम्यग्ज्ञानपूर्वक नहीं होती। उनका ज्ञान तभी सम्यक् हो सकता है, जब सम्यग्दर्शन हो। अज्ञानी या मिथ्याज्ञानी की क्रिया के बारे में संघदास गणि ने स्पष्ट कहा है —

"जह एहाउत्तिण्ण गओ बहुअतरं रेणुयं छुभइ अंगे।
सुट्ठु वि उज्जममाणो तह अण्णाणी मलं चिणइ॥"

जैसे हाथी जल में स्नान करने के बाद बार-बार बहुत-सी रेत अंग पर मल लेता है; वैसे ही (विविध कष्टकारक क्रियाओं में) भली भांति उद्यम करता हुआ अज्ञानी पुरुष भी बारबार दोषों-मलों का ही संचय करता है। ज्ञानी और अज्ञानी के कार्यों के फल का अन्तर समझाते हुए कहा है —

"जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुआहिं वासकोडीहिं।
तं नाणी तिहिंगुत्तो खवेइ ऊसासमित्तेण॥"

जिन कर्मबन्धनों को अज्ञानी करोड़ों वर्षों में तोड़ता है, त्रय

पूर्ववैरस्मरण करके या एक दूसरे की चेष्टाओं से मनोवृत्ति का पता लगा कर परस्पर कलह, क्लेश, संघर्ष करते रहते हैं। परन्तु सम्यग्ज्ञान जिस व्यक्ति में होगा, वह वैर का बदला वैर से लेगा नहीं। महात्मा गाँधीजी को जहाज में एक अंग्रेज ने धक्का देकर बाहर निकालना चाहा तो उन्होंने उस पर द्वेष न करके शान्ति से यथोचित दृढ़ता से उत्तर दिया, लेकिन प्रहार के बदले प्रहार नहीं किया।

एक वकील को कानून का ज्ञान है। उससे वह मवक्किल को लड़ा कर या झूठे मुकदमे की पैरवी करके पैसा बटोरता है। क्या वकील के ज्ञान को सच्चा ज्ञान कह सकते हैं। अगर सच्चा ज्ञान होता तो वह अनुचित ढंग से पैसा बटोरने का लोभ पैदा नहीं करता। इसलिए वकालात का ज्ञान लोभ का कारण नहीं, वकील का अज्ञान लोभ का कारण है। अगर वकालात का ज्ञान अपने आप में लोभ का कारण होता तो म० गाँधीजी ने भी वकालात का ज्ञान प्राप्त किया था। मगर उन्होंने वकालात के ज्ञान से कभी झूठ मुकदमे की पैरवी नहीं की, न जानबूझ कर पैसे बटोरने की दृष्टि से किन्हीं को लड़ाया।

सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान का नतीजा हम कई बार अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखते हैं, फिर भी मोह व राग-द्वेषवश अज्ञान को पकड़े रहते हैं।

अखबार में एक घटना पढ़ी थी कि दिल्ली में एक अंग्रेज महिला एक तांगे में बैठ कर शराब की दुकान पर जा रही थी। उस समय मद्य-निषेध के सिलसिले में कई राष्ट्रसेवक पिकेटिंग कर रहे थे। पिकेटिंग करने वालों ने उस महिला को शराब खरीदने से नम्रतापूर्वक रोका। लेकिन वह महिला समझाने पर भी न मानी। एक स्वयंसेवक तांगे के आगे सो गया। और कहा—"अगर आप नहीं मानती हैं तो मेरे ऊपर से तांगा हांक ले जाओ।" जैसे स्वयंसेवक अपने

दुःख का सागर क्यों उमड़ पड़ा ? इसका मूल कारण सम्यग्ज्ञान नहीं, अज्ञान है। अज्ञान के कारण मोह पैदा होने से बहन को पति के मरण का ज्ञान दुःखदायी बना। अगर ऐसा नहीं होता तो दूसरे की—किसी अपरिचित की—मृत्यु का समाचार या विदेश से आगमन का समाचार सुनकर तो शोक, दुःख या हर्ष व सुख क्यों नहीं होता ? क्योंकि उसके प्रति ममत्व, राग या मोह नहीं है।

इसी प्रकार अज्ञान से भय भी पैदा होता है। बिहार में एक गाँव में एक व्यक्ति फूस का छप्पर छा रहा था कि उस व्यक्ति को सर्प ने काटा। उसे पता ही नहीं था कि मुझे सर्प ने काटा है। परन्तु जब वह सर्प दूसरी ओर से छप्पर पर चढ़ रहा था कि उस व्यक्ति ने उसे देख लिया। अब वह डरने लगा और उसे सर्पदंश का अनुभव भी होने लगा। इससे निष्कर्ष निकला कि सर्प के होने का ज्ञान उस व्यक्ति के लिए डर का कारण बना। परन्तु वह ज्ञान नहीं अज्ञान था। सर्प तो गाँधीजी के शरीर पर भी प्रार्थना करते समय चढ़ गया था। लेकिन वे उसे देख कर डरे नहीं, और न उस सर्प को मारने का ही विचार किया। क्या कारण था कि महात्मा गाँधीजी को सर्प का ज्ञान भय का कारण नहीं बना ? कारण था सम्यग्ज्ञान।

सामान्य आदमियों को प्रायः बिच्छू का पता लगते ही वे उस पर द्वेष करके उसे मार डालते हैं। क्या बिच्छू का ज्ञान उनके द्वेष का कारण बनता है ? नहीं, अज्ञान ही उनके द्वेष का कारण है।

अगर ऐसा न होता तो व्रतधारी श्रावक को भी बिच्छू देखकर द्वेष पैदा होता। मगर श्रावक को बिच्छू देखकर द्वेष पैदा नहीं होता।

नारकी के जीवों को अपने पूर्वजन्म का या इस जन्म का ज्ञान होता है, पर वह ज्ञान प्रायः अज्ञानरूप होने के कारण वे परस्पर

बन कर सेवा ले वह पवित्र और ऊँचा है, यह कहाँ का न्याय है? क्या ऐसा अधर्ममय व पक्षपातपूर्ण विचार सम्यग्ज्ञान हो सकता है? कदापि नहीं। जिसमें सम्यक्ज्ञान होगा, वह भंगी या किसी भी सेवा करने वाले को नीचा या घृणापात्र नहीं समझेगा। जहाँ अज्ञान होता है, वहीं इनसे घृणा या द्वेष किया जाता है। इसीलिए शास्त्रकार हरिकेशी (जो चांडाल कुल के थे) मुनि के विषय में सम्यग्ज्ञान की दृष्टि से निर्णय दे रहे हैं—

"सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो न दीसई जाइविसेस कोवि।
सोवागपुत्तं हरिएससाहुं जस्सेरिसा इड्ढिमहाणुभावा॥"

अर्थात्—श्वपाक (चाण्डाल) पुत्र हरिकेशसाधु, जिसके ऐसी ऋद्धि और महा प्रभाव है, वहाँ साक्षात् तप-विशेष दिख रहा है, कोई जातिविशेष दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है।

यह है शास्त्रकारों का हिये की आँखों से देखकर सम्यग्ज्ञानपूर्वक किया गया निर्णय! अतः प्रत्येक वस्तु को सम्यग्ज्ञान की कसौटी पर कस कर फिर उसके बारे में कोई निर्णय करो।

ज्ञान से लाभ

यह तो आप समझ ही चुके कि अज्ञान से दिखाई देने वाला लाभ सच्चा और स्थायी लाभ नहीं है, ज्ञान से होने वाला लाभ स्थायी व सच्चा है; आत्मविकास का कारण है। ज्ञान आत्मा का प्रकाश है। ज्ञान के द्वारा वस्तु स्वरूप को जान लेने से भी बहुत बड़ा लाभ है। न्यायबिन्दु में कहा है—

"सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिः"

समस्त पुरुषार्थों में सिद्धि या सफलता पहले सम्यग्ज्ञान होने पर ही मिलती है।

विचारों पर दृढ़ था वैसे मेमसाहब भी अपनी जिद पर अड़ी हुई थी। उसने अपना तांगा स्वयंसेवक पर चलवा दिया। तांगे का पहिया स्वयंसेवक की गर्दन पर फिर गया, फिर भी उसने कोई परवाह नहीं की और यही कहता रहा—"शराब मत खरीदो।"

एक व्यक्ति शराब पीने वालों को रोकने में हित समझकर अपनी जान की बाजी लगा देता है और दूसरा व्यक्ति शराब पीने और खरीदने में हित समझ कर दूसरे की जान तक लेने को तैयार है। इन दोनों के अलग-अलग परस्पर विरोधी कार्यों के पीछे कौनसी चीज काम कर रही है? मूलतः देखें तो एक में सम्यग्ज्ञान है और दूसरे में अज्ञान है। एक अपने प्राण देकर भी दूसरी आत्मा को सन्मार्ग पर लगाना चाहता है, दूसरा तृष्णा या मोह के कारण आत्मविस्मृत है। परिणाम देख कर हम सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान का अन्तर समझ सकते हैं! सम्यग्ज्ञान वाले व्यक्ति की दृष्टि पारदर्शी व सम्यक् होने के कारण वह हर वस्तु का निर्णय दीर्घदृष्टि से हिता-हित सोच कर करेगा। पर अज्ञानी व्यक्ति की दृष्टि तुच्छ स्वार्थ और मोह से घिरी हुई होने से वह हर वस्तु का निर्णय संकीर्ण दृष्टि से आत्मभान भूल कर करेगा। ज्ञानवान व्यक्ति किसी भी मनुष्य से घृणा या द्वेष नहीं करेगा। यहाँ तक कि पापी से पापी व्यक्ति से भी घृणा या द्वेष नहीं करेगा। उसके पाप से उसे घृणा होगी। मगर आज सम्यक्त्व के ठेकेदार और खुद को सम्यग्ज्ञानी मानने वालों से पूछा जाय कि जगत् का मलमूत्र उठाने और सेवा करने वाले जिन भंगियों से घृणा की जाती है, क्या वे घृणा के पात्र हैं? आप अपने घरों में टट्टी जाएँ और उसे अपवित्र बनाएँ और भंगी आ कर उसकी सफाई करके उसे पवित्र बनाएँ, क्या यही उसका अपराध है? जो सेवा करे, घर को पवित्र करे वह अपवित्र और नीचा है और घर को टट्टी जा कर अपवित्र बनाए और परावलम्बी

पानी की बूंद को ध्वनि तरंग द्वारा तोड़ कर ऐसी शक्ति फैलाई जाय, जिससे सारे न्यूयार्क शहर को सालभर तक बिजली मिल सके। यह ज्ञान की शक्ति का चमत्कार क्या कम है ? आत्मा के पूर्ण ज्ञान द्वारा सारे ब्रह्माण्ड की जर्रे-जर्रे की बात बिना आँखों से देखे, कानों से सुने एक जगह बैठे-बैठे जान लेना ज्ञान की शक्ति का ही तो चमत्कार है ! इसीलिए एक विद्वान ने कहा—'Knowledge is Power' (ज्ञान शक्ति है)। गजसुकुमार मुनि के सिर पर धधकते अंगारे रखे गए तब भी चेहरे पर कोई सिकुड़न नहीं आई और न सोमल ब्राह्मण के प्रति द्वेष या रोष आया। समभाव से उस भयंकर कष्ट को सहने की शक्ति ज्ञान ही की तो थी !

इसी प्रकार ज्ञान प्राप्त होने पर मनुष्य को अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है। वह उस आनन्दानुभव के क्षणों में भूख-प्यास, कष्ट, थकान, शर्दी-गर्मी सब भूल जाता है। भ० महावीर ने १२॥ वर्षों तक जो घोर तपश्चर्या की थी, उस समय वे अपने शरीर, भूख-प्यास आदि सबको भूलकर आत्मज्ञान के आनन्द में तन्मय हो जाते थे, वह ज्ञान ही का तो प्रताप था। ज्ञान में इस सुख के सर्जन करने का अद्‌भुत सामर्थ्य है। यह सुख आन्तरिक है, सहज और स्वाधीन है। दुनियादारी के सुख इस सुख के सामने तुच्छ हैं।

उपाध्याय यशोविजयजी और विनयविजयजी काशी में जिन दिनों एक संस्कृत के पण्डितजी से पढ़ते थे, उन पण्डितजी के पास न्याय का एक बहुमूल्य ग्रन्थ था। इन दोनों के अत्याग्रह करने पर भी १२०० श्लोकों का वह ग्रन्थ पण्डितजी किसी को बताते न थे। एक दिन पण्डितजी किसी कार्यवश आसपास के किसी ग्राम में गये हुए थे। प्रातःकाल लौटने वाले थे। यह मौका देखकर दोनों पण्डितानी-जी के पास आए और उस ग्रन्थ को देखने के लिए देने की नम्रता-पूर्वक विनति की। पण्डितानी ने प्रसन्नता से इन्हें वह ग्रन्थ रातभर

दशवैकालिकसूत्र में ज्ञान का परमलाभ बताते हुए कहा है—

"जो जीवे वि वियाणइ, अजीवेवि वियाणेइ।
जीवाजीवे वियाणंतो सो हु नाही उ संजमं ॥"

'जो जीव (आत्मा) को विशेष प्रकार से जान लेता है, और अजीव (जड़) का भी भलीभांति ज्ञान कर लेता है। इस प्रकार आत्मा और अनात्मा का अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वही संयम के मार्ग पर गति कर सकता है।" ज्ञान मनुष्य में एक प्रकार का विशिष्ट गुण पैदा कर देता है। भ० बुद्ध एक बार जेतवन में थे। उस समय एक लकड़हारा कुल्हाड़ी से वृक्ष को काट रहा था। भ० बुद्ध ने अपने शिष्यों से पूछा—"लकड़हारे की कुल्हाड़ी की चोट से तुम्हें वेदना होती है ?" शिष्यों ने हंसते हुए कहा—"नहीं, भंते !"

भ० बुद्ध ने कहा—"इसी प्रकार हे शिष्यो ! कोई तुम्हारे शरीर को काटे तो उस वृक्ष की तरह उसे पराया समझो। यानी देह पर कोई कुल्हाड़ी से चोट मारे तो उसे वृक्ष पर होने वाली चोट के समान समझो। पंच महास्कंध से तुम अलग हो। आत्मा-अनात्मा का ऐसा भेदविज्ञान कर लो।" उपाध्याय यशोविजयजी कहा करते थे—ज्ञान की तीव्रदशा ही चारित्र है।

इसीलिए सुकरात कहता था— Knowledge is virtue (ज्ञान एक गुण है)।

ज्ञान में कितनी शक्ति है, इसका अंदाजा हम वर्तमान वैज्ञानिकों का ज्ञानकौशल देख कर लगा सकते हैं। एक ग्लास पानी द्वारा 'क्वीन मेरी' नामक २५ हजार टन की चार पांखों वाली स्टीमर ६ महीने तक सतत चलाने की शक्ति वैज्ञानिकों ने ज्ञान द्वारा ही प्राप्त की है। ज्ञान के द्वारा आज के वैज्ञानिक यह सम्भव बना रहे हैं कि

दिया और उन्हें आत्मसमर्पण के पथ पर चढ़ा दिया। सम्यग्ज्ञान का प्रकाश पाकर ही तो संयती राजा जैसे शिकारी को पापमार्ग छोड़ कर त्याग और संयम के सुपथ पर आने की प्रेरणा मिली। इसीलिए एक विद्वान् ने कहा— 'Knowledge is Light' (ज्ञान एक प्रकाश है)।

सद्ज्ञान का प्रकाश मनुष्य को शीघ्र ही सन्मार्ग पर ला सकता है। पथभ्रष्ट मनुष्य भी, अगर उसके हृदय में ज्ञान का प्रकाश मौजूद है तो एक न एक दिन सत्पथ पर आए विना नहीं रहता। क्योंकि ज्ञानवान आखिरकार अपने कल्याण और अकल्याण को शीघ्र समझ लेता है। इसलिए कहा है—

'ज्ञानमेव बुधाः प्राहुः कर्मणां तपनात्तपः'

"ज्ञान ही को विद्वानों ने कर्मों को तपाने-जलाने-के कारण वास्तविक तप कहा है।"

ज्ञानवान के लक्षण

वैसे तो ज्ञानी के कोई बाह्य चिह्न या कोई विशेष अंग या अंगों में अन्तर नहीं होते, लेकिन उसके व्यवहार से, प्रवृत्ति से पता लग जाता है कि यह ज्ञानी है। एक विद्वान् ज्ञानी के लक्षण इस प्रकार बताये हैं—

"अक्रोधवैराग्य - जितेन्द्रियत्वं, क्षम-दया-सर्वजनप्रियत्वं।
निर्लोभदाता भयशोकमुक्ता ज्ञानीनराणां दशलक्षणानि॥"

ज्ञानी पुरुषों के ये १० लक्षण हैं—जिनमें (१) अक्रोध, (२) वैराग्य, (३) जितेन्द्रियता, (४) क्षमा, (५) दया, (६) सर्वजनप्रियता, (७) निर्लोभता, (८) दान, (९) निर्भयता, (१०) शोकमुक्तता, ये दस गुण पाए जाँय, वे सम्यग्ज्ञानी कहलाते हैं।

के लिए देखने को दे दिया। अब क्या था? दोनों को उस ग्रंथ का ज्ञानरस इतना सुखरूप लगा कि नींद, थकान और आराम को भूल कर एक ही रात में उस ग्रंथ के ७०० श्लोक उपाध्याय यशोविजयजी ने और ५०० श्लोक विनयविजयजी ने कण्ठस्थ कर लिये। सुबह पण्डितजी के आने से पहले ही वह ग्रंथ पण्डितानी को सौंप कर पेटी में रखवा दिया। दोनों ने पण्डितजी से अपने कार्य का जिक्र किया, और १२०० श्लोक उन्हें कण्ठस्थ सुना दिये।

यह था ज्ञानरस का आनन्द, जिसमें तन्मय होकर व्यक्ति सब कुछ भूल जाता है। इसीलिए 'Knowledge is Happiness' (ज्ञान प्रसन्नतामय है, आनन्द देने वाला है); यह व्याख्या अंधी, मूक और बहरी पाश्चात्य महिला हेलन केलर ने की है।

इसके अतिरिक्त ज्ञान का सबसे बड़ा महत्त्व यह है कि वह मनुष्य के जीवन की शुद्धि करने वाला है। अन्तर में वर्षों से कितने ही पाप भरे हों, वर्षों से अज्ञानवश बुरे कर्म करता चला आ रहा हो, परन्तु सम्यग्ज्ञान की किरण पाते ही, वह उन्हें बहुत शीघ्र भस्म कर देता है। इसीलिए गीता में कहा—

'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन !'

"हे अर्जुन ! यह ज्ञान एक अग्नि है, जो समस्त कर्मों को भस्म कर देता है।" वह ज्ञान ही तो था, जिसने गणधर गौतम जैसे केवलज्ञानरूपी समुद्र के तट पर आए हुए साधक के अन्दर रहे हुए गुरुमोह को एक झटके में समाप्त कर दिया और केवलज्ञान की ज्योति जगमगा दी। वह ज्ञान ही तो था, जिसने मेघकुमार मुनि को दीक्षा लेने की प्रथम रात्रि को साधुओं के पदाघात के कारण त्याग और संयम के प्रति हुई अरुचि और घृणा को झटपट समाप्त कर

लड़भिड़ कर किसी का दिल नहीं दुखाएगा। ज्ञान की वृद्धि ही सामाजिक, धार्मिक और राष्ट्रीय उन्नति का मूलमंत्र है। आपके पास धन की शक्ति हो तो धन को ज्ञान के फैलाव में लगाइए। जिनके पास शरीर, समय या विद्या आदि साधनों की शक्ति है, वे उनको ज्ञानप्रसार में लगा सकते हैं। ज्ञान की उपेक्षा करने से अब काम नहीं चलेगा। ज्ञान का प्रचार-प्रसार शासन (संघ) की प्रभावना का मुख्य अंग है। ज्ञानप्रचार के लिए कुछ न कुछ त्याग कीजिए। स्वयं ज्ञान प्राप्त न कर सकें तो जो लोग ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, उन्हें ज्ञान के साधन प्रदान कीजिए। जो लोग निःस्वार्थभाव से ज्ञानप्रचार में लगे हैं, उन्हें यथोचित सहयोग दीजिए। इतना भी न कर सकें तो कम से कम ज्ञान की, शिक्षा की व ज्ञानप्रचार की निन्दा मत कीजिए। ज्ञानप्रचार की निन्दा करना, विरोध करना, उसमें रोड़े अटकाना ज्ञानावरणीय कर्मबन्धन का कारण है। सम्यग्ज्ञान का प्रचार होने पर ही समाज और राष्ट्र के चारित्र्य का विकास हो सकेगा। मेरी हार्दिक भावना है कि सम्यग्ज्ञान का प्रकाश सारे विश्व में फैले।

स्थान—गौड़ीजी का उपाश्रय
पायधुनी, बम्बई } वि० सं० २००६
भाद्रपद वदी ८

वास्तव में सम्यग् आत्म-ज्ञान मनुष्य को उस वस्तु के निकट पहुंचा देता है, जिसे जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है। शास्त्र में कहा है—'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ' जो एक (आत्मा) को जान लेता है वह सबको जान लेता है।" छांदोग्य उपनिषद् में बताया गया है कि एक ऋषि ने ज्ञानपिपासु विद्यार्थी को देख कर कहा था—'ब्रह्मविदिव सौम्य ! प्रतिभासि ते मुखमण्डलम्" (हे सौम्य ! तेरा मुखमण्डल ब्रह्मज्ञानी की तरह चमकता मालूम होता है।) ज्ञान का प्रकाश मिलने पर मुखमण्डल उसकी ज्योति से चमकने लगता है।

उन्नति का मूलमत्र : ज्ञान की वृद्धि

अतः आप लोग केवल 'नमो नाणस्स' कह कर ही ज्ञान की पूजा करके ही मत रह जाइए। ज्ञान की सम्यक्रूप से आराधना और उपासना कीजिए। आप सर्वज्ञपुत्र कहलाते हैं। फिर भी लोग आपकी आलोचना करते हैं तो इसका मुख्य कारण आपका अपने ज्ञान को विस्मृत कर देना है। आप समझते हैं, ज्ञान साहित्य में भरा ही पड़ा है, या साधुसाध्वियों के मुख से शास्त्रज्ञान सुन ही लेते हैं, इससे आगे ज्ञान की उपासना के लिए कुछ करना ही नहीं है। परन्तु अगर आप ज्ञान का सच्चा महत्त्व समझते हैं तो अर्हन्त भगवान् के द्वारा प्राप्त ज्ञान की स्वयं साधना कीजिए, उसका प्रचार कीजिए। उस ज्ञान को साहित्य (ज्ञान) भंडारों में ही बन्द मत रहने दीजिए। उसकी रक्षा कीजिए। उसे सर्वसाधारण के लिए सुलभ बना दीजिए। आप लोग आपस में एक दूसरे को पराजित करने में, नीचा दिखाने में तो हजारों रुपये उड़ा देते हैं, लेकिन ज्ञान के विकास और प्रचार के अत्यन्त जरूरी कार्यों की ओर उदासीन रहते हैं। ज्ञान न होने के कारण ही तो आपस में लड़ाई होती है। जिसमें ज्ञान होगा, वह

भी उसके चरण अशक्त रहते हैं। ऐसी हालत में वह मनुष्य अपने जीवन में पूर्ण सफल नहीं हो सकता। सारे शरीर का भार दो पैरों पर आकर पड़ता है। अगर वे ही पैर सारे शरीर का बोझ उठाने में असमर्थ हों तो उस आदमी का हृदय और मस्तिष्क भी अस्वस्थ हो जाता है। पैरों में लकवा हो जाने पर क्या वह मनुष्य अपने हृदय और मस्तिष्क को भी शान्त और स्वस्थ रख सकता है? कदापि नहीं। इसी प्रकार हृदयबल हो, बुद्धिबल हो, लेकिन चरणबल न हो तो वह अपने जीवन का पूर्ण आध्यात्मिक विकास नहीं कर सकता। पंगु की तरह वह मोक्षरूपी फल को देख सकता है, जान सकता है, लेकिन साधना की डाली पकड़ कर उस फल को तोड़ कर चख नहीं सकता। इसी कारण सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ सम्यग्चारित्र की नितान्त आवश्यकता बताई गई है। इन दोनों के साथ सम्यग्चारित्र न हो तो साधक आध्यात्मिकविकास के चरम शिखर पर पहुंच नहीं सकता।

एक व्यक्ति अहिंसा का स्वरूप अच्छी तरह जानता है, और अहिंसापर उसकी पूरी श्रद्धा भी है। उसका विश्वास भी है कि अहिंसा से कल्याण ही होगा; परन्तु उस अहिंसा का आचरण नहीं कर सकता तो उस व्यक्ति का जानना और मानना व्यर्थ हुआ! इसीलिए भगवान् महावीर ने फरमाया—

'एवं खु नाणिणो सारं जं न हिंसइ किंचण'

किसी भी प्राणी की हिंसा न करना ज्ञानी होने का सार है।

इसीलिए सम्यग्ज्ञान के बाद सम्यग्चारित्र बताया गया है। अकेला सम्यग्ज्ञान मनुष्य को विकास के चरम शिखर पर नहीं पहुंचा सकता। कोरे दर्शन और ज्ञान से मनुष्य जहाँ का तहाँ ही सिमट

१२

सम्यग्चारित्र की महक

सज्जनो !

कल मैंने सम्यग्ज्ञान के प्रकाश के बारे में काफी विस्तार से आपके सामने अपने विचार रखे थे। आज सम्यग्चारित्र के बारे में कुछ कहूंगा।

सम्यग्चारित्र क्यों जरूरी है ?

आपके सामने एक आदमी ऐसा खड़ा है, जिसका मस्तिष्क खूब अच्छा है, दिमाग से बहुत ऊँचे सिद्धान्तों पर वह विचार कर सकता है। उसका हृदय भी अच्छा है, जो सारे शरीर में रक्त फेंकता है, धड़कता है और मस्तिष्क जो जानकारी करता है, उसमें से उपादेय वस्तु पर वह श्रद्धा और दृढ़ निश्चय भी करता है। परन्तु उस आदमी के पैर दुरुस्त नहीं हैं, एक कदम भी चलने में वे असमर्थ हैं। वह आदमी पैरों के बिना ज्ञान और श्रद्धा के बोझ को लेकर बैठा रहता है। दूसरों को बचाने, गिरते हुए या मरते हुए लोगों की रक्षा करने और किसी भी विपत्ति में पड़े हुए प्राणी की रक्षा करने में उसके पैर असमर्थ रहते हैं। यही नहीं, अपने जीवन में भी कोई धार्मिक क्रिया करने, कहीं चल कर किसी को अपना ज्ञानपूर्ण उपदेश देने में

'चरित्तं खु धम्मो'

चारित्र ही वास्तव में धर्म है।

यों तो शास्त्र में श्रुतधर्म और चारित्रधर्म यों दो भेद करके चारित्रधर्म के अलावा शास्त्रों द्वारा धर्म का ज्ञान और उस पर विश्वास करने को भी धर्म कहा है, परन्तु वह धर्म का अव्यक्तरूप है। धर्म के जानने और मानने से ही धर्म जीवन में नहीं उतर जाता। हाँ, इतना जरूर हो जाता है कि वह धर्म के ज्ञान और दर्शन के कारण विपरीत बातों या अधर्मों में सहसा नहीं उलझता और अपना आत्म-भान रख कर चलता है। परन्तु आखिर धर्म को जीवन में उतारने के लिए क्रिया किए बिना वह धर्म-पालन का सुफल भी नहीं प्राप्त कर सकता। अग्नि को जान लेने या 'यह रोटी पका देती है, जला देती है, ठंड मिटा देती है; ऐसा विश्वास कर लेने से ही वह अपना फल नहीं दे देती। यानी वह अग्नि रोटी नहीं सेक देती, ठंड नहीं मिटा देती, जला नहीं देती। अग्नि का सक्रिय उपयोग करने पर ही उपयोगकर्ता इस प्रकार का फल अग्नि से प्राप्त कर सकता है। इसी तरह धर्म का या साधना का सुफल भी व्यक्ति तभी प्राप्त कर सकता है, जब उस धर्म का आचरण करे, जीवन के हर क्षेत्र में उसका उपयोग करे। और धर्म का सम्यक् प्रकार से आचरण करना ही सम्यग्चारित्र है। इसी कारण धर्म के व्यक्तरूप की अपेक्षा से चारित्र को वास्तविक धर्म कहा गया है।

साधना भी सम्यग्चारित्र को अपनाने पर शुरू होती है। क्योंकि शास्त्रीय सिद्धान्त की दृष्टि से केवल सम्यग्दर्शनी का चौथा गुणस्थान है। परन्तु सम्यग्दर्शन के साथ चारित्र का प्रारम्भ पंचम गुणस्थान से होता है। भले ही पंचम गुणस्थान में चारित्राचारित्र हो यानी चारित्र का स्थूलरूप-देशचारित्र हो। निष्कर्ष यह है कि सम्यग्दर्शन

कर बैठा रह जाता है, साधना में गति-प्रगति नहीं कर सकता। और साधना में गति-प्रगति किये बिना साध्य के शिखर पर कभी पहुंचा नहीं जा सकता। सम्यग्चारित्र साधना में गति-प्रगति करने के लिए बेजोड़ साधन है। कहा भी है—

"अप्रकटीकृतशक्तिः शक्तोऽपि जनस्तिरस्क्रियां लभते।
निवसन्नन्तर्दारुणि लङ्घ्यो वह्निर्न तु प्रज्वलितः॥"

कितना ही समर्थ व शक्तिशाली क्यों न हो, यदि वह अपनी शक्ति को प्रगट नहीं करता है तो वह तिरस्कार पाता है। अरणि की लकड़ी में रही हुई अप्रकट आग को हर आदमी लांघ कर या उस पर पैर देकर चला जाता है, लेकिन जलती हुई अग्नि पर कोई पैर देकर नहीं जा सकता। इसी प्रकार ज्ञान-दर्शन की शक्ति या वैचारिक शक्ति जब तक प्रगट नहीं की जाती या उसमें पराक्रम नहीं किया जाता, तब तक पड़ी-पड़ी वह कुण्ठित होजाती है, कोई उसका लोहा नहीं मानता।

शुद्ध और व्यापक धर्म के अंगों को केवल जान लेने या उन पर विश्वास कर लेने से ही काम नहीं चलता। समाज और जगत् की दृष्टि में कोई भी व्यक्ति धार्मिक और विश्वासपात्र तभी बनता है, जब वह धर्म के तत्त्वों का सम्यक् प्रकार से आचरण करता हो। इस दृष्टि से यों कहा जा सकता है कि सम्यग्चारित्र धर्म को व्यक्तरूप में समाज के सामने प्रस्तुत करने, धर्माचरण के प्रति लोकश्रद्धा जमाने और धर्म को व्यवहार में लाकर उसके पालन में आने वाली कठिनाइयों, समस्याओं का निराकरण करते हुए सुदृढ़तापूर्वक उसका पालन करने के लिए अनिवार्य है। सम्यक् चारित्र को अपनाए बिना धर्म पंगु ही रहता है। वह लोकजीवन में और अपने जीवन में उतरता नहीं। इसीलिए एक जैनाचार्य ने कहा—

'दुर्भगाभरणप्रायो ज्ञानं भारः क्रियां विना'

क्रिया (आचरण) के विना कोरा ज्ञान वैसा ही भाररूप है, जैसा कि विधवा के लिए आभूषण या शृंगार भाररूप होता है।

कोई यात्री मार्ग का ज्ञान प्राप्त कर ले या उसे विश्वास हो जाय कि यह मार्ग फलां शहर को अवश्य जाता है, इतने मात्र से क्या वह यात्री उस शहर को पहुंच जाता है? कदापि नहीं। इसी प्रकार चारित्र के विना कोरा ज्ञान मुक्तिपुरी में नहीं पहुंचा सकता। कहा भी है—

"क्रियाविरहितं हन्त ज्ञानमात्रमनर्थकम्।
गतिं विना पथज्ञोऽपि नाप्नोति पुरमीप्सितम्॥"

"अफसोस है, क्रिया (आचरण) से रहित कोरा ज्ञान निरर्थक सावित होता है। कोई भी मार्ग का जानकार व्यक्ति गति किये (चले) विना केवल मनोरथ करने से अपने अभीष्ट नगर में नहीं पहुंच पाता।"

अगर आपके भोजन में विटामिन (पोषक तत्त्व) न हो तो वह भोजन आपके शरीर को पुष्ट नहीं कर सकेगा। उसी तरह आपके ज्ञानरूपी भोजन में चारित्ररूपी विटामिन न हो तो वह ज्ञान न तो शरीर को पुष्ट करेगा और न उस ज्ञान को पचा सकेगा। बल्कि उस ज्ञान का अजीर्ण—ज्ञान के अहंकार के रूप में होजायगा कि हमें इतने शास्त्रों का ज्ञान है, हमें आत्मा और षड्द्रव्यों व नवतत्त्वों का गूढ़ ज्ञान है। परन्तु भगवती और प्रज्ञापनासूत्र के गूढ़ रहस्यों का ज्ञान हो, ६ दर्शनों में अद्भुत पाण्डित्य हो, या षड्द्रव्यों व नवतत्त्वों का विस्तृत ज्ञान हो, पर उसके साथ जीवन में उन सिद्धान्तों का आचार-आचरण-न हो तो क्या वह ज्ञान आत्मा को

और सम्यग्ज्ञान के धारक से सम्यग्चारित्री का गुणस्थान ऊँचा है। इसलिए साधना की दृष्टि से भी चारित्र का अपनाना जरूरी है। साधना किए विना कोई भी व्यक्ति उच्च गुणस्थान पर चढ़ नहीं सकता। जितने भी वीतराग या केवलज्ञानी पुरुष हुए हैं; वे सम्यग्चारित्र को अपना कर साधना करने के बाद ही हुए हैं। कोई कह सकता है कि भरत चक्रवर्ती ने शीशमहल में खड़े-खड़े विना किसी प्रकार की साधना किए कैसे केवलज्ञान प्राप्त किया? मरुदेवी माता ने साधना किये विना ही हाथी के होदे पर बैठे-बैठे ही कैसे केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त किया? उत्तर में यह कहना है कि ये उदाहरण अव्वल तो आपवादिक हैं। ऐसे आपवादिक उदाहरणों को लेकर सर्व-सामान्य राजमार्ग नहीं बनाया जा सकता। और दोनों उदाहरणों में भले ही व्यवहार चारित्र के बाह्य अंगों का स्वीकार न हो, लेकिन स्वरूपरमणरूप निश्चयचारित्र तो दोनों में अनिवार्यरूपेण है ही। और भरत चक्रवर्ती ने तो श्रावक के द्वादशव्रतरूप देशचारित्र का स्वीकार किया हुआ ही था। इसलिए सर्वसामान्य नियम के रूप में यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि वीतरागता या केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति के लिए पहले सम्यग्चारित्र का स्वीकार करना जरूरी है। सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान में साधना छिपी और दबी रहती है, वह लोकविश्वस्त नहीं होती, जबकि सम्यग्चारित्र के अपनाने पर साधना अभिव्यक्त और लोकविश्वस्त होती है।

सम्यग्चारित्र के बिना........

सम्यग्चारित्र के बिना अकेला ज्ञान वन्ध्य है। वह कर कुछ भी नहीं सकता, केवल मन के लड्डू खाता है। वह कोरा ज्ञान क्रिया (चारित्र) के विना भाररूप भी है। कहा भी है—

जैसे किसी गधे की पीठ पर चन्दन का गट्ठड़ लाद दिया जाय तो क्या वह उस चन्दन के उपभोग का भागी होता है ? नहीं, वह तो केवल भार ढोने का हकदार है, चंदन या चंदन की सुगन्ध पाने का हकदार नहीं।

आप किसी सुनार को सोनेचांदी के गहने वनवाने के लिए सोना-चांदी दें तो क्या वह सोना या चांदी उसकी हो जाती है ? नहीं होती। इसी प्रकार किसी दर्जी को कपड़े सिलवाने के लिए दें तो क्या वे कपड़े उसके हो जाते हैं ? नहीं। धोवी को धोने के लिए आप कपड़े देते हैं तो क्या वे उसके हो जाते हैं ? नहीं। उसी प्रकार आपके पास भी अध्यात्मविद्या के ऊँचे से ऊँचे शास्त्र हों, या सिद्धान्त हों, लेकिन जव तक आप उन्हें अपने जीवन में नहीं उतारेंगे, तव तक वे आपके नहीं हो सकते। धर्म या सिद्धान्तों का आचरण करने पर ही वे धर्म या सिद्धान्त आपके हैं। नहीं तो, वे धर्म के तत्त्व या सिद्धान्त या तो ग्रन्थों में ही पड़े रहते हैं, या अलमारियों की शोभा वढ़ाते हैं। इस विषय में एक रोचक उदाहरण याद आ रहा है—

एक सेठ था। उसे प्रतिष्ठा की वहुत भूख थी। वह ऐसा डोल करता था मानो वह वहुत ज्ञानी हो, शास्त्रज्ञ हो। अपनी प्रशंसा अपने मुंह से किया करना था। एक वार एक संन्यासी उसके यहाँ आए। सेठ उन्हें अपना धर्मात्मापन वताने के लिए अपने कमरे में लेगया। पुस्तकों से सजी हुई सुन्दर अलमारी उन्हें वताते हुए कहा—"देखिये, महाराज ! यह ज्ञानेश्वरी गीता है, यह श्रीमद् भागवत है, यह योगवाशिष्ठ है, यह वाल्मीकिरामायण है, ये दस उपनिषद् हैं। इसके उपरांत दूसरी अलमारी में वेदान्त के अनेक ग्रन्थ हैं तथा योगदर्शन-भाष्य आदि वहुत से ग्रन्थ हैं यह सुन कर निःस्पृह संन्यासी ने कहा—"सेठ ! यह सव तो तुम्हारी अलमारी में हैं, तुम्हारे

पुष्ट कर सकेगा ? कदापि नहीं। बल्कि कई बार तो ऐसे शास्त्रज्ञों और तत्त्वज्ञों का जीवन उलटा ही नजर आता है। भले ही कोई व्यक्ति भगवतीसूत्र का सूक्ष्म विवेचन कर सकता हो, समयसार का पुर्जा-पुर्जा खोल कर उसकी व्याख्या कर सकता हो, या बड़े-बड़े शास्त्रार्थ कर सकता हो, लेकिन अहिंसा, सत्य आदि धर्म के अंगों को जीवन में न उतारता हो, असत्य बोलता हो, बेईमानी करता हो, हिंसा करता हो तो उसका ज्ञान विटामिन रहित भोजन जैसा या औंधे घड़े पर गिरे हुए पानी जैसा है। वह उसे क्या लाभ पहुंचा सकता है। विशेषावश्यक भाष्य में कहा है—

"सुबहुं पि अहीयं किं काही चरणविप्पहीणस्स।
अंधस्स जह पलित्ता दीवसयसहस्सकोडी वि ॥"

"आचरणहीन पुरुष को ढेरों शास्त्रों का ज्ञान भी कुछ लाभ नहीं पहुंचा सकता। क्या लाखों करोड़ों जलते हुए दीपक अन्धे के देखने में सहायक हो सकते हैं ? कदापि नहीं।"

मनुस्मृति में भी कहा है—

'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः'

चरित्रहीन व्यक्ति चाहे जितने वेद पढ़ा हुआ, वे वेद उसे पवित्र नहीं कर सकते।

जो व्यक्ति शास्त्रों का ज्ञान लादे फिरता हो, परन्तु उनमें बताए हुए धर्म का आचरण न करता हो, वह केवल शास्त्रों के ज्ञान का बोझ ढोने वाला है। उस ज्ञान का कोई फल या सार प्राप्त नहीं कर सकता। शास्त्र में कहा है—

"जहा खरो चंदण भारवाही, भारस्स भागी न हु चंदणस्स"

न्वित करने पर ही सफलता मिल सकती है। अन्यथा, वह शास्त्रीय ज्ञान बिना पचे हुए भोजन जैसा है। एक रोचक दृष्टान्त और लीजिए—

एक वेदान्ती पण्डित ने अद्वैतवाद के सिद्धान्त को खूब घोट रखा था। वे जहाँ जाते वहीं अपना ज्ञान बघारते। मगर वह ज्ञान उनके जीवन में नहीं उतरा था। एक दिन घूमतेघामते वे एक भक्त के यहाँ जा पहुंचे। शर्दी के दिन थे। कड़ाके की ठंड पड़ रही थी। भक्त ने पूछा—पण्डितजी! स्नान करने के लिए पानी लाऊँ?" पण्डितजी ने मुस्कराते हुए कहा—"अजी! तुम लोग इतना भी नहीं समझते। जहाँ ज्ञानगंगा बह रही है, वहाँ नहाने की क्या जरूरत है?" वह भक्त भी कच्चे गुरु का चेला नहीं था। उसने इन वेदान्तीजी की परीक्षा करने की ठानी। उसने अपनी पत्नी से कह कर ऐसा भोजन तैयार करवाया, जिससे अत्यन्त प्यास लगे। पण्डित-जी को घर ले जाकर भक्त ने भोजन अत्यन्त मनुहार करके कराया। पण्डितजी ने भी डट कर भोजन किया। भोजन करके वे एक कमरे में, जहाँ उनके लिए बिछौना लगा दिया गया था, आराम करने लगे। जब गाढ़ी नींद आ गई तो भक्त ने धीरे-से बाहर से दरवाजे की कुंडी लगा दी। पण्डितजी जब उठे तो उन्हें प्यास लगी, उन्होंने आसपास पानी न देख कर भक्त को आवाज दी—"भैया! मुझे बहुत प्यास लगी है।" वेदान्तजी की यह बात सुन कर भक्त ने कहा—"पण्डितजी! ज्ञानगंगा बह रही है, उसमें से लोटा भर कर पी लें।" अब तो वेदान्तजी की सिट्टीपिट्टी गुम हो गई। वे झेंप गए और सोचा—"यह तो मेरे सिर का मिला है।" आखिर अपनी भूल स्वीकार करके भक्त से पानी मंगवा कर पीया और प्यास बुझाई।

इसी प्रकार बहुत से भाइयों की जबान पर शास्त्रों के वाक्य

जीवन में इनमें से कौन-सा ग्रन्थ है ? तुम्हारे पास तो चाय का प्याला पड़ा है। सामने लड़ाई के चित्रों की पुस्तक टेवल पर पड़ी है। वहीं एक ओर आज के अखवारों का ढेर पड़ा है। तुम्हारे सामने दलालों का टोला खड़ा है, जो तुम्हें वार-वार उकसाता है। तुम्हारे अन्तर में तो कषायों की होली सुलग रही है। उसमें कोई योग या उपनिषद् दिखाई नहीं देता।" सेठ संन्यासी की खरी-खरी वातें सुन कर झेंप गया। उसने उत्तर दिया—"महाराज ! दूसरे सेठों के यहाँ तो ऐसी पुस्तकें भी नहीं हैं, मेरे घर में हैं तो कभी अन्त-र्जीवन में भी आजायेंगी।" संन्यासी ने कहा—जव आएँगी तभी उनमें का ज्ञान या सिद्धान्त तुम्हारा कहलाएगा।"

उस सेठ की तरह आज वहुत से लोग वड़ी-वड़ी ज्ञान की वातें वघारते हैं या वहुत से ग्रन्थ अपने पास रखते हैं, लेकिन रोजमर्रा के उनके जीवन में ढोल में पोल होती है। इसीलिए एक विद्वान ने कहा—

"शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा, यस्तु क्रियावान्पुरुषः स विद्वान् ।
सुचिन्तितं चौषधमातुराणां न नाममात्रेण करोत्यरोगम् ॥"

अर्थात्—वहुत से लोग शास्त्रों को घोट लेते हैं, लेकिन जीवन में नही उतारते हैं, वे ज्ञानियों की दृष्टि में मूर्ख हैं। जो क्रियावान् (चारित्रसम्पन्न) पुरुष है, वही विद्वान् या ज्ञानी है। वारवार औषधि का चिन्तन करने या केवल नाम लेने मात्र से वह वीमारों को निरोग नहीं कर देती। अपितु सेवन करने पर ही वह उन्हें स्वस्थ वना सकती है।

मतलव यह है कि किन्हीं शास्त्रों या ग्रन्थों का ज्ञान कर लेने मात्र से वे ग्रन्थ या शास्त्र तार नहीं सकते, परन्तु उस ज्ञान को क्रिया-

किसी मकान की नींव बहुत मजबूत और गहरी हो, उसकी दीवारें चौड़ी और सुदृढ़ हों, उन पर रंग रोगन किया गया हो, यथास्थान रोशनदान, खिड़कियाँ आदि भी हों, लेकिन ऊपर की छत न हो तो क्या वह मकान किसी के रहने के लिए उपयोगी होगा ? नहीं। छत के विना जैसे सारा मकान बेकार होता है, वैसे ही चारित्ररूपी छत के विना दर्शन की नींव और ज्ञान की दीवारें निरुपयोगी हैं। जव जीवनरूपी मकान में चारित्ररूपी छत पड़ेगी, तभी वह जीवनरूपी मकान उपयोगी, विश्वस्त, दूसरों के हृदय में स्थान पाने वाला होगा।

इससे आप समझ गये होंगे कि सम्यग्चारित्र के विना मनुष्य अपने जीवन का पूर्ण विकास नहीं कर सकता।

चारित्र ही उत्तम सम्पत्ति है

जिस समाज या राष्ट्र में चारित्र का वोलवाला है, वहीं लक्ष्मी निवास करती है, वहीं सुख वढ़ता है, सुव्यवस्था रहती है और सत-युग भी वहीं रहता है। इसीलिए भारतीय मनीषियों ने धन और सत्ता की अपेक्षा चारित्र को अधिक महत्त्व और ऊँचा स्थान दिया। धन और सत्ता की परवाह न करके यहाँ चारित्र की रक्षा हमेशा की जाती रही है। भारतीय जन-जीवन में लक्ष्मी या सत्ता गौण थी। यहाँ के राजा महाराजा सम्राट् या वड़े से वड़े धनिक भी चारित्रवान् के चरणों में नतमस्तक होते थे। चारित्रवान् की प्रेरणा या आदेश पर चलते थे। यहाँ के समाजसंस्कर्ताओं ने सदा से यही चेतावनी दी है—

> "वृत्तं यत्नेन संरक्षेत् वित्तमायाति याति च।
> अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥"

चढ़े रहते हैं, परन्तु उनकी वह दार्शनिकता या ज्ञानवादिता बातों में रहती है, जीवन में तो बिन्दियाँ ही होती हैं। आचरण के बिना उन सिद्धान्तों की कीमत एक कौड़ी की भी नहीं है।

आज बहुत से लोग लम्बे चौड़े भाषण करते हैं, लेकिन तदनुसार आचरण बिलकुल नहीं होता, या उलटा होता है। ऐसे लोगों के भाषण की छाप उलटी पड़ती है। चारित्रवान् व्यक्ति के ही भाषण की छाप पड़ेगी, चारित्रहीन की नहीं। यह नोट कर लीजिए—हर जगह आपके चारित्र की छाप पड़ेगी, धन या अन्य किसी वस्तु की नहीं।

बड़ौदा में एक बार सर सयाजीराव गायकवाड़ की अध्यक्षता में अहिंसा पर व्याख्यानमाला का आयोजन रखा गया था। एक युवक ने अहिंसा पर इतना जोशीला भाषण दिया कि सब लोग झूमने लगे, दंग रह गये उसकी भाषणकला पर! लेकिन भाषण देते-देते पसीना पोंछने के लिए ज्यों ही उसने अपनी जेब से रूमाल निकाला कि एक अंडा उसके साथ बाहर निकल कर जमीन पर पड़ा और फूट गया। अंडा देख कर श्रोता लोगों में खलबली मच गई। वे ताने कसने लगे—"अहिंसा पर व्याख्यान देने वालों के आचरण में हिंसा! कितना कलियुग छागया है! भाषण जोशीला पर आचरण उलटा!" लोगों ने आखिर उसे बैठ जाने को कहा। वह शर्मिंदा होकर चला गया।

हाँ, तो चारित्रहीन व्यक्ति के भाषण जोशीले हो सकते हैं, श्रोताओं का क्षणिक मनोरञ्जन कर सकते हैं या उनमें जोश चढ़ा सकते हैं, लेकिन आचरण उलटा होने पर सारा ही प्रभाव उतर जायगा उलटी छाप श्रोताओं के दिल पर पड़े बिना न रहेगी! इसीलिए गाँधीजी कहा करते थे—

"टनभर भाषण की अपेक्षा कणभर आचरण का मूल्य अधिक है।"

चारित्र को चौपट कर देता है। मुझे यही कहना है कि धन कम कमाने या खो जाने की चिन्ता न करो, लेकिन राष्ट्र और समाज में चारित्र खो जाने की चिन्ता करो। एक अंग्रेज का यह स्वर्णसूत्र याद रखो—

If wealth is lost nothing is lost,
If health is lost something is lost,
If character is lost, everything is lost.

अगर धन गँवा दिया तो कुछ भी नहीं गँवाया। अगर स्वास्थ्य खो दिया तो कुछ खोया है, ऐसा कहा जा सकता है। परन्तु जिसने चारित्र गँवा दिया है, उसने सब कुछ गँवा दिया है। क्योंकि ऋद्धिसिद्धि या गौरववृद्धि का सारा दारोमदार चारित्र पर है।

सेठ सुदर्शन ने भय और प्रलोभनों में न फंस कर अपने चारित्र को सुरक्षित रखा था। क्योंकि चारित्र को ही वह जीवन का अमूल्य धन समझता था।

नमि राजर्षि की परीक्षा लेने के लिए इन्द्र ब्राह्मण का रूप बना कर आता है। राजर्षि अभी-अभी दीक्षा लेने की तैयारी कर रहे थे कि इन्द्र ने उन्हें राजसत्ता, धन आदि के तरह-तरह के प्रलोभन दिये। अनेक युक्तियों से उन्हें चारित्र से विचलित करना चाहा, लेकिन वे जरा भी न डिगे।

जापान आदि देशों में अनेक महिलाएँ शत्रुपक्ष की गुप्त बातों का पता लगा कर अपने राष्ट्र की सेवाभक्ति की दृष्टि से अपने चरित्र से भी भ्रष्ट हो जाती थीं। यानी शत्रुपक्ष के अधिकारियों को अपने मोहजाल में फंसा कर उनके साथ शील से भ्रष्ट हो कर उनकी गुप्त बातें निकलवा लेती थीं।

आचार—चारित्र—की रक्षा यत्नपूर्वक करो। धन तो आता है और चला जाता है। धन से क्षीण होने पर भी चारित्र सुरक्षित हो तो वह अक्षीण है, किन्तु अगर चारित्र से खत्म हो गया तो उसे खत्म हुआ समझो।

क्योंकि वे समझते थे कि राष्ट्र और समाज का चारित्र उन्नत रहेगा तो सब कुछ उन्नति हो सकेगी। इसीलिए प्राचीनकाल के गुरुकुलों में विद्यार्थी को स्नातक हो कर विदा होते समय आचार्य कहते थे—

"यान्यस्माकं सुचरितानि तान्येव त्वयोपास्यानि, नेतराणि।"

जो हमारे सुचारित्र्य (सम्यक् आचरण) हैं उन्हीं की आराधना तुम अपने जीवन में सदा करते रहना, दूसरों (बुरे आचरणों) की नहीं।

मतलब यह कि धन और सत्ता के लोभ में पड़ कर मनुष्य अपने चारित्र को भी तिलाञ्जलि दे बैठता है। उस जमाने में चारित्र को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता था। लेकिन आज पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव तेजी से भारत पर छाता जा रहा है। आज लक्ष्मी और सत्ता के सामने चारित्र की कोई कीमत नहीं समझी जाती। लोग कहते हैं—अमुक व्यक्तियों ने खूब सम्पत्ति इकट्ठी की है या अमुक वर्ग ने खूब पैसा कमाया है। लोगों के सुखसाधनों में वृद्धि हुई है, लेकिन इससे मुझे जरा भी प्रसन्नता नहीं होती। मुझे तो समाज या राष्ट्र की चारित्र-सम्पत्ति में वृद्धि देख कर आनन्द आता है। क्योंकि अर्थवृद्धि कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु नहीं है। मनुष्य अनीति, अन्याय, चोरबाजारी, बेईमानी, वेश्यावृत्ति आदि अनेकों बुरे उपायों से धन कमा लेता है, पर वह धन सुखवर्द्धक होता है या दुःखवर्द्धक ? बेईमानी से कमाया हुआ धन मनुष्यों की मनोवृत्ति बिगाड़ देता है,

"मैंने जब जमीन बेच दी है तो अब उसमें से जो कुछ भी निकले, वह खरीदने वाले का ही माना जायगा। इसलिए मैं चरु कैसे रख सकता हूं ?"

सिकंदर उन दोनों की दलीलें सुन कर आश्चर्य में पड़ गया। राजा ने दोनों का न्याय करते हुए कहा—"तुम दोनों के कोई सन्तान है ?" एक ने कहा—"मेरे एक लड़का है।" दूसरे ने कहा—"मेरे एक लड़की है।" राजा ने कहा—"तब यों करो! दोनों की शादी करके यह धन दहेज में दे दो।" इस न्याय से दोनों प्रसन्न और संतुष्ट हुए।

यह निर्णय सुन कर सिकंदर ने कहा—"तुम्हारा न्याय तो विचित्र है।" हमारे यहाँ तो किसी की जमीन में से चरु निकले तो वह किसी को पता न लगे, इस प्रकार घर में ही छिपा देता है। राजा को पता लग जाय तो वह राजा की मिल्कियत समझी जाती है और उसे राजा को सौंपना पड़ता है।

ऐसा था हिन्दुस्तान का चारित्रधन। यहाँ के लोग धन से भी बढ़ कर चारित्र की सुरक्षा करते थे! पर आज ? आज तो धन के आगे चारित्र दुम दबाए बैठा रहता है। इसीलिए कहा गया—

'आचारः प्रथमो धर्मः'

आचार—धर्म का आचरण करना पहला धर्म है।

चारित्र की महत्ता

रावण बड़ा भारी पराक्रमी व धनाढ्य राजा था, लेकिन उसे यहाँ पूजनीय नहीं मानाजाता। श्रीराम के पास सत्ता व सम्पत्ति थोड़ी होते हुए भी वे पूजनीय माने गए। लोकहृदय में राम ने स्थान पाया; रावण

परन्तु भारत ने इस प्रकार की सदाचार-भ्रष्टता को कभी नहीं अपनाया, न चारित्रिक पतन को प्रश्रय ही दिया।

यहाँ चारित्र में लोग कितने सुदृढ़ थे, उसका एक उदाहरण देता हूं—

सिकंदर बादशाह ने जब भारत पर आक्रमण किया तब की बात है। एक दिन पोरस के साथ सिकंदर राजसभा में बैठा था; तभी दो प्रजाजन पोरस से न्याय कराने आए।

बात यह थी कि एक व्यक्ति ने दूसरे को जमीन बेची थी। जिसने जमीन खरीदी थी, उसे जमीन पर हल चलाते समय एक सोने का चरु मिला। अतः वह उस सोने के चरु को लेकर जमीन के भूतपूर्व मालिक के पास आया और उससे कहा—"लो भाई, यह सोने का चरु तुम्हारी जमीन में से निकला है, इसलिए मैं तुम्हें देने आया हूं।" असली मालिक ने कहा—"यह चरु मैं कैसे ले सकता हूं? मैंने जमीन तुम्हें बेच दी, उसके बाद उस जमीन में से जो कुछ निकले, वह तो तुम्हारा ही है।" बस, इसी 'चरु' पर दोनों के बीच काफी गर्मागर्म बहस चली और जब दोनों में से कोई भी उस चरु को रखने के लिए तैयार न हुआ तब दोनों राजा के पास आए; और अपना मामला प्रस्तुत किया। दोनों की बात सुन कर राजा ने जमीन के वर्तमान मालिक से कहा—"तुमने वह जमीन खरीद ली है तो अब उसमें से जो भी निकले वह तो तुम्हारा ही माना जायगा। फिर तुम यह चरु क्यों नहीं रखते?" उसने जवाब दिया—मैंने जमीन जरूर खरीद ली है, लेकिन जमीन के अन्दर की सम्पत्ति का मालिक मैं कैसे हो सकता हूं?" फिर राजा ने उस जमीन के पुराने मालिक से पूछा—जब यह (किसान) तुम्हें चरु देने आया है तो तुम्हें उसे रख लेने में क्या आपत्ति है?" उसने उत्तर दिया—

और उसका पति सुन कर स्तब्ध होगए। सचमुच चारित्र ही भारत की आत्मा है।

चारित्रहीन मानव चेपीरोग वाला है

कोई टी. बी. या कैंसर जैसे भयानक चेपी रोग से ग्रस्त हो तो आप उससे बचने की कोशिश करेंगे। इसलिए कि वह संक्रामक रोग आपको न लग जाय। चारित्रहीन मानव भी चेपी रोग वाला है। वह दुश्चारित्र से अलग तो पतन करता ही है, साथ ही जो उसके सम्पर्क में आता है, उसका भी पतन होना शुरू हो जाता है। कोई आदमी शराबी, गंजेड़ी या भंगेड़ी के सम्पर्क में अधिकांश रहता हो तो प्रायः उसे इन दुर्व्यसनों का चेप लग जाता है। इसलिए चारित्रवान् बनने के लिए हमें दो काम करने होंगे— (१) चारित्रवान् लोगों की सोहबत में रहें। (२) अपने जीवन में धन और सत्ता को ठुकरा कर भी चारित्र को स्थान दें। चारित्र की हर संभव रक्षा करें। यही देश और समाज की सबसे बड़ी सेवा होगी।

अमेरिका में गुलामी प्रथा प्रचलित थी। उस समय 'एब्राहिम लिंकन और केपिटन जोन ब्राउन' ने इस भयंकर प्रथा को दूर करने के लिए सिरधड़ की बाजी लगा दी थी। कैपिटन महोदय ने देश का चारित्र ऊँचा उठाने के लिए एक संघ की स्थापना की और अपने देश-वासियों से कहा—"मैं इस संघ में हैजा, क्षय और प्लेग के बीमारों को खुशी से स्थान दूँगा, लेकिन चारित्रहीन मानव को नहीं। मेरे संघ में चारित्र-भ्रष्ट को बिलकुल स्थान नहीं दिया जायगा। वह सड़ी मछली की तरह है, जो सारे संघरूपी तालाब को गंदा कर देता है।"

हमारे देश में भी चारित्र के उत्थान के लिए ऐसे संघ बनें तो बहुत शीघ्र ही देश और समाज उन्नत हो सकता है।

ने नहीं। इसका क्या कारण था? इसका कारण चारित्र ही था। रावण ने चारित्र को गौण समझा, राम ने मुख्य। जिसने चारित्र को गौण समझा या उसकी उपेक्षा की, उसे भारतवर्ष ने कभी इज्जत नहीं दी। श्रीराम को इज्जत दी, उसका कारण उनका उन्नत चारित्र ही था। विद्वत्ता में हमारे यहाँ व विदेशों में महात्मा गाँधीजी से बढ़ कर कई लोग थे। लेकिन गाँधीजी के सामने वे झुकते थे। इसका कारण गाँधीजी के पास चारित्रसम्पत्ति ही थी। सत्ता अथवा सम्पत्ति गाँधीजी के पास नहीं थी। लेकिन उनकी चारित्रसम्पत्ति के आगे बड़े-बड़े सत्ताधारी, धनिक या विद्यावान् भी नतमस्तक होते थे।

हमारे यहाँ सज्जनता की परीक्षा कपड़ों या गहनों से नहीं होती थी, व्यक्ति के चारित्र से होती थी। गाँधीजी तो एक सादी खादी का छोटा-सा कपड़ा लपेट लेते थे, फिर भी उनकी बहुत प्रतिष्ठा थी और उन्हें महात्मा कहा जाता था, सो उनके चारित्रबल के कारण ही।

काषाय वस्त्र, सिर पर पगड़ी और हाथ में डंडा लिए जब स्वामी विवेकानन्द शिकागो (अमेरीका) की सड़कों पर से गुजर रहे थे। उनकी हिन्दुस्तानी संन्यासी की वेषभूषा देख कर अमेरिकावासियों के कुतूहल का पार न रहा। पीछे-पीछे चल रही एक महिला अपने पुरुष को आवाज देकर कहने लगी—"देखो तो सही, कैसी विचित्र और असभ्य वेश-भूषा है, इस महाशय की!" स्वामी विवेकानन्द ने जब यह सुना तो वे मुस्कराए और रुक कर उस बहन से कहने लगे—बहन! मेरे कपड़े देख कर आश्चर्य मत करो। तुम्हारे देश में आदमी की सज्जनता व उच्चता की परीक्षा कपड़ों पर से की जाती है, लेकिन मैं जिस देश से आया हूं, वहाँ (भारत में) मनुष्य की सज्जनता व उच्चता की परीक्षा उसके चारित्र से की जाती है, यही फर्क है।" महिला

से गरीब और अपढ़ आदमी भी बन सकता है। चारित्रसम्पन्नता के लिए तो अपनी ही बुद्धि को सम्यग्ज्ञान से सुशिक्षित करने और सम्यग्दृष्टि से वस्तुस्वरूप समझ कर हृदय को समझाने की जरूरत है। अगर ये दोनों काम आप कर लेते हैं तो चाहे आप कितने ही गरीब या अपढ़ क्यों न हों, आप चारित्र पर टिके रह सकेंगे।

प्राचीन समय में रोम में कूरियस नाम का एक नेता हो गया है। रोम के शत्रु उससे कांपते थे। ऐसा पुरुष चाहता तो राजा भी बन सकता था, लेकिन वह बड़ी सादगी से जिंदगी बिताता था। सेमाइट जाति के लोग रोम के शत्रु थे। उन्होंने कूरिअस को फुसला कर अपने पक्ष में मिला लेने के लिए दूत भेजे। क्योंकि कूरिअस जिसके पास में होता उसकी जीत निश्चित थी। सेमाइट के दूत जब कूरिअस के पास पहुंचे तो वह चूल्हे पर भोजन बना रहा था। दूतों ने उसे सोने की थैली बता कर कहा—कूरिअस ! तुम सेमाइट लोगों के पक्ष में आजाओ और रोम के खिलाफ युद्ध करो तो यह सब सोना तुम्हारा हो जायगा।" कूरिअस ने हंस कर उत्तर दिया—"मैं गाजर पका रहा हूं। और जो आदमी गाजर से गुजारा कर सकता है, उसे तुम्हारे इस सोने की आवश्यकता नहीं।" सेमाइट के दूत अपना-सा मुंह लेकर चले गए।

यह है गरीबी में भी चारित्र की दृढ़ता का नमूना !

न्यूयार्क शहर के समाचार पत्र 'न्यूयार्क टाइम्स' के सम्पादक जार्ज जोन्स को वहाँ के धनवान लोगों ने कहा—"यदि आप हमारी बुराइयों के बारे में कुछ न लिखें, पत्र में भी न छापें और चुप रहें तो हम आपको ३३ लाख रुपये देंगे।" लेकिन उस चारित्रवीर ने इस निन्द्यकर्म के प्रस्ताव को ठुकरा कर अपनी चारित्रदृढ़ता का सबूत दिया।

चारित्र की बदौलत ही साधन-सम्पन्नता

आपको आज जो मनुष्यजन्म, उत्तमकुल, सर्वांगपूर्ण शरीर, धर्म की प्राप्ति, साधुसत्संग, तथा विद्या, धन आदि जो भी विकास के उत्तमोत्तम साधन या अवसर प्राप्त हुए हैं, वे किसकी बदौलत हुए हैं? शास्त्र कहते हैं, यह सब पूर्वजन्म में किये गए धर्माचरण (चारित्रपालन) का ही फल है। सम्यग्चारित्र पालन करके ही इतनी सुन्दर सामग्री आप प्राप्त कर सके हैं, लेकिन यह कमाई तो पहले जन्मों की है। अगर आप इस कमाई को इस जन्म में यों ही गंवा देंगे, फालतू के कामों में, ऐशआराम में या धन व सत्ता की अन्धी-दौड़ में ही खर्च कर देंगे तो फिर अगले जन्म में या इस जन्म के अन्तिम भाग में आप साधनहीन हो कर दुःख पाएँगे। इसलिए अभी से सावधान हो कर चारित्र (धर्माचरण)-धन को एकत्रित करने में अपना जीवन लगाओ। अन्यथा, बाद में पछताना पड़ेगा। हाथ से बाजी चले जाने के बाद फिर मौका नहीं आएगा। अतः चारित्रधन का उपार्जन करने के लिए हर हालत में तैयार रहो। यदि आप व्यापारी हैं, डाक्टर हैं, वकील हैं, इंजीनियर हैं, कारखानेदार हैं या और किसी पेशे वाले हैं तो कोई चिन्ता नहीं, हर धंधे और पेशे में चारित्रधन को सुरक्षित रखा जा सकता है।

चारित्रवान् तो हर वर्ग का व्यक्ति बन सकता है।

कई लोग कहा करते हैं कि हमारे पास धन नहीं है। गरीबी में खाने के ही लाले पड़ रहे हों वहाँ चारित्र को सुरक्षित कैसे रखें? 'बुभुक्षितं न प्रतिभाति किंचित्' इस कहावत के अनुसार भूखे पेट चारित्र की सुरक्षा दुष्कर है। लेकिन यह उनका भ्रम है। मनुष्य चाहने पर भी धनवान नहीं बन सकता, विद्यावान भी चाहने पर नहीं बन सकता, यह हम मानते हैं, लेकिन चारित्रवान् तो गरीब

के। सम्यग्चारित्र साधक में तभी आता है, जब १६ कषाय, नौ नोकषाय, इन २५ कषायों का क्षय, उपशम या क्षयोपशम हो। मतलब यह है कि सम्यग्चारित्र के आने पर साधक का गुणस्थान बढ़ता जाता है और मिथ्याचारित्र में पहले से लेकर चौथे गुणस्थान तक ही रहता है।

सम्यग्चारित्र के अंग

सम्यग्चारित्र के मुख्यतया दो भेद है—सर्वचारित्र, देशचारित्र। सर्वचारित्र साधुसाध्वियों के लिए है और देशचारित्र गृहस्थों के लिए है। इन दोनों के ५ मूल अंग हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। साधुओं के लिए जो ५ अंग हैं, वे महाव्रत कहलाते हैं और गृहस्थों के लिए जो पांच अंग हैं, वे अणुव्रत कहलाते हैं।

इनके और भी उपांग वगैरह हैं। किन्तु इतने विस्तार में मैं अभी नहीं जाऊँगा। इतना ही कहूंगा कि सम्यग्चारित्र की महक आपके जीवन में आजायेगी तो वह आपके परिवार, समाज और राष्ट्र सबको सुगन्धित कर देगी। जरूरत है, इसे भावनापूर्वक अपनाने की।

स्थान—गौड़ीजी का उपाश्रय } वि० संवत् २००६
पायधुनी, बम्बई } भाद्रपद वदी ६

सम्यग्चारित्र क्या है ?

अब सवाल यह होता है कि सम्यग्चारित्र क्या है ? असल में धर्म के जितने भी अहिंसा-सत्यादि अंग हैं, उन सबका एवं जो धर्म-साधना के लिए हितकर क्रियाएँ हैं, उन सबका आचरण सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक करना ही सम्यग्चारित्र है। जिस आचरण से सार्वत्रिक और सार्वकालिक सबका हित हो, वह सम्यग्चारित्र है। एक आचार्य ने इसी आशय से चारित्र का लक्षण किया है—

"असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं"

जिसमें अशुभ (अहितकर प्रवृत्ति) से निवृत्ति हो और शुभ में प्रवृत्ति हो उसे चारित्र समझो। वैसे संस्कृत भाषा के अनुसार चारित्र का अर्थ होता है—'जो आठ कर्मों को चरे, भक्षण करे; अथवा आत्मा में विचरे। चै=संचय रीत=यानी खाली करना; जिससे कर्मों का संचय खाली हो उसे चारित्र कहते हैं।

सम्यग्चारित्र और मिथ्याचारित्र में अन्तर

सम्यक्चारित्र में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान साथ-साथ रहते हैं, जबकि मिथ्याचारित्र में ये दोनों साथ नहीं होते। व्यक्ति बिना सोचे समझे, बिना दूरगामी दृष्टि से विचारे अन्धाधुन्ध प्रवृत्ति करता जाता हो, अविवेकपूर्वक प्रवृत्ति या क्रिया करता हो, वहाँ मिथ्या-चारित्र है। भले ही फिर ऐसे मिथ्याचारित्र में कष्ट ज्यादा ही सहना पड़ता हो। मिथ्याचारित्र दुश्चारित्र या दुराचार नहीं है। मिथ्या-चारित्र और दुश्चारित्र में बहुत ही अन्तर है। कुछ साधक राह पर चलते हैं तो उनके पाँवों की गति में भूकम्पी प्रेरणा होती है, कुछ लोग राह पर चलते हैं, बिना रास्ता जाने पहिचाने और डगमग चाल से। पहले यात्री सम्यग्चारित्र के धनी हैं, दूसरे मिथ्याचारित्र

"असंखयं जीवियं मा पमायए।
जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं॥"

तेरा जीवन असंस्कृत है, धर्मकला से संस्कारी बना हुआ नहीं है। इसलिए प्रमाद मत कर। जब बुढ़ापा आ घेरेगा तब ऐसे असंस्कृत व्यक्ति के जीवन की रक्षा करने वाला कोई नहीं होगा। जबकि सुसंस्कृत व्यक्ति धर्मकला का अभ्यासी होने से बुढ़ापे को भी सुखमय बना लेगा; मृत्यु भी उसे सुखकर प्रतीत होगी।

धर्मकला सब कलाओं से बढ़कर

धन कमाने की कला में शायद आप उस्ताद हैं। कई लोग लड़ने-झगड़ने की कला में प्रवीण होते हैं। कई लोग जिन्दगी को मौजशौक की वस्तु समझ कर उसे ऐशआराम से, स्वादिष्ट व चटपटी वस्तुएँ खा-पी कर, नशीली चीजों का सेवन कर प्रमादी जीवन बनाने की कला में दक्ष होते हैं। विषयों और कषायों की घुड़दौड़ में जीतने में वे माहिर होते हैं। ठगने, धोखा देने, चोरी और लूटपाट की कला में कई निष्णात होते हैं।

आप कहेंगे यह सब कलाएँ नहीं हैं। ये तो कला के नाम पर कला को बदनाम करती हैं। कला की भ्रान्ति को कला समझना भूल है। ये सब भौतिक कलाएँ भी तो नहीं हैं। शिल्पकला, कृषिकला, लेखनकला आदि सब ७२ कलाएँ प्राचीनकाल में भौतिक कलाओं में गिनी जाती थीं; लेकिन आन्तरिक कला या आध्यात्मिक कला कुछ और है। और वही जीवन-निर्माण करने की वास्तविक कला है। उपर्युक्त भौतिक कलाएँ मनुष्य में हों, लेकिन उनमें जीवन-निर्माण करने, जीवन को सुसंस्कृत बनाने के लिए धर्मकला न हो तो सारा ही जीवन बेकार है। धर्मवाक्य कहता है—

१३

धर्मकलामय जीवन

पत्थर जब खान में से निकलता है, तब वह बेडौल, खुरदरा और भद्दा होता है। उस स्थिति में उस पत्थर का कोई खास उपयोग नहीं होता। मगर जब वही पत्थर शिल्पी के हाथ में आ जाता है, तब वह अपनी पैनी छैनी और हथोड़े से पीट-छील कर उसमें अपनी कला उंड़ेल कर उसे सुघड़ और सुन्दर बना देता है। एक मामूली-सा पत्थर कलाकार के हाथ में आ कर बहुमूल्य बन जाता है। मानव-जीवन का भी यही हाल है। मानव-जीवन भी प्रारम्भ में पत्थर-की तरह बेड़ौल, भद्दा, असंस्कृत और विषय-कषायों से विषम बना हुआ होता है। जीवन का कलाकार अपनी धर्मकला से उस विषम, असंस्कृत और भद्दे जीवनरूपी पत्थर को सम, सुन्दर, सुसंस्कृत और कलामय बना लेता है।

परन्तु अधिकांश लोग धर्मकला से अनभिज्ञ, भ्रान्त तथा धर्मकला के सीखने में प्रमादी और निरपेक्ष होते हैं। वे धर्म को जीवन में अपनाने में शर्म महसूस करते हैं; धर्म की मजाक उड़ाते हैं, उसे ढोंग और दम्भ मानते हैं। ऐसे लोगों को बोध देने के लिए धर्म-कलाकार भ० महावीर फरमाते हैं—

के लिए त्याग करने, सहयोग देने और सहानुभूति दिखाने तथा इन्द्रियों के विषयों (खान-पान, ऐशआराम आदि) पर संयम रखने की धर्मकला में ऐसा वर्ग अभ्यस्त है। ये शान्तिपूर्वक संतोष से जीवन यापन करते हैं। अल्पसामग्री से अपना जीवन सुखद बनाने में अभ्यस्त हैं।

आपसे पूछा जाय कि आप समाज के इन दोनों कोटि के वर्ग में से किसमें रहना पसंद करेंगे ? आप विज्ञानकला में किन्तु साथ ही दुर्गुणसम्पादन-कला में पारंगत समाज में रहना चाहेंगे या अल्प साधनों से संतोष और शान्तिपूर्वक जीवनयापन करने और संयममय धर्मकला में अभ्यस्त समाज में रहना चाहेंगे ? पहले समाज में सुख के प्रचुरतम साधन उपलब्ध होने पर भी सुखाभास है या क्षणिकसुख है, क्योंकि वहाँ धर्मकला का अभाव है; जबकि दूसरे समाज में सुख के साधन अल्प होने पर भी अलपसाधनों से संयम और स्वार्थ-त्यागपूर्वक जीवनयापन करने की धर्मकला होने से वास्तविक और स्वाधीन सुख सबको प्राप्त है। निष्कर्ष यह है कि दूसरी कलाएँ अपने-आपमें कोई सुखदायक नहीं, जबकि धर्मकला दूसरी कलाओं के अभाव में भी सुखदायक है।

धर्मकलाहीन जीवन नीरस है !

कई लोग यह कहा करते हैं कि धर्मकलामय जीवन तो नीरस होता है; जिसमें न तो आमोद-प्रमोद है, न मनोरञ्जन है, न हंसी-खुशी है, मनहूस-सा रूखासूखा जीवन है ! परन्तु यह धर्मकला को ठीक तरह से न समझने का परिणाम है।

धर्मकलामय जीवन केवल साधु का ही है या हो सकता है, ऐसी एकान्त बात नहीं है। साधु का जीवन तो धर्मकला से ओतप्रोत होता

'सव्वा कला धम्मकला जिणेई'

अर्थात्—'समस्त कलाओं से धर्मकला जीतती है।' धर्मकला के अभाव में सारी कलाएँ निष्प्राण हैं।

कौन-सी कला सुखदायक है ?

समग्र मानवसमाज में मुख्यतया दो कोटि के वर्ग हैं। पहले वर्ग में विज्ञान की प्रचुर प्रगति है। जहाँ जीवन के प्रत्येक सुख के साधन वैज्ञानिक कला से प्राप्त किये जाते हैं। रेल, मोटर, विमान, तार, टेलीफोन, टेलीविजन, रेडियो, आधुनिक चलचित्र, सौन्दर्य-प्रसाधन के विविध साधन, यहाँ तक कि खाने, खाना बनाने और हर काम करने वाले तक के यंत्र-मानव व यांत्रिक साधन विज्ञान की कला से उपलब्ध हैं। भौतिक सुख में कोई कमी नहीं। परन्तु ऐसे वर्ग में आध्यात्मिकता या धर्म का नामोनिशान नहीं। सभी अपने-अपने स्वार्थ में रचे-पचे हैं। यहाँ तक कि मातापिता और पुत्रों का आपसी सम्बन्ध और व्यवहार भी हिसाबी बना हुआ है। इसके साथ ही घृणा, द्वेष, वैरविरोध, कलह, शोषण, दम्भ, दिखावा, झूठी प्रसिद्धि, लूट और हत्या की कला का बोलबाला है। जीवन में दुर्व्यसनों का जाल बिछा हुआ है। इन्द्रियों के अत्यधिक दुरुपयोग और विषयासक्ति के कारण बीमारी, बेचैनी, मानसिक अशान्ति लगी हुई है।

दूसरे वर्ग के पास इतने वैज्ञानिक साधन उपलब्ध नहीं हैं; यद्यपि जमाने की हवा ऐसे वर्ग को भी लगी है। परन्तु उस वर्ग में प्राचीन भौतिक कलाओं के साथ-साथ धर्ममय जीवन जीने की कला है। ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार और अतिस्वार्थ आदि दुर्गुण वहाँ ढूंढे भी नहीं मिलते। सुखदुःख में एक दूसरे के सहायक बनने, जीवन में दूसरे

व उन पर नियंत्रण जरूर करने का कहा गया है। ऐसा स्वेच्छा से किया हुआ नियंत्रण, त्याग, तप, नियम या व्रत अखरने वाला, सुख में बाधा डालने वाला या सरसता को भंग करने वाला नहीं होता। इसलिए गृहस्थजीवन में भी धर्मकलामय जीवन नीरस दुःखद या मनहूस नहीं होता। उसमें मनोरञ्जन भी होता है, लेकिन सात्त्विक। संगीत भी होता है, लेकिन सत्त्वगुणवर्द्धक! कहानियों, नाटकों, उपन्यासों एवं अन्य विषयों के साहित्य का पठनपाठन भी होता है, लेकिन वह धर्मरुचिवर्द्धक, संयम की ओर ले जाने वाला, त्यागप्रेरक होता है। जैसा कि भर्तृहरि कहते हैं—

"साहित्य संगीतकला विहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।"

"जो साहित्य और संगीत कला से विहीन है, वह तो बिना पूंछ और सींगों का निरा पशु ही है।"

यह स्थिति धर्मकलामय जीवन में नहीं होती। यहाँ साहित्य, संगीत आदि ललितकलाएँ जरूर होती हैं, परन्तु त्याग, वैराग्य, संयम, धर्म आदि में रुचि बढ़ाने वाली होती हैं। मतलब यह कि यहाँ अर्थकला और कामकला (जिनमें ये सब भौतिक कलाएँ आ जाती हैं) पर धर्मकला का आधिपत्य रहता है; धर्मकला पर ये भौतिक-कलाएँ हावी नहीं होतीं।

इसलिए यह स्पष्ट तौर पर कहा जा सकता है कि धर्मकलामय जीवन नीरस और निरानन्द नहीं होता, बल्कि धर्मकलारहित जीवन पद-पद पर दुःख, संकट और चिन्ताओं से घिरा होने के कारण प्रायः नीरस और निरानन्द होता है।

भगवान् महावीर स्वामी ने अपने पट्टधर शिष्य गणधर गौतम स्वामी को इस विषय में देशना देते हुए एक दृष्टान्त देकर समझाया था—

ी है, इसलिए उसके जीवन में तो संतोष, त्याग, संयम, तप आदि स्वाधीनसुख के कारण मौजूद होने से अत्यन्त मस्ती और आनन्द है ही। इसीलिए कहा है—

"न वि सुही देवता देवलोए, नवि सुही पुढवीपइ राया।
नवि सुही सेट्ठी सेणावइ, एगंत सुही साहू वीतराया॥"

इस संसार में न तो देवलोक में देव सुखी हैं, न पृथ्वी पर राज्य करने वाला राजा ही सुखी है, न सेठ और न सेनापति ही सुखी हैं, जैसा एकान्त सुखी वीतराग साधु है; वैसा कोई भी सुखी नहीं है।

अगर रागद्वेषमोह आदि विकारों पर विजय प्राप्त करने वाले साधुओं का जीवन नीरस, मनहूस और निरानन्द या व्याकुल होता तो कभी एकान्त सुखमय न होता। इसलिए धर्मकलामय जीवन नीरस नहीं है, वल्कि आत्मानन्द की मस्ती से ओतप्रोत है। रहा गृहस्थ का धर्मकलामय जीवन। वह भी धर्मकलाहीन व्यक्ति के जीवन से तो कई गुना सरस, सुखमय और मस्ती का होता है। गृहस्थ तो उपभोग्य और परिभोग्य सभी वस्तुओं का उपभोग-परिभोग करता है, व्यापार धंधा भी करता है, धन का उपार्जन और संग्रह भी करता है, अपनी विवाहिता पत्नी के साथ रह कर कामसुख का उपभोग भी करता है, आरम्भ-समारम्भ भी करता है, लेकिन इन सवके साथ धर्ममर्यादा का स्वैच्छिक प्रतिवंध अवश्य है। और वह प्रतिवन्ध ऐसा नहीं है कि उससे गृहस्थ का काम अटक जाय या गृहस्थजीवन अखरने लगे। गृहस्थजीवन में पालन करने योग्य पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इसके साक्षीरूप हैं। सर्वथा त्याग या पूर्ण संयम किसी भी वस्तु पर नहीं वताया गया है, लेकिन जो वस्तुएँ धर्ममर्यादा के लिए अयोग्य, अशोभनीय, दुःखकारक, दुःख-वर्द्धक एवं समाज व राष्ट्र की व्यवस्था के लिए घातक हैं, उनका त्याग

ढूंढने में लगा ही था कि जौहरी का लड़का जाग गया। उसने कस कर चोर को पकड़ लिया और रस्सों से उसके हाथ-पैर बांध कर सुबह होते ही कौशाम्बी के बाजार में घुमाया। इस प्रकार सहस्रमल्ल चोर की बेइज्जती करके उसके घर के आगे जौहरी के लड़के ने उसे छोड़ दिया। सहस्रमल्ल चोर अपनी माँ के पास आ कर रोने लगा—"माँ! आज तो गुनाह बेलज्जत हो गया।" उसकी माँ ने पूछा—"बेटा! क्या बात हुई; जिससे तुझे पकड़ कर सरेआम बाजार में घुमाया गया?" सहस्रमल्ल—"मैं शहर के प्रसिद्ध जौहरी के यहाँ सेंध डाल कर चोरी करने के लिए ज्योंही घुसा था कि रंगे हाथों पकड़ लिया गया। फिर उसने सारे शहर में मुझे घुमा कर मेरी बेइज्जती की। इसलिए मुझे रोना आता है!" सहस्रमल्ल की माता भी धर्म-कला के महत्त्व से अनभिज्ञ थी। वह भी चाहती थी कि मेरा बेटा किसी तरह से धन बटोर कर लाए और हम शीघ्र मालामाल होकर मौज करें। इसलिए उसने भी प्रोत्साहन देने की दृष्टि से अपने बेटे से कहा—"बेटा! जो चोरी करते हैं, वे कभी रोया नहीं करते। चोरी करके रोना अपनी चौर्यकला को बदनाम करना है। मैं तुझे इस विषय में एक दृष्टान्त देकर समझाती हूं—

एक सेठ के यहाँ एक चोर चोरी करने गया। लेकिन उसे बहुत टटोलने पर भी माल का पता न लगा। अतः वह सेठ के शयनगृह की दीवार के पास छिप गया ताकि सेठ-सेठानी की बातचीत सुन कर धन का पता लगा सके। संयोगवश सेठ अपने पुत्र को समझा रहा था—"बेटा! अपना अधिकांश धन एक जगह गाड़ देना चाहिए। मैं समझता हूं, शयनगृह के पास वाले गड्ढे में ही गाड़ना ठीक रहेगा।" लड़का पिता की सलाह के अनुसार गड्ढे में धन गाड़ देता है। चोर यह सब देख-सुन रहा था। सुबह होने वाली थी। चोर ने सोचा—अब झटपट जा कर वह धन खोद कर निकाल

कौशाम्बी नगरी में सहस्रमल्ल नाम का एक श्रेष्ठीपुत्र रहता था। वह चोरी, जारी, लूटपाट, हत्या, दुर्व्यसन तथा आमोदप्रमोद आदि सभी कुकलाओं में प्रवीण था। उसमें धर्मकला का अंश भी नहीं था। उसका पिता उसे बहुत समझाता, लेकिन वह इस पर कोई ध्यान नहीं देता था। पिता के जीवित रहते छिप-छिप कर ये सब कुकृत्य करता था, लेकिन पिता की मृत्यु के बाद तो बेखटके इन कुकृत्यों को करने लगा।

एक बार वणिक् का वेश बना कर वह नगरी के एक बड़े जौहरी की दूकान पर जा चढ़ा। जौहरी से कहा—"मुझे कुछ बहुमूल्य रत्न खरीदने हैं, दिखाइए!" जौहरी ने उसे बड़ा व्यापारी समझ कर कीमती से कीमती रत्न बताए। रत्न देख कर धीरे से वह जौहरी से कहता है—"मुझे आपके ये-ये रत्न पसंद आ गए हैं। मगर अभी मेरे पास रुपये नहीं हैं। मैं घर से चला था, तब कोई विचार नहीं था, आज रत्न खरीदने का! इसलिए साथ में रुपये नहीं लाया। लेकिन रास्ते में एकाएक विचार आया कि आज मुझे एक जगह शादी में जाना है, वहाँ रत्न भेंट देने हैं, इसलिए जरूरत पड़ेगी। अतः आप मुझे ये रत्न ले जाने दीजिए। इनके रुपये कल पहुंचा दूंगा।" जौहरी ने इन्कार करते हुए कहा—"माफ कीजिए, मैं किसी को माल उधार नहीं देता। नकद रुपये से माल बेचने का मेरा नियम है।" फलस्वरूप श्रेष्ठीपुत्र सहस्रमल्ल जौहरी की दूकान को घूमफिर कर भलीभांति देखकर चला गया। घर आ कर वह जौहरी के यहाँ चोरी करने की योजना बनाता है। चौर्यकला में सहस्रमल उस्ताद था ही। उसने रात को जौहरी की दूकान के पीछे से सेंध डाली और अन्दर घुसा। 'सौ सुनार की तो एक लुहार की' इस कहावत के अनुसार चोर हमेशा ही अपनी कला में सफल नहीं हुआ करते, कभी धर्मकला वाले के प्रबल पुण्य उसे असफल बना देते हैं। सहस्रमल्ल धन

आधा धन वापिस दे देता हूं।" सेठ का लड़का सहमत होगया और आधा धन लेकर घर चला आया।"

सहस्रमल्ल चोर की माता ने यह दृष्टान्त सुनाकर कहा—"वेटा ! इसी तरह चोर को रोना और डरना विलकुल नहीं चाहिए। हिम्मत के विना चोरी थोड़े ही की जा सकती है।" आखिर हिम्मत करके सहस्रमल्ल चोर वेशपरिवर्तन करके पुरोहित के घर में चोरी करने गया। वहाँ काफी माल हाथ लगा। उसे लेकर वह अपनी मां के पास आया। माँ ने पूछा—"कहो वेटा ! यह धन कैसे और कहाँ से लाये ?" सहस्रमल्ल वोला—"अपने मुंह से मैं अपनी कला की क्या तारीफ करूं ? तुम स्वयं ही सुवह नगर के वाहर जाकर सारा हाल सुन लेना। मेरी कला का पता लग जायगा।" सहस्रमल्ल चोर की माता सुवह होते ही नगर के वाहर गई तो वहाँ शोर मचा रहा था कि "कोई धूर्त चोर पुरोहित के यहाँ से वहुत-सा माल चुरा ले गया है।" वात फैलते-फैलते राजा के कानों में पहुंची। राजा ने अपने सिपाहियों को इसकी तलाश करने का आदेश दिया। उधर राजदरवार में जाकर वही धूर्त चोर व्यापारी के वेश में प्रतिज्ञा करता है कि—"मैं चोर को पकड़ूंगा।" एक नाई ने भी ऐसी प्रतिज्ञा की। चोर की माता ने शहर में फैल रही ये अफवाहें अपने लड़के को आकर सुनाईं। चोर सफेदपोश व्यापारी का वेष वनाकर उस नाई के पास गया। नाई ने उसे साहूकार समझ कर आदर-सत्कार दिया। सफेदपोश चोर ने नाई से कहा—"तुम्हारे लड़के को मेरी कपड़े की दूकान पर भेज दे। मैं उसे कुछ कपड़ा भेंट दूँगा।" नाई का लड़का वहाँ गया तो उस सफेदपोश व्यापारी ने उसके लिए कपड़ा वांध दिया और कहा—"अभी तो तुम घर जाओ। अपने पिताजी से चोर का पता लगाने का कहना। मैं वाद में यह कपड़ा तुम्हारे यहाँ भिजवा दूँगा।" इस प्रकार चिकनी-चुपड़ी वातें करके अपनी

लेना चाहिए। वह वहाँ गया और धन निकालने के लिए गड्ढे को खोदने लगा। परन्तु खटखट की आवाज सुन कर सेठ का लड़का जाग गया। वह तुरन्त घटनास्थल पर पहुंचा। चोर ने देखा कि सेठ का लड़का आ रहा है तो उसने एकदम श्वांस खींचकर बन्द कर लिया और मुर्दे की तरह निश्चेष्ट हो गया। सेठ के लड़के ने पास आकर देखा तो मुर्दा पड़ा देख कर वह डरा। उसने अपने पिता से आकर सारा हाल कहा। पिता ने कहा—"वह भूत नहीं, कोई धूर्त होगा। चोरी करने आया होगा। आहट सुन कर निश्चेष्ट हो गया होगा। तू उसके नाक-कान काट ले। पता चल जायगा कि मुर्दा है या धूर्त।" सेठ का लड़का छुरी से चोर के नाक-कान काटने लगा। परन्तु चोर ऐसा उस्ताद निकला कि उस समय जरा भी हिला-डुला नहीं, बिलकुल चुपचाप रहा। सेठ के लड़के ने समझ लिया कि यह मुर्दा ही है। अतः वह बाहर निकाले हुए धन को वापिस उसी गड्ढे में डाल कर, गड्ढे को अच्छी तरह बन्द करके पिता के पास चला आया। आकर पिताजी से सारा हाल कहा। पिता को भी उसके मुर्दा होने का विश्वास हो गया। इधर मौका पा कर उस धूर्त चोर ने फिर आहिस्ते से गड्ढा खोद कर धन निकाल लिया और लेकर चंपत हो गया। सुबह सेठ का लड़का वहाँ आकर देखता है तो धन नदारद! उसने सोचा—हो न हो वही मुर्दा बना हुआ चोर इस धन को ले गया है। उसने चोर का पीछा किया। चोर गाँव से कुछ दूर जंगल में ही मिल गया। उससे सेठ के लड़के ने पूछा—"सच, सच बता, जब मैं तेरे कान-नाक काट रहा था, तब भी तू निश्चेष्ट व चुपचाप होकर कष्ट कैसे सहता रहा?" चोर बोला—"उस समय चोर के लिए रोना और चिल्लाना बिलकुल वर्जित है! अगर मैं रोता तो मेरी चौर्यकला बदनाम होती। खैर, अब एक बात मैं तुमसे चाहता हूं कि तुम इसकी सूचना राजदरबार में न देना। मैं तुम्हें इसमें से

के लिए ठुकरा कर सहर्ष वनवास का स्वीकार किया। वनवास में भी उन्हें डिगाने के लिए अनेक भय और प्रलोभन आए, लेकिन वे उनके जाल में नहीं फंसे, धर्म के मार्ग पर अटल रहे। राम के परिवार में धर्मकला जीवित थी। इसी कारण उनके परिवार के हर सदस्य में स्वार्थत्याग की भावना प्रबल थी। जहाँ स्वार्थत्याग, संयम और तप की भावना हो, समझ लो, वहाँ धर्मकला आ गई। राम के सारे परिवार में एक दूसरे को देने की भावना थी, लेने की नहीं। माताएँ, पिता, छोटे-बड़े भाई, भाइयों की बहुएँ सबके सब धर्म के रंग में रंगे हुए थे। इसी कारण भरत कहते थे—'अयोध्या का राज्य मैं नहीं लूंगा' और राम कहते थे—'मैं भी अयोध्या के सिंहासन पर नहीं बैठ सकता।' यह देने की लड़ाई थी, लेने की नहीं। जहाँ देने की लड़ाई हो, वहाँ कर्त्तव्य-भावना आती है और लेने की लड़ाई हो, वहाँ अधिकार-भावना आ जाती है। कर्त्तव्य-भावना धर्म का अंग है और अधिकार-भावना स्वार्थ का।

सत्यवादी हरिश्चन्द्र का नाम तो आप जानते ही होंगे। धर्मकला में अभ्यस्त होने से सत्य के लिए राजपाट, धन-धाम, स्त्रीपुत्र आदि प्रियवस्तुओं को छोड़ने में उन्हें कितना कष्ट सहना पड़ा था? लेकिन उन्हें वह कष्ट कष्ट नहीं महसूस हुआ। उन्होंने राजपाट, पत्नीपुत्र या घरबार के मोह में पड़ कर अपने धर्म का त्याग नहीं किया। यही तो धर्मकला से अभ्यस्त जीवन है।

धर्मकलामय जीवन का प्रभाव

चक्कवेण राजा बड़े ही धर्मात्मा, सत्यवादी, त्याग, संयम और तप से अभ्यस्त धर्मकलामर्मज्ञ ज्ञानी पुरुष थे। वे राजकोष के द्रव्य को दूषित समझ कर अपने व अपनी पत्नी के काम में नहीं लेते थे। प्रजा से जो कर लिया जाता, उसे प्रजा की सेवा के कार्यों में ही

चोरी पर पर्दा डाल दिया। और सिफ्त से वह चोर दण्ड पाने से बच गया।

क्या यह चौर्यकला जीवन को सरस और सुखदायी बनाती है? चोरी की कला में सहस्रमल्ल को कितनी चिन्ता, कितना भय और कितनी चालाकी हर समय करनी पड़ती थी! यह भी कोई जीवन है? मस्ती और निराकुलता तो ऐसे जीवन में होती ही नहीं! अगर इसके बदले सहस्रमल्ल अपने जीवन को धर्मकला में दक्ष बनाता तो उसका जीवन कितना निराकुल, सुखशान्तिमय और मस्त हो जाता!

जैसे हमारे पैर में कांटा लगने पर या आँख में धूल का कण पड़ जाने पर अथवा दांत में फांस चिपक जाने पर वह खटकती रहती है, हमें असह्य होजाती है, वैसे ही धर्मकलाविहीन जीवन हमें असह्य लगना चाहिए।

धर्मकला में अभ्यस्त व्यक्ति का जीवन

धर्मकला जिसके जीवन में आ जाती है, उसका जीवन हर क्षेत्र में धर्म से ओतप्रोत होता है। चाहे वह सामाजिक क्षेत्र हो या आर्थिक; राजनीति का क्षेत्र हो या आध्यात्मिक, शिक्षा का क्षेत्र हो या संस्कृति का। किसी भी क्षेत्र में वह धर्म या धर्ममर्यादा के विरुद्ध काम नहीं कर सकता। उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति धर्मकलामय होगी। खाने-पीने, पहनने-ओढने, विचार और व्यवहार में वह धर्म को आगे रखेगा।

मर्यादा पुरुषोत्तम राम का जीवन धर्मकलामय था। इसी कारण उन्होंने अपने लिए निश्चित व घोषित राज्यलाभ को भी धर्मपालन

हूं। मुझे आपसे सवा मन सोना कर के रूप में प्राप्त करने के लिए भेजा है।" मंत्री ने लंका में जाकर चक्रवेण राजा का संदेश सुनाया। सुनते ही रावण ने हंस कर सभासदों से कहा—"संसार में ऐसे मूर्ख राजा भी हैं, जो देवराक्षसादि से भी कर लेने वाले मुझ से कर मांगते हैं।' उसने चक्रवेण के दूत को कैद करना चाहा, पर सभासदों के अनुरोध से छोड़ दिया। रावण ने रात को मंदोदरी को यह घटना विनोदपूर्वक सुनाई। मंदोदरी ने दुःख प्रगट करते हुए कहा—"नाथ! आपने बहुत बुरा किया। मैं चक्रवेण को जानती हूं। वे सत्यवादी, धर्मात्मा राजा हैं। उनका चक्र सदा चलता रहता हैं। जो आज्ञापालन नहीं करता, उसका अनिष्ट हो जाता है।" रावण—"तू डरपोक है। मैं ऐसे नृपों की परवाह नहीं करता।" मंदोदरी—"नाथ! आपको विश्वास न हो तो मैं कल आपको चक्रवेण राजा का प्रभाव बता दूँगी।" प्रातः होते ही रावण को साथ लेकर मंदोदरी महल की छत पर गई; जहाँ रोज कबूतरों को दाना डाला जाता था। मंदोदरी ने कबूतरों से कहा—"राजा रावण की दुहाई है, खबरदार! दाना न चुगना।" पर दुहाई देने पर भी वे चुगते रहे। रावण बोला—'ये पक्षी बेचारे दुहाई में क्या समझें?" रानी ने चक्रवेण राजा की भी इसी प्रकार दुहाई दी। सुनते ही सब पक्षियों ने एकसाथ दाना चुगना बन्द कर दिया। एक कबूतर बहरा था, उसने नहीं सुना। वह दाने चुगता रहा। फलतः उसका मस्तक कट कर गिर गया। जब दुहाई हटाई तो सब कबूतर दाना चुगने लगे। इधर चक्रवेण राजा के मंत्री (दूत) ने नगरी के बाहर समुद्रतट पर एक नकली लंका की रचना की। कोट, परकोट, बुर्ज आदि हूबहू बनाए। मंत्री ने रावण की सभा में आकर कहा—"मैं आपको एक कौतुहल बताना चाहता हूं। मेरे साथ पधारिये। रावण सभासदों सहित वहाँ गया। कौतुहल यह दिखाया

खर्च किया जाता। उनके राज्य में रामराज्य की तरह कोई दुःखी न था। राजा अपने परिवार के निर्वाह के लिए स्वयं खेती करते थे। अपने खेत में उत्पन्न अन्न, कपास, गुड़, शाकभाजी, फल आदि से ही अपने खाने-पीने, पहनने का काम चलाते थे। सीधेसादे किसान जैसा जीवन था। ६ घंटे सोने के अलावा सारा समय राजकार्य, परोपकार, ईश्वरभक्ति तथा कृषिकार्य में वे विताते थे। एक दिन शहर के धनीमानी व्यापारियों की स्त्रियाँ गहनों व रेशमी वस्त्रों से सजधज कर अनेक दासियों के साथ रानीजी से मिलने आईं। उन्होंने रानी से कहा—"रानीजी! आपके जैसे वस्त्र तो हमारी मजदूरनियाँ भी नहीं पहनतीं। देखिये! आपके वस्त्राभूषण कैसे हैं! आपके गहने-कपड़े तो हमसे भी बढ़कर होने चाहिए। आपके स्वामी सम्राट् हैं। आप उनसे जरा-सा भी संकेत कर देंगी तो वे आपके लिए ऐसी व्यवस्था कर देंगे। स्वामिनि! आपको इस वेश में देख कर हमें दुःख होता है।" उन भद्रमहिलाओं की बात का रानी पर काफी असर पड़ा। रात को महाराज के आने पर रानी ने वहुमूल्य वस्त्राभूषण मंगा देने का अनुरोध किया। राजा बोले—"कैसे मंगा दूँ? इस्तेमाल करना तो दूर रहा; मैं राज्य के पैसे को छूता तक नहीं। इससे वुद्धिभ्रष्ट होती है।" रानी भी पवित्र नारी थी। पर वस्त्राभूषण से सज्जित धनिकाङ्गनाओं का उस पर प्रभाव पड़ चुका था। अतः बोली—"चाहे जैसे भी हो! आप सम्राट् हैं, मैं आपकी पटरानी हूं। मेरे लिए तो सम्राज्ञी के योग्य वस्त्राभूषण मंगाने की कृपा करनी ही होगी।" पत्नी की प्रीति से प्रेरित राजा ने सोचा—रानी कितना ही आग्रह करे, मैं राज्यद्रव्य का विलकुल उपयोग नहीं करूंगा। परन्तु मैं सम्राट् हूं। दुष्ट, अत्याचारी नृपों से कर ले सकता हूं।' यह सोच कर परराष्ट्रमंत्री को वुला कर कहा—"आप राक्षसराज रावण के पास जा कर कहिये—मैं चक्रवेण राजा की ओर से आया

यह है धर्मकलामय जीवन का प्रभाव। विपत्तियों के कितने ही झंझावात आएँ, वह धर्म से नहीं डिगता।

धर्मकलामय जीवन में अन्तरबाह्यएकरूपता

धर्मकला वाले व्यक्ति का जीवन अन्दर और बाहर एक-सा रहता है। जो मन में कुछ और सोचे, वचन से मीठा वचन बोले और शरीर से विपरीत चेष्टाएँ करें, बुरा कर्म करे, वह व्यक्ति धर्मकला से रहित है। धर्मकलामय जीवन वाले व्यक्ति के मन, वचन और काया की प्रवृत्ति में एकरूपता होती है। वह जैसा मन में सोचेगा, वैसा ही वचन से प्रगट करेगा और वैसा ही काया से प्रवृत्ति करेगा। उसके जीवन में धर्मक्रिया भी शुद्ध धर्म से युक्त होगी, पृथक् नहीं।

इसी प्रकार धर्मकला से अभ्यस्त व्यक्ति का व्यक्तिगत जीवन और सार्वजनिक जीवन अलग-अलग नहीं होता। कई लोगों का अपने स्त्रीपुत्र, नौकरचाकर, कुटुम्बीजनों के साथ अच्छा, प्रामाणिक जीवन-व्यवहार रहता है, किन्तु सार्वजनिक जीवन में लोगों के साथ रिश्वतखोरी, बेईमानी, अन्याय, शोषण आदि का व्यवहार चलता है। इसके विपरीत कई लोग घर या कुटुम्ब के लोगों के साथ बात-बात में गुस्सा, कलह, अन्याय, डांटडपट, दमन आदि से पेश आते हैं; बाहर के लोगों के साथ बिलकुल नम्रता, सभ्यता, नीति, शान्ति आदि से काम लेते हैं। अथवा कई लोग व्यक्तिगत जीवन में तो बहुत सादे, स्वच्छ और प्रामाणिक रहते हैं, ईमानदारी का पूरा ध्यान रखते हैं, दूसरे के हक को जरा भी नहीं कुचलते, लेकिन समाज, संस्था, बिरादरी या देश के फायदे या हित के लिए झूठ बोलते हैं, बेईमानी कर लेते हैं, करचोरी करते हैं। इस प्रकार घर और बाहर का जीवन अलग-अलग हो, वहाँ समझना चाहिए, धर्मकला नहीं है। कई लोग साधुसंतों के पास उजलेपोश बन

कि राजा चक्कवेण की दुहाई देकर नकली लंकाके पूर्वद्वार के कंगूरोंको गिरा दिये। उसी समय असली लंका के भी कंगूरे गिरते दिखाई दिये। रावण आश्चर्य में पड़ा। मंत्री ने रावण से कहा—चक्कवेण के चक्र के प्रभाव से मैं अकेला ही आपकी नगरी को नष्ट करने में समर्थ हूं। अतः यदि आप नगरी की रक्षा करना चाहते हों तो सवा मन सोना कर के रूप में दे दें। और कोई उपाय नहीं है।" रावण ने विचार करके सवा मन सोना देना मंजूर किया। मंत्री १। मन सोना लेकर चाक्कवेण राजा के पास लौटा। चाक्कवेण के सामने सवा मन सोना रखा और सारी घटना आद्योपान्त रानी और समस्त सभासदों के सामने सुनाई। रानी राजा के प्रभाव की घटना सुन कर बड़ी प्रभावित हुई। राजा से पूछा—"स्वामिन्! आपके इतने प्रभाव का क्या कारण है?" चाक्कवेण—"रानी! हम लोग अपने परिश्रम से खेती आदि करके निर्वाह करते हैं, प्रजा से कर के रूपमें प्राप्त धन को व्यक्तिगत काम के लिए नहीं छूते, सारा उसी की सेवा में लगाते हैं, त्यागवैराग्य-संयमपूर्वक रहते हैं, धर्मकलामय जीवन विताते हैं, उसी का यह प्रभाव है।" सुन कर रानी का दिल बदल गया। बोली—"नाथ! अब मुझे बहुमूल्य वस्त्राभूषण नहीं चाहिए। मैं पूर्ववत् नियम से रहूंगी। अपने हठाग्रह के लिए आपसे क्षमा चाहती हूं। इस स्वर्ण को आप वापिस लौटा दें।" राजा ने बात मान कर मंत्री को वह सोना वापिस लौटा आने की आज्ञा दी। मंत्री ने रावण की सभा में जा कर वह सोना वापिस सौंपा। मंत्री ने कारण बताते हुए कहा—रानीजी को बहुमूल्य वस्त्राभूषणों की आवश्यकता थी, लेकिन अब उनको उनकी जरूरत न रही। इसलिए राजा ने सोना वापिस लौटाया है।" सुन कर रावण पर चाक्कवेण राजा के प्रति श्रद्धा बढ़ी और मंत्री को सत्कारपूर्वक विदा किया।

हो जाने पर भी गाँधीजी ने वकीली दावपेंच से मामले को झूठा सिद्ध करने की अपेक्षा मवक्किल को सच-सच कह देने और सजा भुगत लेने की सीधी, सरल, सत्यमय राह बताई। जिस पर चलने से उनके मवक्किल को आत्मिक संतोष भी मिला, थोड़ी सजा में ही काम निपट गया और सामाजिक प्रतिष्ठा भी मिली।

गाँधीजी के नेतृत्व में जिस दिन राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू होने वाला था, उससे एक दिन पहले की बात है। ब्रिटिश सरकार के खुफिया-पुलिस-विभाग ने अपने एक अफसर को गुप्तचर के रूप में गुप्त से गुप्त खबर प्राप्त करने के लिए गाँधीजी के कैंप में भेजा। वह एक-दो दिन तो डरता-डरता दूर से गाँधीजी की प्रवृत्तियों को देखता और बातों को सुनता रहा। जब गाँधीजी को पता लगा कि मेरे पीछे खुफिया लगा हुआ है तो उन्होंने उसे अपने पास बुला कर पूछा—"क्या तुम खुफियापुलिस के आदमी हो?" वह एक क्षण तो हिचकिचाया लेकिन महात्माजी के सामने वह झूठ न बोल सका। गाँधीजी ने उसकी बात सुन कर कहा—"इसके लिए तुम इतना हैरान क्यों होते हो? क्यों अपना समय फालतू बर्बाद करते हो? रोज शाम को आ जाओ। मैं तुम्हें रोज दिनभर की सही रिपोर्ट टाइप करवा कर दे दिया करूंगा।" वह सहमत हो गया। रोजाना दैनिक जीवनचर्या की पूरी खबर विस्तृतरूप से टाइप की हुई उसे मिलती रही। उसमें काँग्रेसी नेताओं के साथ की हुई चर्चा का सार भी होता था। जब यह समाचार अँग्रेज आफिसर ने जाने तो वह आश्चर्यचकित होगया। राजनीति में आज तक उसने इतना सत्य पालन कभी नहीं देखा था। गाँधीजी की सत्यमयी राजनीति से अंग्रेज बहुत ही प्रभावित हुए।

कर, धर्मक्रिया का दिखावा करके अपने धर्मात्मापन की छाप डालने का प्रयत्न करते हैं, लेकिन धर्मसंस्थाओं की रकम में गबन कर जाते हैं, हिसाब में घोटाला करते हैं, व्यापार में करचोरी, चोरबाजारी या बेईमानी करते हैं, शोषण और अन्याय करते हैं, ऐसे लोगों के जीवन को धर्मकलामय नहीं कहा जा सकता। महात्मा गाँधीजी का जीवन धर्मकला से ओतप्रोत था। उनके जीवन के प्रत्येक पहलू को टटोल कर देखा जाय तो वह धर्ममय प्रतीत होगा। उनके जीवन में अन्दर कुछ और व बाहर से कुछ और बातें न थीं। वे सत्य के पूजारी थे। सत्य और अहिंसा को छोड़ कर स्वराज्य भी मिले तो वे लेने के लिए तैयार नहीं थे। उनके जीवन में व्यक्तिगत और सार्वजनिक अलग-अलग खाने न थे। यहाँ तक कि जो बात वे दूसरों से चाहते थे, उसे अपने और अपने परिवार के जीवन में पहले उतारते थे।

अफ्रीका में रहने वाले हिन्दुस्तानियों ने गाँधीजी की सेवा से आकर्षित हो कर कुछ गहने भेंट दिए। गाँधीजी का उन्हें अपने व्यक्तिगत या परिवार के उपयोग में न लेकर समाजसेवा में लगा देने का विचार था। लेकिन कस्तूरबा चाहती थी कि ये गहने मैं चाहे न पहनूँ, मेरी पुत्रवधुओं के पहनने में काम आ जायेंगे, इसलिए खुद को वे गहने दे देने का उन्होंने गाँधीजी से आग्रह किया। गाँधीजी ने साफ कहा—"ये गहने हमारी अपनी कमाई के नहीं हैं, समाजसेवा की बदौलत भारतीय जनता ने हमें दिये हैं, इसलिए इन पर मोह करके हमें अपने काम में लेने का अधिकार नहीं। इन्हें समाजसेवा के काम में ही लगाए जाने चाहिए।"

यहाँ तक कि वकालात के धंधे और राजनीति के क्षेत्र को लोग झूठ-कपट का अड्डा समझते हैं, वहाँ भी गाँधीजी ने सत्य को अपनाया। अफ्रीका में अपने मवक्किल की करचोरी की बात साबित

धर्मकला के लिए जीवन में परिवर्तन जरूरी

वास्तव में धर्मकला अपनाने वाले को अपने जीवन में काफी परिवर्तन करना होता है। उसे स्वयं को बदलना होता है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पांचों कर्मेन्द्रियों, मन और बुद्धि आदि समस्त अंगोपांगों को उसे श्रेय (धर्म) कार्य में लगाना होता है और प्रेय (स्वार्थ, लोभ, छल आदि अधर्म) से हटाना होता है। उसे अपनी मनोवृत्तियों, विचारों, व्यवहारों और आचरण में काफी तब्दीली करनी पड़ती है।

रोहतक जिले की झज्झर तहसील के मारोथ गाँव के फूलिया कुंभार का जीवन भी धर्मकलामय है। वह स्वयं मोटी खादी पहनता है। वह कुंभारी के काम के अलावा खेती, कताई-बुनाई आदि का काम भी करता है। लेकिन वह कुम्हारी काम में हुक्के, चिलम आदि दुर्व्यसनपोषक चीजें नहीं बनाता। उसने सामाजिक जीवन में भी अपनी धर्मकला का परिचय दिया है। फूलिया की एक बड़ी बहन थी। उसके एक लड़का था, उसकी उम्र जब १२ साल की थी, तभी बहन उसकी शादी करना चाहती थी। बहन ने अपने लड़के की शादी में फूलिया को निमंत्रण दिया। लेकिन धर्म पर दृढ़ फूलिया ने बहन को कहलवाया—"अभी लड़के की उम्र १२ साल की है, १८ साल से पहले शादी करना नियमविरुद्ध है। फिर शादी में अधिक जेवर या फालतू खर्च नहीं होना चाहिए, बरात में ५ आदमी से अधिक न होने चाहिए। जब लड़का १८ साल का हो जायगा तब मैं अपनी मान्यतानुसार उसकी शादी करने की जवाबदारी लेता हूं। लेकिन आज उसकी शादी में हिस्सा नहीं ले सकता।" बहन न मानी। वह छोटी उम्र

कहना होगा कि गाँधीजी के जीवन का कणकण धर्मकला से परिपूर्ण था।

धर्मकला में प्रेय का त्याग और श्रेय का स्वीकार जरूरी

धर्मकला में अभ्यस्त व्यक्ति लुभावने प्रेय को सहसा नहीं अपनाता, वह अपनी दूरदर्शी दृष्टि से पहले प्रेय को जांचता है, यदि श्रेययुक्त होता है तो उसे स्वीकारता है, लेकिन कोरा प्रेय हो तो उसे स्वीकारता नहीं। वह कोरे सौन्दर्य को देख कर लुभाता नहीं, अपितु सत्य में ही सुन्दरता को देखता है।

कौमी-एकता के लिए गाँधीजी के उपवास चल रहे थे, उस समय शान्तिनिकेतन का एक विद्यार्थी, जी. रामचन्द्रन् उनके पास आया और पूछा—"बापू! क्या आप कला को नहीं मानते?" बापू—"रामचन्द्रन्! मैं जितना कला को मानता हूं उतना शायद ही कोई मानता होगा। पर कला की मेरी व्याख्या दूसरी है। आम लोग कला में केवल सौन्दर्य को देखते हैं और व्यर्थ ही अनेक चीजों को बिगाड़ते हैं, उनका तत्त्व-सत्त्व नष्ट कर देते हैं। मैं सत्य में सौन्दर्य देखता हूं, उसे ही शिव (कल्याण) मय मानता हूं। सत्य-अहिंसा आदि धर्म के अंगों को मनवचनकर्म में तानेवाने की तरह बुन लेने में ही मुझे कला के दर्शन होते हैं। जहाँ ये (श्रेय) तत्त्व नहीं, वहाँ केवल सुन्दरता (प्रेय) कला नहीं, धोखे की टट्टी है।"

वास्तव में धर्मकलामय जीवन एक तप है; जिसमें प्रेय को बरबस हांकना पड़ता है, और श्रेय को दृढ़तापूर्वक अपनाना पड़ता है।

भाग्यशालियो ! आपके पास चाहे पूंजी थोड़ी हो, सुख के साधन अल्प हों, किन्तु पाँचों इन्द्रियों, मन, बुद्धि, हृदय आदि विशाल शक्तिशाली साधनों से युक्त मानवजीवन तो है ! आप इस जीवन को धर्मकला से ओतप्रोत बनाएँगे तो आपके कल्याण में कोई रुकावट नहीं आ सकेगी। आपका जीवन दूसरों के लिए अनुकरणीय बनेगा।

स्थान—चौपाटी मैदान
वम्बई

वि० सं० २००६
आसोज वदी ४

में शादी कर देने के मोह को न छोड़ सकी। लेकिन फूलिया इस धर्मसंकट के समय भी अपने धर्मपालन पर अडिग रहा।

पंजाब में जिन दिनों हिन्दूमुस्लिम-दंगे की लहर गाँव-गाँव में फैली हुई थी। प्रायः लोग विवेक खो बैठे थे। एक रोज उस कौमी-झगड़े की आंधी फूलिया के गाँव में भी आई। एक विद्यालय के आचार्य त्यागी आर्यसमाजी विद्वान्, जो फूलिया के श्रद्धास्पद गुरुजन थे। फूलिया के यहाँ आए और कहने लगे—"फूलिया, चल हमारे साथ मुसलमानों को मारने।" फूलिया—"महाराज, मुझसे निर्दोष मानवों को मारने का यह काम नहीं हो सकेगा। इसको में धर्म नहीं अधर्म मानता हूं।" वे क्रोधित हो कर बोले—"नहीं चलेगा, तो मुसलमानों के साथ-साथ तुझे भी हम मौत की घाट उतार देंगे।" फूलिया ने कहा—"मेरे घर में ७ प्राणी हैं। मैं, मेरी पत्नी, तीन बच्चे, एक गाय और उसका बछड़ा। आप हम सातों को मौत की घाट उतार सकते हैं। परन्तु नरसंहार के काम में मैं हर्गिज भाग न लूंगा।" वे यह उत्तर सुन कर बौखलाए और 'अच्छा, बाद में तुझे देख लेंगे,' कह कर चल दिए।

फूलिया का सारा परिवार ही धर्मकला का अभ्यासी है। उसकी पत्नी और बच्चे मोटी खादी पहनते हैं। हाथ से कातते हैं। उसकी पत्नी जीवनरक्षा के लिए अनुपयोगी समझ कर जेवर बिलकुल नहीं पहनती। फूलिया के पत्नीपुत्र सुशील, आज्ञाकारी, विनीत और संस्कारी हैं। वे भी फूलिया के इस धर्ममय जीवननिर्माण के यज्ञ में पूरा सहयोग देते हैं।

यह है विचार, आचरण और व्यवहार में धर्मकलामय जीवन का ज्वलन्त उदाहरण!

धर्म का स्वरूप

सोचना यह है कि ऐसे धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है? क्योंकि धर्म के साथ कई क्रियाकाण्ड और आडम्बर जुड़ गये हैं। इससे साधारण जनता चक्कर में पड़ जाती है कि वास्तविक धर्म क्या है?

कई लोग वेद, पुराण, गीता, वाइविल, कुरान या आगम को रट लेने या कंठस्थ कर लेने में धर्म मान लेते हैं। कई पूजा, प्रार्थना, नमाज, संध्या आदि वाह्य क्रियाओं में धर्म समझते हैं। कोई दाढी, चोटी, जनेऊ, तिलक, मुंहपत्ति आदि को धर्म का चिह्न समझ कर इनके लगाने मात्र में धर्म मान वैठे हैं।

इसी प्रकार कई सम्प्रदायभक्त लोग अपने सम्प्रदाय से भिन्न सम्प्रदायों या पंथों के लोगों से द्वेष रखने, उन्हें नीचा दिखाने, उनसे लड़ाई करने और उनको मार तक डालने में धर्म समझते हैं। कई पंडे-पूजारी श्रद्धालुओं को उनके पितरों को स्वर्ग में भेजने व सुखी करने का लालच देकर दान-दक्षिणा लेने और रुपये ऐंठने में धर्म मानते हैं। पोप लोग यहाँ रुपये लेकर स्वर्ग की हुंडी लिख देने में धर्म मानते हैं। इसी प्रकार वहुत-से लोग सम्प्रदाय, पंथ, वाद या मजहब को ही वास्तविक धर्म कहते हैं। कोई यज्ञ, होम, आदि धार्मिक क्रियाओं में लाखों रुपये उड़ा देने को धर्म कहते हैं।

परन्तु गहराई से सोचा जाय तो ये शुद्ध धर्म नहीं, धर्म के लिए साधन वन सकते हैं, वशर्ते कि उनमें मानवता, न्याय, नीति, अहिंसा, सत्य आदि धर्म के तत्त्व हों। अगर ये धर्म के तत्त्व न हों तो कोरे क्रियाकाण्ड निःसार हैं। अग्नि में से कोई उष्णता निकाल दे या घी में से स्निग्धता को अलग कर दे तो कोई उसे अग्नि या घी नहीं कहेगा।

१४

धर्म क्या है ?

सज्जनो और सन्नारियो !

आज आप सब लोग मुझसे धर्म के विषय में कुछ जानने के लिए एकत्रित हुए हैं। मैं इसी विषय पर आपके सामने कुछ विचार रखूँगा।

'धर्म' मनुष्य का अत्यन्त परिचित और निकटवर्ती सखा (मित्र) है। वह मनुष्य के लिए संजीवनी बूटी है। चारों ओर से आफतों के बादल गर्ज रहे हों, विपत्तियों की बिजलियाँ गर्ज रही हों, ऐसे समय में आश्वासन देने वाला, बल और विश्वास देने वाला और टिके रहने की शक्ति फूंकने वाला अगर कोई है तो धर्म ही। धर्म चाहे आँखों से न दिखाई देता हो, बिजली भी तो आँखों से नहीं दिखाई देती, लेकिन उसके काम दिखाई देते हैं, इसी प्रकार धर्म के द्वारा भी किये गए कार्यों के दर्शन होते हैं। अमूर्त और अदृश्य धर्म भाव-शरीर धारण करके जब धर्मात्मा के जीवन में आ जाता है तब उसके कार्यों को देख कर दांतों तले अंगुली दबानी पड़ती है। धर्म का सुफल जब धार्मिक को मिलता है, तब धर्म को ढकोसला कहने वाले लोगों को भी मानना पड़ता है कि धर्म मानव-जीवन के लिए कितना जरूरी है ?

के भंवरजाल में ही उलझाते रहें तो वे प्राणहीन मृत कलेवर बन जाते हैं। शुद्ध धर्म तो मनुष्य में गुणों की वृद्धि करता है, इसके कठोर हृदय को सुसंस्कारी और कोमल बनाता है, चित्त की शुद्धि करता है, शरीर को निःस्वार्थ और निरासक्त भाव से विविध सत्कार्यों में लगाता है, जबकि जो पंथ और सम्प्रदाय धर्मतत्त्वहीन होते हैं, वे मनुष्य को मिथ्याभिमानी बना देते हैं, रागद्वेष में वृद्धि करना सिखा देते हैं, गुणों में वृद्धि करने के बजाय प्रायः अवगुणी बना देते हैं। धर्म मनुष्य-मनुष्य के बीच वात्सल्य-सम्बन्ध जोड़ कर भेदभावों की दीवारें तोड़ कर अभेदभाव की ओर ले जाता है, जब कि पंथ और सम्प्रदाय जब धर्मतत्त्वरहित हो जाते हैं तो भेदभाव की दीवारें खड़ी कर देते हैं। आपस में लड़ाने-भिड़ाने का काम करते हैं। सम्प्रदाय या पंथ धर्मतत्त्वहीन हो जाने पर धार्मिक क्रियाकाण्डों को ही अधिक महत्त्व देने लगते हैं। वे उनमें तो लाखों रुपयों का धुंआ उड़ा देंगे, लेकिन उन रुपयों को बचा कर जनहितकारी प्रवृत्तियों में लगाने में हिचकिचाएँगे, बहाने बनायेंगे। दीन, दुःखी भाइयों की सेवा और सहायता करना ऐसे संम्प्रदाय या पंथ नहीं सिखायेंगे। जबकि शुद्ध धर्म जनहितकारी प्रवृत्तियों में पड़ने की प्रेरणा करता है, दीनदुःखीजनों की सेवा और सहायता करना सिखाता है।

धर्म आचरण की वस्तु है

यही कारण है कि धर्म केवल बोलने से नहीं हो जाता, न धर्म कहीं दूकान में बिकता है कि दूसरे के द्वारा किया हुआ धर्म खरीदने से मिल जाय। और न ही धर्म किसी खेत में पैदा होता है, वह तो आचरण की वस्तु है। जो आचरण करता है, अहिंसा-सत्य आदि धर्म-तत्वों को जीवन में उतारता है, उसी का धर्म है। धार्मिक क्रिया-

इसी तरह इन क्रियाकाण्डों, पंथों या चिह्नों में से शुद्ध धर्म के तत्त्व निकल चुके हों, इनसे शुद्ध धर्म की प्रेरणा न मिलती हो तो कोई इन्हें धर्म के साधन भी नहीं कहेगा। योगी आनन्दघनजी ने धर्मनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए कहा है—

"धर्म धर्म करतो जग फिरे। धर्म (का) न जाने मर्म, जिनेश्वर।"

इसलिए शुद्ध धर्म का लक्षण प्राचीन आचार्यों ने किया है—

"दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः।"

जो दुर्गति में पड़ती हुई आत्मा को धारण करे। यानी बुरे कार्यों से बचाए और अच्छे कार्यों, निःस्वार्थकार्यों में प्रेरित करे और जो सारे संसार के लिए तीनों काल में हितकर और सुखकर हो वही धर्म है।

यदि कोई कहे कि शराब पीना धर्म है, तो उसे सर्वत्र सर्वहित-कारिता की कसौटी पर कसा जाय कि सभी शराब पी लें और समाज में अव्यवस्था पैदा करें तो सर्वहित भंग होगा या नहीं, तो शीघ्र ही पता चल जायगा, शराब पीना धर्म नहीं है। वेश्या अगर कसब करने को धर्म कहे, चोर अगर चोरी करने को धर्म कहे तो उसे भी सार्वत्रिक सार्वकालिक सर्वहित की कसौटी पर कसा जाय तो धर्म सिद्ध नहीं होगा। मतलब यह है कि जो वस्तु सबके लिए सब जगह और सब काल में हितकर न हो, एक-दो के लिए एक-दो जगह या भूतकाल में ही हितकर हो तो वह धर्म नहीं हो सकती।

धर्म और सम्प्रदाय

धर्म और सम्प्रदाय में अन्तर यह है कि धर्म आत्मा की तरह है, जबकि पंथ और सम्प्रदाय उसके शरीर के तुल्य हैं। पंथ और सम्प्र-दाय गुणों की वृद्धि या चारित्र-वृद्धि के बजाय केवल क्रियाकाण्डों

बीबी फातिमा हजरत मुहम्मद पैगम्बर की पुत्री थी और हजरत अली की पत्नी थी। अली के पास माल-मिल्कियत कुछ भी नहीं थी। वे मेहनत-मजदूरी करके अपने परिवार का निर्वाह करते थे। एक बार हजरत अली को अनेक दिन तक मेहनत-मजदूरी न मिली। खाने के लाले पड़ गए। कई दिनों तक पतिपत्नी भूखे रहे। तो भी अली साहब घबराए नहीं, फातिमा ने भी धैर्य न छोड़ा। एक दिन फातिमा नमाज पढ़ने बैठी ही थी कि एक बुढ़िया अनाज की गठड़ी लेकर आई। वह बोली—"फातिमा! ले यह थोड़ा-सा अनाज। खाना बना।" फातिमा ने कहा—"माताजी! आपकी सहायता के लिए धन्यवाद! परन्तु बगैर मेहनत का अनाज खाना तो धर्म नहीं है और पैगम्बर का कुल भी इससे लज्जित होता है। अतः इस अनाज को हम स्वीकार नहीं कर सकते।" इतने में एक और महिला आई। उसने कहा—"फातिमा! मक्का में अनाज के कोठार भरे हैं। तुम्हारे पिता इन सबके मालिक हैं, फिर तुम लोग भूख के कष्ट को क्यों सहते हो?" फातिमा ने जवाब दिया—"बहन! मक्का में लाखों विधवाएँ, अनाथ बच्चे, अपाहिज और निराधार रहते हैं, अनाज के वे भंडार तो उनके हैं। पैगम्बर साहब उनके मालिक नहीं; वे तो केवल रखवारी करते हैं। अतः उन पर फातिमा या अली का कोई हक नहीं।" स्त्रियाँ फातिमा की बातें सुनकर गद्‌गद् हो गईं। इतने में अली साहब एक पोटली ले कर आए, जिसमें एक टाइम खाने जितना अनाज था। पोटली फातिमा को सौंप कर वे नमाज पढ़ने लगे। फातिमा ने जौ पीस कर रोटियाँ बनाईं। पति-पत्नी दोनों भोजन करने की तैयारी में थे कि फातिमा की नजर दरवाजे पर खड़े एक अंधे आदमी पर पड़ी, जिसके पेट में भूख के मारे गड्ढा पड़ गया था।" यह देख फातिमा ने कहा—"अली साहब! थोड़ी देर खाने के लिए सब्र करिए।" अली साहब ने भी देखा कि उस अन्धे में

ओं के करते रहने पर भी अगर आपका मन लोभ से भरा हो, क्रोध की ज्वाला हृदय में उठती हो, अहंकार का सर्प फुफकारता हो, कपट का धुंआ उठ रहा हो, दुर्भावों का राक्षस हृदय का राजा बन बैठा हो, दुर्गुणों के दैत्य जीवन में उछलकूद मचा रहे हों, दीनदुखियों को देख कर हृदय में करुणा के बजाय क्रूरता या शोषणवृत्ति पैदा होती हो, छुआछूत, भेदभाव या द्वेष-बुद्धि दिल में जमी बैठी हो तो समझ लेना चाहिए, अभी तक जीवन में शुद्ध धर्म नहीं आया।

धर्म कोई दिखावे की चीज नहीं है। बाहर से धर्मात्मापन दिखाने से और जीवन में धर्म का आचरण न होने से धर्म जीवन में नहीं आ जाता। जिन व्यक्तियों को धर्म प्रिय है और जो शुद्ध धर्म का चमत्कार देख चुके हैं, उन्हें धर्म का दिखावा न करके आचरण करना चाहिए। परन्तु खेद है कि आजकल समाज में अधिकांश व्यक्ति ऐसे मिलते हैं, जो धर्म के विषय में जानते बहुत हैं, चर्चा भी दुनियाभर की कर लेते हैं, अनेक धर्मग्रन्थों को पढ़ लेते हैं; लेकिन शुद्ध धर्म के आचरण से विमुख हैं। परन्तु मेरा यह कहना है कि जैसे तैरने का ज्ञान कराने वाली पुस्तकों के पढ़ने भर से तैरना नहीं आ जाता, रसोई-विज्ञान की किताबें पढ़ लेने से ही रसोई बनाना नहीं आ जता; वैसे ही धर्मग्रन्थों को केवल पढ़ने भर से ही कोई धर्मात्मा नहीं बन जाता, अथवा धार्मिकता नहीं आ जाती। इसलिए केवल जानना ही धर्म नहीं, धर्ममय जीवन जीना धर्म है। जाने-समझे हुए धर्मतत्त्वों को जीवन में अमली रूप देना ही धर्म है। कई बार ऐसे व्यक्ति मिलते हैं, जिन्हें धर्मशास्त्र का या सिद्धान्तों का गहरा बोध नहीं होता या वे धर्म की बारीक चर्चा नहीं करते; लेकिन अन्तर्हृदय से उनके संस्कारों में धर्म रमा हुआ होता है, वे धर्म-विमुख आचरण कभी करते नहीं दिखाई देते।

की—"क्यों पड़ी ? कैसे पड़ी ?" परन्तु डूबती हुई बहन को वहाँ खड़े हुए लोगों में से किसी ने बचाने या कुँए में उतर कर निकालने का प्रयत्न नहीं किया। किसी ने उस बहन के पति को खबर दी तो वह बेचारा दौड़ा हुआ आया। अपनी पत्नी को बचाने के लिए पहले तो उसने भी कुँए में कूदने का सोच लिया, लेकिन कुँए में नजर डालते ही उसकी गहराई देख कर वह पस्तहिम्मत हो गया। वह घबरा रहा था। इतने में पास में खड़े लोगों को देख कर कुछ जान में जान आई। उसने कुँए से कुछ ही दूर खड़े एक युवक के पैरों में पड़ कर आजीजी करके कहा—"कान्हा काका! आप तैराक हो। आप अगर कुँए में उतर कर मेरी स्त्री को बचा लोगे तो बच जायगी।" कान्हा गाँव का कुशल तैराक था। कुँए, तालाब और नदी में कोई भी आदमी गिर जाता तो वह सुनते ही अचूकरूप से मदद करने आ जाता और चाहे जितने गहरे पानी में डूबते हुए मनुष्य को बचा लेता। परन्तु आज वह चुपचाप खड़ा हुआ था, क्योंकि तैरने की कला के साथ-साथ अछूत के हाथ लगने से धर्म डूब जाने और अपवित्र हो जाने का भ्रम उसके दिमाग में चक्कर काट रहा था। इसलिए वह कुँए में उतरने से हिचकिचा रहा था।

सज्जनो! शुद्ध धर्म के साथ-साथ कितने धर्मभ्रम चिपक जाते हैं। जो धर्म सेवा करने से, परोपकार से विमुख करता हो या किसी को छू लेने से धर्म के छूमंतर हो जाने की बात कहता हो, वह धर्म नहीं हो सकता।

हाँ तो, उस हरिजन बहन का पति कुछ सोच कर एकदम दौड़ता-दौड़ता सीधे गाँव के धर्ममूर्ति महाजन की दूकान पर पहुंचा। सेठ को दूकान पर बैठा देखते ही उसने दूर से पुकार की—"ओ सेठ, ओ सेठ! ओ महाजन बापू! मेरी पत्नी कुँए में गिर पड़ी है, कोई

वोलने की भी ताकत नहीं है। हाथ से इशारों करके वह अपना पेट वता रहा है। फातिमा तुरंत दौड़ कर उस भूखे को हाथ से पकड़ कर घर में लाई; विठाया और अपने हाथ से उसके मुंह में कौर देने लगी। घर में जितना खाना था, वह सब उसे खिला दिया। वह भूखा अंधा आदमी अन्तर से आशीर्वाद देता हुआ चला गया। उस दिन दोनों ने फाका किया। दूसरे दिन दोनों के पेट में अनाज पड़ा।

यह है सहज स्वाभाविक धर्माचरण का नमूना। धर्म का स्वाभाविक रूप से पालन करने वाला व्यक्ति दिखावट, वनावट नहीं करेगा। वह कैसी ही परिस्थिति में होगा तो भी अपने धर्म से डिगने का विचार नहीं करेगा। इसके विपरीत जो पैसे और सुख-सुविधाओं का गुलाम है, वह समय आने पर धर्म को छोड़ वैठता है। ऐसे व्यक्ति चाहे जितनी व्याख्या धर्म की कर सकते हों, चाहे जितने शास्त्र कण्ठस्थ कर लिये हों या शास्त्र पढ़ते हों, वे धर्मपालक नहीं कहलाते।

सौराष्ट्र के एक छोटे-से गाँव की घटना है। एक तीस साल की हरिजन वहन पानी भरने कुँए पर गई। मटकी भर कर उसने घड़ा भरने के लिए ज्यों ही कुँए में डाला कि रस्सी में उसका पैर फंस गया। कुँए के मुंह पर कठड़ा वंधा हुआ नहीं था, इसलिए एकदम पैर फिसला और वह वाई कुँए में गिर पड़ी। शाम का समय होने से कुँए पर पनिहारिनों और ढोरों को पानी पिलाने के लिए आने वाले पुरुषों की संख्या काफी थी। कुँए में हरिजनवाई के गिरने का सुन कर आसपास के लोग दौड़े हुए आए। खासी वड़ी भीड़ कुँए के पास जमा होगई थी। कुंए में पड़ी हुई वहन—"वचाओ, वचाओ" की पुकार कर रही थी, परन्तु आगन्तुक लोगों ने केवल यही पूछताछ

करने के लिए सर्वस्व भी देना पड़ता है। यों ही महाजन या धर्मात्मा पद लेने से कुछ वर्षों तक सम्मान खूब बढ़ जाता है, लेकिन पद के अनुसार काम न होने पर वह लोगों की नजरों में गिर जाता है। लोगों का दिल जीतने के लिए दिल देना पड़ता है।"

धर्म का स्वाभाविकरूप से हर परिस्थिति में पालन करने व्यक्ति का यह उदाहरण है !

धर्म को फर्नीचर मत बनाओ !

आजकल अधिकांश व्यक्ति केवल दिखावे के लिए धर्म का पालन करते हैं। जैसे कोई सुन्दर ईमारत बनवाने वाला व्यक्ति यह समझता है कि मकान में अगर फर्नीचर नहीं होगा तो मकान की शोभा नहीं दीखेगी। यह सोच कर केवल शोभा या प्रतिष्ठा के लिए मकान में टेबल, कुर्सी, सोफासेट, पलंग, झाड़फानुस, काच की अलमारियाँ आदि फर्नीचर बढ़ा लेता है। इसी तरह बहुत-से लोग ऐसा सोचते हैं कि दुनियादारी के सब काम तो करते ही हैं, लेकिन थोड़ी बहुत धर्मक्रिया नहीं करेंगे, दिखावे के लिए थोड़ा-सा दान नहीं देंगे, कुछ व्रत-प्रत्याख्यान नहीं लेंगे तो लोग अच्छा नहीं कहेंगे, इसलिए कुछ न कुछ कर लेते हैं। मगर जो धर्मपरायण व्यक्ति है, धर्म का मर्म समझा हुआ है या धर्म जिसके रगरग में, संस्कारों में रम गया है, वह व्यक्ति धर्म को फर्नीचर की तरह दिखावे के लिए या शो के लिए नहीं पालता; वह तो अन्तर से ही धर्म का पालन हर परिस्थिति में करेगा। चाहे कोई देखे या न देखे, चाहे वह समूह में बैठा हो, चाहे एकान्त में, चाहे दूकान में हो, घर में हो या धर्म-स्थान में हो, दिन हो, चाहे रात हो हर जगह और हर समय उसका मन धर्म में लगा हुआ होता है। बल्कि वह यों सोचता है कि लोक-

उसे बचाने को तैयार नहीं है। आप जल्दी उसे बचाइए।" बनिया आँखों के इशारे से क्षणभर में ही सारी बात समझ गया। सेठ मानो तैयार ही बैठा हो, इस तरह एक बड़ा-सा रस्से का पिंड उठा कर कुँए की ओर दौड़ा। कुँए पर पहुंचते ही सेठ ने रस्से का एक सिरा कुछ दूर खड़े एक पेड़ से बांधा और दूसरा सिरा अपनी कमर से बांधने लगा। अभी तक कुछ न समझने वाले वहाँ उपस्थित लोग अब समझ गए कि बाई को बचाने के लिए सेठ खुद कुँए में उतर रहा है। लोगों में कुछ हलचल मची। किसी ने कहा—"अरे जवानो! जिंदा हो या मर गए? अपने गाँव का नाक यह लखपति महाजन सेठ इस बाई को बचाने के लिए स्वयं कमर कस कर तैयार हो गया है, और तुम आँखें फाड़े खड़े-खड़े देख रहे हो!" बस, इन शब्दों से युवकों का खून खौल उठा। सेठ रस्सा पकड़ कर कुँए में उतरने की तैयारी कर रहे थे कि एक युवक बोला—"देवा भा! आप ठहरिए। मैं कुँए में उतरता हूं।" यों एक के बाद एक सातों जवान कुँए में उतरने को तैयार हो गए। कुछ देर पहले जहाँ एक भी जवान तैयार नहीं था, वहाँ अब इन सातों युवकों में होड़ लग गई। सेठ ने कमर से रस्सा खोल कर मुस्कराते हुए उन्हें सौंप दिया। युवकों ने देखते ही देखते कुँए में उतर कर उस बाई को बाहर निकाल ली। काफी पानी उसके पेट में चला गया था। फिर भी उसके प्राण बच गए। किसी ने जाते समय सेठ से कहा—"सेठ! अगर आज आप न आए होते तो यह बेचारी बाई कुँए में डूब कर मर जाती। पर एक बात मुझे समझ में नहीं आती कि आपको तैरना तो नहीं आता, फिर आपने कुँए में उतरने का साहस कैसे कर लिया?" सेठ ने हंसते हुए कहा—"भाई! धर्म-पालन करने के लिए सब कुछ करना पड़ता है। ३६० दिन महाजन की मोटी पगड़ी बांधे रहूं तो किसी दिन इस नाम को व धर्मात्मापद को सार्थक

एक बार इन्द्र ने स्वर्गलोक में नये आने वाले देवों की संख्या कम देख कर बड़ा आश्चर्य प्रगट किया और इसके कारण का पता लगाया कि मर्त्यलोक से जीव मर कर देवलोक में क्यों नहीं आते ?" इन्द्र को ज्ञान से मालूम हुआ कि मर्त्यलोक से मानव मर-मर कर सीधे नरक में जा रहे हैं।" इन्द्र को बड़ी चिन्ता हुई कि अगर यही हाल रहा तो थोड़े ही दिनों में देवलोक सूना हो जायगा।' इसलिए उसने मर्त्यलोक में जाकर देवलोक का सन्देश सुनाने का विचार किया, ताकि वे लोग किसी तरह देवलोक में आने लगें। इन्द्र ने सोचा कि साधारण मनुष्य भय और लोभ के कारण धर्म पर स्थिर रहता है। जैसे कि अकसर कहा जाता है—"धर्म करोगे तो स्वर्ग के सुख पाओगे, अधर्म करोगे तो नरक में जाओगे।" भारतवर्ष में भी आजकल प्रायः देखा जाता है कि लोग इस डर से प्रायः कानून (धर्म का ही प्रकारान्तर से एक नियम) का पालन भय और लोभ के वश करते हैं कि अगर कानून का पालन करोगे तो तुम्हारी इज्जत बढ़ेगी, साख जमेगी, लोकविश्वास बैठेगा और ग्राहक बढ़ेंगे तथा कानून का पालन न करोगे तो सरकार दण्ड देगी, समाज में इज्जत जायगी, ग्राहक घट जायेंगे और विश्वास उठ जायगा।

हाँ तो, इन्द्र ने एक देव को बुलाया और उसे एक भयंकर कुत्ते का रूप धारण कराया, तथा खुद ने एक योगी का रूप बनाया और वहाँ से चल कर दोनों मर्त्यलोक में आए। यहाँ आते ही वह तीन बार जोर से चिल्लाया—'प्रलय होगा ! प्रलय होगा !! प्रलय होगा !!!' साथ ही वह कुत्ता भी जोर-जोर से भौंकने लगा। जनता देख कर और यह आवाज सुन कर डरने लगी। उसने अपने राजा के पास जाकर इसकी शिकायत कर दी। राजा ने नगर के सभी दरवाजों को बन्द करवा दिया। लेकिन फिर भी योगी के रूप में इन्द्र और वह कुत्ता दोनों उन सब दरवाजों को लांघ कर सीधे राजमहल में पहुंच

व्यवहार के काम तो सिर पर हैं तो वे मकान में फर्नीचर बसाने की तरह करने ही पड़ते हैं, परन्तु अगर धर्मरूपी मकान ही न हो तो कोरे फर्नीचर का क्या होगा ? उसे कहाँ रखेंगे ? इसलिए धर्मनिष्ठ व्यक्ति धर्म का पालन सहजभाव से करेगा; दिखावे के लिए नहीं।

भय और लोभ से धर्म अपनाना सहजधर्म नहीं

जैसे जल में रहने वाली मछली सब कुछ कार्य जल के भीतर रह कर ही करती है, बाहर नहीं। जल के अन्दर ही वह चलती-फिरती है, जल के बाहर एक डग भी नहीं भरती। इसी प्रकार जिसके रग-रग में धर्म रमा हुआ होगा, ऐसा धर्मभावना वाला व्यक्ति धर्मरूपी जल से बाहर कभी कदम नहीं रखेगा, हर कार्य धर्म को मद्दे-नजर रख कर धर्ममर्यादा के अन्दर ही करेगा। मछली के लिए जल से बाहर निकलना अरुचिकर होता है, वैसे ही सच्चे धर्मात्मा के लिए धर्मभावना से बाहर निकलना अरुचिकर होता है। इसीलिए धर्मज्ञों ने महाभारत में कहा है—

> न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः
> धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये, जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः

"किसी कामनावश, भयवश या लोभवश, कदापि धर्म न छोड़े। और न प्राणों के मोह में पड़ कर धर्म को त्यागे। क्योंकि धर्म नित्य है, सुख और दुःख अनित्य हैं। आत्मा नित्य है और शरीर (सुखदुःख का हेतु) अनित्य है।"

परन्तु सामान्य मानव भय और प्रलोभन के कारण धर्म का पालन करते देखे जाते हैं, उनके संस्कारों में धर्म नहीं होता। पुराण में इस सम्बन्ध में एक रूपक कथा बड़ी रोचक और प्रेरणादायक है—

श्वास ज्यादा चलने लगता है या बन्द होने लगता है तव उसका पता लगता है। श्वास की तरह ही धर्म का जीवन में आचरण स्वाभाविकरूप से होना चाहिए।

धर्म और धर्म की प्रतियोगिता

आज दुनिया में एक ओर धन की दौड़ इतनी अधिक चल रही है कि धर्म उसमें पीछे रह जाता है। अधिकांश लोग ऊपर से धर्म-धर्म करेंगे, धर्मक्रियाएँ करेंगे, परन्तु जीवन में धन की दौड़ होगी। धर्म भी वे करते हैं, धन की प्राप्ति के लिए।

लोग प्रायः यह कहते सुने जाते हैं—"महाराज ! धर्म तो केवल धर्मस्थान में ही हो सकता है और सव जगह तो पाप ही पाप है। व्यापार या व्यवहार में धर्म को रखने जांय तो भूखों मरना पड़े। मतलव यह कि वे लोग व्यापक धर्म को केवल धर्मस्थान में ही वन्द करना चाहते हैं। क्या धर्म इतना संकीर्ण है कि धर्मस्थान से वाहर पैर रखते ही छूमंतर हो जाय ? ऐसा सोचने वाले धर्म को पूरा समझे नहीं हैं। धर्मस्थान तो धर्म का पाठ पढ़ने की एक तरह से पाठ-शालाएँ हैं। पाठशाला में प्राप्त की हुई शिक्षा का उपयोग तो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में होता है। अगर विद्यालय में आपने सीखा कि पांच और पांच दस होते हैं और वहाँ से वाहर निकलते ही ग्यारह गिनने लगे तो आपका सीखना निरर्थक हुआ। इसी प्रकार धर्मस्थान में आपने सीखा कि अहिंसा, सत्य, न्याय, ईमानदारी आदि का पालन करना धर्म है और वाहर पैर रखते ही उसे भूल कर अधर्म में लग गये, झूठ-कपट और वेईमानी करने लगे, अन्याय और हिंसा में प्रवृत्त हो गए तो आपका धर्मस्थान में सीखा हुआ पाठ व्यर्थ गया। इसलिए धर्मस्थान से जो कुछ भी धर्म का पाठ या संस्कार ग्रहण करो

गए। वहाँ कुत्ता बारबार भौंकने लगा तो राजा ने इन्द्र से कहा—"अरे योगी ! तेरा यह कुत्ता क्यों भौंकता है, इसे चुप कर।" इन्द्र ने कहा—"राजन् ! यह बहुत भूखा है।" राजा ने उसे अपने यहाँ का सारा भोजन खिला दिया, यहाँ तक कि हाथी और घोड़ों का भोजन भी उसे खिला दिया, फिर भी कुत्ते की भूख न मिटी।" तब राजा ने इन्द्र से कहा—"योगी ! तेरे साथ यह कुत्ता यहाँ क्यों आया है ?" इसे इतना खिला दिया, फिर भी इसकी भूख क्यों नहीं मिटी ?" इन्द्र ने कहा—"यह कुत्ता यहाँ मनुष्यों को दण्ड देने के लिए आया है ! जो मनुष्य साधु बन कर साधुता की साधना नहीं करते, अपने कल्याण के साथ-साथ जगत् के कल्याण के लिए कुछ नहीं करते, जो धनवान् अपने धन को केवल ऐशआराम में उड़ाते हैं, धर्मकार्य में नहीं लगाते; जो नेता राष्ट्र का हित नहीं करते और अपनी ही स्वार्थसिद्धि में लगे रहते हैं, जो राजा प्रजा की गाढ़ी कमाई का पैसा बटोर कर प्रजाहित में नहीं लगाते, जो पुत्र अपने माता-पिता की सेवा नहीं करते। मतलब यह है कि जो इन्सान धर्म और नीति का पालन नहीं करते, उन्हें यह कुत्ता दण्ड देने आया है।" यह सुन कर राजा और प्रजा सब मिल कर इन्द्र से कहने लगे—योगी ! अब तक जो कुछ हुआ सो हुआ, उसके लिए क्षमा कर दो। भविष्य में हम धर्म और नीति पर चलने का वचन देते हैं, कभी अधर्म न करेंगे।" इन्द्र यही चाहता था। इसलिए वह अपना मनोरथ सिद्ध होते देख उक्त देवसहित स्वर्ग में लौट आया।

तात्पर्य यह है कि भय और लोभ के जोर पर मनुष्यों ने धर्म-पालन करना और अधर्म से बचना शुरू किया; भय और लोभ के वश होकर धर्म को अपनाना सहज धर्म का पालन नहीं कहलाता है। धर्म-पालन तो इस प्रकार होना चाहिए जैसे हमारा श्वासोच्छ्वास चलता है। श्वास चलता है लेकिन हमें मालूम ही नहीं रहता। जब कभी

फलों के बीच-बीच में सोनेचांदी के टुकड़े बिखरे हुए देखे। शकुन देख कर आश्चर्य में पड़ गया। कल कम्बल और आज सोनाचांदी! हो न हो, कोई छल है! चाहे कुछ भी हो! मुझे धन के कीचड़ में नहीं फंसना है। धन होगा तो रातदिन भय, तृष्णा, चिन्ता और उद्विग्नता आदि घेरे रहेंगे; पत्नी-बच्चों के दिमाग में उन्माद छा जाएगा। अतः जानबूझ कर यह बला क्यों मोल लूं?" शकुन सोनाचांदी को न छू कर फल बीन कर घर लौटा। दिव्यात्मा ने देखा—धन के पीछे अत्यन्त धनाढ्य व्यक्ति भी दीवाने हो जाते हैं, पर यह शुद्र जाति का, निरक्षर दरिद्र आदमी बिलकुल भी नहीं डिगता। मुझे अभी और कसौटी करनी चाहिए। दूसरे दिन शकुन जब गंगास्नान करने गया तो अपनी पत्नी को झोंपड़ी के द्वार पर मुंह चढ़ाए बैठी देखी। यों तो वह सीधी, सरल व वफादार थी, लेकिन आज जब उसने एक साधु से सुना कि तेरा पति अभागा है। उसे धन मिल रहा था, लेकिन वह उसे जानबूझ कर छोड़ कर चला आया; तो उसका दिमाग चकराया। उसने शकुन से वही साधु की बात कही तो शकुन ने उसे धर्म की दृष्टि से बहुत-सी बातें समझाई। लेकिन वह तो टस से मस न हुई। आखिर अपनी पत्नी को लेकर शकुन उस साधु की खोज में चला। सारे दिन भटकने के बाद शाम को एक टूटेफूटे शिवालय के बाहर उन्हें बैठे देखा। साधु नए आए हुए लगते थे। शकुन को देखते ही वे बोले—'अरे मूर्ख! अनायास ही मिले हुए धन को छोड़ कर चला आया। अगर ले आता तो सारा परिवार सुख से रहता। धन के बिना कहीं धर्म की साधना होती है। अगर तुझे उस धन को अपने काम में नहीं लेना था तो न सही, परोपकार में लगा देता। जा, अब भी जा, वह धन वहीं पड़ा होगा, ले आ।" शकुन की पत्नी की आँखों में चमक आई। परन्तु शकुन तो शान्तभाव से स्थिर खड़ा सुनता रहा। फिर धीरे-से बोला—

उसे जीवन व्यवहार के हर क्षेत्र में उतारो। वहाँ धर्म को मत छोड़ो। व्यवहार में धर्म का आचरण करने से काम नहीं चलेगा या जीवन चौपट हो जायगा, इस भ्रम को अपने दिमाग से निकाल दो। तभी शुद्धरूप से धर्म का आचरण शुरू होगा। ऐसा धर्मात्मा कष्ट में भी (कदाचित् पूर्वकर्मवश) होगा तो भी वह उस कष्ट को कष्ट नहीं समझेगा। वह यही सोचेगा कि मैंने अपने जीवन में धर्म का पाठ कितना पढ़ा है, इसकी कसौटी हो रही है।

शकुन नामक एक शूद्रजातीय व्यक्ति गंगा के तट पर अपने कुटुम्बसहित रहता था। वह किसी के पास कभी न जाता और न कोई उसके पास आता। शकुन इतना गरीब था कि पत्नी की लज्जा ढकने का कपड़ा भी उसके पास नहीं था। जंगल में से जो कुछ फल या बिखरे हुए दाने बीन कर लाता, उसी से सारे कुटुम्ब का गुजारा चलाता था। कई दफा उसके परिवार को फाका करना पड़ता था। मगर शकुन किसी से न तो भीख मांगता और न हिम्मत हार कर धर्म के रहित—चोरी, ठगी आदि अधर्म के काम करता। एक बार एक दिव्यात्मा ने उसकी कसौटी करने की ठानी। माघमास में शकुन का परिवार ठंड से ठिठुरता रहता। एक दिन शाम को जब शकुन बस्ती में से हो कर घर लौट रहा था तो रास्ते में उसने दो नये कम्बल पड़े देखे। शकुन ने सोचा—"जो वस्तु अपनी न हो, उसे लेना पाप है, ऐसा लोभ करना महापाप है।" वह कम्बल को छुए बिना ही सीधा अपने घर पहुंच गया। दिव्यात्मा ने सोचा—"अगर वह कम्बल ले लेता तो ठंड में काम आते। दूसरा होता तो न छोड़ता। यह सीधा, सरल, धर्म में दृढ़ व्यक्ति है। प्रलोभन भी तो इसे छोटा ही दिया गया था, शायद बड़े प्रलोभन से डिग जाय।" अतः दूसरे दिन शाम को जब शकुन नीचे पड़े हुए फल बीनने के लिए गया तो

करता। बल्कि धर्मस्थान की तरह वहाँ धर्म का ध्यान रखता है। पंजाब की एक सच्ची घटना सुनिए:—

पंजाब में कपूरथला जिले के सुलतानपुर गाँव में एक गेंडाराम भावड़ा (जैन) रहते थे। उनकी आर्थिक स्थिति पहले बहुत खराब थी। फिर शुद्ध धर्म पर उसे दृढ़ श्रद्धा थी। वह धर्म को जीवन-व्यवहार में उतारने की चीज मानते थे। अतः कोई ५० साल पहले उन्होंने ३००-४०० रुपये की पूंजी लगा कर एक गली में कपड़े की परचुरन दूकान खोली। अपने कारोबार के उसने निम्नलिखित नियम बनाए—"(१) दूकान पर ठीक १० बजे आना और ५ बजे बन्द कर देना; (२) सूती कपड़े पर एक आना रुपया और रेशमी या ऊनी पर डेढ़ या दो आने रुपये से अधिक मुनाफा न लेना; (३) सबके लिए एक से कपड़े के समान भाव रखना; (४) जो भाव कहना, उसमें कमोबेश कभी न करना।" चारों तरफ जहाँ व्यापार में बेईमानी (अधर्म) का बाजार गर्म हो, वहाँ अकेले आदमी का धर्मयुक्त व्यापार पर टिके रहना बड़ा ही कठिन होता है। जो धर्मपालन करता है, उसकी कसौटी भी होती है। लगभग एक-दो साल तक तो कठिनाई में गुजरे; क्योंकि ग्राहकों को विश्वास नहीं होता कि इनकी धर्म-नियमनिष्ठा सच्ची है या केवल दिखावा। परन्तु जब ग्राहकों ने बार-बार परीक्षा करके देख लिया कि यहाँ सभी कार्य सत्य-धर्म की अडिग शिला पर स्थिर हैं तो उनका व्यापार इतना बढ़ा कि उनके लिए संभालना कठिन हो गया। इनकी दूकान का आदमी करीमबख्श रोजाना ६॥ बजे दूकान खोलता और झाड़बुहार कर ठीक १० बजे से ग्राहकों को क्रमशः सौदा देता। लालाजी भी ठीक १० बजे दूकान में प्रवेश करते और ४॥ बजे सौदा देना बन्द कर देते, हिसाब-किताब मिला कर ठीक ५ बजे दूकान के ताला लगा देते। चाहे कोई ग्राहक कितना ही लोभ दे, वे नियम से विचलित न होते थे। नियम-

"महाराज ! सबसे बड़ा धन तो सन्तोषरूपी धर्म है। मैं चाहे नीची जाति में पैदा हुआ हूं, कुछ लिखा-पढ़ा भी नहीं हूं; लेकिन मैं अपने जीवन में कोई भी काम धर्म को त्याग कर नहीं करता, इसलिए सुखी हूं। परोपकार के लिए पराये धन का कीचड़ लाऊँ और फिर उसे धोऊँ, इससे तो बेहतर है, मैं उससे दूर ही रहूं। मुझे अपने धर्म की साधना के लिए धन की जरूरत नहीं पड़ती।" साधु हंसते-हंसते खड़े हो गए। बोले—"धन्य है शकुन तुझे ! तूने धर्म का असली मर्म समझ लिया है। तू नीच कहाँ है ? तू तो अक्षय धर्मधन का भंडार है।" शकुन का सिर विनय से झुक गया। तभी उसकी पत्नी ने आँखें उठा कर देखा तो न तो वहाँ साधु है, न मन्दिर ! आकाश से पुष्पवृष्टि के साथ धन्य-धन्य की आवाज हो रही है।

धर्म दिखावे की या कीर्ति-उपार्जन की वस्तु है, इस भ्रम के निवारण के लिए शकुन का यह उदाहरण काफी है। शकुन ने दरिद्रता के कष्ट को कष्ट न समझा और बड़े से बड़े धन के प्रलोभन को धर्मपालन के लिए ठुकरा दिया। इससे साफ हो जाता है कि धर्म आचरण की वस्तु है। जीवन व्यवहार में हर जगह और हर समय धर्म को सुरक्षित रखा जा सकता है। ऐसा प्रगाढ़ धर्मात्मा राजाओं और सम्राटों द्वारा तो क्या, देवों और इन्द्रों के द्वारा भी प्रशंसनीय और पूजनीय बन जाता है। कहा भी है—

"देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो।"

जिसका मन हमेशा धर्म में ओतप्रोत रहता है, उसे देव और इन्द्र आदि सभी नमस्कार करते हैं।

धन के गुलाम बन कर धर्म को मत छोड़ो !

ऐसा मनुष्य व्यापार और जीवन-व्यवहार में धर्म को पृथक नहीं

आपको ही धनरूपी नौकर की गुलामी करनी पड़े—सेवा करनी पड़े—और उससे नरक या दुर्गति में जाने का पात्र बनाना पड़े तो आप क्या ऐसा काम पसंद करेंगे ? धन के आगे धर्म प्यारा न लगना ही धन की गुलामी है।

लाला गेंडाराम को धन ही प्यारा होता तो वे व्यापार में धर्म का आचरण न करते। परन्तु उन्होंने कष्ट सह कर भी धर्म का पालन किया, जिसका सुफल उन्हें प्रत्यक्ष मिला। इसलिए धर्मयुक्त व्यवहार या व्यापार से व्यक्ति भूखे मरता है, यह भ्रम दिल-दिमाग से निकाल देना चाहिए। बल्कि धर्म ने इस वाक्य को सच्चा सिद्ध करके बता दिया कि "धर्मो रक्षति रक्षितः" जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी अवश्य रक्षा करता है।

महानुभावो ! धर्म का सही स्वरूप जान कर आप जीवन में उतर कर देखें; आपको उसका सुफल मिले विना न रहेगा।

स्थान—चौपाटी मैदान, बम्बई | वि० सं० २००६, आसोज वदी ११, रविवार

पूर्वक दूसरे दिन आने का कह देते। नतीजा यह हुआ कि उनकी दूकान पर हमेशा भीड़ लगी रहती। शादियों के मौसम में तो कई ग्राहकों को हताश होना पड़ता। प्रायः देखा जाता है कि धर्मयुक्त कमाई से प्राप्त धन शुभकार्यों में खर्च होता है। इस कमाई के खाने वाले भी धर्मनिष्ठ व सच्चरित्र होते हैं। लालाजी ने अपने धन का एक निश्चित अंश धर्मकार्य में खर्च किया, पर कोई प्रसिद्धि या नामवरी नहीं की। मृत्यु के समय अपने वंशजों के लिए लालाजी लाखों की सम्पत्ति छोड़ गए। आज इनकी मृत्यु को करीब २०-२५ साल हो गए, लेकिन उनकी कीर्ति अमर है।

जो लोग यह कहते हैं धन और धर्म के नहीं बन सकती, उन लोगों के लिए यह सत्य घटना प्रेरणादायी है। धर्म का आचरण करने वाला व्यक्ति धन का गुलाम नहीं बनेगा। जो धन का गुलाम बन जाता है उसे न्याय-अन्याय, ईमानदारी-बेईमानी का कोई भान नहीं रहता। वह हाय पैसा, हाय पैसा ही करता रहता है। आप किसी को नौकर रखें और वह नौकर आपका काम करने के बदले, आपसे ही अपनी सेवा ले यानी आपकी वह सेवा करे इसके बदले उसकी सेवा आपको करनी पड़े तो आपके मुंह से यही उद्गार प्रायः निकलेंगे—"नौकर क्या रखा, हम खुद इसके नौकर बन गए। आप ऐसे नौकर को नौकरी से पृथक् करना ही पसंद करेंगे। यही बात धन की गुलामी के बारे में समझिए। धन के द्वारा अगर आप अपनी आत्मा की कुछ भलाई करलें या पुण्यकार्य करलें तब तो ठीक है, आप धन के स्वामी हैं। मगर धन के लिए आप झूठ बोलें, बेईमानी करें, चोरबाजारी करें, मिलावट करें, करचोरी करें, कम तोलें या कम नापें तो ये और ऐसी ही अन्य बुराइयाँ अपनाना धन की गुलामी करना नहीं तो और क्या है ? ऐसा धनरूपी नौकर आपकी सेवा—(पुण्यकार्य के द्वारा स्वर्ग पहुंचाने के रूप में)–करने के बदले उलटे

पत्नी और विनयी, सेवाभावी पुत्र-पुत्रियाँ हैं। कई ऐसे भी हैं, जिनके यहाँ कर्कशा, कलहकारिणी और फूहड़ पत्नी और अविनीत एवं माता-पिता को मारने-पीटने, सताने एवं दुःख पहुंचाने वाले पुत्र हैं।

सवाल होता है कि यह विषमता क्यों ? यह विषमता क्या किसी और ने की है या खुद की पैदा की हुई है ? इसके उत्तर में ज्ञानी-पुरुषों का कथन है कि यह विविध प्रकार की विषमताएँ और विचित्रताएँ जो दिखती हैं, वे पुण्य और पाप को लेकर हैं। स्वयं की की हुई हैं। जिसने पूर्व जन्म में या इस जन्म में भी पूर्वकाल में शुभकार्य किये होते हैं, उसके उन शुभकार्यों के कारण पुण्यबन्ध हुआ और उसी पुण्य-संचय का फल उस सुख, धन-धान्य, यश, बल, मित्र, सुकुल उच्चवर्ण, उच्चगोत्र, उच्चप्रज्ञा, परिपूर्ण पञ्चेन्द्रिय, सुरूपता, सुपुत्र, उत्तम संस्कारी पत्नी, दासदासी, पशु, धन, उत्तम मकान एवं सुसंस्कार आदि शुभवस्तुओं के रूप में मिलता है। उत्तराध्ययन सूत्र में बताया है—

खेत्तं वत्थु हिरण्णं च पसवो दास-पोरुसं।
चत्तारि कामखंधाणि तत्थ से उववज्जई॥
मित्तवं, नाइवं होइ उच्चागोए य वण्णवं।
अप्पायंके महापन्ने अभिजाए जसो बले॥

जबकि जो व्यक्ति पूर्वजन्म में या इस जन्म में पूर्वकाल में बुरे कार्य करता आया है, या जिसने बुरे दुष्ट कर्म किये हैं, उसे उन दुष्कर्मों के कारण पापबन्ध हुआ और उसी पापपुञ्ज के फलस्वरूप दुःख, दरिद्रता, भूख, अधूरी इन्द्रियाँ, कुरुपता, कुपुत्र, कुभार्या, बुरा कुल, सुमित्रों का अभाव, कुसंस्कार, खराब क्षेत्र व वातावरण आदि वस्तुएँ प्राप्त होती हैं।

१५

पुण्य और पाप का रहस्य—१

ससार में विषमता का कारण

आगन्तुक महानुभावो !

इस संसार में जब हम आँखें खोलते हैं तो एक जीव सुखी और एक दुःखी नजर आता है, इसी प्रकार एक धनी और एक निर्धन, एक सुरूप और एक कुरूप, एक अपढ़ और एक पढ़ालिखा; एक उत्तम कुल में जन्म पाया हुआ और एक नीच कुल में पैदा हुआ जान पड़ता है। इतना ही नही; मनुष्यों में भी कई ऐसी जगह जन्म पाते हैं, जहाँ उन्हें धर्म के संस्कार नहीं मिल पाते और कई संस्कारी उत्तम क्षेत्र में जन्म पाते हैं, जहाँ उन्हें विकास और धर्मसंस्कार मिलते हैं। कई मनुष्य अनेक मित्रों और बड़े संस्कारी परिवार के बीच रहते हैं, कई लोग ऐसे भी हैं, जिनके घर में पतिपत्नी के सिवाय कोई भी नहीं है, वे भी बूढ़े हो चले हैं, लेकिन उनकी सेवा करने वाला कोई नहीं हैं। कई लोग ऐसे हैं, जिनके घर में धन-धान्य का ढेर है और कई ऐसे भी हैं, जिनके घर में एक जून खाने को अनाज भी नहीं है। कई लोग ऐसे भी हैं जिनके यहाँ आज्ञाकारी नौकर-नौकरानियाँ हैं, जबकि कई ऐसे भी हैं, जिनको कोई पानी पिलाने वाला भी नहीं है। कई लोगों के घर में सुदक्षा आज्ञाकारी पतिव्रता एवं सुसंस्कृत

भ्रान्तियाँ फैलीं और बहुत-से लोगों ने इस पुण्यवाद का दुरुपयोग भी किया। कई सत्ताधारियों और धनिकों ने अपने पूर्वपुण्य के फल-स्वरूप प्राप्त सत्ता और धन के बल पर गरीबों, श्रमजीवियों और अविकसित लोगों को अपना गुलाम बनाया, उनका शोषण किया, उन्हें तरह-तरह की यातनाएँ दीं, उन पर अन्याय और अत्याचार किये। इस प्रकार उन्होंने अपने पुण्यवाद (या भाग्यवाद) की दुहाई देकर बहुत-से पूर्वपापवश बुद्धिहीन लोगों को अपने जाल में फंसाया, उनसे मनमाना काम लिया, उनका विकास रोका और उन्हें अपने को पापी, दीन-हीन और अविकसित रहने देने और जबरन पापकृत फल भोगते रहने को मजबूर किया। ऐसा करके उन्होंने अपने लिए पापों के ही बीज बोए हैं; अपने पूर्व-संचित पुण्य की फसल में अपने ही हाथों से आग लगाई है, नये सिरे-से कोई पुण्य-उपार्जन नहीं किया, केवल पुरानी पुण्य की पूंजी को खत्म की है।

एक व्यापारी था। उसके तीन लड़के थे। बुढ़ापा आ जाने पर जब लड़के होशियार हो गए तो उसने एक दिन तीनों को अपने पास बुला कर प्रत्येक को दस-दस हजार रुपयों की थैली सौंपते हुए कहा—लो, बेटा! यह पूंजी लो और अपना जीवन चलाओ। मैं अब बूढ़ा हो चला हूं। अब मुझ-से विशेष कामधंधा नहीं होता। तीनों लड़कों में से एक लड़का मूर्ख और उड़ाऊ था। उसने सोचा—"पिताजी ने मुझे यह थैली मौजशौक से जिंदगी बिताने के लिए दी है। मेरे यहाँ धन की तो कोई कमी नहीं, जो मुझे व्यापार करना पड़े।" यह सोच कर वह उस पूंजी को अपने ऐशआराम में खर्च करने लगा। दिनभर आलसी बन कर पड़ा रहता या गपशप लगाता अथवा कहीं जुआरियों के पास बैठता। कोई भी व्यापार या धंधा उसने नहीं किया। बस, कुछ ही महीनों में उसकी पूंजी खत्म होगई। दूसरा लड़का होशियार तो नहीं था, लेकिन वह विनीत और विचार-

साम्यवादी या नास्तिक लोग इस बात को नहीं मानते। वे कहते हैं कि यह तो पूंजीपतियों व राजाओं आदि का प्रोपेगेंडा है। वे ही लोग धर्म के ठेकेदारों से मिल कर उनके मुख से ऐसा कहलवाते हैं; ताकि दीन-हीन, दरिद्र मजदूर लोग अपनी उसी परिस्थिति में रहें और अपने भाग्य को कोसते रह कर हम पूंजीपतियों की गुलामी करते रहें, कभी ऊँचे न उठने पावें; विकास न कर सकें। परन्तु यह एक भ्रान्ति है। ऐसा भी तो देखा जाता है कि दरिद्र और भिखारी के रूप में दिखाई देने वाला एक दिन धनाढ्य और दानी नजर आता है। जो एक दिन गुलाम थे, वे आजाद हो कर सुख-अनुभव करते नजर आते हैं। जिनको अन्धकार से पूर्ण अविकसित क्षेत्र मिला था, वे विकसित क्षेत्र में जाकर अपना विकास करते नजर आते हैं। अथवा उसी क्षेत्र में अपने धर्मयुक्त प्रबल पुरुषार्थ से प्रचुर विकास कर लेते हैं या विकास के साधन जुटा लेते हैं। तब यह बात तो नहीं रही कि धनवान या सत्ताधारी लोग उन्हें वैसा बना देते हैं या वैसे ही बने रहने को मजबूर कर देते हैं। और जहाँ साम्यवाद है, वहाँ भी तो विषमता नजर आती है, नास्तिकों में भी विविध विचित्रता के दर्शन होते हैं। वहाँ भी कोई सुरूप है, कोई कुरूप है; कोई अपाहिज है तो कोई पूर्ण पञ्चेन्द्रिय है, कोई रोगी रहता है तो कोई निरोग है, कोई अधिकारी है तो कोई उसके मातहत नौकर है, कोई अधिक कमाने वाला है तो कोई कम, कोई तीव्रबुद्धि वाला है तो कोई मन्दबुद्धि है। क्या इन विषमताओं को साम्यवादी या नास्तिक मिटा सकता है? या इन लोगों ने यह विचित्रताएँ मिटाई हैं? कदापि नहीं।

पुण्यवाद का दुरुपयोग

हाँ, मध्ययुग में इस पुण्यवाद या भाग्यवाद को लेकर कई

लड़का उदास तो नहीं था, लेकिन पुरुषार्थी न होने के कारण जब वह पिताजी के पास पहुंचा तब उसके चेहरे पर रौनक नहीं थी, उसका चेहरा मुस्करा नहीं रहा था। मगर तीसरा लड़का पिताजी के समाचार मिलते ही खुशी-खुशी पिताजी की दी हुई थैली और व्यापार में कमाई हुई पूंजी साथ लेकर घर लौटा। उसके चेहरे पर प्रसन्नता अठखेलियाँ कर रही थीं। पिताजी ने तीनों में जिस जिस को उपालम्भ, धन्यवाद या बोध देना था, यथायोग्य दिया। पहले लड़के को तो फटकार ही मिली। दूसरे लड़के को बोध दिया, तीसरे लड़के को पिताजी ने अपनी छाती से लगाते हुए धन्यवाद दिया, उसकी प्रशंसा की।

कहानी पूरी हो गई। लेकिन यह एक सुन्दर प्रेरणा पुण्य-पाप के सम्बन्ध में दे रही है। भाग्यरूपी पिता ने तीन प्रकार के पुत्रों को समान-समान पुण्यरूपी पूंजी की थैली दी। विकास के समान अवसर दिए। मनुष्य जन्म, उत्तम कुल, पांचों इन्द्रियाँ, सुडौल सुरूप शरीर आदि तीनों को मिले। लेकिन उन तीनों में से जैसे एक ने तो अपनी बेवकूफी के कारण सारी पूंजी खोदी, उसी तरह कई ऐसे कपूत होते हैं, वे अपनी प्राप्त पुण्यपूंजी को हिंसा, झूठ, बेईमानी, शिकार, व्यभिचार, अन्याय, अत्याचार, जुआ, सट्टा, चोरी, मांसाहार, मदिरापान, वेश्यागमन आदि दुर्गुणों के चक्कर में पड़ कर खो बैठते हैं, फिर अपने भाग्य को रोते हैं। ऐसे लोग पुण्य तो सारा खत्म कर ही देते हैं, नये पापकर्म बांध कर पाप की पूंजी को इकट्ठी करके नया कर्ज और चढ़ा लेते हैं। कई लोग दूसरे लड़के की तरह प्राप्त पुण्य की पूंजी को सहेज कर रखते हैं, लेकिन उस पुण्य में वृद्धि नहीं करते। थोड़ा-सा पुण्य उपार्जन करते हैं, उतना ही खर्च कर देते हैं। थोड़ा-सा पुण्य-उपार्जन धार्मिक क्रियाएँ (लोकदिखावे से ही सही) करके करते हैं, लेकिन उधर अपने व्यापारधंधे या लोकव्यवहार

वान था। मगर पुरुषार्थी वह भी नहीं था। इसलिए उसने सोचा—"पिताजी के पास अभी बहुत पूंजी है। मुझे और पूंजी बढ़ाने की क्या जरूरत है। हाँ, इतना जरूर है कि मुझे इस पूंजी में से एक भी पाई फालतू खर्च नहीं करनी चाहिए। पर इतना ही कमाना चाहिए, जिससे अपना खर्च चल सके। उसने व्यापार तो किया, मगर बहुत ही संकोच से और छोटा-सा ही। फलतः जितनी आमदनी होती, उतना ही खर्च हो जाता। तीसरा लड़का बहुत होशियार, विवेकी, धार्मिक और विचक्षण था। उसने सोचा—"पिताजी ने यों ही यह थैली मुझे नहीं दी है। इसके पीछे उनका कोई विशेष प्रयोजन होना चाहिए। यद्यपि पैसे की हमारे घर में कोई कमी नहीं। परन्तु नई आमदनी न हो और पुरानी संचित पूंजी को आलसी बन कर बैठे-बैठे खाएँ तो आखिर वह एक दिन खत्म हो ही जायगी। तब एकदम व्यापार में हाथपैर मारेंगे तो क्या हाथ आएगा? फिर तो 'आछी पूंजी खसमो खाय' वाली कहावत के अनुसार वह थोड़ी-सी पूंजी, जो व्यापार में लगेगी, वह हमें ही ले डूबेगी। खर्च ज्यादा होगा, आय कम होगी। और उस समय एका-एक व्यापार शुरू करना भी आग लगने पर कुंआ खोदने सरीखा काम होगा। इसीलिए पिताजी ने बुद्धिमत्तापूर्वक हम तीनों को बरा-बर रकम की एक-एक थैली दी है, ताकि हम अभी से नीतियुक्त व्यापार-धंधा करके अपनी पूंजी बढ़ाते रहें।" अतः तीसरे लड़के ने परदेश में जा कर दूकान खोली। कुछ नकद रुपयों से और कुछ उधार से माल ला कर एक ही वर्ष में अच्छी-खासी पूंजी जमा कर ली। तीनों भाइयों के पास एक साल बाद पिताजी का बुलावा आया। पहला लड़का तो एक साल में सारा ही धन उड़ा चुका था, बल्कि कर्जदार हो गया था; इसलिए उदास और दुःखी हो कर नीचा मुंह किए आँखों से आँसू बहाता हुआ पिता के पास पहुंचा। दूसरा

मुकुट बन कर राजा के मस्तक पर शोभा देता है, और उसी का झांझर बन कर युवती के पैर में पहना जाता है। जिस मिट्टी का घड़ा बहनों के सिर पर स्थान पाता है, उसी मिट्टी का बना सिकोरा शौच के काम आता है। मनुष्यों के जीवन में भी ऐसी विचित्रता शुभाशुभ कर्मों के कारण है। वैसे तो पुण्य और पाप की पहिचान व्यक्ति के कार्य, व्यवहार या मनःस्थिति पर निर्भर है। परन्तु मोटेतौर पर व्याकरण की दृष्टि से ये अर्थ होते हैं—

"पुनाति शुभकार्येणात्मानमिति पुण्यम्"
"पातयत्यधस्तादात्मानमिति पापम्।"

जो शुभकार्य के जरिये आत्मा को पावन करता है, वह पुण्य है और जो अशुभ कार्यों के द्वारा आत्मा को नीचे गिरा देता है, वह पाप है।

मतलब यह है कि जिन कार्यों विचारों या प्रवृत्तियों से आत्मा में संतोष, सुख, आह्लाद और पवित्रता पैदा होती है, जिन्हें व्यक्ति प्रगट में करने में कभी हिचकिचाता न हो वह पुण्य है। क्योंकि जितने भी हितकर या शुभ कार्य हैं, उन्हें सबके सामने, बिना छिपाए करने में किसी को संकोच नहीं होता। इसीलिए एक आचार्य ने पुण्य-पाप की परिभाषा यह भी की है—'प्रकटं पुण्यम्' 'प्रच्छन्नं पापम्' यानी जो प्रकट है, अगुप्त है वही पुण्य है, किन्तु जो गुप्त होता है, छिपा कर होता है, वह पाप है। पाप करते समय व्यक्ति को, चाहे वह सत्ताधारी या कितना ही धनाढ्य क्यों न हो, उसे छिपाने का मन होता है। कोई देख न ले, कोई टोक न दे, कोई मेरी निन्दा न कर दे, कोई मुझे दण्ड न दे दे, यह शंका हर समय पाप-कर्ता के मन में बनी रहती है। इसीलिए वह पापकार्य को छिपाना चाहता है। अगर किसी को उसके पाप का मालूम भी पड़ जाता है

में नीति, न्याय और धर्म का ज्यादा विचार नहीं रखते। फलस्वरूप वह उधर की पुण्य की पूंजी इधर खत्म हो जाती है। ऐसे लोग प्रमादी बने रहते हैं, और इसी अभिमान में रहते हैं कि हमारे पास पूर्वपुण्य के प्रताप से सब कुछ है, लेकिन भविष्य के पुण्य के लिए पुरुषार्थ का विचार नहीं करते। लेकिन तीसरे उत्तमपुत्र के समान कुछ लोग होते हैं, वे पूर्वपुण्य की पूंजी को तो सहेज कर रखते ही हैं, नई पुण्य की पूंजी इकट्ठी करते हैं। यानी वे अपने जीवन में सदाचार, ईमानदारी, अहिंसा, सत्य, कुव्यसनत्याग, नीति, न्याय आदि को स्थान देते हैं और दान, शील, तप और भावना का यथार्थ आचरण भी करते हैं; इनसे पुण्य की नई पूंजी और जुड़ जाती है। मतलब यह है कि वे भूतकाल की भाग्यपिता की दी हुई पुण्य-पूंजी पर ही गुलछर्रे नहीं उड़ाते, लेकिन अपने शुभ पुरुषार्थ से नये पुण्य की खेती भी पुण्यकार्य के बीज बोकर करते हैं।

हाँ तो, इसी तरह जो लोग दीन-हीन, गरीब लोगों की बदौलत ही आगे बढ़ते हैं, मगर बाद में धन और सत्ता के मद में मतवाले हो कर उन्हीं को सताते हैं, कुचलते हैं, चूसते हैं, जुल्म करते हैं, वे उस पहले कपूत लड़के के समान अपनी उस पूर्व-पुण्य की पूंजी को अपने ही हाथों खोते हैं; नई पूंजी बढ़ाना तो दूर रहा।

पुण्य और पाप की परिभाषा

ऐसी दशा में पाप किसे कहा जाय और पुण्य किसे कहा जाय? पुण्य क्या है और पाप क्या है? यह बात ज्ञानीपुरुषों के लिए तो हथेली की रेखा के समान स्पष्ट है, लेकिन हम लोग छद्मस्थ होने के नाते मोटेतौर पर शास्त्रों में जो लक्षण दिये गए हैं, उन्हीं के आधार पर पुण्य और पाप बता सकते हैं। एक ही सोना है, जो

धन और वह भी समाज के वर्तमान पैमाने के अनुसार अमुक मात्रा में हो। इसी प्रकार पुण्यवान् भी वही कहलाता है, जिसके पास पुण्य की प्रचुरमात्रा हो अथवा जो प्रचुरमात्रा में पुण्य का उपार्जन कर रहा हो। इस दृष्टि से किसी व्यक्ति को धनाढय होने या पत्नी-पुत्र वाला होने पर भी सहसा पुण्यवान नहीं कहा जा सकता। कोई चोरी, डकैती या निन्द्यकर्म करके भी धन इकट्ठा कर लेता है; क्या उस पापकर्म द्वारा बटोरे हुए धन से बने हुए धनिक को आप पुण्यवान कहेंगे? किसी को पत्नी मिल गई या पुत्र भी मिल गया; लेकिन वे सदा बीमार रहते हैं, या वे दोनों आज्ञाकारी, विनीत और वफादार नहीं हैं तो क्या उस व्यक्ति को केवल पत्नीपुत्र के होने से पुण्यवान कहा जा सकेगा?

परन्तु आजकल अधिकांश लोग ऊपरी वैभव और चमकदमक देख कर उसे सहसा पुण्यवान मान लेते हैं और जो व्यक्ति धनसम्पत्ति वाला नहीं है, बाहरी टीपटाप भी नहीं रखता, अपनी न्यायपूर्वक आजीविका में संतुष्ट है, लेकिन उसके हृदय में दया है, सहृदयता है, वह अपनी शुभेच्छा, सद्भावना और शुभकामना जगत् के दुःखितों के प्रति व्यक्त करता है, दुःखितों के आँसू पोंछता है, और यथाशक्ति अपने शरीर से भी सहायता करता है; तो क्या ऐसा व्यक्ति पुण्यशाली नहीं है? "अवश्य है।"

एक करोड़पति गहनों और भड़कीले कपड़ों से सजा हुआ चमचमाती हुई कार में बैठा जा रहा था। मोटर तेजी से भागती जा रही थी। रास्ते में कोई गरीब मोटर की चपेट में आगया। उसे चोट लगी, लहुलुहान हो कर पड़ गया। उधर सेठजी उसे डांटने लगे—मूर्ख पीजी कहीं का! अबे अंधा है! देखता नहीं कि सामने से मोटर आ रही है। एक किनारे हटने के बजाय जानबूझ कर सामने आता

तो वह उसे कुछ न कुछ लोभ दे कर दवा देना चाहता है। दूसरी वात यह भी है कि पाप करते समय और करने के बाद भी उस व्यक्ति को मन ही मन भय, संक्लेश, पछतावा और खेद होता है, चाहे वह वाहर वैसा भाव प्रगट न होने देता हो। लेकिन मन में पाप का डंक चुभता रहता है। वह मन को वारवार कचोटता और हृदय के तारों को कुरेदता रहता है। पाप करने वाले के मन पर प्रसन्नता, उल्लास या सुख की अभिव्यक्ति नहीं होती। जबकि पुण्यकार्य करने वाले के मन में भय, खेद, संक्लेश, पछतावा या क्षोभ नहीं होता! पुण्यकार्य मन को चुभता नहीं है। इस पर से हर व्यक्ति यह अन्दाजा लगा सकता है कि पुण्य क्या है और पाप क्या है?

पुण्यवान् कौन ?

यद्यपि मनुष्य शरीर, उत्तम कुल, आर्यक्षेत्र, परिपूर्ण पञ्चेन्द्रिय आदि वहुत-से लोगों को प्राप्त होते हैं, इसलिए पुण्यवानी में कोई कसर नहीं दिखती, फिर भी ऐसे संयोगों वाले कई लोग दरिद्र, मंद-बुद्धि अपुत्र, कुभार्यावान अथवा कुपुत्री क्यों देखे जाते हैं? ऐसे कई सुसंयोग वाले व्यक्ति भी जव दुःखी देखे जाते हैं, तव क्यों नहीं कहना चाहिए कि ये व्यक्ति पुण्यहीन हैं? वात यह है कि वैसे तो हर मनुष्य को ये सब संयोग पूर्वकृत पुण्य के प्रभाव से मिलते हैं, किन्तु वर्तमान में उन्हें वास्तविक रूप में पुण्यवान नहीं कहा जाता। जिसमें पुण्य की अधिकता हो या जो नये पुण्य का उपार्जन अधिक मात्रा में कर रहा हो, वही वर्तमान में पुण्यवान् कहलाता है; पुण्यवान् शब्द अधिक पुण्य के अस्तित्त्व का द्योतक है। जैसे जिसके पास एक पैसा, एक आना या एक रुपया हो वह धन वाला होते हुए भी धनवान् नहीं कहलाता अपितु धनवान् वही कहलाता है, जिसके पास अधिक

चलने से जवाब दे रहे थे। फिर भी उसे अपने लिए नहीं, अपने नन्हेंमुन्ने (बच्चे) के पेट की ज्वाला को शान्त करने के लिए इस ठंड में निकलना पड़ा। ६ महीने के इस बच्चे की माँ कल ही उसे छोड़ कर मर गई थी। भिखारी जोर-जोर से पुकार रहा था—"ओ सेठ! ओ दादा! मैं तीन दिन से भूखा हूं और यह नन्हा बच्चा भी भूख के मारे तड़फ रहा है! दया करके, मेरे लिए नहीं, पर इस बच्चे के लिए मनुष्यता के नाते कुछ दो! भगवान् आपका भला करेगा सेठजी!"

ऐसे करुण शब्दों को सुन कर पत्थर भी पिघल जाय, पर इन करुणावाक्यों को सुन कर भी तीसरी मंजिल पर बैठे हुए सेठ का पारा गर्म होगया! वह बड़बड़ाया—"साले, बदमाश! सुबह उठते ही मांगने के सिवा और कोई धंधा नहीं है तेरा! सरकार ने वेगर्स एक्ट बना कर लागू किया, फिर भी तेरे सरीखे लोग मांगते रुके नहीं। चला जा यहाँ से, यहाँ कुछ भी नहीं मिलेगा।"

सेठ के कर्णकटु असह्य वचन सुन कर भी बेचारा भिखारी स्वाभिमान को ताक में रख कर फिर कहने लगा—"ओ सेठ! भूखा हूं, कुछ तो ठंडा-बासी टुकड़ा खाने को दे दो। भगवान् आपका भला करेगा।" अब तो सेठजी का पारा आसमान पर चढ़ गया। सोचा-यह बला यों नहीं टलेगी। सेठ ने चट से पास ही रखी हुई ठंडे पानी की मटकी उठाकर भिखारी पर उंड़ेल दी। बस, अब क्या था! एक तो असह्य ठंड और ऊपर से सेठजी के द्वारा मिला हुआ यह ठंडे पानी का प्रसाद! बेचारा भिखारी थर-थर कांपता हुआ अपनी जान बचाने के लिए पास के ही एक कोने में दुबक कर बैठ गया। उसका छोटा बच्चा सिसक-सिसक कर रोने लगा। बूढ़ा भिखारी दुःख के गीत गाता हुआ भगवान् को याद कर रहा था।

है और वदनाम कराता है हमें ! पड़ा रह दुष्ट यहीं !" इतना फट-कार कर सेठजी कार में वैठ गए और वह तेजी से भागी। उस घायल गरीव को उठाने, मरहम-पट्टी करने या सहानुभूति के दो शब्द कहने की जरूरत उस सेठ ने नहीं समझी। इतने में एक दूसरा गरीब आ-गया। उसने घायल आदमी को पड़े देखा तो उसे सान्त्वना दी, छाती से लगा कर अस्पताल में पहुंचाया और यथोचित सेवा की।

आपका दिल किसे पुण्यशाली कहेगा ? उस अमीर को या इस गरीव को ?

आपका हृदय तो यही स्वीकार करेगा कि गरीव ही वास्तव में पुण्यशाली है। लेकिन आपकी वुद्धि ऐसा स्वीकार करने से हिच-किचाएगी कि यह फटेहाल निर्धन कैसे पुण्यशाली हो सकता है ? पुण्यशाली तो मोटर, वंगले और धन से भरी तिजोरी वाला ही होना चाहिए !

यहीं आपकी परख में भूल होती है। जौहरी के सामने एक ओर चमकता हुआ और पहलदार काच पड़ा होगा और दूसरी ओर धूल से सना भौंडा भद्दा हीरा पड़ा होगा तो वह काच को अधिक चमक देख कर हीरा नहीं वताएगा, अपितु हीरे को ही हीरा वताएगा, भले ही वह उस समय गंदा और कुरूप हो रहा हो। इसी प्रकार दूरदर्शी परीक्षाप्रधान व्यक्ति मैले-कुचैले कपड़े और कुरूप व्यक्ति के हृदय को देखेगा, वह ऊपरी चमकदमक को देख कर ही लुभायमान नहीं हो जायगा। एक व्यवहारिक उदाहरण लीजिए—

शर्दी के दिन थे। हिमवर्षा से डामररोड़ भीग गई थी। धरती पर पैर रखने में सुरक्षा न थी। ठीक इसी समय एक भिखारी अपने एक नन्हेंमुन्ने (वच्चे) को छाती से चिपटाए ठिठुरता हुआ [illegible] में भटक रहा था। भूख से उसकी आँखें बैठ गई थीं। पर आगे

ने बचपन में आपकी अशुचि उठाई थी, क्या वह भी पुण्यहीन नहीं कहलाएगी ?

वास्तव में सेवा का कार्य करने वाला या अपना अभिमान छोड़ कर सफाई करने वाला पुण्यवान् है; परन्तु जो दूसरों पर अपनी सेवा का बोझ डालता है और सेवकों को नीच और पुण्यहीन कह कर स्वयं परावलम्बी और आलसी बन कर बैठा रहता है, वह पुण्यशाली नहीं। मगर आजकल के लोग बढ़िया खाना और बढ़िया पहिनना ही अपने पुण्य का फल मानते हैं। उन्हें यह पता नहीं कि उनके इस खाने और पहिनने से कितने गरीबों के कलेजे तड़पते हैं ?

इसी प्रकार अपने मौजशौक में हजारों रुपयों का धुंआ उड़ाने वाला, अपनी स्वादवृत्ति और जिह्वालोलुपता के पोषण के लिए दूसरों को भोजन की तंगी में डालने वाला पुण्यवान् है या जो सादा सात्त्विक भोजन करके आहार में बचत करके दूसरों के लिए अनाज मुहैया करने वाला और कम से कम चीजों से जीवन चला कर गरीबों, अनाथों और अपाहिजों को सहायता करने वाला, उन पर दया करने वाला पुण्यवान् है ?

सचमुच, सादगी से और मितव्ययिता से संयमपूर्वक-जीवन चलने वाला ही पुण्यशाली है।

नये पुण्य की कमाई करो

एक व्यक्ति ने पूर्वोपार्जित पुण्य के प्रभाव से पैसा, प्रतिष्ठा, सत्ता और पद पाया। लेकिन वह अपनी सम्पत्ति का उपयोग खूब खाने-पीने और नाच-गान आदि आमोदप्रमोद में करता है। इस प्रकार पूर्वजों से प्राप्त सम्पत्ति को खर्च ही खर्च करता रहता है, लेकिन

इतने में ही मिल का भोंपू बजा। मिल में जाने वाले मजदूरों ने उस बूढ़े भिखारी की दर्दभरी कहानी सुनी। उनका दिल द्रवित हो उठा। उन मजदूरों ने आना-दो आने करके सबने मिल कर उस भिखारी को ४) रु० दिये और मिल की ओर चल पड़े। भिखारी भी अन्तर से उन्हें दुआ देता हुआ चला गया।

आप ही बताएँ, अपनी नामवरी के लिए हजारों रुपयों का धुंआ उड़ाने वाले कठोर दिल के व्यक्ति पुण्यवान् हैं या दरिद्र और दुःखी को देख कर पिघल जाने वाले बाहर से गरीब किन्तु हृदय के अमीर पुण्यवान् हैं ?

"गरीब किन्तु हृदय के अमीर ही पुण्यवान् हैं।"

इसीलिए एक राजस्थानी कवि ने कहा है—

"दया धर्म पावे तो कोई पुण्यवंत पावे।
ज्यां ने दया की बात सुहावे जी॥
भारीकर्मा अनन्त संसारी।
वांने दया दाय न आवे जी॥"

फिर भी कई लोग अपने धन, सत्ता, पद या कुल पर इतरा कर महत्त्वपूर्ण सेवा के काम करने वाले को पुण्यहीन तथा परावलम्बी और आलसी बन कर पड़े रह कर खुद को पुण्यशाली बताते हैं। क्या आपकी बुद्धि भी आलसी और परावलम्बी को पुण्यवान् कहेगी ? जो व्यक्ति पाखाने में शौच जाकर उसे अस्वच्छ बनाता है, और स्वयं उसे साफ नहीं करता वह खुद को पुण्यवान् माने और जो आपके पाखाने साफ करता है, और स्वच्छ स्थान रखता है, उसे पुण्यहीन माने; ऐसी समझ को क्या कहा जाय ? अगर आपका यह मत हो कि हम तो पुण्यशाली हैं, मेहतर पुण्यहीन हैं तो जिस माता

का निजी गुमाश्ता था। उसने मंत्री को धर्माचरण की प्रेरणा देने के हेतु एक वार उनसे पूछा—"स्वामी ! आप ठंडी रसोई खाते हैं या ताजा ?" गुमाश्ते के इस सवाल पर आँखें तरेरते हुए मंत्री ने एक वार उसकी ओर देखा फिर यह सोच कर कि 'गँवार आदमी है, वोलने की तमीज नहीं आई है," दृष्टि फेर ली। गुमाश्ते ने एक वार फिर मौका देख कर अपनी वही वात दोहराई। मंत्री ने इस वार भी सुनी-अनसुनी कर दी। तीसरी वार जव गुमाश्ते ने वही वात कही तो मंत्री की भ्रुकुटि तन गई। उन्होंने कहा—"गँवार कहीं का, वोलने की सभ्यता भी नहीं सीखी !" गुमाश्ते ने शान्तिपूर्वक कहा—हाँ, स्वामी ! दोनों में से कोई एक तो जरूर होगा।" मंत्री विस्मित होकर पूछने लगा—"तुम्हारी वात में कुछ रहस्य दिखता है ! जरा वताओ तो सही, इस प्रकार एक ही वात को तीन वार दोहराने का क्या मतलव था ?" गुमाश्ते ने सविनय कहा—"स्वामी ! आप जो रसोई खा रहे हैं—यानी जो ऐश्वर्य और वैभव का आनन्द लूट रहे हैं, यह तो सही माने में पूर्वजन्म में उपार्जित पुण्य का फल है। अतः यह ताजी रसोई नहीं, वासी ही है। ताजी रसोई कुछ और ही होती है।" मंत्री को गुमाश्ते की वातों में कुछ तथ्य लगा। वह निकट आकर जिज्ञासाभाव से पूछने लगे—"तो मेरे लिए ताजी रसोई क्या है ?" गुमाश्ता वोला—"यह सव जानना हो तो धर्म-गुरु भट्टारक श्री विजयसेनसूरि के पास चल कर पूछिए।" मंत्री तुरंत गुरु के पास आए। ठंडी और ताजी रसोई का रहस्य पूछा। उत्तर में धर्मगुरु ने कहा—"तुम यहाँ जिस वैभव व ऐश्वर्य का उप-भोग कर रहे हो वह तो पूर्वजन्मकृत पुण्य का फल है। जव तक इस जीवन में तुम परोपकार, सेवा, दान, दया आदि के द्वारा पुण्यो-पार्जन नहीं कर लेते, तव तक रसोई ताजी नहीं, वासी ही समझनी चाहिए। मंत्री ने गुरु से धर्म का स्वरूप भलीभांति समझा एवं विशेष

नई आमदनी के बारे में कुछ भी नहीं सोचता और न कोई प्रयत्न करता है तो उसकी वह पूंजी कब तक चलेगी ? अन्त में, जब पूंजी खत्म हो जायगी, तब उसे दुःखी होना पड़ेगा या नहीं ?

यही बात पुण्य के सम्बन्ध में है। जो लोग पूर्वोपार्जित पुण्य को भोग रहे हैं, मौजशौक में पुण्य को लुटा रहे हैं, मगर नया पुण्य उपार्जन नहीं करते हैं, उनकी भी यही दुर्दशा होगी। ज्ञानीपुरुष ऐसे प्रमादी व अज्ञानी लोगों को चेतावनी एवं उपालम्भ देते हुए कहते हैं—

"सुखमास्से सुखं शेषे भुङ्क्षे पिबसि खेलसि।
न जाने त्वग्रतः पुण्यैर्विना ते किं भविष्यति ॥"

'अरे प्रमादी जीव ! तू मौज से उठता-बैठता है, मौज से सोता है, आनन्द से खाता है, पीता है और नाचगान, राग-रंग में रमा रहता है। तू आगे की बात सोच। भविष्य का विचार कर। तेरी यह मंजिल इसी जीवन में समाप्त नहीं होने वाली है। नया जन्म लेना पड़ेगा। तब अगर तेरे पास संचित पुण्य की पूंजी नहीं होगी तो आगे तेरी क्या दशा होगी ? तुझे बहुत दुःख उठाना पड़ेगा।' अतः परलोक के लिए पुण्योपार्जन करके प्रबन्ध कर ले। इस जन्म में अगर पुण्योपार्जन कर लेगा तो आगामी जीवन में तुझे सुख मिलेगा।

महामंत्री तेजपाल शास्त्रों के ज्ञाता थे, नीति-धर्म के अच्छे विद्वान् थे, लेकिन उनका ज्ञान आचरण में नहीं उतर रहा था। पूर्वोपार्जित पुण्यसामग्री के फलस्वरूप उनके यहाँ सभी तरह का ठाठबाठ था, संपत्ति के साथ सत्ता, शरीरसुन्दरता और अन्य सभी लौकिक सुख-साधन मौजूद थे। लेकिन नये पुण्य का उपार्जन करने के लिए वे कोई खास प्रयत्न नहीं कर रहे थे। मुंजाल नाम का एक श्रावक मंत्री

करते हैं, वे पापकर्म करने वाले सुखी देखे जाते हैं! वहाँ पुण्य का फल मीठा और पाप का फल कड़ुआ क्यों नहीं दिखाई देता?

इसका समाधान ज्ञानीपुरुष यों करते हैं कि पुण्यवान् दुःखी और पापी सुखी जो नजर आता है, वह उनके वर्तमान पुण्य या पाप का फल नहीं है, वह दुःख या सुख तो भूतकाल के पाप और पुण्य का फल है। वर्तमान में तो पुण्यवान् और पापी जो पुण्य और पाप उपार्जन कर रहे हैं, उनका फल तो उन्हें भविष्य में मिलेगा। मिले विना न रहेगा। देर भले ही हो जाय, वहाँ अन्धेर नहीं है। किसान जब फसल काटता है, तब पहले बोए हुए बीज की फसल काटता है, वर्तमान में ताजे बोए हुए बीज की फसल तो वह भविष्य में पक जाने पर काटेगा। इसी प्रकार वर्तमान में पुण्यवान् व्यक्ति ने भूतकाल में जो पाप के बीज बो रखे थे, उनके फलस्वरूप उसे दुःख की फसल मिली है। ऐसा देख कर पुण्य के फल के प्रति अनास्था लाने की जरूरत नहीं। परन्तु सर्वसाधारण लोग पुण्यवान् को दुःखी और पापी को सुखी देख कर पुण्योपार्जन के विषय में उदासीन हो जाते हैं। उन्हें केवल वर्तमान पर ही दृष्टि नहीं रखना चाहिए। कहा है—

'वर्तमानदृष्टिपरो हि नास्तिकः'

'जो पुण्य-पाप की भूतकालीन करणी को न सोचकर केवल वर्तमान फल पर ही दृष्टि रखता है, वह नास्तिक है।' ऐसे लोग श्रद्धाहीन होकर पुण्य से विरत हो जाते हैं और बेखटके पाप करने लग जाते हैं। वे लोग यह नहीं सोचते कि खेत में बीज बोने के बाद किसान को कितना धैर्य रखना होता है, तुरंत ही अनाज नहीं मिल जाता। उसी प्रकार पुण्य या पाप के बीज जीवन के खेत में बोने

रूप से गृहस्थधर्म का आचरण करना स्वीकार किया। और उसके बाद तो उनका सारा जीवन ही धर्म और संस्कृति की वृद्धि के लिए, सर्वसाधारण जनता की सेवा में बीता। उन्होंने स्थान-स्थान पर सरोवर, बावड़ी, दानशालाएँ, पौषधशालाएँ, जिनमन्दिर, दीनदुःखियों के लिए अन्नसत्र आदि खोले और शेष जीवन धर्ममय बना कर अध्यात्मसाधना में बिताया।

अतः मनुष्य को प्रमादी बनकर और भोगविलास में डूबकर अपनी जिन्दगी के क्षणों को नहीं बिताना चाहिए। क्योंकि यह तो पूर्वकृत पुण्य का ही फल है। नवीन पुण्य उपार्जन करने के लिए मनुष्य इस जन्म में धर्माचरण करे; न्यायनीतिपूर्वक आजीविका करे; दान, परोपकार, सेवा आदि सत्कार्यों में रत रहे, यह अभीष्ट है। अन्यथा, पुण्य के बिना आगामी जन्म में कोई भी सुखसामग्री नहीं मिलेगी। कहा भी है—

'पुण्यं हि सर्वसम्पत्तिवशीकरणकारणम्'

"पुण्य ही सारी सम्पदाओं को खींचने में एकमात्र कारण है।"

पुण्य और पाप का फल

कहा जाता है कि पुण्य का फल मीठा और पाप का फल कडुआ होता है। पुण्य का फल भोगने में आसान होता है और पाप का फल भोगने में कठिनाई होती है। पुण्य से मनुष्य सुखी होता है और पाप से दुःखी होता है। फिर भी जगत् में कई जगह इसके विपरीत बात देखी जाती है। जो पुण्यकर्म करते हैं, अपने जीवन में सत्कार्य एवं धर्माचरण करते हैं, वे दुःखी नजर आते हैं और जो रातदिन पापकर्मों में डूबे रहते हैं, हिंसा, झूठ, चोरी, बेईमानी आदि

है, उस व्यक्ति के सामने पश्चात्ताप करके जो कुछ माल चुराया था, वह दीक्षा से पहले ही दे देता है या उसके लिए क्षमा मांग कर उसे संतुष्ट कर देता है, तो वह साधु गिरफ्तार तो नहीं किया जायगा, लेकिन उसे लोग इतना तो कह सकते हैं कि 'अरे, यह तो फलां चोर है। अब साधु बन गया है।

अर्जनमाली का ऐसा ही तो हुआ था। अर्जुनमाली की पत्नी के साथ राजगृही के ६ गुंडों ने उसके सामने बलात्कार किया तो उसे गुस्सा आया और जिस यक्ष की वह पूजा करता था, उससे प्रार्थना की कि मैं पीढ़ी-दर-पीढ़ी से तुम्हारी पूजा करता आ रहा हूं, आज मुसीबत के समय तुम साथ दोगे तो मैं समझूंगा, तुम यक्ष नहीं ठूंठ हो!" बस, यक्ष ने सुना कर एकदम अर्जुनमाली के शरीर में प्रविष्ट किया और उसने वहाँ रखा हुआ हजारपल वजन का लोह का मुद्गर उठाया और उसे घुमा कर उन छहों गुंडों एवं अपनी स्त्री पर दे मारा। सातों का काम तमाम करने के बाद अर्जुन ने मन में ठान लिया कि अब तो प्रतिदिन ६ पुरुष और एक स्त्री को मारे बिना न रहूंगा। बस, उसने ६ महीने में ११४१ व्यक्तियों की हत्याएँ कीं। ऐसा हत्यारा पापात्मा अर्जुनमाली यक्षावेश दूर हो जाने पर स्वस्थ हो कर सुदर्शन श्रमणोपासक के साथ भगवान् महावीर के दर्शन करने और प्रवचन सुनने जाता है। वहीं उससे संसार के विरक्ति हो जाती है। वह अपने पापी जीवन को तिलाञ्जलि दे कर धर्ममय जीवन अङ्गीकार कर लेता है, साधु बन जाता है। साधु बन जाने पर तो वह धर्मात्मा और महापुण्यवान बन गया। लेकिन राजगृही नगरी के लोग अभी उसे पुराना हत्यारा ही समझ रहे थे। अर्जुनमुनि को राजगृही में भिक्षा करने के लिए आए देख वे अपना वैर वसूल करने लगे। कोई कहते—इसने मेरे पिता को मारा है; कोई कहते—भाई को मारा है। इस प्रकार कोई थप्पड़ से, कोई मुक्कों से, कोई लाठी से, कोई गाली

पर मानव को भी उसके फल के लिए धीरज रखना चाहिए। इस बात को एक दृष्टान्त द्वारा समझाता हूं—

मान लो, एक शराबी है। उसने एक घंटे पहले शराब पी है। और एक घंटे बाद ही उसे विरक्ति हो गई। उसने शराब पीने का सदा के लिए त्याग कर दिया। तो क्या एक घंटे पहले पेट में डाली हुई शराब उस वर्तमान के मदिरात्यागी पर अपना प्रभाव नहीं दिखाएगी? नशा नहीं चढ़ाएगी? अवश्य चढ़ाएगी। ठीक इसी प्रकार वर्तमान में पुण्यवान् दिखाई देने वाले व्यक्ति ने भूतकाल में पापरूपी मद्य जीवन में पी रखा है, क्या वह पापमद्य अपना प्रभाव नहीं बताएगा? फल नहीं देगा? अवश्य देगा। तब आप वर्तमान में पुण्यकार्य करने वाले को दुःखी देख कर अश्रद्धा क्यों लाते हैं? उलटे, उससे प्रेरणा लीजिए कि पूर्वजन्म में इसने कुछ पापकरणी कर रखी है, जिससे दुःख या संकट आ पड़ा है। अगर हमें आगे के जीवन में दुःखी न होना हो तो अभी से ही पुण्यकार्यों में पुरुषार्थ करना चाहिए।

एक चोर है। उसने जिंदगी में बड़ी-बड़ी चोरियाँ की। परन्तु एकाएक एक दिन किसी महात्मा का उपदेश सुन कर उसे वैराग्य हो गया और घरबार, सम्पत्ति आदि सब छोड़ कर साधु बन गया। साधु बन जाने पर तो उसके महापुण्यवान् बन जाने में कोई सन्देह नहीं रह जाता। लेकिन उसने जो भूतकाल में चोरियाँ की थीं, उस पाप का फल तो उसे भोगना ही होगा। मान लो, खुफिया-पुलिस ने उक्त साधु को पहिचान लिया कि फलां चोरी के करने में यही व्यक्ति था। और उस पर गिरफ्तारी का वारंट लेकर पुलिस आ गई। आप कहें कि यह तो साधु है, इसे गिरफ्तार क्यों करते हो? पर उसने भूतकाल में जो चोरी की है, उसके फलस्वरूप उस पर चोरी का आरोप आया है, वह सच्चा है। हाँ वह साधु; जिसकी चोरी की

पुण्य का फल है। अगर हम अपने क्षणिक सुख के लिए दूसरों को दुःख में डालेंगे, दुःख का बीज बोयेंगे तो वहाँ पुण्योपार्जन होगा नहीं, और पुण्योपार्जन के विना सुख कैसे मिलेगा? इसीलिए नीतिकार कहते हैं—

"पुण्यस्य फलमिच्छन्ति, पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
न पापफलमिच्छन्ति, पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥"

'सांसारिक लोग पुण्य का फल चाहते हैं, पर पुण्य के कार्य करना या पुण्य के बीज बोना नहीं चाहते। उधर पाप का फल पाना कतई नहीं चाहते, परन्तु प्रयत्नपूर्वक पाप करते हैं।'

अकसर यह देखा जाता है कि लोग अपने समधीजी के या किसी सत्ताधारी अथवा धनिक के आने पर उनको खूब ठूंस-ठूंस खिलायेंगे। पर जो भूखा है, मुट्ठी भर अनाज के लिए हाथ फैलाता है, उसे एक टुकड़ा भी नहीं देते। जिसे जरूरत नहीं, उसे जवर्दस्ती परोसते हैं और जिसे वास्तव में जरूरत है, उसे देने में हिचकिचाते हैं। तव कैसे समझा जाय कि आप पुण्य का फल चाहने के लिए पुण्यकार्य करते हैं? जवर्दस्ती खिलाना कौन-सा पुण्यकार्य है? भूखे या जरूरतमंद को देने में तो सभी शास्त्र पुण्य वतलाते हैं।

पुण्यकार्य करने में प्रत्यक्ष आनन्द की अनुभूति

कई वार पुण्यकार्य के फलस्वरूप मनुष्य को प्रत्यक्ष आनन्द की अनुभूति होती है। ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव तो वही कर सकता है, जिसने अंतःकरण से पुण्यकार्य किया हो। मैं आपको दो वर्ष पहले की एक सच्ची घटना जो एक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी, वतलाता हूं—

'डॉ० जोजे हेरेरा उसलार' स्वीडन में दक्षिणी अमेरीका के वेनेजुला राष्ट्र के राजदूत हैं। साथ ही वे करोड़पति भी हैं। पूर्वपुण्य-प्रताप

दे कर, कोई निन्दा और घृणा करके, कोई अपमान करके, कोई भिक्षा देने में असहयोग करके उन्हें हैरान करने लगे। परन्तु अर्जुनमुनि यही सोचते—ये सब मेरे ही द्वारा किये गये पापकर्मों के फल हैं, मैंने तो इनके सम्बन्धियों को जान से मार डाला, लेकिन ये तो मुझ पर प्रहार करके थोड़े में ही कर्ज चुकता कर रहे हैं। इस प्रकार उन्होंने समभावपूर्वक उन कष्टों को सहन किया। शास्त्रकार कहते हैं—महापुण्यवान् मुनि बन जाने पर भी अर्जुनमुनि को ६ महीने तक अपने पूर्वकृतपापों के फलस्वरूप यातना सहनी पड़ी।

कोई यह कहे कि ऐसे महापुण्यशाली मुनि को भी दुःख उठाना पड़ा इसलिए पुण्य का फल दुःख है; परन्तु यह नासमझी है, केवल वर्तमान को ही देखना है। अर्जुनमुनि ने भूतकाल में जो भयंकर पापकर्म किया था, उसी का यह दुःखरूप फल था, वर्तमान काल में उपार्जित पुण्य का नहीं।

फल पुण्य का चाहते हैं, कार्य पुण्य का करते नहीं

आजकल संसार में यह देखा जाता है कि लोग अपना जीवन पुण्यकार्यों में नहीं लगाते। दान, परोपकार, सेवा, धर्माचरण, व्रत-पालन, शील, तप आदि सत्कार्यों में अपना जीवन नहीं विताते। क्योंकि वे समझते हैं कि पूर्वपुण्य के फलस्वरूप सभी कुछ सुख-साधन प्राप्त हैं, फिर क्यों दानादि धर्माचरण करके जीवन को कष्ट में डाला जाय? मौजशौक में जीवन विताना ही पुण्यवानों का काम है।" लेकिन यह भ्रम है। ऐसे लोग दुःखी होते हैं, तब कहते हैं, पुण्य का फल तो मिलता ही नहीं! वास्तव में आज संसार के अधि-कांश लोग कहते हैं हम सुख के अभिलाषी हैं। सुख चाहते हैं। सुख के लिए सारे प्रयत्न होते हैं। लेकिन वे यह नहीं सोचते कि सुख

बना कर अपना आनन्द परमानन्द में परिणत करने का हो गया।

यह है पुण्यफल के रूप में प्रत्यक्ष आनन्द की अनुभूति का ज्वलंत उदाहरण!

उसलार दम्पती की तरह भारत के सम्पन्न और पुण्यफल-प्राप्त कुछ व्यक्ति तैयार हो जाँय तो देश में से गरीबी, भूख, एवं अनाथता का दुःख मिट जाय। साथ ही पुण्य का प्रत्यक्षफल भी उन्हें मिले।

भाग्यशालियो! पुण्य-पाप की व्याख्या मैं काफी विस्तार से कर गया हूं। आप इसे हृदयंगम करके पुण्यार्जन करने में अपना जीवन लगाएँ।

स्थान—गौड़ीजी का उपाश्रय
पायधुनी, बम्बई

वि० सं० २००६
श्रावण सुदी १३, रविवार

से इन्हें अपार सम्पत्ति मिली है। कई बैंकों, समाचारपत्रों व जमींदारियों के वे मालिक हैं। लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि इस पूंजीपति का हृदय बड़ा उदार है और सौभाग्य से इसे पत्नी भी ऐसी ही उदारहृदय वाली मिली है। दो साल पहले सन् १९५० में यह दम्पती सैर के लिए आष्ट्रिया के प्रसिद्ध नगर जाल्सबर्ग गए। वहाँ इनके एक परिचित ने बताया कि 'जाल्सबर्ग के निकट ही एक आश्रम है, जहाँ ऐसे अनाथ लड़के रखे जाते हैं, जिनके न तो मा-बाप हैं और न अपना कहने को कोई देश।' यह सुन कर दम्पती का हृदय पिघला। उन्होंने उस आश्रम को देखने की इच्छा प्रगट की। दूसरे ही दिन वे वहाँ पहुंचे और अपने साथ एक अनाथ बच्चे को ले आए। उसे वे अपनी जन्मभूमि 'काराकास' में ले गए और उसे गोद ले लिया। फिर क्या था? वह लड़का 'उसलार' कहलाने लगा। उसका जीवन आनन्द से कटने लगा। उसके दुःख का मुंहकाला हो गया। उसका चेहरा लाल और गोल हो गया। लड़के का दम्पति के प्रति अगाध प्रेम हो गया। उसके चालचलन से कृतज्ञता बरसने लगी। यह देख कर उसलार-दम्पती की आत्मा आनन्द का अनुभव करने लगी। उन्होंने सोचा—"जब एक बालक को दुःखसागर से उबारने पर हमें सौगुना सुख मिला है तो युरोप से बहुत से अनाथ व भूखे-नंगे लड़कों को ला कर अपने साथ रख कर और अधिक आनन्द बढ़ाना चाहिए।" बस, उन कर्मठ पति-पत्नी ने १००० अनाथ बच्चों को इस तरह बसाने और उनको दुःखमुक्त करने की ठान ली। उनके रहने के लिए अच्छे मकान, बढ़िया सामान और सब सुखसाधन जुटा लिए गए हैं ताकि सब लड़के बड़े घरों के लड़कों की तरह पलें। दिसंबर १९५० में ५० नये अनाथ बालक हंगेरिया, आस्ट्रिया और बाल्कन राष्ट्रों से वहाँ पहुंच भी गए हैं। उनका विचार ईस्टर के त्योहार तक एक हजार अनाथ और दुःखी बालकों को परम सुखी

के लिए शास्त्र में पुण्य और पाप को लेकर एक चौभंगी बताई गई है—

(१) पुण्यानुबन्धी पुण्य, (२) पुण्यानुबन्धी पाप, (३) पापानुबन्धी पुण्य और (४) पापानुबन्धी पाप।

पुण्यानुबन्धी पुण्य का मतलब है—जो व्यक्ति पूर्वकृत शुभकर्मवश पुण्यफल प्राप्त कर सका है और इस जन्म में भी पुण्यकार्य करके पुण्य के बीज बो रहा है। ऐसे व्यक्ति के पुण्य को पुण्यानुबन्धी पुण्य कहा जाता है। पुण्यानुबन्धी पुण्य के प्राप्त होने पर प्राणी अपना भी कल्याण करता है, दूसरों का भी।

सुदर्शन सेठ या सुबाहुकुमार के जीवन में पुण्यानुबन्धी पुण्य था। सुदर्शन सेठ ने एक धनाढ्य के घर में जन्म लेकर सब तरह की सुखसामग्री पाई और पुण्य के फलस्वरूप प्राप्त सुखसामग्री का उपयोग दान, शील, तप और भाव के आचरण में लगा कर पुण्य के बीज बोये। वह चाहता तो अपनी सम्पत्ति, सुन्दर शरीर, और सुखसामग्री का उपयोग भोगविलास में, अभयारानी के साथ प्रेम करके विषयभोग में या ऐशआराम में कर सकता था, लेकिन उसने कष्ट सह कर शील में सुदृढ़ रह कर पुण्य की पूंजी बढ़ाने में उसका उपयोग किया। अपना कल्याण तो उसने किया ही, दूसरों को भी उसके जीवन से कल्याण की प्रेरणा मिली।

इसी प्रकार सुबाहुकुमार अपने पूर्वपुण्य के प्रभाव से अदीनशत्रु राजा के पुत्र के रूप में जन्मा। राज-ऋद्धि और धनसम्पत्ति की उसके यहाँ कोई कमी न थी, फिर भी सुबाहुकुमार ने अपने जीवन को धर्माचरण के उत्कृष्ट मार्ग में लगाया।

यद्यपि साधुजीवन भी अत्यधिक पुण्यप्राबल्य के कारण प्राप्त होता

१६

पुण्य और पाप का रहस्य—२

सज्जनो और सन्नारियो !

कल मैंने आपके सामने पुण्य और पाप के रहस्य पर विस्तार से विवेचन किया था। आज भी पुण्य और पाप के सम्बन्ध में जो बातें रह गईं, उन्हें बतला देना चाहता हूं।

आज पुण्य और पाप के सम्बन्ध में कई भ्रान्तियाँ चल रही हैं। कई लोग पुण्य का सम्बन्ध पैसे से जोड़ते हैं। पैसा एक साधन है। उससे सुख भी हो सकता और दुःख भी। देखना तो यह है कि वर्तमान में उस पैसे का उपयोग कैसे और कहाँ किया जा रहा है ?

वर्तमान में पुण्य-पाप को जानने की कुंजी

वैसे तो व्यक्ति को मनुष्यशरीर, पांचों इन्द्रियों और शरीर से सम्बन्धित सुख के सभी साधन पूर्वकृत पुण्य के बल पर मिलते हैं, लेकिन ये साधन मिलने पर भी वर्तमान में कौन पुण्यात्मा है और कौन पुण्य का खात्मा कर रहा है, इसे जानना जरूरी है। इस रहस्य को जानना ही पुण्य-पाप का असली मर्म जानना है। इस रहस्य को समझाने

या जन्म से बीमारी लग गई, अथवा दरिद्रता मिली यह पूर्वोपार्जित पाप का फल था; लेकिन वह अपनी इसी विपन्नावस्था या हीनावस्था को विलाप करके, रो-धो कर आर्त्तध्यान करके नहीं विताता, लेकिन उसे वरदान समझ कर पुण्यजनक उत्तमकार्य करता है, अपनी जिंदगी धर्माचरण में, सेवा में, परोपकार में विताता है। दान देता है, शील पालता है, तपश्चर्या करता है या व्रतपालन करता है; तो ऐसे व्यक्ति का जीवन पुण्यानुवन्धी पाप का प्रतीक है। पूर्वपाप के फलस्वरूप खराब परिस्थिति मिली, लेकिन अपने धर्मयुक्त पुरुषार्थ व शुभअध्यवसाय से उसने वर्तमान जीवन को सुखसंतोषमय बना लिया और भविष्य के जीवन के लिए भी पुण्य के बीज बो दिए।

संगम को पूर्वभव के पाप के उदय से एक दरिद्र ग्वाले के यहाँ जन्म मिला। मां-वेटा एक टूटेफूटे मकान में रहते। माँ मिहनत-मजदूरी करके अपना और वेटे का पेट पालती थी। दिनभर कड़ा परिश्रम करने पर मुश्किल से खाना नसीब होता, वह भी रूखासूखा। मेहनत-मजदूरी के लिए माँ-वेटा शहर में रहते थे। लड़का अभी छोटा ही था। दरिद्रता के कारण बौद्धिक विकास कहाँ से होता? एक दिन कोई त्यौहार था, पड़ौसियों के यहाँ खीर बनी। संगम को पता चला तो वह भी खीर खाने के लिए मचल पड़ा। बेचारी गरीब माँ कहाँ से उसे खीर ला कर देती! जब बहुतेरा समझाने-बुझाने पर भी वह न माना, अपनी जिद्द पर अड़ा रहा, तब माँ की आँखों में आँसू उमड़ आए। वेटा भी रोने लगा। पड़ौसिनों को पता चला तो वे उसके पास आकर रोने का कारण पूछने लगीं। उनके सहानुभूति-भरे बोल सुन कर ग्वालिन को और अधिक रोना आगया। जब पड़ौ-सिनों ने ढाढ़स बंधा कर आग्रहपूर्वक दुःख का कारण बताने का कहा तो ग्वालिन ने लज्जित स्वर में कहा—"आज यह लड़का खीर

है, लेकिन उसमें भी कई साधु-साध्वी प्रमादी, मायाचारी, दम्भी, क्रोधी, अभिमानी, रागद्वेषपरायण आदि रह कर अपनी अमूल्य पुण्य-सम्पत्ति को यों ही वर्बाद कर देते हैं, इसके बजाय पुण्यानुबन्धी पुण्य के धनी साधु-साध्वी अपने साधुजीवन को संयम की उच्च-साधना व महाव्रतों का भलीभांति पालन करके करते हैं; साथ ही समाज-कल्याण भी करते हैं। अनेक भव्यजीवों को धर्माचरण में प्रेरित करके, उन्हें संयम, सेवा, दया, परोपकार, दान, शील, तप आदि में प्रवृत्त करते हैं। विविध सेवासंस्थाओं द्वारा दीनदुःखी, अनाथ, अपाहिजों के दुःखनिवारण तथा अज्ञाननिवारण के लिए जनता को सेवाधर्म में प्रेरित करके वे साधु-साध्वी महान् पुण्य का उपार्जन करते हैं। मुझे भी अपने पूज्य गुरुदेव आचार्य विजयानन्दसूरिजी महाराज की कृपा से साधुजीवन तो प्राप्त हुआ ही, साथ ही जनसेवाधर्म की भी जोरदार प्रेरणा मिली।

भगवान् महावीर का जीवन भी पुण्यानुबन्धी पुण्य की प्रेरणा देने वाला था। वे स्वयं तो वीतरागता और केवलज्ञान प्राप्त कर चुके थे। अगर वे समाजकल्याण के कार्य न करते तो भी उनका कुछ न बिगड़ता। लेकिन उन्होंने सारी दुनिया को अपने जीवन से प्रेरणा दी कि स्वयं संसार सागर से तिरो और दूसरों को भी तारो; स्वयं बोध प्राप्त करो और दूसरों को भी बोध दो, स्वयं कषायों और रागद्वेषों अथवा दुष्कर्मों से मुक्त बनो और दूसरों को भी मुक्त करो। समाज के हर वर्ग के लोगों, यहाँ तक कि उस युग में नीचे समझे जाने वाली स्त्रीजाति और शूद्रवर्ण के लोगों को भी अपने संघ में समान स्थान देकर, उच्च धर्मसाधना का अधिकार दिया।

दूसरा भंग पुण्यानुबन्धी पाप है। उसका अर्थ है—जिसने मनुष्य शरीर तो पाया, लेकिन इन्द्रियाँ पूरी न पाईं, शरीर सुडौल न मिला,

ही संगम के हृदय में हर्ष उमड़ पड़ा। वह एकदम बोल पड़ा—"पधारिये महाराज, कृपा कीजिए।" संगम ने सोचा—मैं तो बाद में खीर खा लूंगा। ये उत्तम मुनिराज कब-कब पधारते हैं! अतः क्यों नहीं खीर इनके पात्र में उंड़ेल दूँ।" अतः मुनिराज को वन्दन करके भिक्षा-ग्रहण करने के लिए आमंत्रित किया। मुनिराज ने सामान्यतया लड़के से परिचय पूछा तो उसने अपने को ग्वाले का पुत्र बताया। लड़के ने तीव्रभावों से मुनिराज के पात्र में सारी खीर उंडेल दी।" 'ग्वाले के लड़के को दूध की क्या कमी होगी, यह सोच कर बालक की उदारभावना का विचार करते हुए मुनिराज खीर लेकर पधार गए।

भाग्यशालियो! ग्वाले का लड़का संगम अत्यन्त दरिद्र था; पूर्वपाप कर्मवश दरिद्रता में पल रहा था, लेकिन उसने जो हृदय की उदारता बताई, खीर देने की उत्कृष्ट भावना की, इसके कारण उच्चकोटि का पुण्यबन्ध कर लिया।

वस्तु की कीमत नहीं है, कीमत है भावों की। चन्दनबाला ने भ० महावीर को उड़द के बाकले भिक्षा के रूप में दिये थे। बाकलों की उस जमाने में क्या कीमत थी? लेकिन उस आहारदान के पीछे जो उत्कृष्ट भावना थी, वही प्रबलपुण्य का कारण बनी। लेने वाला भी उत्तमपात्र हो, देने वाला भी उत्कट भावों में बह रहा हो, देय द्रव्य भी शुद्ध व कल्पनीय हो और विधि भी उचित हो, तब उस दान का प्रतिफल उच्चकोटि के पुण्यबन्ध के रूप में मिलता ही है।

हाँ, तो दरिद्र गोपालपुत्र संगम वहाँ से मर कर राजगृह नगर में गोभद्र सेठ के घर भद्रा सेठानी के उदार में जन्मा। गोभद्र सेठ के वैभव, सम्पत्ति और पुण्यवानी की समानता करने वाला उस नगर में उस समय कोई नहीं था। मुनिराज को उत्कट भावों से आहार-

खाने की जिद कर रहा है। जहाँ रूखा-सूखा खाना भी भरपेट नहीं मिलता, वहाँ खीर कहाँ से आएगी ? यह अपनी जिद पर अड़ गया। यह देख कर मुझे अपने पिछले सुख के दिन याद आगए। बालक को संतुष्ट कर सकने की मेरी असमर्थता के कारण मुझे रोना आगया।

सेठानियाँ पुण्यशालिनी और उदारहृदय की थीं, उन्होंने कहा—"इसमें कौन-सी बड़ी बात है ? पहले कहा होता तो हम बनी-बनाई खीर ही ला देतीं, तुम्हें और बच्चे को रोने का अवसर ही नहीं आता। खैर, अब भी कुछ नहीं हुआ। हम खीर की सामग्री तुम्हें ला देती हैं। उसे लेकर आनन्द से खीर बनाओ और अपने लाल को खिलाओ, तुम भी खाओ।" चार सेठानियों ने मिल कर चार चीजें दीं। लेकिन आत्मगौरवशालिनी ग्वालिन ने उनसे कहा—"बहनजी ! मैं ये चीजें ले रही हूं, उनके बदले में मैं आपका कोई काम कर दूंगी। जब भी जरूरत हो मुझे कह देना।"

मगर सेठानियाँ ओछे दिल की नहीं थीं, वे धर्मज्ञ थीं। बोलीं—"तुम्हारा बालक भी तो हमारा ही बालक है। संकोच मत करो। हम तुमसे बदले में कुछ लेने की इच्छा से नहीं दे रही हैं। ऐसा कोई विचार मत करो।"

उन सेठानियों ने बदले की इच्छा बगैर ग्वालिन को खीर की सामग्री ला कर दे दी। ग्वालिन ने खीर पका ली और एक थाली में संगम के लिए परोस कर कहा—"बेटा ! मैं पानी भरने जाती हूं। जब खीर ठंडी हो जाय तो तू खा लेना।"

माता के जाने के बाद लड़का खीर ठंडी होने की प्रतीक्षा में था। इतने में ही दैवयोग से एक मासखमण (मासिक उपवास) की तपस्या करने वाले निःस्पृह मुनिराज उसके घर आ पहुंचे। मुनिवर को देखते

स्वर में कहा—"मैंने सब ओर का विचार करके अपने लिए अन्तिम निर्णय कर लिया है कि मैं पुनर्विवाह नहीं करूंगी।" पिता ने तुरंत कुछ सोच कर कहा—"पुत्री ! पुत्री !! अभी और सोच ले। एकदम निर्णय मत कर !" लड़की ने कहा—पिताजी और माताजी ! मुझे आपकी ओर से पूर्ण संतोष है। आपने अपना कर्त्तव्य अदा कर दिया। लेकिन मैंने अन्तःकरण से यह निश्चय किया है कि जब मुझे सहज ही त्याग और धर्मपालन के लिए सुअवसर मिल गया है तो मैं इसे क्यों खोऊँ ? यह जीवन भोगप्रधान नहीं, त्यागप्रधान है। भोग-योग्य उम्र में ही त्याग करने में खूबी है ! फिर मैं अपने पापकर्म के उदय से प्राप्त वैधव्य को भोगों में बिता कर अपने रहे-सहे पुण्य को क्यों खोऊँ ? त्याग, शील और गृहस्थोचित संयम व सादगी अपना कर पुण्य के बीज क्यों न बोऊँ ?" माता-पिता पुत्री का उत्तर सुन कर दंग रह गए। उसी दिन से लड़की ने अपनी जीवनचर्या बदल डाली। सादा व सात्त्विक खानपान अपना लिया, सोने को एक चटाई, पहनने के लिए सादे वस्त्र अपना लिए। संयमपोषक साहित्य पढ़ना शुरू किया। इससे माता-पिता के हृदय में भी मन्थन पैदा हुआ कि विधवा पुत्री घर में संयमनिष्ठ जीवन बिताए और हम असंयम से रहें, यह ठीक नहीं। अतः एक दिन प्रातःकाल लड़की के मातापिता (जो उस समय ४०-४२ वर्ष के थे) ने ब्रह्मचर्य-पालन का निर्णय करके अपनी पुत्री के समक्ष प्रण ले लिया।

जो वैधव्य पापकर्मके उदय से प्राप्त हुआ, उसे इस युवती ने सुखरूप में परिणत कर लिया और भविष्य में पुण्य की राशि संचित करने का प्रयत्न किया। यह पुण्यानुबन्धी पाप का प्रतीक जीवन है।

तीसरा भंग पापानुबन्धी पुण्य का है। यह बड़ा खतरनाक है ! पूर्वजन्म के पुण्योदय से जो सुखसामग्री मिली है, उसे मतवाले हो

दान देने से दरिद्र ग्वाले को यह सब पुण्यप्रभाव से मिला। वह शालिभद्र के रूप में श्रेष्ठीपुत्र बन कर उक्त पुण्यप्रसाद को भोगने में फंसा न रहा, वरन् भविष्य में भी पुण्य के बीज बोने के लिए सारी सम्पत्ति, वैभव, सुन्दरियाँ, घरबार, कुटुम्ब आदि छोड़ कर शालिभद्र ने संयमी जीवन अङ्गीकार कर लिया।

यह है पुण्यानुबन्धी पाप का ज्वलन्त उदाहरण !

एक आधुनिक सच्ची घटना लीजिए—"सौराष्ट्र के एक गाँव की बात है। एक १८ साल की युवती शादी होने के कुछ ही दिन बाद पूर्व पापकर्मवश विधवा हो गई। लड़की पीहर थी, तभी अचानक यह दुःखद समाचार मिले कि······की मृत्यु हो गई है। लड़की के माँ-बाप को असह्य दुःख हुआ। सारे गाँव में हाहाकार मच गया। युवती अपने ससुराल आई, सुहाग चिह्न उतारे। उदासीनता सबके मन पर छा गई। महीनों बीते। एक बार जब वह युवती अपने पीहर आई तो वियोग का दुःख अब भूल गई होगी, यह सोच कर माता ने उसके सामने बात छेड़ी—"बोल बेटी! अब क्या करना है?" लड़की ने उत्तर दिया—"एक भव में दो भव करने की मेरी इच्छा नहीं है।" लड़की के पिता को बुलाया गया। तीनों गहरे मंथन में पड़े। पिता ने भी पुत्री को बहुत समझाया—"बेटी! मेरी इज्जत की कोई चिन्ता न करना। बाल-वैधव्य में विवाह करना कोई काला पाप नहीं है। मुझे आशा है, मैं तुम्हारे श्वसुर को भी मना लूंगा। तेरी इच्छा हो तो अपनी जाति में ही योग्य वर मिल सकता है।" कौन पुत्री ऐसे सुयोग्य समयज्ञ माता-पिता के प्रस्ताव से हर्षित नहीं हो जाती। माँ ने लड़की की सखियों द्वारा भी उसे मनाने का प्रयत्न किया। पहले तो लड़की ने कहा—"बाद में जवाब दूंगी।" इससे सबको कुछ-कुछ आशा बंध गई। लेकिन कुछ दिनों बाद लड़की ने स्वयं दृढ़ता के

दुर्योधन का भी यही हाल हुआ। पापों में डूबा हुआ दुर्योधन मरने से पहले असह्यरोग से पीड़ित हुआ। सभी इलाज निष्फल हुए। असह्य दुःखों को दीर्घकाल तक हाय-हाय करके भोगता हुआ दुर्योधन धीरे-धीरे आयुष्य पूर्ण करके मरा। और वहाँ से २२ सागरोपम वाली नरक की तीव्र वेदना भोगने के लिए नरक में गया। वहाँ से निकल कर उसने मथुरा नगरी में श्रीदाम नामक राजा के यहाँ पुत्ररूप में जन्म लिया। नंदीवर्धन नाम रखा गया। परन्तु मूल संस्कार मिटे नहीं थे। जवान होते ही सोचने लगा—पिताजी जहाँ तक जिन्दा हैं, वहाँ तक मेरे हाथ में राज्य नहीं आएगा। राज्यप्राप्ति जब तक न हो तब तक मैं सुखी नहीं हो सकूंगा। न मालूम पिताजी अभी कितने वर्षों तक जिंदा रहेंगे! अतः इन्हें जहर दे कर या छुरा भोंक कर क्यों न मरवा डालूँ ?" इस प्रकार की पूर्वजन्म से अनुबद्ध राक्षसी भावना प्रबलरूप से मन में जागी। अपनी क्रूर भावना को क्रियान्वित करने के लिए नंदीवर्धन ने चित्त नामक एक नाई को धन और मंत्रीपद का लोभ दे कर तैयार कर लिया। 'किस प्रकार राजा का काम तमाम करना' इसकी योजना भी सोच ली। परन्तु किसी के प्राण लेना आसान काम नहीं है। नाई ने राजकुमार के सिखाये अनुसार अपना उस्तरा तेजतर्रार किया। राजा की हजामत करते-करते ज्यों ही गहरा घाव करने का सोचा कि एकदम हाथ रुक गया। राजा यकायक चौंका और नाई का मनोभाव ताड़ गया। राजा ने नाई से पूछा—"सच सच बता उस्तरा चलाते-चलाते एकाएक तेरा हाथ क्यों रुक गया ? गुनाह माफ कर दूंगा।" नाई ने सारी बात खोल कर कह दी। राजा के पुण्य प्रबल थे, आयुष्य बलवान थे, इसलिए बच गया। कहा भी है—

"वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये महार्णवे पर्वतमस्तके वा।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि ॥"

कर भोगविलास, आमोदप्रमोद और फालतू कामों में खर्च करने और पूर्वपुण्य को खत्म करने, नया पुण्य जरा भी उपार्जन न करने वाले का जीवन पापानुवन्धी पुण्य का प्रतीक है। पापानुवन्धी पुण्य वाले को धनवैभव, सत्ता, पद, प्रतिष्ठा, उत्तम शरीर आदि वस्तुएँ पूर्व पुण्य के प्रभाव से मिलती हैं, लेकिन वह उनसे अपना और वहुतों का अकल्याण करके नरक या तिर्यञ्च गति का भागी वनता है।

दुःखविपाकसूत्र का एक उदाहरण देकर इस भंग को समझाता हूं। सिंहपुर का दुर्योधन नामक दण्डनायक अत्यन्त क्रूर, अत्याचारी और अन्यायी था। 'सौजन्य की सेवा और दुष्टता को दंड,' उसका कर्त्तव्य होते हुए भी लोगों से पैसा बटोरने और अपने पद की धाक जमाने के लिए वह लोगों को मारता-पीटता, सताता और हैरान करता। लोगों को लूटने, चूसने, उन पर झूठा मुकदमा चला कर उनसे रिश्वत लेने, किसी की इज्जत लूटने व शीलभंग करने में ही उसका अधिकांश समय वीतता था; साथ ही दिनोंदिन इस प्रकार के पापचरण के वावजूद भी उसके पास लक्ष्मी और शक्ति वढ़ती गई, यह देख कर उसके अभिमान का पारा भी वढ़ गया। वह यह नहीं सोचता था कि इस पापकर्म का, दुःख देने का कुफल कभी न कभी जरूरी मिलेगा; उलटे वह यह सोचता कि किसकी ताकत है, जो मेरे सामने चूंचपड़ भी कर सके! लोग मेरा नाम सुनते ही कांप उठते हैं। उसके चेहरे पर राक्षसी चिह्न उसकी राक्षसी प्रकृति की साक्षी देते थे। अपनी दुष्ट प्रवृत्तियों का वह आदी हो गया था। दुर्योधन का पूर्वपुण्य प्रवल था, इसलिए सुख के साधन, सम्पत्ति वगैरह मिले थे। परन्तु उसकी दृष्टि निर्मल न होने के कारण सभी सुखसामग्री पाप का वीज वोने वाली वनती जा रही थी। शास्त्रीय शब्दों में उसका पुण्य पापानुवन्धी पुण्य था। क्षणिक सुख जरूर था, परन्तु उसमें अनन्तकाल के दुःखों के वीज पड़े हुए थे। पापकर्म एक दिन जरूर उदय में आता है।

पड़े व्यक्ति को देख कर ऐसा सोचा करते हैं—"यह अपने किये दुष्कर्मों का फल भोग रहा है। मुझे इसके और इसके किये के बीच में पड़ने की क्या जरूरत है? ऐसा विचार आना एक प्रकार की निर्दयता-क्रूरता है और अपने पुण्यफल को अपने पापों की आग से जलाना है।

एक करोड़पति सेठ था। उसने सम्पत्ति पूर्वजन्म के पुण्यप्रभाव से पाई, लेकिन पक्का कंजूस था। दान करने, सहायता करने, दीन-दुःखी के आँसू पोंछने का नाम नहीं लेता था। वह यही समझता था कि ये दीनदुःखी हैं तो अपने कर्म से हैं, मैं इसमें क्या करूं? भोगें अपने किये का फल।"

सेठ न तो परोपकार के काम करता और न ही जीवन में किसी प्रकार का धर्माचरण करता। सेठ के पुण्य पर पापकर्म हावी हो गए। एक दिन उनके फलस्वरूप सेठ की पत्नी गुजर गई, लड़का था ही नहीं, परदेश से समाचार मिला कि व्यापार में तीन लाख रु० का घाटा पड़ गया। एक पर एक आफतों की चोट न सह सकने के कारण सेठ का अचानक हृदय बन्द हो गया। लोगों ने उसके शव को श्मशान में डाल दिया। श्मशान नदी के किनारे था। एक योगी वहीं नदीतट पर रहते थे। रात होते ही एक गीदड़ उस सेठ के शव के पास आया और मांस खाने की नीयत से उस पर झपटा। योगी ने गीदड़ की चेष्टा देख कर कहा—

"रे रे जम्बुक ! मुञ्च मुञ्च सहसा नीचस्य निन्द्यं वपुः"

"अरे गीदड़ ! इसे छोड़ कर झटपट भाग जा यहाँ से ! यहाँ तो एक पापी और नीच का निन्दनीय मृत शरीर पड़ा है।" गीदड़ ने कहा—"बापू ! मुझे बहुत भूख लगी है। इसलिए और कुछ नहीं खा कर इसके दो हाथ ही खा कर भूख मिटा लूंगा।"

'वन में, युद्ध में, शत्रु, पानी और अग्नि का संकट उपस्थित होने पर, समुद्र में या पर्वतशिखर पर, सोया हुआ हो, असावधान हो या कैसी भी विषम परिस्थिति में हो मनुष्य के पूर्वकृत पुण्य उसकी रक्षा करते हैं।'

राजा ने युवराज नंदीवर्धन को तुरंत गिरफ्तार करवा कर कैद में डाल दिया। नगर में ड्योंडी पिटवा दी कि युवराज का राज्याभिषेक नगर के मुख्य चौक में किया जायगा। इसलिए सभी लोग तैयार हो कर आएँ। राजकर्मचारी तैयारी करने में लगे हुए थे। इधर राजा ने सीसे का गर्मागर्म रस तैयार करवाया। ठीक समय पर युवराज को मुख्य चौक में बनी हुई वेदी पर ला कर बिठा दिया गया। राजा ने युवराज के मस्तक पर खौलता हुआ गर्मागर्म रस उड़ेल कर अभिषेक किया और कुत्ते की मौत मार डाला। दुर्योधन के जीव नंदीवर्धन को अपने दुष्ट पापकर्मों का फल मिल गया। चौक में जमी हुई भीड़ यह देख कर दंग रह गई।

सच है, जो व्यक्ति पुण्य के फलस्वरूप प्राप्त सामग्री के घमंड में आकर दूसरों पर जुल्म ढहाते हैं, बेकस गरीबों को सताते और चूसते हैं, उसका नतीजा यह होता है कि उसकी पुण्यसामग्री भयंकर पापकर्म की सामग्री जुटाने में लग जाती है। बहुधा ऐसे लोगों का जीवन निन्दनीय बन जाता है, लोग उनके नाम पर थूकते हैं। कंस और रावण ने पूर्वपुण्यवश सभी प्रकार की सुखसामग्री पाई, लेकिन उसका उपयोग अत्याचार, संहार और दुष्टता करने में ही किया। जिसके कारण उन्हें नरक का मेहमान बनना पड़ा। इसलोक में भी उनके निन्द्य जीवन पर लोग थूकते हैं और उन्हें अपने किये का कुफल भोगना पड़ा है।

ऐसी क्रूरवृत्ति वाले लोग प्रायः दीनदुःखी, गरीब और संकट में

ने कुछ सोच कर कहा—"अच्छा तो इसका पेट खा जाऊँ ?" योगी ने सिर हिलाते हुए कहा—नहीं, नहीं, इसका पेट तो अत्यन्त खराब है। 'अन्यायार्जितवित्तपूर्णमुदरम्' क्योंकि इसका पेट अन्याय से कमाये हुए धन से भरा है। इसके पेट ने कभी संतोष नहीं किया। सारी जिंदगीभर बेईमानी, ठगाई, धोखेबाजी, शोषण आदि से पेट-रूपी पेटी को यह भरता रहा। परन्तु कभी इसने भूखे, दुःखी और गरीबों का पेट नहीं भरा। उनके प्रति रहम नहीं की। इसलिये तेरे खाने योग्य यह पेट नहीं है।" सियार झुंझला कर बोला—अब तो इसकी खोपड़ी बाकी रह रही है, उसमें थोड़ासा माल मिल जायगा, आप कहें तो उसे खालूं ?" योगी ने दृढ़ता से कहा—" बिलकुल नहीं। इसका मस्तक तो खाने लायक ही नहीं है। क्योंकि 'गर्वेण तुंगं शिरः' इसका मस्तक घमन्ड से सदा ऊँचा और तना हुआ ही रहा। कभी झुका नहीं। हाँ, अधिकारियों' सत्ताधारियों या धनाढ्यों के सामने इसने मस्तक नमाया होगा, लेकिन देव, गुरु और धर्म या धर्मात्मा के सामने तो यह सदा अक्कड़ रहा है। अपने घर पर आने वाले अतिथियों, गरीबों या अनाथों के साथ कभी इसके मस्तक ने नम्रता से बात नहीं की। तो जो मस्तक गुरुचरणों में भी नहीं झुका, वह तेरे खाने लायक कैसे हो सकता है ?" यह सुन कर गीदड़ उस सेठ की लाश को वहीं छोड़कर भूखा ही चला गया।

यह रूपककथा पापानुबन्धी पुण्य वालों की ओर इङ्गित करती है कि सब कुछ सुखसाधन पूर्वपुण्यवश प्राप्त होने पर भी जो वर्तमान में अपने प्राप्त साधनों का सदुपयोग नहीं करता, सत्कार्यों में नहीं लगाता, उसकी गति क्या और कैसी होती है ? वह इस लोक में भी निन्दा का पात्र बनता है परलोक में भी दुर्गति और दुःखों का पात्र बनता है।

योगी—'हस्तौ दानविवर्जितौ' इन हाथों ने कभी किसी को दान नहीं दिया। इन्होंने तो लूट ही लूट चलाई है। रुपये ही तिजोरी में इकट्ठे किये हैं; वे भी लूट कर, चूस कर, लोगों को चकमा देकर, विश्वासघात करके और वेईमानी करके। इसलिए ये हाथ तेरे खाने लायक नहीं हैं। खायेगा तो तेरी बुद्धि भ्रष्ट होगी।" तब सियार ने कहा—"इसके दो कान खा लूं।" योगी बोले—कान भी मत खा। क्योंकि "श्रुतिपुटौ सारस्वतद्रोहिणौ" इन कानों से कभी धर्मकथा नहीं सुनी। ज्ञानियों की वाणी से सदा द्रोह ही किया है। इन कानों ने दूसरों की निन्दा की बातें, गंदी राजनीति की गर्मागर्म खबरें, सुन्दरियों के हावभाव भरे गीत सुने हैं। आत्मा की आवाज सुनने की इन्हें फुरसत ही कहाँ थी। लड़ाई-झगड़ों की बातें सुनने में बहुत दिलचस्पी रखी। प्रभुगुण न सुने, दूसरों के दुर्गुणों का ही पता लगाया।" तब गीदड़ ने कहा—"तो इसकी दो आँखें खा जाऊँ?" योगी ने कहा—"तू भोला है। 'नेत्रे-साधुविलोकनेन रहिते' इन आँखों ने कभी सत्पुरुषों या साधुजनों के, महापुरुषों के दर्शन नहीं किये। संतपुरुषों को सामने आते देख कर तो इसने आँखें फिरा लीं। अंगनाओं के हावभाव, अंगचेष्टाएँ और रूपदर्शन में ही आँखें ठंडी की। जिन वस्तुओं की ओर देखना था, वे नहीं देखीं। जिन दीनदुःखियों की ओर देखना था, वहाँ से आँखें जानबूझ कर हटालीं। आध्यात्मिक साहित्य पढ़ने में आँखों का उपयोग नहीं किया, वरन् अश्लील नाटक-उपन्यास पढ़ने व देखने में आँखें लगाईं।" सियार ने योगी से पूछा—"तो फिर इसके दो पैर खा जाऊँ?" योगी ने कहा—"पादौ न तीर्थं गतौ" इसके पैर कभी तीर्थयात्रा को नहीं गए। न इसके पैर दीनदुःखी की सेवा के लिए दौड़े। इसके पैर तो दूसरों को ठुकराने, कुचलने और लात मारने में ही लगे रहे थे। अतः ये भी खाने लायक नहीं।" सियार

वे घर दूकान, सोना-चाँदी और अन्य सांसारिक पौद्गलिक वस्तुओं को मेरी-मेरी कहकर ममता करके रखते हैं, लेकिन इन सब चीजों को छोड़ कर एक दिन परलोक कूच करना पड़ता है। मधुमक्खी की तरह बड़े परिश्रम से इकट्ठे किये हुए धनरूपी मधु को दूसरे ही खाते हैं। खुद के हाथ से किसी को दिया नहीं जाता। ऐसा कृपण जब मरता है तो एक साथ सारी चीजें पीछे रहने वालों को दे देता है; दे देनी पड़ती है। मौत का बुलावा आने पर अचानक यहां से डेरा उठाना पड़ेगा, तब अन्त समय में पश्चात्ताप होगा—"हाय रे इस सम्पत्ति से कुछ भी सुकृत नहीं किया, इस शरीर और इन्द्रियों से कभी धर्माचरण नहीं किया, न सत्कार्यों में इन्हें लगाया, अब क्या करूं ? लेकिन तब कुछ करना तो 'आग लगने पर कुएँ खोदने' जैसी कहावत चरितार्थ करने वाला होगा।

राजगृही नगरी का कालसौकरिक पूर्वजन्म के पापकर्मों के उदय से कसाई के यहाँ जन्मा था। पापकर्म में ग्रस्त लोगों की हालतें अपनी नजरों से देख कर भी उसकी आँखें न खुलीं। वह अपनी वंश-परम्परा के अनुसार पशुवध करने के ही धन्धे में लगा रहा। श्रेणिक राजा ने उसे बहुत मनाया, प्रलोभन भी दिया, भय भी दिखाया; लेकिन वह अपने पापकर्म से नहीं हटा। उसका सगा बेटा पूर्वजन्म के किसी पुण्य के निमित्त से महामन्त्री अभयकुमार की सोहबत व दोस्ती से अहिंसक बन गया था। उसने अपने बापदादों का पशुओं की कत्ल का धन्धा कतई छोड़ दिया। उसने भी कालसौकरिक को बहुत अनुनय-विनय करके इस पापमय धन्धे को छोड़ देने के लिए कहा। मगर वह तो टस से मस न हुआ।

नतीजा यह हुआ कि पाप में से ही आया था और पाप में ही वापिस चला गया; अंधकार में से आया और अंधकार में ही पुनः डूब

अब चौथा भंग रह गया है। उसका नाम है—पापानुबन्धी पाप। पूर्वजन्मकृत पाप के कारण जिस व्यक्ति को न तो अच्छा शरीर मिला, न धन और न कोई विशेष सुख के साधन मिले। दूसरी ओर वह अपनी पापकमाई का फल देख कर भी नहीं चेतता और उल्टे पापकर्मों में ही अधिक से अधिक रचापचा रहता है। ऐसा व्यक्ति पापानुबन्धी पाप का प्रतीक है। ऐसे लोगों को सावधान करते हुए एक गुजराती कवि कहता है—

> पामर प्राणी ! चेते तो चेताऊँ तने रे ॥ टेर ॥
> नथी घरबार तारुं, मिथ्या कहे म्हारुं म्हारुं।
> एमां नथी कांई तारुं रे ॥ पामर प्राणी ॥ १ ॥
> माखीए मधुपूडुं कीधुं, न खाधुं नवि खावा दीधुं।
> लूंटनारे लूटी लीधुं रे ॥ पामर प्राणी ॥ २ ॥
> तारे हाथे वपराशे, तेटलुं ज तारुं थाशे।
> बीजूं तो बीजा ने जाशे रे ॥ पामर प्राणी० ॥ ३ ॥
> खंखेरी ने हाथ खाली, ओचिंतुं जवुं चाली।
> करे माथाकूट खाली रे ॥ पामर प्राणी० ॥ ४ ॥

मित्रो ! आप हजारों रुपये वेश्याओं की महफिलों में, अधिकारियों को रिश्वत देने में, और वाहवाही के लिए मृतभोज या शादी के अवसर पर खर्च करते हैं, लेकिन यदि आप उस रकम का चौथाई भाग भी गरीबों की भलाई के लिए, विधवा, अनाथ और पतितों के कल्याण के लिए, धर्मप्रचार के लिए या दीनदुःखियों की सेवा के लिए खर्च करते तो आपको कितना पुण्य होता ? आपका यश भी कितना फैलता ? मगर ऐसी उच्च भावना किसी पुण्यवान पुरुष के ही मस्तिष्क में आती है। अधिकतर संख्या कृपणों की है या स्वार्थियों की है। जिनका पैसा पाप से ही आता है और पाप में ही जाता है।

वयणपुण्णे—वचन से किसी का भला करना, मधुर, सान्त्वना-दायक, सत्य वचन कहना वचनपुण्य है।

कायपुण्णे—शरीर और शरीर से सम्बन्धित जितनी भी विद्या, धन, या अन्य सुखसाधन की वस्तुएँ या इन्द्रियाँ, बुद्धि, आदि शरीर के अंगोपांग हैं, उनका दूसरों के भले के लिए, दूसरों के दुःख दूर करने के लिए उपयोग करना कायपुण्य है।

नमोक्कारपुण्णे—विद्या, बुद्धि, उम्र और चारित्र में बड़ों के प्रति नम्र हो कर सरलतापूर्वक नमस्कार करना, उनके कृत उपकारों के प्रति कृतज्ञ होना नमस्कारपुण्य है।

ये नौ प्रकार तो मोटे रूप में गिनाए हैं। वास्तव में पुण्य का सम्बन्ध शरीर से है। इसलिए शरीर और शरीर से सम्बन्धित जितनी भी सजीव या निर्जीव वस्तुएँ या साधन अपने पास हों, उनका उपयोग केवल अपने या अपनों के ही स्वार्थ में न करके दूसरों और खासकर उन साधनों की जिन्हें अत्यन्त जरूरत है, उन लोगों के लिए करने से पुण्यवृद्धि होती है। कई लोग कहा करते हैं कि हमारे पास तो धन या अन्य सुखसाधन प्रचुरमात्रा में नहीं हैं, तब हम पुण्य का उपार्जन कैसे कर सकते हैं? लेकिन पुण्य केवल धन, तन या शरीर से अतिरिक्त साधनों से ही प्राप्त नहीं होता, मानसिक शुभभावों से भी प्राप्त होता है। शरीर के विविध अंगोंपांगों द्वारा दूसरों की सेवा में योग-दान देकर, बुद्धि, वाणी, समय, श्रम आदि के द्वारा सहयोग देकर बहुत आसानी से पुण्योपार्जन हो सकता है।

पुण्य और पाप भावों पर निर्भर

वस्तुतः देखा जाय तो पुण्य और पाप भावों या अध्यवसायों पर निर्भर है। एक आदमी दूसरे को देता है लेकिन बला टालने की

गया। ऐसे पापात्मा को अनन्त जन्मों तक सद्बोध मिलना दुर्लभ हो जाता है। किसी भी महापुरुष का उपदेश उसे नहीं जचता, न घर वालों का हितकर कथन उसे रुचिकर लगता है। उसका सारा जीवन ही पापों में व्यतीत होता है।

इस चौभंगी पर से आप प्रेरणा ले सकते हैं कि प्रथम के दो भंग उपादेय हैं और बाद के दोनों भंग त्याज्य हैं।

पुण्य-उपार्जन करने के प्रकार

इन सब बातों पर से एक सवाल उठता है कि पुण्यप्राप्ति के मोटे तौर पर कितने प्रकार हैं ? शास्त्र में पुण्यप्राप्ति के ९ भेद बताए हैं—"अन्नपुण्णे, पाणपुण्णे, लयनपुण्णे, सयणपुण्णे, वत्थपुण्णे, मणपुण्णे, वयणपुण्णे, कायपुण्णे नमोक्कारपुण्णे"

अन्नपुण्णे—"किसी भूखे, दुःखी, जरूरतमंद को भावपूर्वक अन्न देने से पुण्य होता है, वह अन्नपुण्य है।

पाणपुण्णे—किसी प्यासे को पानी पिलाना पानपुण्य है।

लयनपुण्णे—किसी आश्रयहीन, बेघर को रहने के लिए आश्रय देना लयनपुण्य है।

सयणपुण्णे—किसी जरूरतमंद को सोने के लिए साधन देना शयनपुण्य है।

वत्थपुण्णे—किसी नंगे या फटेहाल अथवा ठंड से ठिठुरते हुए को वस्त्र देना वस्त्रपुण्य है।

मणपुण्णे—मन से कल्याण की भावना या शुभभावना सारे जगत् के लिए करना मनपुण्य है।

एक व्यवहार पुण्यमय वन जाय। आपका खाना-पीना, पहनना-ओढना आदि प्रवृत्तियाँ ऐसी हों, जिनसे पाप भी शर्मिंदा हो जाय। आपके खानपान, रहनसहन, व्यवहार व कार्य से दुनिया का अहित या विगाड़ नहीं होगा तो स्वतः ही पुण्य हो जायगा। जिन कार्यों को ज्ञानीपुरुष पापमय मानते हैं, उनके करने से कोई बड़ाई नहीं होती, बड़ाई होती है जगत् के या समाज के कल्याण के कार्य भावनापूर्वक करने से।

क्या पुण्य सर्वथा हेय है ?

कई लोग यह कहा करते हैं कि जब मनुष्य पुण्य के फलस्वरूप अपार वैभव, सुख के प्रचुर साधन और आमोदप्रमोद की अधिक सामग्री पा जाता है तो वह अकसर धर्मकरणी करने में मन्द हो जाता है; प्रमादी, आलसी और अभिमानी बन कर धर्मकार्य से विमुख हो जाता है; पुण्यमय सत्कार्यों से भी मुंह मोड़ लेता है। पुण्य-फल धर्मकार्य या सत्कार्य में बाधक बन जाया करता है। भगवान् का नाम सुख में याद नहीं आता, सुखशय्या में पले हुए लोगों को धर्म का आचरण करके अपने शरीर को जरा भी कष्ट में डालना नहीं सुहाता; तब पुण्य का उपार्जन किया ही क्यों जाय, जिससे वह आगे चल कर धर्मकरणी में बाधक बने ? उसे पहले से ही त्याज्य क्यों न समझा जाय ?

ज्ञानीपुरुष इसका समाधान यों करते हैं कि पुण्य और पाप का शरीर के साथ अभिन्न सम्बन्ध है। जहाँ तक शरीर रहेगा, वहाँ तक पुण्य और पाप दोनों में से एक की बहुलता रहेगी ही। और धर्म-अधर्म का सम्बन्ध मुख्यतया आत्मा के साथ है। आत्मा के विकास में यदि वह पुण्यफल बाधक बनता हो, तब तो उसे छोड़ना ही

दृष्टि से देता है, या रिवाज समझ कर बिना मन के देता है या तिरस्कारपूर्वक देता है तो उसका वह दान पुण्यजनक नहीं होता। इसी प्रकार जिन्हें जरूरत नहीं है, उन्हें लोकलज्जावश या समाज में अपनी प्रतिष्ठा बरकरार रखने के लिए, शोभा के लिए देता है तो वह भी पुण्य का कारण नहीं। जहाँ शुभभावों से दूसरे के एकान्त हित की दृष्टि से सत्कारपूर्वक दिया जाता है, वही दान पुण्य को खींच लाने वाला बनता है।

इसी प्रकार पुण्य किसी स्थान विशेष में ही बन्द नहीं है। मनुष्य धर्मस्थान में भी कलह, मारपीट, द्वेष, या निन्दा करके पुण्यबन्ध के बदले पापबंध कर लेता है और पापस्थान—वेश्यालय, द्यूतगृह, नाटकशाला आदि में भी प्रेरणा और शुभभावों की तीव्रता आ जाय तो पापबन्ध के बदले पुण्यबन्ध कर लेता है।

तपस्या वैसे तो निर्जरा और पुण्य का कारण है, लेकिन दूसरों को हैरान करने, सताने, कलह करने या दम्भवश मान, पूजा आदि के लिए तपस्या की जाय तो वह तप पुण्यबन्धकारक न हो कर पापबन्ध का कारण बन जाता है। दान तो नागश्री ब्राह्मणी ने भी दिया था, वह भी एक उत्तम मुनिराज धर्मरुचि को। लेकिन उसके पीछे भावना गंदी होने के कारण पुण्यबन्ध के बदले पाप का बन्ध हुआ। वेश्यागृह जैसे पापस्थान में मुनि स्थूलिभद्र ने भी चातुर्मास बिताया था, लेकिन वह वेश्यालय उनके लिए शील-मन्दिर, शीलपरीक्षाभवन बन गया और वहाँ रह कर भी वे स्वयं तो उच्चतम शीलपालन में उत्तीर्ण हुए ही, वेश्या (कोशा) को भी धर्ममूर्ति श्राविका बना दी। यानी पापस्थान को भी पुण्य बना दिया।

इसलिए अपनी भावना ऐसी रखो कि हर प्रवृत्ति, हर कार्य या हर

इसलिए पुण्य सर्वथा हेय नहीं है, बल्कि जब तक देहमुक्त अवस्था न आ जाय, तब तक पुण्य का फल अरिहन्तों, केवलियों और वीतरागपुरुषों को प्राप्त होता रहता है। हाँ, अगर वे यह समझते हैं कि यह पुण्यफल हमारे आत्मविकास में सीधा बाधक बन रहा है तो वे उस पुण्यफल की उपेक्षा करके अपना धर्मपालन करते हैं। सामान्य साधु भी जब तक प्रमत्तगुणस्थान में है तब तक उसका महाव्रतादिपालन सरागसंयम कहलाता है, जिसके कारण उसके पुण्यों का पुंज एकत्रित होता रहता है और आयुष्य पूर्ण कर वह ऊँचे देवलोक में जाता है।

पुण्य धर्म की ओर मोड़ने में सहायक

धर्मकरणी या धर्माचरण भी मनुष्य तभी कर सकता है, जबकि उसे स्वस्थ मनुष्यशरीर, पञ्चेन्द्रियजाति, सत्कुल, आर्यक्षेत्र, उत्तमजनों का सत्संग, सुन्दर वातावरण, अच्छी बुद्धि आदि मिलें। और ये सब पूर्व संचित प्रबल पुण्य के कारण मिलते हैं। कहा भी है—

"जैनो धर्मः कुले जन्म शुभ्रा कीर्तिः शुभा मतिः।
गुणे रागः श्रियां त्यागः पूर्वपुण्यैरवाप्यते ॥"

"सुकुलजन्म विभूतिरनेकधा प्रियसमागम-सौख्य-परम्परा।
नृपकुले गुरुता विमलं यशो भवति पुण्यतरोः फलमीदृशम् ॥"

अर्थात्—'जैनधर्म, सुसंस्कारों से सम्पन्न कुल में जन्म, निर्मल कीर्ति, शुभविचार, गुणों के प्रति अनुराग, सम्पत्ति के त्याग की भावना, ये सब पूर्वोपार्जित पुण्यों से ही प्राप्त होते हैं।'

'अच्छे कुल में जन्म, अनेक प्रकार का ऐश्वर्य, प्रियजनों या प्रिय वस्तुओं का मिलना, सुखों की परम्परा, राजदरबार में प्रतिष्ठा, निर्मल यश ये सब पुण्यरूपी वृक्ष के फल हैं।'

चाहिए। परन्तु जब तक आत्मविकास में बाधक न बन कर वह सहायक बनता हो, तब तक वह सर्वथा हेय नहीं हो सकता।

नौका नदी पार करने में सहायक है, किन्तु परले किनारे पहुंचने के बाद उसे छोड़नी पड़ती है। यदि अधबीच में कोई यात्री कहने लगे कि नौका तो आखिर छोड़नी ही है, तो मैं यहीं क्यों न छोड़ दूँ? अगर वह ऐसा कर बैठेगा तो उसकी क्या हालत होगी? वह मझधार में डूब जायगा। इसलिए परले किनारे तक नौका को रखना पड़ता है। परन्तु यदि यात्री परले किनारे पहुंच जाने के बाद भी नौका को न छोडना चाहे और कहे कि इस नौका ने मुझे नदी पार किया है, इसलिए मैं इसे छोड़ूंगा नहीं, अपने माथे पर उठा लूंगा या अपने साथ ले जाऊँगा तो उस मूर्ख को क्या कहा जायगा?

इसी तरह पुण्यरूपी नौका संसार में जन्ममरणरूपी नदी को पार करने में सहायक है, परन्तु कोई जन्म-मरण की नदी को पार किये बिना अधबीच में ही उसे छोड़ दे या छोड़ना चाहे तो वह बीच-भँवर में गोता खाता रहेगा। इसी प्रकार भवभ्रमण की सरिता पार करने के बाद भी यानी जन्ममरणमुक्त हो जाने के बाद भी पुण्यनौका को पकड़े रखना चाहे तो वह आत्मसुख को छोड़ कर सांसारिक शरीर-सम्बद्ध सुखों को पकड़े रखना चाहता है। ऐसा करने वाला व्यक्ति अपना आत्मविकास स्वयं रोकता है।

अतः पुण्य कथञ्चिद् उपादेय है, जब तक कि शरीर है और कथञ्चित् हेय है, जब यह शरीर न रहे। सर्वथा छूट जाय।

अगर पुण्य भी पाप की तरह सर्वथा त्याज्य ही होता तो मोक्षगामी पुरुषों के लिए उत्तम संहनन, उत्तम संस्थान, पांचों इन्द्रियों की पूर्णता आदि शरीर-सम्पदा से सम्बन्धित वस्तुओं की अनिवार्यता क्यों मानी जाती?

विषाक्त वायु (कार्वोनिक गैस) मनुष्य के उच्छ्वास से निकलती है, उसे वृक्ष अपने लिए उपयोगी समझ कर अपने अन्दर खींच लेते हैं। इसी प्रकार पुण्य-पाप का ज्ञाता मनुष्य पुण्य-पापरूपी ऑक्सीजन और कार्वोनिक गैस में से पुण्यरूपी ऑक्सीजन गैस को खींच लेता है।

पुण्यपापज्ञ व्यक्ति हर हाल में खुश रहता है, सम रहता है और शुभभावों का संचार करके अशुभ परिस्थिति को पुण्यबल से शुभ बना लेता है।

अरबस्तान का खानदान घर का एक लड़का दुर्दशा में पड़ जाने से शत्रुओंके चंगुल में फंस गया। उन्होंने उसे एक निर्दयअमीर को गुलाम के रूप में वेच दिया। एक सौदागर ने जो उस गाँव में व्यापार करने आया करता था, उस युवक को कठोर परिश्रम करते देख कर पूछा—"भाई! तुम्हें बड़ा दुःख है!" युवक बोला—"जो पहले नहीं था, भविष्य में रहेगा नहीं, उसके लिए चिन्ता ही क्यों की जाय?" कई वर्षों वाद वह सौदागर फिर उस गाँव में आया तो पता लगा कि उस गुलामयुवक का मालिक मर गया है और मालिक की गिरती दशा के कारण गुलामी से मुक्त हो कर उस मालिक के पत्नी-पुत्र का अपनी कमाई से भरणपोषण कर रहा है।" सौदागर ने उस युवक से उसकी हालत पूछी तो उसने कहा—"जो परिवर्तनशील है, उसे सुख भी क्यों माना जाय और दुःख भी क्यों?" दो साल बाद फिर वह सौदागर वहाँ आया तो देखा कि वह युवक अब उस जिले का अगुआ बन गया है। उसके मातहत बहुत से नौकर काम करते हैं। आसपास के गाँव वालों ने उसे अपना सरदार बना कर वहाँ के डाकुओं के आतंक को दवा दिया है। उसकी इस सेवा के बदले उन्होंने उसे बहुत-सी जमीन दे दी है।" ऐसी पुण्यमयी सुखद

मोक्ष प्राप्त करने में निमित्तभूत वज्रऋषभनाराच संहनन और समचतुरस्र संस्थान वाला उत्तम शरीर आदि सामग्री पुण्य से ही मिलती है। पुण्य के प्रभाव से मनुष्य धर्माचरण कर सकता है और धर्माचरण से मोक्ष प्राप्ति होती है। इसलिए परम्परा से पुण्य धर्म और मोक्ष की प्राप्ति में प्रबल कारण है।

पुण्य से धर्मपालन के लिए ईष्ट और अनुकूल सभी प्रकार की सामग्री मिलती है। इसीलिए कहा गया है—

"पुण्यमेव भवमर्मदारणं पुण्यमेव शिवशर्मकारणम्।
पुण्यमेव हि विपत्तिशामनं पुण्यमेव जगदेकशासनम्॥"

अर्थात्—पुण्य ही परम्परा से जन्ममरण के चक्र से छुड़ाता है, पुण्य ही मोक्षसुख का कारण है। पुण्य के उदय से ही सब विपत्तियाँ शान्त हो जाती हैं और पुण्य ही सारे जगत् पर शासन करने वाला है।

पुण्य-पाप के ज्ञाता का जीवनव्यवहार

जिस मनुष्य को पुण्य और पाप के रहस्य का ज्ञान हो जाता है, उसका जीवन ही बदल जाता है। वह अशुभ में से भी शुभप्रकृति बांध लेता है। अज्ञानी मनुष्य जिस चीज के निमित्त से पाप का उपार्जन करता है, उसी को पुण्य-पाप का ज्ञाता मनुष्य धर्म या पुण्य के उपार्जन का हेतु बना लेता है। जिस अन्न से साधारण मनुष्य पाप कमाता है, उसी से पुण्यपापज्ञ मनुष्य पुण्य-उपार्जन कर लेता है। इन्हीं इन्द्रियों से अज्ञानी जीव पाप-उपार्जन करता है, परन्तु सुज्ञ मनुष्य इनका सदुपयोग करके पुण्य कमा लेता है। वृक्ष अपने भीतर से एक प्राणवायु (ऑक्सीजन) छोड़ता है, जिसे मनुष्य अपने श्वास द्वारा अन्दर खींच लेता है और अपनी जिन्दगी टिकाता है। और जो

१७

देवदुर्लभ मानवता

आप जानते हैं कि दुनिया में जो चीज बड़ी मुश्किल से मिलती है, वह थोड़ी होती है। और थोड़ी होने के कारण वहुत महंगी भी होती है। रेडियम धातु वहुत ही थोड़ी है। सारी दुनिया में वह तोले-डेढ़ तोले-भर होगी। इसीलिए वह महंगी भी वहुत है। परमाणु वहुत ही सूक्ष्म होता है। अतः किमती भी वहुत होता है। करोड़ों रुपये एक परमाणु के लग जाते हैं। इसी कारण वह हर आदमी के लिए सुलभ नहीं होता। यहाँ तक कि करोड़पति तक भी अकेला उसे नहीं खरीद सकता।

ये वस्तुएँ महंगी भले ही हों, पैसे से खरीदी जा सकती हैं। पर कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं, जो पैसे से नहीं खरीदी जा सकतीं; दूसरी वस्तु वदले में देकर भी वे नहीं ली जा सकतीं और न एक के परिश्रम के वदले दूसरे व्यक्ति को मिल सकती हैं। क्या आप वता सकते हैं, वे वस्तुएँ कौन-सी हैं? लो, आप न वता सकते हों तो मैं ही वता दूँ! सर्वज्ञ भगवान् महावीर ने पावापुरी के अपने अन्तिम प्रवचनों में अपने अनुभवों का निचोड़ जगत् के सामने प्रस्तुत करते हुए कहा—

परिस्थिति देख कर सौदागर ने जब अपना पुराना प्रश्न दोहराया तो उसे वही पुराना जवाब युवक से मिला। थोड़े वर्षों के बाद वह सौदागर आया तो उसने देखा कि वह तो अब राजा बन गया है। एक खास युद्ध में उसने राजा को काफी सहायता दी, जिसके कारण उसने युवक को अपना राजजामाता और उत्तराधिकारी बना दिया है। सौदागर ने उस राजा बने हुए दास युवक से पूछा—"क्यों जी ! अब तो सुखी हो गए न ?" राजा बने हुए उक्त युवक ने अपना वही उत्तर दुहरा दिया।

भाग्यशालियो ! पुण्य-पाप का रहस्य जानने वाला व्यक्ति इसी खानदान और पुण्यवान युवक की तरह अपने जीवन की दुःखद परिस्थितियों में तड़फता नहीं और सुखद घड़ियों में इतराता नहीं। बल्कि दोनों परिस्थितियों में सम रह कर अपने पुण्य में वृद्धि करता है और पाप को पास नहीं फटकने देता।

आप भी पुण्य और पाप का रहस्य समझ कर पाप को हटाने और पुण्य को बढ़ाने का अभ्यास करें। जब अभ्यास पक्का हो जायगा तो आपको अनायास धर्माचरण में रुचि होगी और आपकी दौड़ मुक्ति की ओर लगेगी।

स्थान—गौड़ीजी का उपाश्रय पायधुनी, बम्बई	}	वि० सं० २००६ श्रावण सुदी १४, सोमवार

इस श्लोक में मनुष्यत्व के अलावा जो दो बातें बताई हैं, उनका समावेश श्रद्धा, श्रवण और संयम में पुरुषार्थ में हो जाता है। धर्मश्रवण की रुचि और संयम में पुरुषार्थ की वृत्ति मुमुक्षुता के बिना हो नहीं सकती। जिसे संसार के जन्ममरण से, कर्मों से और विषय-कषायों से मुक्त होने की प्रबल उत्कण्ठा होती है, वही धर्मश्रवण करता है और उसके बाद त्याग और संयम के मार्ग पर आगे बढ़ता है। इसी प्रकार जहाँ तक सम्यक् श्रद्धा नहीं होतीं, वहाँ तक जीव में मोक्षप्राप्ति की अभिलाषा या महापुरुषों के समागम या उनकी शरण प्राप्त करने की वृत्ति जाग्रत नहीं होती। इसलिए भगवान् महावीर ने ठोस अनुभव के आधार पर जो बात कही है, उसमें शंकराचार्य द्वारा कही गई तीनों बातें समाविष्ट हो जाती हैं।

मनुष्यजन्म दुर्लभ क्यों ?

दूसरे धर्मशास्त्रों में मनुष्यता के पहले मनुष्यशरीर या मनुष्यजन्म प्राप्त करना भी दुर्लभ बताया है। उसका कारण यह है कि अनन्त पुण्योदय से, अनेक जन्मों तक नरक, तिर्यञ्च और देवगति में भटकते-भटकते और पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति की योनियों में घूमघाम कर, एकेन्द्रिय से क्रमशः द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय में विकास करते-करते जीव मनुष्यजन्म प्राप्त करता है। जिस मनुष्य-शरीर के लिए देवता भी तरसते हैं, उसके लिए गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—

> "बड़े भाग मानुसतन पावा।
> सुरदुर्लभ ग्रन्थ कोटिन्ह गावा॥"

भला देवता इस मनुष्य शरीर पाने के लिए क्यों तरसते हैं ?

"चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमम्मि य वीरियं ॥"
—उत्तराध्ययनसूत्र अ० ३ गा० १

इस संसार में जीवों को चार वस्तुएँ प्राप्त होनी अतिदुर्लभ हैं। वे चार ये हैं—मनुष्यत्व, धर्म-श्रवण, सच्चीश्रद्धा और संयममार्ग में पुरुषार्थ।

भाग्यशालियो! क्या ये वस्तुएँ रिश्वत देने से प्राप्त हो सकती हैं? आपमें से बहुत-से लोग व्यापारी हैं, इसलिए कदाचित् ऐसा सोच लें कि हम जैसे अधिकारियों को रिश्वत देकर कई दुर्लभ चीजें प्राप्त कर लेते हैं, वैसे ये भी प्राप्त कर लेंगे। अगर इन तरीकों से ये चीजें प्राप्त हो जातीं तो भगवान् महावीर इन्हें कभी दुर्लभ न बताते। ये चीजें इतनी दुष्प्राय हैं कि न तो धन से प्राप्त हो सकती हैं, न अदलेबदले से और न दूसरे की मेहनत से एवं न ही किसी प्रकार की रिश्वत, खुशामद या मंत्र-यंत्र से ये प्राप्त होने वाली हैं। इन चार अतिदुर्लभ वस्तुओं के लिए तो जीव को स्वयं ही ध्येय की दिशा में सही तरीके से पुरुषार्थ करना पड़ता है। काफी सत्-पुरुषार्थ के बाद ही ये चारों वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं। इसीलिए इन्हें अतिदुर्लभ कही हैं। केवल भगवान् महावीर ही नहीं, जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य ने भी दूसरे शब्दों में इन्हें अतिदुर्लभ बताई हैं—

"दुर्लभं त्रयमेवैतद् देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥"

अर्थात्—"ये तीन बातें ही परम दुर्लभ हैं, कदाचित् देवाधिदेव (परब्रह्म) के अनुग्रह (कृपा) से प्राप्त हो जांय। वे तीन ये हैं—मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व और महापुरुषों की शरण।"

दृष्टि से देवगण मनुष्यभूमि में जन्म लेने के लिए लालायित रहते हैं।

मनुष्यशरीर पाने पर भी मनुष्यता दुर्लभ

कई लोग मनुष्यशरीर पा जाते हैं, लेकिन उन्हें अनुकूल वातावरण, सत्संग, अनुभवज्ञान और उत्तमपुरुषों का योग न मिलने के कारण वे मनुष्य का शरीर पा कर भी धर्म का कुछ भी आचरण नहीं कर पाते। आचरण तो दूर रहा, अपने जीवन की कीमत भी वे नहीं समझ पाते। मनुष्यजन्म तो चोर को भी मिला है, परन्तु वह मानवशरीर पाकर भी दूसरों का धन हरण करता है। मनुष्यजीवन तो एक वेश्या को भी मिला है, परन्तु वह इस अमूल्य शरीर से धर्माचरण न करके तरुणों को अपने जाल में फंसा कर अपना शरीर और धर्म दोनों का नाश करती है। मनुष्यशरीर क्या हत्यारे को नहीं मिला है? परन्तु वह इस देह से अपने कृत दुष्कर्मों का हनन करने के बदले अपने धर्म का और निर्दोष मनुष्यों का हनन करता है। मनुष्य देह पाया हुआ तो अत्याचारी, अन्यायी, ठग, लुटेरा, गुंडा और बदमाश भी है। परन्तु वह अन्त में पापों की गठड़ी ही अपने सिर पर रखे हुए परलोक में जाता है। इन सब दुष्कर्म करने वाले व्यक्तियों के लिए तो मनुष्यजन्म पाना न पाना एक सरीखा है। अनन्त जन्मों की कमाई के फलस्वरूप पाये हुए मनुष्यजन्म को ये बर्बाद कर देते हैं। बड़ी कठिनाई से प्राप्त मानवजन्म को इस प्रकार बुराइयों में बर्बाद कर देना, कांता-पींजा कपास बना देने के समान है। इसीलिए भ० महावीर ने मनुष्य शरीर की अपेक्षा मनुष्यता पर ज्यादा जोर दिया है। मनुष्यशरीर इतना दुर्लभ नहीं, जितना कि मनुष्यत्व दुर्लभ

देव वाह्य-वैभव, शरीर-सम्पत्ति और भौतिकशक्ति में चाहे मनुष्य से कितने ही वढ़े चढ़े क्यों न हों, आध्यात्मिक वैभव, बल और सम्पत्ति में वे वहुत पीछे हैं। एक दार्शनिक कहता है—ईश्वर के वाद दूसरा स्थान न तो देवताओं को मिल सकता है और न वेचारे पशुओं को। फिर नारकीय जीवों की तो वात ही क्या ? ईश्वर के वाद दूसरा स्थान केवल एक ही पा सकता है, और वह है मनुष्य।

देवों की दुनिया में विषय-सुख वहुत है, लेकिन वहाँ धर्म का आचरण नहीं हो सकता। देवभव का अर्थ ही है, पुण्य की पूंजी को खर्च कर देना। वहाँ नई पूंजी (पुण्य की) इकट्ठी नहीं होती, पुरानी पूंजी को ही सुख-उपभोग करके खत्म कर दिया जाता है। पुण्य की पूंजी खत्म होते ही वहाँ से च्यव कर दूसरी योनि में आना पड़ता है। धर्म की उत्कृष्ट आराधना मनुष्यभव में ही हो सकती है। नारकीय जीव तो वेचारे रातदिन दुःखों में ही तड़फते रहते हैं, उन्हें धर्म की आराधना करने का विचार ही नहीं आता और न उन्हें वैसा अवकाश ही है। और तिर्यञ्चों में अज्ञान का अन्धेरा उन्हें इस धर्ममार्ग पर आने ही नहीं देता। फिर पशुजीवन की पराधीनता और कमजोरियाँ उन्हें उत्कृष्ट महाव्रतों को अपनाने से रोकती हैं। भूख, प्यास और कष्टों से भरी परिस्थिति में उन्हें प्रायः धर्माचरण का वोध नहीं होता। देवों का संसार विलास और पुण्य के भोगों में इतना लिप्त है कि उन्हें आध्यात्मिक जीवन अपनाने का अवकाश ही नहीं मिलता। एक मानव-जन्म की भूमि ही ऐसी है, जहाँ धर्माचरण के वीज वोए जा सकते हैं। आपको मिट्टी पर वैठना अच्छा नहीं लगता, क्योंकि आप सभ्य और संस्कारी ठहरे। कपड़े खराव हो जाने के डर से आप पक्के फर्श पर वैठे हैं, परन्तु याद रखिये, मानवलोक की इस काली भूमि पर ही धर्म के वीज वोये जा सकते हैं। देवभूमि सुन्दर होते हुए भी, उपजाऊ नहीं है। इसी

यह है सच्चा मानव बनने की तीव्रता ! जिसमें ऐसी तड़फन होगी वही मनुष्य सच्चे मानव की परीक्षा में पास होता है; लाखों मनुष्य के चुनाव के समय चुना जाता है।

एक बड़े शहर में किसी गरीब ब्राह्मण ने ढाई पहर तक धक्के खाए, मगर किसी ने उसे मुट्ठी चावल भी न दिये। वह भूखाप्यासा ब्राह्मण रास्ते के किनारे बैठ कर अपने भाग्य को कोसने लगा। इसी समय उस रास्ते से एक सौम्यमूर्ति साधु जा रहे थे, उनके कानों में यह करुण आवाज आई। उन्होंने पास जा कर पूछा—"क्यों भाई ! यहाँ बैठे-बैठे किसको कोस रहे हो ?" ब्राह्मण ने कातरकण्ठ से अपनी आपबीती सुनाई कि मैं ढाई पहर से द्वार-द्वार भटकता रहा, सबके सामने रोया, हाथ फैलाया; लेकिन किसी ने एक मुट्ठी भीख न दी। अब मुझ-से चला नहीं जाता, इसलिए यहाँ बैठ-बैठा अपने भाग्य को कोस रहा हूं।" साधु मुस्करा कर बोले—"तुमने किसी मनुष्य से भिक्षा नहीं मांगी, अगर मांगते तो अवश्य ही मिल जाती।" ब्राह्मण आश्चर्यचकित होकर बोला—महात्मन् ! मैंने दोनों आँखों से अच्छी तरह देख कर ही भीख मांगी है। सभी मनुष्य ही थे। पर किसी ने मेरी कातर पुकार न सुनी।" साधु ने कहा—"भाई ! मनुष्य को दुःखी देख कर जिसका हृदय नहीं पिघलता; वह मनुष्य नहीं, मनुष्यशरीरधारी पशु है। लो, मैं तुम्हें एक जादुई चश्मा देता हूं, इसे आँखों पर लगा कर देखोगे तो तुम्हें सच्चा मनुष्य नजर आ जायगा। फिर तुम उस मनुष्य से मांगोगे तो तुरंत ही तुम्हारी आशा पूर्ण होगी।" साधु से चश्मा लेकर वह भूखा ब्राह्मण चल पड़ा। कुछ दूर चल कर ब्राह्मण ने सोचा—"बड़ी आफत है ! क्या इस चश्मे के लगाए बिना मनुष्य नहीं दीखेगा ? खैर, एक बार इस चश्मे को लगा कर शहर में घूम तो आऊँ।" यह सोच कर ब्राह्मण

सच्चा मनुष्य मिलना कठिन

कहने को तो यह कहा जा सकता है कि धर्मग्रन्थ भले ही कहते हों कि मनुष्य दुर्लभ है, परन्तु आज संसार के राजनीतिज्ञ कहते हैं कि 'मानवसंख्या तेजी से बढ़ती जा रही है। दस वर्षों में दुनिया की मानवसंख्या आज से दुगुनी हो जाने का अनुमान है। आज भी ढाई-तीन अरब के करीब मानवसंख्या है। इसलिए मनुष्य बहुत ही सस्ता है। पशुसंख्या घट रही है, जबकि मनुष्यसंख्या बढ़ रही है। एक आदमी की जरूरत हो वहाँ हजारों आदमियों की अर्जियाँ आ जायेंगी। एक कम्पनी में ५० मनुष्यों की जरूरत थी, वहाँ २५० के करीब अर्जियाँ आईं। इससे अंदाजा लगाया जा सकता है कि मनुष्य कितना सस्ता है! एक मजदूर दिनभर के लिए चाहिये तो बारह आने में मिल जायगा, लेकिन एक साईकिल दिनभर के लिए चाहिए तो चार रुपये देने होंगे। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य की अपेक्षा साईकिल महंगी है। परन्तु सच्चे मानव इतने सस्ते नहीं हैं। वे बहुत ही दुर्लभ हैं। सच्चे मानव और विकृत मानव में रात-दिन का अन्तर है। सच्चा मानव वह कहलाता है, जिसमें मानवता हो।

आज मनुष्य की आकृति में बहुत-से मानव इस भूमण्डल में घूमते दिखाई देंगे, पर उनमें प्रकृति से मानव बहुत ही थोड़े होंगे। एक मंत्री का चुनाव होता है तो लाखों आदमियों में से एक ही चुना जाता है। इसी प्रकार सच्चा मानव भी हजारों में से एक होता है।

इटली के महान् व्यक्ति गारफिल्ड से बचपन में किसी ने पूछा—"तुम क्या बनना चाहते हो?" उन्होंने हाजिरजवाब देते हुए कहा—"मैं सबसे पहले मनुष्य बनना चाहता हूं। यदि ऐसा होने में सफल न हुआ तो किसी भी कार्य में सफल न हो सकूंगा।"

तो मन को चैन पड़े'। वह शीघ्र घर पहुंचा। जूते का जोड़ा लेकर मुख्य बाजार के चौक में खड़ा हो गया। वहाँ के राजा प्रतिदिन संध्या समय घूमने जाते तब रोजाना अपनी पसंद का नया जूता खरीद कर पहनते थे। नित्य नये जूते खरीदने का काम मंत्री के जिम्मे था। मंत्री ने राजा को कई जूते लाकर बताए। पर कोई जोड़ा पसंद न आया और न पैर में ठीक बैठा। राजा ने मंत्री को डांट कर कहा—"मैं ५००) रु० दूंगा। तुम जल्दी से मेरी पसंद व नापे के जूते ले आओ। अन्यथा, मैं ऐसी हालत में घूमने नहीं जा सकूंगा और तुम्हें उसका कठोर दण्ड दूँगा।" बेचारा मंत्री कांपता-कांपता बाजार के चौराहे पर पहुंचा। इस मोची को सुन्दर नये जूते लिए खड़े देखा। तुरंत उससे जूते लेकर मंत्री राजा के पास पहुंचा। साथ में मोची को भी ले लिया। संयोगवश वह जूते का जोड़ा राजा के पैरों में भी फिट बैठ गया और राजा को पसंद भी आ गया। राजा ने प्रसन्न हो कर मोची को ५००) रु० जूते का मूल्य और ५००) रु० ईनाम देने का आदेश दिया। मोची ने आनन्दविह्वल हो कर गद्‌गद स्वर में कहा—"सरकार! जरा ठहरने की आज्ञा हो। मैं अभी जाता हूं और जिनको ये रुपये मिलने हैं, उनको तुरंत ले आता हूं। सरकार! ये रुपये उन्हीं के हाथों में दिला दीजियेगा।" मोची की बात सुन कर राजा विस्मय में पड़ गया। राजा ने पूछा—"भला! ये जूते तो तुमने अपने हाथ से बनाए हैं, तो फिर इनके दाम दूसरे व्यक्ति को क्यों दिला रहे हो?"

मोची—"सरकार! मैंने यह दान किसी ब्राह्मण को देने का संकल्प किया था, तब इनका मूल्य मैं कैसे ले सकता हूं?" यह कह कर मोची दौड़ता-दौड़ता हलवाई की दूकान पर पहुंचा। ब्राह्मण अभी तक वहीं था। अतः उसे हाथ जोड़ कर मोची ने कहा—

ने ज्यों ही चश्मा लगाया त्यों ही उसने जो दृश्य देखा, उसे देख कर वह हकाबका हो गया, ब्राह्मण की बोलती बंद हो गई। वह सिर पर हाथ धर कर बैठ गया। बिना चश्मे के जिन लोगों को उसने मनुष्य समझ कर भीख मांगी थी, उस चश्मे को लगाते ही उनमें से किसी का मुंह सियार का, किसी का कुत्ते का, किसी का बन्दर, भालू या बाघ सरीखा दिखाई देने लगा। इस प्रकार शहर के घर-घर में पहुंच कर शाम होने से कुछ देर पहले एक मैदान में आ पहुंचा, वहाँ उसने देखा एक मोची एक पेड़ के नीचे बैठा जूते सी रहा है, चश्मे से देखने पर उसका मुख मनुष्य-सा दिखाई दिया। उसने कई बार चश्मा उतारा और फिर लगा कर देखा—ठीक मनुष्य ही नजर आया। तब उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। मन ही मन सोचने लगा—"मैं ब्राह्मण होकर जूते सीने वाले मोची से कैसे भीख मांगू?" इतने में मोची की दृष्टि ब्राह्मण पर पड़ी। मोची हाथ जोड़ कर बोला—"महाराज! आप बड़े भूखे दिखते हैं। आपने अभी तक कुछ खाया नहीं दिखता। मैं अति दीनहीन, नीच जाति का हूं। मेरी हिम्मत नहीं होती कि आपसे प्रार्थना करूं! पर यदि आप दया करके मेरे साथ चल सकें तो मैंने जो दिनभर में जूते गांठ कर दो चार पैसे कमाये हैं, उन्हें मैं पास के ही हलवाई की दूकान पर दे देता हूं। आप कृपा करके कुछ जलपान कर लेंगे तो आपको तनिक स्वस्थ देख कर हृदय में आनन्द होगा। ब्राह्मण भूख से छटपटा रहा था। उसने मोची की सौजन्य-भरी बात मान ली। दोनों हलवाई की दूकान पर पहुंचे। मोची ने बटुआ निकाल कर पौने चार आने निकाले और हलवाई से कहा कि पण्डितजी को जो चीज चाहिये, जिससे आराम मिले, वह दे देना।" इतना कह कर मोची मुट्ठी बांध कर घर की ओर दौड़ा। मन में सोचा कि 'घर में जो नया जूते का जोड़ा बना रखा है, उसे अभी बेच कर जितने भी पैसे मिलें लाकर तुरंत ब्राह्मण महाराज को दे दूँ

मानवों को अपने समान समझ कर के। यानी दुनिया में जितने भी मानव हैं, फिर वे चाहे चीनी हों या जापानी, भारतीय हों या अमेरीकन, काले हों या गोरे, हिन्दू हों या मुस्लिम, जैन हों या बौद्ध; वैश्य हों या शूद्र, ब्राह्मण हों या क्षत्रिय, बंगाली हों या गुजराती, पंजाबी हों या मारवाड़ी सभी मेरे कुटुम्बी हैं, आत्मीय हैं, सभी मेरे भाई हैं। उनका दुःखसुख मेरा दुःखसुख है, इस प्रकार की समता का व्यवहार करके ही मैं मानवता को सही माने में पा सकता हूं। और मानवता को पाना ही सच्चे मानव बनना है। इसी में मेरे मनुष्यजन्म पाने की सार्थकता है।" मोची ने कहा—"सरकार! ऐसा करके आप मुझे लज्जित न कीजिए और न मुझे अपने पद से गिराइए। आप जो कुछ देना चाहें ब्राह्मणदेवता को दीजिए। मैं दीन-हीन, अपढ़ व्यक्ति राज्य लेकर क्या करूंगा? मैं तो अपनी मानवतारूपी लक्ष्मी को सुरक्षित रख लूं; इतना ही बस है। मैं इससे अधिक कुछ नहीं चाहता। मुझे अपने हक की रोजी में ही संतोष है। मानवता के राज्य को ही पाने और सुरक्षित रखने की मुझे तमन्ना है।" वह दरिद्र ब्राह्मण सोचने लगा—मेरी कई पूर्वजन्मों की तपस्या थी, जिसके प्रभाव से इस मोचीरूपी विशालहृदय महाप्राण पुरुष के दर्शन हुए। यों सोच कर गद्‌गद् हृदय से ब्राह्मण भी मोची के चरणों में गिर पड़ा और कहने लगा—"भाई मोची! मैं न राज्य चाहता हूं, न देवत्व, न ब्राह्मणत्व और न सारे संसार का आधिपत्य एवं न ही कुछ धन चाहता हूं। मैं चाहता हूं, केवल तुम्हारे जैसा मनुष्यत्व!" मोची ने अश्रुपूर्णनेत्रों से भावावेश में आकर परमात्मा से प्रार्थना की—"मेरे अन्तर्यामी करुणाकर प्रभो! धन्य है आपकी करुणा को! मैंने केवल जूते के एक जोड़े का मूल्य ब्राह्मणदेव को देने का काम किया था, इतने से ही आप मुझे इतना बढ़ा रहे हैं, तो अगर मैं अपना तन, मन, प्राण सर्वस्व समर्पण करके

"दया करके मेरे साथ राजमहल चलिए।" ब्राह्मण मंत्रमुग्ध की तरह उसके पीछे चल पड़ा और राजा के सामने पहुंचा। मोची ने राजा से कहा—"सरकार! इन्हीं ब्राह्मणदेव को जूते का मूल्य दिलवाने का आदेश दिया जाय।" राजा ने मंत्री को एक हजार रुपया ब्राह्मण को दे देने की आज्ञा दी। फिर राजा ने विस्मयकौतुहलपूर्ण हृदय से ब्राह्मण से पूछा—"पण्डितजी! हमारी राजधानी में इतने धनीमानी लोगों के होते हुए भी आपने इस मोची से क्यों भीख मांगी?" तब सरलहृदय ब्राह्मण ने सारी आपबीती सुनाई और राजा को वह चश्मा दिखलाते हुए कहा—"हजूर! आप स्वयं यह चश्मा लगा कर सत्य-परीक्षा कर लें।" राजा ने वह चश्मा लगा कर मंत्री के मुख की ओर देखा तो वह सियार-सा लगा। फिर चारों ओर फिर कर देखा तो किसी का मुख कुत्ते-सा, किसी का बन्दर, बिल्ली, भेड़िया, गधा, बकरी अथवा भैंसे के समान दिखाई दिया। तब राजा ने चकित हो कर वह चश्मा मंत्री को दिया। मंत्री ने लगा कर राजा के मुख की ओर देखा तो एक बड़ा बाघ-सा दिखाई दिया। चारों ओर बैठे हुए लोगों की शक्ल तरह-तरह के जानवरों के समान दिखाई दी। लेकिन सिर्फ उस मोची का मुख ही आदमी-सरीखा दिखाई देता था। राजा ने मोची के चरणों में गिर कर कहा—"हे उत्तम मानव! आज से यह राज्य तुम्हारा हुआ। मैं अब राज्य, धन या ऐश्वर्य नहीं चाहता। मैं चाहता हूं तुम्हारे जैसा विशाल मानव-हृदय। मैंने मनुष्यशरीर तो पाया, लेकिन मनुष्य का मन-हृदय-नहीं पाया। मैं अब तक भ्रम और सत्ता के अभिमान में आकर खुद को उच्चमानव समझता था, परन्तु तुम्हारे इस उदार मानवीय व्यवहार को देख कर मेरी आँखें खुल गईं। मैं अब सच्चा मनुष्य बनना चाहता हूं। सो, इस धन या सत्ता से नहीं बन सकता हूं केवल 'मानवता' के बारे में पुरुषार्थ करके और आध्यात्मिक दृष्टि से सभी

बचा। कई मर गये और कई भाग गये थे। लड़की अपने परिवार के या पड़ौस के किसी भी व्यक्ति को न देख कर घबरा उठी। सोचने लगी—अब मुझे कौन खिलायेगा, कौन रखेगा ? अगर किसी हिन्दू ने देख लिया तो मार डालेगा ! हाय ! मेरा अब क्या होगा ?' यों वह जोर-जोर से फफक फफक कर रोने लगी। कुछ मजदूरिनें उधर से हो कर गाँव में जा रही थीं। इस लड़की का करुण क्रन्दन सुन कर उनका दिल भर आया। पास आकर उन्होंने लड़की को पुचकारा। सारी बात सुनी और सान्त्वना दी—बेटी ! रो मत ! हम रावले (ठाकुर साहब के महल) जाकर अभी कुँवरसाहब (केसरीसिंहजी आइ. सी. एस.) को खबर देती हैं। वे बड़े दयालु हैं। तुम्हारी इस हालत को सुनते ही वे मोटर ले कर अभी यहाँ आ पहुंचेंगे और तुम्हें अपने यहाँ ले जायेंगे।" लड़की ने आश्वासन पाकर सुख की सांस ली। मजदूरिनों ने रावले जा कर कुँवर साहब को उस लड़की की हालत बताई। कुँवरसाहब का हृदय करुणा से द्रवित हो गया। उन्होंने मजदूरिनों से कहा—"अब तुम चिन्ता मत करो। मैं मोटर ले कर जा रहा हूं। उसे मैं अपने घर पर ले आता हूं।" कुँवर साहब के हृदय में पाशविकता आती तो वे इस बात पर बिलकुल ही ध्यान न देते और दानवता आती तो वे मुस्लिमकन्या को दुःखी और पीड़ित देख कर और ज्यादा राजी होते, या उसे मरवा डालते। परन्तु दुर्लभ मानवता उनके हृदय में रम चुकी थी। इसलिए वे तुरंत घटना-स्थल पर पहुंचे। उस मुस्लिमकन्या को पुचकार कर बड़े प्रेम से आश्वासन देकर अपनी मोटर में बिठा कर अपने यहाँ ले आए। कन्या का रोना अब बन्द हो चुका था। कुँवरसाहब ने अपनी पत्नी को हिदायत देते हुए कहा—"देखो ! इस अबोध कन्या को अपनी बेटी समझना। इसके साथ किसी भी प्रकार का भेदभाव न

जगत् की सेवा करने में लग जाऊँ तो पता नहीं, आप कितना प्यार बरसाते !" यह कह कर मोची आनन्द के आँसू बहाता हुआ चुपचाप वहाँ से चल दिया। राजा और ब्राह्मण विस्फारित नेत्रों से उस पुण्यशाली मानव को देखते ही रह गये।

मनुष्यता का निवास कहाँ ?

यह है सच्चे मानव की पहिचान ! जहाँ आकृति से भी मनुष्य हो, प्रकृति से भी, वहीं मनुष्यता का निवास होता है। ऐसी मानवता पैसे से, सत्ता से, बल से या बुद्धि से नहीं मिलती, ऐसी मानवता मिलती है, देश, वेश, धर्म, सम्प्रदाय, जाति, कौम, प्रान्त, भाषा आदि की दीवारों को लांघ कर दुनिया के हर मानव के साथ मानवता का व्यवहार करने से ही। जहाँ दुःखी या पीड़ित मानव को देख कर दूसरे सशक्त सम्पन्न मानव का दिल नहीं पिघलता, वह अपने तुच्छ स्वार्थ, सिक्के, या भौतिकपदार्थ को विशेष महत्त्व देने लगता है, वहाँ मानवता खत्म हो जाती है।

हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के बंटवारे के समय एक घटना सुनी थी। पाली (राजस्थान) के पास मुंदियाड़ा गाँव में हिन्दूमुस्लिम दंगा हुआ। कुछ गुंडों ने मुस्लिमों को हैरान करना शुरू किया। उनको मारना-पीटना शुरू कर दिया। एक-दो घरों में आग लगा दी। कुछ को वहीं समाप्त कर दिया। बाकी बचे वे भाग खड़े हुए। गुंडे भी लूटपाट और उपद्रव करके भाग गए। थोड़ी देर बाद जब वातावरण शान्त हो गया तो एक छोटी-सी मुस्लिमकन्या, जो कोई ६-७ साल की थी, वहाँ एक घर में अब तक चुपचाप दुबकी हुई बैठी थी; धीरे से बाहर निकली और अपने कुटुम्बियों को ढूंढने लगी। कोई भी नहीं

उन्हें ऐसा करने को मजबूर किया था। क्या कुँवरसाहब ने अपने यहाँ उस लड़की को रख कर कुछ खो दिया? नहीं, कुछ भी नहीं खोया। बल्कि उन्होंने उस लड़की को सुसंस्कारी बनाया, जिसका पुण्य भी उन्हें मिला।

यही कारण है कि मनुष्य जन्म पा लेने पर भी मनुष्यता प्राप्त होनी अतीव दुर्लभ बताई है।

स्थान—गौड़ीजी का उपाश्रय पायधुनी, बम्बई } वि० संवत् २००६ कार्तिक बदी १०

करना। और न इसे कोई ऐसी बात कहना, जिससे इसके दिल को चोट पहुंचे। अगर ऐसा कोई भी अनुचित व्यवहार होगा तो मुझे बड़ा दुःख होगा।" वात्सल्यमयी कुँवरानी ने गद्गदित हो कर कहा—"प्राणनाथ ! आप जरा भी चिन्ता न करें। मैं अपनी पुत्री की तरह ही इसे रखूंगी और कोई भी भेदभाव न रक्खूंगी।" उस दिन से वह मुस्लिमकन्या क्षत्रिय-पुत्र के यहाँ रहने लगी। उसे पढ़ाया-लिखाया। लड़की सयानी और विवाहयोग्य हो गई तो कुँवर साहब ने उससे पूछा—"बेटी ! हम अब तेरी शादी करना चाहते हैं। तू हमें निःसंकोच बता दे कि तू हिन्दू के साथ शादी करना चाहती है या मुस्लिम के साथ ? तेरी जैसी इच्छा होगी वैसा ही करेंगे ?" लड़की पहले तो शर्मा गई। फिर धीरे से संकुचाते हुए कहा—"आप जिसके साथ कर देंगे, मुझे स्वीकार है। हिन्दू के साथ ही विवाह कर दें तो मुझे कोई एतराज नहीं होगा।" परन्तु बाद में कुँवरानी ने एक दिन उससे जोर देकर अंदरुनी इच्छा पूछी तो बोली—"अगर आपकी ऐसी इच्छा है तो मेरा निकाह किसी योग्य मुसलमान के साथ कर दीजिए।" कुँवरसाहब ने जोधपुर के एक योग्य मुस्लिम लड़के के साथ उस लड़की की शादी कर दी। हिन्दू विवाहप्रथा के अनुसार उसे दहेज वगैरह दिया और उसे ससुराल विदा की। कुँवर साहब का अब भी उस लड़की के साथ बेटी का-सा ही रिश्ता है। वे उसे त्यौहार या खास मौके पर अपने यहाँ बुलाते हैं।

यदि कुँवरसाहब उस मुस्लिमकन्या को अपने यहाँ आश्रय न देते तो उनका क्या बिगड़ता था ? क्या कोई इसके लिए उन्हें उलहना दे सकता था कि तुमने मुस्लिम लड़की को क्यों नहीं रखा ? नहीं; किन्तु उनमें इन्सानियत थी। इन्सानियत की प्रेरणा ने ही

कितना कठिन है, यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

वम्वई में एक प्रसिद्ध सन्त का चातुर्मास था। संघ का एक सदस्य जैनसमाज के एक वड़े लीडर के पास पहुंचा और उन्हें इस वात से सूचित किया कि "फलां संत का चातुर्मास है और प्रतिदिन उनका धर्मप्रवचन होता है। आप भी समय निकाल कर सुनने के लिए पधारिए।" लीडर साहव को सत्ता का नशा चढ़ा हुआ था। वे तपाक से वोले—'नोट् टाइम'। संयोगवश उनके यहाँ लक्ष्मी की भी अपार कृपा थी। इसलिए समाज की ओर से उन्हें नेतृत्व सौंपा गया था, प्रतिष्ठा भी दी जाती थी। इसी कारण उन्होंने 'फुर्सत नहीं' का वहाना वनाया।

चौमासा वीता। कुछ वर्षों वाद वे ही प्रसिद्ध संत घूमते हुए वम्वई पहुंचे। अव उक्त भाई की लीडरी छिन चुकी थी और लक्ष्मी भी उनसे रूठ कर विदा हो चुकी थी। अतः दोनों के जाते ही उनका वह नशा भी समाप्त हो चुका था। समय के परिवर्तन के साथ एक दिन 'नोट् टाइम' कहने वाले उक्त सज्जन में भी वहुत वड़ा परिवर्तन हो चुका था। अव वे सज्जन प्रतिदिन उपाश्रय में आने लगे। प्रातः, दोपहर और संध्या तीनों टाइम सामायिक भी करते थे। चूंकि अव सत्ता और सम्पत्ति की हवा निकल चुकी थी, इसलिए उन्हें धर्मश्रवण करने और धर्मक्रिया करने के लिए काफी समय मिलने लगा।

मैं आपसे पूछता हूं कि उक्त भाई को क्या सचमुच पहले समय नहीं मिलता था? समय तो मिलता था, लेकिन सत्ता और सम्पत्ति के नशे ने वुद्धि पर धर्मश्रवण की रुचि के वारे में आवरण डाल रखा

१८

दुर्लभ धर्मश्रवण—१

कल मैंने देवदुर्लभ मानवता के विषय में कहा था। आज धर्म श्रवण की दुर्लभता के बारे में कहूंगा। भगवान् महावीर ने पावापुरी के अपने अन्तिम प्रवचन में मनुष्यता के बाद धर्मश्रवण को दुर्लभ बताया है।

धर्मश्रवण की दुर्लभता के कारण

प्रश्न यह होता है कि धर्मश्रवण दुर्लभ क्यों है? धर्मश्रवण की दुर्लभता का सबसे पहला कारण है; सत्ता का नशा। मनुष्य को जब कोई प्रभुत्व, सत्ता अथवा शासन मिल जाता है, तब वह उसके नशे में सबको तुच्छ समझता है। उसकी रुचि धर्मगुरुओं के मुख से शुद्ध धर्म के श्रवण करने की नहीं होती। उसकी बुद्धि पर सत्ता और प्रभुत्व का अभिमान छा जाता है। वह यों सोचने लगता है कि मुझे धर्मश्रवण की जरूरत ही क्या है? कई भाग्यशाली तो निकट में धर्मगुरु के होते हुए भी धर्मश्रवण करना बेकार टाइम खोना समझते हैं। और 'नो टाइम' 'समय नहीं है' का बहाना बना कर पिण्ड छुड़ाते हैं। ऐसे लोगों के लिए श्रद्धापूर्वक धर्मश्रवण

की सेवाएँ ली हैं, इसलिए मुझे भी अपनी साधुमर्यादा के अनुसार इनकी सेवा का बदला चुकाना चाहिए। संत आध्यात्मिक कसौटी में टिके रहे। सेवक और वैद्यजी को अमूल्य धर्मवचन सुनाये। वे सुन कर गद्‌गद् हो गए। सेवक सोचने लगा—"मैंने क्या सेवा कर दी? ऐसे निःस्पृहसंत की सेवा बड़े ही भाग्य से मिलती है। संत के पुण्यप्रभाव से मेरे द्वारा की गई सेवा सफल हुई।" किन्तु सेठ के दिमाग में धन का अभिमान था। उन्होंने संत की तारीफ करने वालों के सामने शेखी बघारते हुए कहा—"क्या तारीफ करते हो संत की! इतने बड़े संत होते हुए भी धन के बिना इनका भी कहाँ काम चलता है? यदि मैंने इलाज के लिए पैसों की सहायता न दी होती तो संत का इलाज न होता और वे स्वस्थ न होते!" संत ने अपने ज्ञान में सेठ की ऐसी अभिमानी वृत्ति देखी। फिर भी मुझे उसे कुछ धर्मोपदेश सुनाना चाहिए, ऐसा सोच कर संत सेठ के यहाँ पधारे। सेठ ने सोचा—'ये संत धर्मोपदेश देने आए हैं, और तो इनके पास है ही क्या? मैं इनका धर्मोपदेश सुनने बैठूं या मेरा व्यापार-धंधा करूं?" सेठजी ने संत के आते ही उनसे हाथ जोड़ कर कहा—"महाराज! आप मुझे धर्मोपदेश सुनाने आए हैं, लेकिन अभी मुझे फुर्सत नहीं; एक महीने बाद पधारने की कृपा करें।" सेठ ने सोचा—"यों कहने से बला टल जायेगी, महीने बाद कौन आता है!" परन्तु संत अपनी धुन के पक्के थे। एक महीने बाद वे सेठ के यहाँ पहुंचे तो सेठ की ओर से भीतर से ही उत्तर मिला—"अभी तो सेठजी बहुत काम में व्यस्त हैं, आप एक सप्ताह बाद पधारिए।" परन्तु एक सप्ताह बाद संत पहुंचे तो सेठ गद्दी पर बैठे थे। सिर खुजलाते हुए सेठ ने संत से कहा—"महाराज! आप तो मेरे लिए बहुत दूर से तकलीफ करके पधारे हैं, लेकिन मुझे आज तो समय नहीं है। आप आगामी रविवार को पधारिए।" संत ने अपने

था। उस आवरण के हटते ही धर्मश्रवण की रुचि भी होने लगी।

धर्मश्रवण की दुर्लभता का दूसरा कारण है—धन की प्रचुरता। धन की प्रचुरता हो जाने के बाद मनुष्य को प्रायः धर्मश्रवण की रुचि नहीं होती। धन के नशे में कई मनुष्य धर्म-कर्म को छोड़ बैठते हैं। उनकी धर्म-कार्य में रुचि नहीं होती और न धर्मश्रवण करने का मन होता है।

एक नगर में एक संत रहते थे। वे एक बार काफी रुग्ण हो गए। उन्हें एक सेवाभावी गरीब सेवक मिला, एक धर्मप्रेमी वैद्य भी मिल गया; जिसने संत के रोग का निदान किया और कहा—"गुरुजी को बहुत भयंकर रोग लगा है, इसके निवारण के लिए मेरे पास कुछ दवाइयाँ तो हैं, लेकिन कुछ ऐसी कीमती औषधियाँ हैं, जो मेरे पास नहीं हैं। सेवाभावी सेवक ने सोचा—"संत तो अपने शरीर के प्रति निःस्पृह हैं, पर मेरा कर्त्तव्य है, किसी भी प्रकार से इनका इलाज कराऊँ। पर क्या करूं, मेरे पास धन नहीं।" संयोगवश एक धनिक व्यक्ति उधर से आ निकले, उन्होंने संत को बीमार देख पूछा—"कोई सेवा हो तो फरमाइए।" संत तो कुछ न बोले, लेकिन उस सेवाभावी सेवक ने कहा—"एक वैद्यजी इनका इलाज करने को तैयार हैं, पर उनके पास कुछ बहुमूल्य औषधियाँ नहीं हैं, यदि आपकी इच्छा हो तो इस सेवा का लाभ आप लें।" सेठजी ने सेवक से कहा—मुझे तो अपने व्यवसाय से ही फुर्सत नहीं है कि मैं ऐसा करूं, लो ये रुपये तुम ले लो। संत की सेवा में कोई कसर न रखना।" सेठजी यों कह कर चल दिये। सेवक ने वे रुपये ले लिये और वैद्यजी को कह कर वे कीमती औषधियाँ मंगवाईं। इलाज चालू करवाया। संत बिलकुल स्वस्थ हो गए। उन्होंने सोचा—"मैंने सेवक, वैद्य और सेठ

ज़िंदगी भी। तुम्हारे पास तो अभी काफी समय है। देखो ! कल शनिवार को ठीक ४ बजे तुम यहाँ से परलोक विदा हो जाओगे। उससे पहले-पहले वहुत कुछ कर सकते हो !" सेठ ने जिज्ञासापूर्वक संत से प्रार्थना की—"भगवन् ! मेरे कल्याण के लिए कुछ धर्मवचन कहें, जिन्हें सुन कर मैं अमल में ला सकूं।" संत ने कहा—"सेठजी ! कल के ४ वजे से पहले-पहले तुम सवसे क्षमायाचना कर लो ! खास कर उन लोगों से, जिनके साथ तुमने कोई अयोग्य व्यवहार किया हो। उसके वाद अपने कुटुम्ब-कवीले, धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद शरीर आदि सब पर से मोह छोड़ देना। अपने कुटुम्वियों से भी अपने प्रति मोह छोड़ने का कह देना। उसके पश्चात् सभी प्रकार के आहार और पापकर्मों को हृदय से छोड़ देना और अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि शुद्ध धर्मतत्त्वों का हृदय से स्वीकार करना। और अन्त में परमात्मा का नाम लेते-लेते अपने शरीर को छोड़ देना। बस, भाई ! इतना कर लोगे तो तुम्हारा अन्तिम जीवन सुधर जायगा।"

सेठ ने संत के धर्मपुनीत वचनों का अमृत की तरह पान किया। और वैसा ही करने का वचन दिया। संत सेठ से क्षमायाचना करते हुए चल पड़े। सेठ ने शनिवार को ठीक ४ वजे हंसते-हंसते अपने प्राण छोड़े।

यह था धन के नशे का प्रभाव; जिसने सेठ की धर्मवचन सुनने की रुचि पर पर्दा डाल दिया था ! परन्तु जब संकट की घड़ियाँ आईं और वह धन सेठ की प्राणरक्षा करने में असमर्थ हो गया, तब धन का नशा उतरा और संत के मुंह से धर्मवचन सुनने की अभिरुचि हुई ? अतः धन का नशा भी धर्मश्रवण में वाधक वनता है। राजस्थान के एक प्रसिद्ध कवि विहारी ने कहा है—

ज्ञान में देख कर सिर हिलाते हुए कहा—"आगामी रविवार को तो तुम इस दुनिया में ही नहीं रहोगे।" सेठ ने सुन कर मुस्कराते हुए कहा—"नहीं महाराज ! ऐसी क्या बात है ? मैं तो हट्टाकट्टा हूं ! मैं कहाँ अभी जाने वाला हूं !" "सेठ ! मैं ठीक कहता हूं।" यों कहते हुए संत चले गए। परन्तु सेठ ने संत को जाते-जाते सुना दिया—"रविवार से पहले तो मुझे बिलकुल फुरसत नहीं मिलेगी।" गुरुवार को ही सेठ को जोर से बुखार आया, मरणासन्न स्थिति हो गई। वैद्यों और हकीमों का तांता लग गया। अनेकों उपचार किये गए। खुले हाथों धन खर्च किया गया। लेकिन सेठ की हालत में कोई सुधार न हुआ। सेठ शय्या पर पड़े छटपटा रहे थे। संत शुक्रवार को ही पहुंच गए। सेठ ने संत को देखा तो आँखों में आँसू उमड़ पड़े। धीमे स्वर में लड़खड़ाती जबान से सेठ ने हाथ जोड़ कर श्रद्धापूर्वक कहा—"कृपालु महाराज ! आपने मुझे कहा था, लेकिन मैंने आपके वचनों पर कोई विश्वास नहीं किया। हाय ! अब मेरा क्या होगा ? अब तो मैं असाध्य बीमारी में पड़ा हूं। माफ करें। मैंने आपके धर्मोपदेश का एक शब्द भी न सुना ! अब मेरे कल्याण का कोई उपाय हो तो कृपा करके बताइए।"

ठीक है, मनुष्य को प्रायः मृत्यु के समय धर्म और भगवान् याद आते हैं। जीते जी उसे कोई कहता है तो धन या सत्ता के मद में ये बातें नहीं सुहातीं। सेठ का भी यही हाल हुआ। संत ने सेठ को आश्वासन देते हुए मधुर शब्दों में कहा—"सेठ ! घबराओ मत। अब भी समय है ! मैं इसीलिए तुम्हारे कहने से दो दिन पहले ही आगया हूं। हर मनुष्य को एक दिन इस संसार से अवश्य जाना है। परन्तु जाने से पहले अगर वह संभल जाता है, धर्मवचन सुन कर कुछ भी अमल में ले आता है तो उसकी मौत भी सार्थक होती है,

निष्कर्ष यह है कि मनुष्य जवानी के आवेश में आकर भी धर्म-श्रवण में रुचि नहीं रखता।

धर्मश्रवण की दुर्लभता का पाँचवां कारण विलासिता भी है। जो व्यक्ति रागरंग, ऐशोआराम, खेलकूद, सुरा और सुन्दरी के सेवन में फंसा रहता है, वह भी धर्मश्रवण में रुचि नहीं रखता। उसे सांसारिक भोग-विलासों से अरुचि नहीं होती, उनकी वास्तविकता पर वह नहीं सोचता; इसलिए उसे धर्मश्रवण करने में दिलचस्पी नहीं होती।

भारत के राजाओं का यही हाल हुआ। वे सुरा, सुन्दरी, सत्ता और सम्पत्ति के चक्कर में फंस कर अपने आपे को भूल गए। आपस में एक दूसरे से लड़ेभिड़े और इसी फूट के कारण विदेशी-राज्य की जड़ें जमीं। उस समय बहुत कम राजा ऐसे थे, जिनकी रुचि विलासिता की ओर से हट कर किसी संतपुरुष के मुख से धर्म-श्रवण की हुई हो।

अगर उन राजाओं ने धर्मश्रवण किया होता तो वे अपने राजधर्म को न भूलते और नाचगान की महफिलों में अपना अमूल्य समय बर्बाद न करके प्रजापालन की ओर ध्यान देते। उनका समय सुरा-सुन्दरियों के विलास में व्यय न हो कर निर्बल जनता की रक्षा में व्यय होता। यही कारण है कि धर्म की बात सुनना उनकी रुचि के विरुद्ध था।

धर्मश्रवण में इसी से सम्बन्धित बाधक कारण है—प्रमाद और आलस्य। प्रमाद के वशीभूत हो कर मनुष्य धर्मश्रवण नहीं कर सकता। वह यों सोचता रहता है कि धर्मोपदेश शुरू होने में देर है, फिर सुन लेंगे। यों करते-करते कोई काम आ पड़ता है, तो

"कनक कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय।
वा खाये बौरात है, या पाए बौराय॥"

'धतूरे से सोने में सौ गुनी अधिक मादकता (नशीलापन) होती है। क्योंकि धतूरे के खाने पर मनुष्य उसके नशे में पागल बनता है, लेकिन सोना तो पाने पर यानी अपने हाथ में आने पर ही दिमाग में उसकी गर्मी छा जाती है, उसके मद के नशे में मनुष्य बेभान हो जाता है।' ऐसे मनुष्य को धर्मश्रवण करने में दिलचस्पी हो ही कैसे सकती है?

धर्मश्रवण की दुर्लभता के पहले बताए दोनों कारणों की साक्षी जैनशास्त्र स्थानांग सूत्र दे रहा है—

"दोहिं ठाणेहिं जीवा केवलीपन्नत्तं धम्मं न लभेज्ज सवणयाए—महारंभेण चेव महापरिग्गहेण चेव।"

अर्थात्—दो कारणों से जीव वीतराग द्वारा प्रज्ञप्त धर्म का श्रवण नहीं कर पाता—(१) महारम्भ के कारण और (२) महापरिग्रह के कारण।

जो रातदिन विशाल आरम्भ करता रहता है, ऐसे अनापसनाप धंधों में रचापचा रहता है, जिसमें प्राणिहिंसा अत्यधिक होती हो, और जरा भी फुर्सत न मिलती हो; ऐसा व्यक्ति का धर्मश्रवण करना दुर्लभ होता है। और धन और सत्ता के मद में डूबे हुए व्यक्तियों का भी यही हाल होता है।

इसलिए धर्मश्रवण की दुर्लभता का तीसरा कारण धन का अत्यधिक लोभ कहा जा सकता है। धन के लोभ में फंसा हुआ मनुष्य धर्मश्रवण करने से कतराता है।

धर्मश्रवण तब और अब

भारत की धर्मपुनीत संस्कृति का लेखाजोखा आगमों में जगह-जगह मिलता है। जहाँ भी आगमों में तीर्थंकरों या किन्हीं साधु साध्वियों के नगर में पदार्पण का जिक्र है, वहाँ साथ-साथ यह भी उल्लेख है कि उनके आगमन का समाचार सुनते ही सारे नगर में हलचल मच जाती और प्रायः सारा नगर उनके दर्शन करने और धर्म-प्रवचन सुनने के लिए बरसाती नदी की भांति उमड़ पड़ता था। परस्पर एक दूसरे के साथ चर्चा चलती—"चलो, उन महाफल के दर्शन करने, जिनके दर्शन भी दुर्लभ हैं, उनके मुख से धर्मश्रवण करना तो और भी विशेष दुर्लभ है।"

---

*धर्मश्रवण की दुर्लभता के १३ कारण आचार्य हरिभद्रसूरि ने बताए हैं—

"आलस[१] मोह[२]ऽवण्णा[३] थंभा[४] कोहा[५] पमाय[६] किवणता[७]।
भय[८] सोगा[९] अण्णाणा[१०]वक्खेव[११] कुतुहला[१२]रमणा[१३] ॥
एतेहिं कारणेहिं लद्धूण सुदुल्लहं पि माणुसं।
ण लहइ सुतिं हियकरिं संसारुत्तारणीं जीवो ॥"

श्री हरिभद्रीय आवश्यकसूत्र

अर्थात्—इन तेरह कारणों (काठियों) से जीव सुदुर्लभ मनुष्यभव या मनुष्यत्त्व पा कर भी संसार से तारने वाले हितकारी धर्मश्रवण को प्राप्त नहीं करता—(१) आलस्य, (२) मोह, (३) अवज्ञा, (४) अभिमान, (५) क्रोध, (६) प्रमाद, (७) कृपणता (या दरिद्रता), (८) भय, (९) शोक, (१०) अज्ञान, (११) उपेक्षा, (१२) कुतूहल, (१३) अरमणता।

—संपादक

के ठीक सामने ही धर्मस्थान था। एक प्रसिद्ध संत शिष्यों सहित उसमें विराजमान थे। संत रोज उस युवक के घर के आगे से निकलते, पर वह दर्शन भी न करता, धर्मश्रवण करना तो दूर रहा। वह युवक संतों के पास जाने और धर्मश्रवण करने में अपनी हिमाकत समझता था। उलटे संत को जाते देख कर युवक पतिपत्नी ठट्ठामश्करी करने लगते। पत्नी भी ऐसी मिली थी।

एक दिन एक कसाई एक बकरा इस युवक की दूकान के आगे से ले जा रहा था। किन्तु ज्यों ही इस युवक की दूकान आई, बकरा वहीं ठिठक गया। टस से मस नहीं हो रहा था। कोई इसका रहस्य न समझ सका। संत से किसी ने प्रार्थना की कि "महाराज! आप ज्ञानी हैं, अगर इसका रहस्य बताएँ तो बड़ी कृपा होगी।" संत ने अपने ज्ञान से उपयोग लगा कर देखा और कहा—"यह बकरा इस युवक के पूर्वजन्म का पिता है। इसने दूकान में बैठ कर बेईमानी से पैसा जोड़ा था, कभी धर्मश्रवण में रुचि नहीं हुई और न इसे धर्म-ध्यान करने की फुर्सत मिली। इस दूकान में इसका अत्यधिक मोह था, इसी कारण यह यहाँ आ कर अटक गया।"

यह सुन कर युवक तो हक्काबक्का हो गया। उसने कहा—"महाराज! ऐसी बात है? तब तो मैं इस कसाई से यह बकरा खरीद लेता हूं।" तुरंत कसाई से उसने बकरा खरीद लिया और अपने घर ले जाने लगा तो बकरा खुशी-खुशी तुरंत चल पड़ा। घर में जाते ही बकरा बैंबैं करने लगा और वहीं जाकर बैठ गया, जहाँ पूर्वजन्म में वह बैठा करता था। इस चेष्टा से युवक को प्रतीति हो गई कि वास्तव में संत का कहना यथार्थ था कि यह मेरा पूर्वजन्म का पिता है।' तब से युवक धर्मस्थान में दर्शन करने और धर्मश्रवण करने जाने लगा।

ये बातें कितने गौर से सुनते हैं !

आपको कोई व्यक्ति धन की प्राप्ति की वात कहेगा तो आप बड़े गौर से उस व्यक्ति की वात सुनेंगे। किन्तु धर्म की प्राप्ति की वात कहे तो तरह-तरह के वहाने वना कर किसी तरह उस वात को सुनने से पिंड छुड़ाएँगे। एक वीमार है और काफी अर्से से उसकी वीमारी ठीक नहीं हो रही है। उससे कभी कहा जाता था कि कभी-कभी तो व्याख्यान सुनने आया करो तो वह वहाने वना कर छिटक जाया करता था। पर अब वीमार हो जाने पर तो वैसे ही वह व्याख्यान सुनने के लिए जा नहीं सकता था। परन्तु उसे मालूम पड़ा कि एक वैद्य ऐसा है, जो चेहरा और नब्ज देख कर ही वीमारी का पता लगा लेता है और ठीक निदान करके ऐसी आश्चर्यजनक दवा देता है कि एक ही दिन में काफी आराम हो जाता है तो वह रोगी उस वैद्य की वात कितने ध्यान से सुनता है। उसकी दवा से फायदा होने पर वह वारवार उस वैद्य को वुलाता है या उसके पास जाकर उसके द्वारा वताई गई वातों को रुचिपूर्वक सुनता है। परन्तु भवव्याधि मिटाने वाले महावैद्य भगवान् महावीर की वाणी का उनके अनुगामी साधुसाध्वियों द्वारा श्रवण करने में अरुचि दिखलाता है या वहाने वना कर श्रवण करने से पिंड छुड़ाता है, ऐसे व्यक्ति को क्या कहा जाय ? आप लोगों से मैं पूछता हूं कि "शरीर की वीमारी भयंकर है या आत्मा की वीमारी ?"

"आत्मा की वीमारी"

तो फिर आत्मा पर लगी हुई काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, अभिमान, माया, तृष्णा आदि वीमारियों का पथ्य-पालनपूर्वक कोई सही और अचूक इलाज वतलाता है तो उस महावैद्य की वात सुनने से कतराते क्यों हैं ?

धर्मोपदेश-श्रवण का समय बीत जाता है। फिर वह सोचता है—कल जरूर सुनेंगे। किन्तु कल भी किसी आवश्यक कार्य में फंस जाने से बीत जाता है। यों कल-परसों करते-करते काफी दिन हो जाते हैं, प्रमादी व्यक्ति धर्मश्रवण नहीं कर पाता।

कई मनुष्य जड़ता के प्रतिनिधि होते हैं। जैसे भांग के नशे में बेसुध हो कर मनुष्य यंत्र की तरह काम करता जाता है, उसकी अच्छाई-बुराई का भान उसे नहीं होता; वैसे ही जड़ात्मा व्यक्ति ओघ-संज्ञावश अपनी धुन में आकर धर्मश्रवण करने की ओर मुड़ते नहीं। अफ्रीका के नरभक्षी बर्बर मनुष्यों या अंडमान-निकोबार द्वीप के आदिवासी असंस्कारी मनुष्यों की रुचि धर्मश्रवण की ओर जाती ही नहीं। ऐसे लोगों के लिए धर्मश्रवण बड़ा ही दुर्लभ है।

अस्वस्थता भी धर्मश्रवण की दुर्लभता में एक कारण है। जब मनुष्य बीमार होता है तो बीमारी के दुःख के कारण रोता-चिल्लाता है, किसी प्रिय वस्तु या व्यक्ति के वियोग में भी शोक करता है, आर्तनाद करता है। इसलिए शारीरिक अस्वस्थता हो; चाहे मानसिक अस्वस्थता, दोनों अस्वस्थताएँ प्रायः धर्मश्रवण की रुचि को भंग कर डालती हैं। उस समय विरले ही व्यक्ति ऐसे होते हैं जो सत्य, प्रिय, हितकारी धर्मवचनों को सुनने के लिए तैयार होते हैं।

इसीलिए जैनधर्म के ग्रन्थों में धर्मश्रवण की दुर्लभता में कारण १३ काठिये* बताये गये हैं। काठियों की बात भी प्रकारान्तर से उपर्युक्त कारणों में समाविष्ट हो जाती है।

एक घना जंगल आया, जिसमें अनेक प्रकार की औषधियाँ थीं। वैद्यजी ने सभी रोगियों को हिदायत दी कि—"देखो ! मैं वन में चलता जाऊँगा और इस लकड़ी की नोक से रास्ते में जो-जो औषधि आती जायगी, उसे वताता जाऊँगा, नाम और गुणसहित। अतः जिस-जिस के लिए जो औषध हो, वह उस औषध को लेकर वहीं से वापिस लौट जाय।" सभी रोगियों ने स्वीकार किया। वैद्यराज ने भी वैसा ही किया। जिस-जिस रोगी की औषध आती जाती, वह वहीं रुक जाता और उस औषध को लेकर लौट जाता। रुग्ण वणिक् अभी तक वैद्य के साथ चल रहा था। उसकी आँखें एक टक वैद्यराज के मुंह पर लगी हुई थीं, उसके कान वैद्यजी की वाणी को सुनने के लिये सतर्क थे, कि वे मेरे लिए कब और कौन-सी औषधि वताते हैं। कुछ दूर चलने के वाद एकाएक वैद्यराजजी की छड़ी औषधि की ओर घूमी कि वणिक् ने अपनी नजर उधर घुमाई और उनके मुख से रोग व औषधि का नाम और उसका गुण सुनने के लिए कान चातक की तरह प्यासे हो रहे थे। वैद्यजी ने इस वार उसके ही रोग व उसके लिए औषधि का नाम व गुण वताया। सारी वातें वीमार वणिक् ने ध्यानपूर्वक सुनीं और वहीं ठहर कर उस औषधि को लेकर घर चला आया। वैद्यजी दूसरों की औषधि वताते हुए आगे वढ़ गए। घर आकर रोगी वणिक् ने उस दवा का विधिपूर्वक सेवन किया। कुछ ही दिनों में उसने उस चिरकालीन रोग से छुटकारा पा लिया। वह स्वस्थ और सुखी हो गया।

भाग्यशालियो ! उस दुःसाध्य रोगी वनिये ने उस वैद्यराज की वात ध्यानपूर्वक क्यों सुनी थी ? इसीलिए कि वीमारी गम्भीर थी, और इस वैद्य की दवा से ठीक हो सकती थी। तो फिर आत्मा पर लगी हुई वीमारियों को मिटाने के लिए महावैद्य वीतरागपुरुष की धर्म-वाणी का श्रवण करने में क्यों हिचकिचाते हैं ? इसका मुख्य

पर आज संत आते हैं तो सारा नगर तो क्या नगर के सब जैन लोग भी धर्मश्रवण करने नहीं आते। हाँ, नगर में कोई नई फिल्म आती है और कानों को मोहक फिल्मी गीत आता है तो नगर में चहलपहल मच जाती है। घर में रेडियों का मधुर संगीत गूंज रहा हो तो आपके कान बरबस उस ओर खिंचे हुए जायेंगे। ग्रामोफोन का रिकार्ड बज रहा हो या सिनेमा की अश्लील स्वरलहरी गूंज रही हो तो आपके कान सुनने के लिए ठिठक जायेंगे। लेकिन कहीं धर्म की दो बातें सुननी हों, किसी संत का प्रवचन या भजन सुनना हो तो वहाँ आप या तो समय का बहाना बनायेंगे या किसी काम का बहाना करेंगे कि क्या करें, काम से ही फुर्सत नहीं मिलती। कई माताएँ-बहनें गपशप में, निन्दा-चुगली करने में या लड़ाई-झगड़ा करने में काफी समय बर्बाद कर देंगी, मगर धर्मप्रवचन सुनने का कहा जायगा तो कहेंगी "घर के काम से ही फुर्सत कहाँ है! बाल-बच्चों के मारे घर से बाहर ही नहीं निकला जाता!" मनुष्य अपनी प्रशंसा सुनने के लिए दूर-दूर दौड़ा जायगा, दूसरे की निन्दा हो रही हो, गर्मागर्म आलोचना या बहस हो रही हो, वहाँ सुनने को ठिठक जायगा! कहीं युद्ध की गर्मागर्म खबरें सुनने को मिल रही हों तो दिलचस्पीपूर्वक जम कर सुनेगा। कहा भी है—

'युद्धस्य हि कथा रम्या'

'युद्ध की बात सुनने में बड़ी रमणीय लगती है।'

परन्तु कहीं अपने जीवन को उच्च, संयमी और धर्मात्मा बनाने की बात कही जा रही हो तो उसे सुनने में रुचि नहीं होगी। और ऐसी बातें सुनने को बहुत से युवक और पढ़ेलिखे लोग बेकार समय खोना समझेंगे।

कि अपने शरीर की भी आसक्ति छोड़ कर दृढ़तापूर्वक दत्तचित्त हो कर सुनता है।

महर्षि याज्ञवल्क्य प्रतिदिन की तरह अपनी धर्मसभा की व्यासपीठ पर आकर बैठे थे। श्रोताओं में स्वामी विरजानन्द, सहजानन्द, स्नेहानन्द आदि कुछ लोग एक ओर बैठे थे। कुछ गृहस्थलोग बैठे थे। प्रवचन का समय हो गया था, लेकिन वे अभी तक शुरू नहीं कर रहे थे। उनकी आँखें किसी विशिष्ट व्यक्ति की प्रतीक्षा में थीं। महात्माओं में आपस में कानाफूसी शुरू होने लगी कि देखो, आज महर्षि प्रवचन ही शुरू नहीं कर रहे हैं। समय हो गया है, हम लोग कब से बैठे हैं! परन्तु मालूम होता है, ये जनक राजाके आने की इंतजारी कर रहे हैं! ऋषि बन गए, फिर भी सत्ताधारियों और धनिकों की इन्हें गर्ज है! हम महात्माओं की कोई कद्र ही नहीं।" महर्षि याज्ञवल्क्य भी महात्माओं के चेहरों पर से भांप रहे थे कि इनके दिमाग में कौन-सी वृत्ति काम कर रही है।" कुछ ही देर बाद राजा जनकविदेही आए और अपने आसन पर नीचे बैठ गए। अब महर्षि ने प्रवचन शुरू किया। थोड़ाप्रवचन चला होगा कि शोर मचा—दौड़ो, दौड़ो, मिथिला में आग लगी है!" अब तो स्वामी विरजानन्दजी, सहजानन्दजी आदि का मन उचटने लगा। किसी ने कहा—"मेरा कमण्डलु जल जायगा।" किसी ने कहा—'मेरी लंगोटी कुटिया में सूख रही है, वह नष्ट हो जायगी।' किसी को अपनी कुटिया की, किसी को कपड़ों की और किसी को अन्य किसी चीज की चिन्ता होने लगी। वे सब व्याकुल हो कर धीरे-धीरे अपनी चीजें संभालने के लिए सभा में से खिसकने लगे। सारी सभा में थोड़ी-ही देर में सन्नाटा छा गया। श्रोताओं में केवल एक जनकविदेही रह गए। याज्ञवल्क्य ऋषि अपना प्रवचन चला रहे थे, लेकिन केवल एक श्रोता

एक शहर में एक धनाढ्य वणिक् रहता था। वह धन, वैभव, संतान आदि सभी बातों से सुखी था। लेकिन एक बात से दुःखी था। उसका शरीर स्वस्थ नहीं रहता था। भयंकर बीमारी उसके शरीर में लगी हुई थी। जो कुछ भी खाता वह कै हो कर निकल जाता। कई उपचार किए, लेकिन सब व्यर्थ। वर्षों तक कष्ट भोगा। एक दिन नगर में एक परोपकारी वैद्य आए। वे परमदयालु थे। अत्यन्त परिश्रम से प्राप्त वैद्यकविद्या का वे सदुपयोग करते थे। अनेक रोगियों को उन्होंने रोगमुक्त किए थे। वे जब से नगर में आए, बीमारों का तांता लग गया। उन्होंने सबका इलाज किया और रोग निर्मूल कर उन्हें सुखी बना दिया। इस रोगी बनिये ने भी सुना तो प्रातःकाल सब काम छोड़ कर वैद्यराजजी के पास पहुंचा। तब तक और भी अनेक रोगी उनके पास पहुंच चुके थे। वैद्यजी ने सब रोगियों के शरीर की अच्छी तरह जांच की और सबसे अपने-अपने रोग का हाल सुना। अन्त में सबको कहा—"आप सबके रोगों की चिकित्सा हो सकती है और आपको मेरे इलाज से रोग दूर हो कर स्वस्थता और शान्ति मिल सकती है। परन्तु इन सब रोगों की दवाइयाँ अलग-अलग होने से मेरे पास वे इस समय तैयार नहीं हैं। क्योंकि मैं अनेक दिनों से मुसाफिरी में हूं, इसलिए औषधियाँ प्रायः समाप्त हो चुकी हैं। यदि आप सब मेरे साथ वन में चलें तो जिसे-जिसे जो-जो दवा चाहिए वह मैं बताता जाऊँगा, जिसे बताऊँ, वह उस दवा को मेरी बताई विधि के अनुसार स्वयमेव उखाड़ ले और ले ले।"

सभी रोगियों ने वैद्य की बातें बड़े ध्यान से सुनीं और शरीर में बीमारी होते हुए भी वैद्यजी के साथ जाने को तैयार हो गए। आगे-आगे वैद्यजी चल रहे थे, पीछे-पीछे सब रोगी। थोड़ी-सी दूर चलने पर

रूप में क्यों महत्त्व देता हूं। आप लोग संन्यासी होते हुए भी अपनी तुच्छ चीजों को संभालने के लिए प्रवचन छोड़ कर गए और ये अपनी वहुमूल्य चीजों को संभालने के लिए मेरे कहने पर भी नहीं गए और श्रोता के रूप में डटे रहे।" सवने अपनी भूल स्वीकार की।

धर्मश्रवण करने वाले सच्चे श्रोता की यह वोलती कहानी है! आप में से ऐसे सच्चे श्रोता थोड़े-से भी निकल जांय तो अपना और समाज का शीघ्र कल्याण हो सकता है। इसीलिए तो सच्चे श्रोता वन कर धर्मश्रवण करना भगवान् महावीर ने दुर्लभ वताया है।

आशा है, आप धर्मश्रवण की दुर्लभता को समझ गए होंगे और उसे अपने जीवन में स्थान देना नहीं भूलेंगे।

स्थान—गौड़ीजी का उपाश्रय
पायधुनी, वम्वई } वि० सं० २००९
कार्तिक वदी ११

कारण यही प्रतीत होता है कि या तो आप आत्मा पर लगी हुई भव-भ्रमण की व्याधियों की भयंकरता को नहीं समझते, या फिर धर्मश्रवण की महत्ता को नहीं आंक पाते।

किसी व्यक्ति को फांसी की सजा का हुक्म हुआ। नियत दिन को फांसी के तख्ते पर ले जाते समय रास्ते में एक नामी वकील का घर आया। वकील ने उस फांसी की सजा पाने वाले व्यक्ति से कहा—"अगर तुम्हें फांसी की सजा से बचना है तो मेरी बात सुनो।" उसके कान खड़े हो गए। शीघ्र कहा—"ऐं क्या कहा? क्या मैं फांसी की सजा से बरी हो सकता हूं। वह उपाय जल्दी बता दें, मैं सुनने को तैयार हूं।" वकील ने उसके कान में कहा—"फांसी के तख्ते पर लटकने से पहले अगर तुम यह बात कह दोगे तो फांसी की सजा से मुक्त कर दिये जाओगे।"

सज्जनो! उस दण्डनीय व्यक्ति ने फांसी कटने का उपाय बताने वाले वकील की बात कितने ध्यान से सुनी? उस समय वह वकील को यही समझता था, मानो साक्षात् भगवान् ही मिल गये हों। इस स्थिति का अनुभव तो उसी को होता है, जिस पर आकर बीतती है। जब यहाँ एक ही जन्म की फांसी से छुड़ाने वाले की बात इतने गौर से सुनी जाती है तो फिर अनेकों जन्मों की फांसी को सदा के लिए काटने का उपाय बताने वाली भगवन्तों की धर्मवाणी को कितनी उत्कण्ठा, तत्परता और मनोयोग से सुननी चाहिए?

धर्मश्रोता कैसा हो?

सच्चा धर्म-श्रवण करने वाला श्रोता और सब बातों से यहाँ तक

अर्थात्—श्रवण के बाद ज्ञान, विज्ञान, प्रत्याख्यान, संयम आदि होते हैं। धर्मश्रवण करना कानों को आध्यात्मिक भोजन देना है। इसी कारण प्राचीन ऋषि अपने शिष्यों से कहा करते थे—पहले कान को भोजन दो, बाद में पेट को। धर्मश्रवण का महत्त्व बताते हुए सर्वज्ञ भ० महावीर फरमाते हैं—

"सोच्चा जाणाई कल्लाणं सोच्चा जाणाई पावगं।
उभयंपि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे॥"

"मनुष्य धर्मश्रवण करके ही कल्याण को जान पाता है और धर्म-श्रवण द्वारा ही पाप को। दोनों को सुन कर ही जानता है और फिर जो श्रेयस्कर मार्ग होता है, उस पर चल पड़ता है।"

'श्रावक' का अर्थ ही होता है, श्रद्धापूर्वक धर्मश्रवण करने वाला। श्रावक का महत्त्व ही इसी में है कि वह दृढ़ श्रद्धापूर्वक धर्मश्रवण करे। धर्मश्रवण जीवन का एक आईना है। आईने में आप अपनी आत्मा का प्रतिबिम्ब देख सकते हैं और यह भी देख सकते हैं कि आपके जीवन पर कहाँ कालिमा है, कहाँ अच्छाई है? कहाँ पाप का गड्ढा है, कहाँ धर्म का सरोवर है?

एक जेलखाने में मुंशीराम जी (स्वामी श्रद्धानन्दजी) के पिता जेलर थे। जेल में उनके जेलर बनने से पहले जो भी अपराधी आते थे, वे अपना गुनाह कबूल नहीं करते थे, पश्चात्ताप भी नहीं करते थे और न किसी अधिकारी की बात मानते थे। मुंशीरामजी के पिताजी ने कैदियों पर एक नया प्रयोग किया। वे जेल में हिन्दूधर्म का उत्तम ग्रंथ रामायण रोजाना बांचने और कैदियों को अपने पास बिठा कर सुनाने लगे। जेलकर्मचारी भी सुनते थे। वे (जेलर) इतने अच्छे ढंग से, सुन्दर शैली से रामायण सुनाते कि श्रोता मंत्रमुग्ध हो उठते।

को देख कर उन्होंने अपना प्रवचन वन्द किया और निष्ठावान श्रोता जनकविदेही से कहा—"राजन् ! मिथिला जल रही है, आपके अन्तः-पुर में भी आग लगी है। अतः क्या आप अपनी चीजें संभालने के लिए नहीं जाते ?"

जनकविदेही ने उत्तर दिया—

"मिथिलायां दह्यमानायां न मे दहति किञ्चन ।"

"मिथिला के जलने में, मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है।" मेरी वस्तु तो मेरे पास है। इस समय तो मैं आपके सामने श्रोता बन कर बैठा हूं। मैं तो आपकी कृपा से अपनी आत्मा में तल्लीन हूं। इस समय तो मेरे लिए अपनी वस्तु आत्मा के सिवाय और कुछ नहीं है। वे जो संन्यासी लोग अपनी-अपनी चीजें संभालने के लिए आग लगने का शोर सुन कर और दूर से आग की लपटें उठती देख कर गये थे, परन्तु ज्यों ही वे नजदीक पहुंचे कि वहाँ न तो आग थी और न और कुछ। सारी ही देवमाया थी। वे सब पश्चात्ताप करने लगे—'अरे ! वेकार ही आये यहाँ पर ! महर्षि का प्रवचन भी छोड़ा और इधर भी कुछ पल्ले न पड़ा।' अन्त में, सब संन्यासी व अन्य श्रोता लोग धीरे-धीरे सभा में आ कर बैठ गये। महर्षि याज्ञवल्क्य मुस्कराते हुए कहने लगे—"कहिए विरजानन्दजी ! सहजानन्दजी ! आपका कमण्डलु, लंगोट व कुटिया आदि तो सहीसलामत हैं न !"

सब नीचा मुंह किये चुप बैठे रहे। आखिर महर्षि ने ही मौनभंग करते हुए कहा—"जिस समय में राजा जनकविदेही के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा था और व्याख्यान शुरू नहीं कर रहा था, तब आप लोगों में मेरे बारे में कानाफूसी चल रही थी। परन्तु अब आपको समझ में आ गया होगा कि मैं जनकविदेही को एकनिष्ठ श्रोता के

राजा चन्द्रसिंह संस्कृतभाषा का विद्वान् था, इसलिए श्लोक के ये तीन चरण तो बना लिए मगर चौथा चरण बहुत याद करने पर न जोड़ सका।

तीनों चरणों का ६ बार उच्चारण करने पर भी चौथा चरण न बना। दसवीं बार ज्यों ही तीनों चरण पूरे किये कि एक आवाज आई—

"सम्मीलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति।"

"आँखें मूंद जाने पर ये सब कुछ नहीं हैं, अर्थात् स्वप्नवत् हैं।" राजा कानों में आवाज पड़ते ही चौंक कर उठा। सोचा—"यह स्वप्न है या सत्य?" इधर-उधर देखा। फिर कहा—"अरे! यह कौन है, जिसने मेरे गर्व के महल को धर्मवचन की तरह चौथा चरण कह कर चकनाचूर कर दिया?" एक पण्डित जो चोरी करने के लिए चुपके से महल में घुसा था। उसने नीचा मुंह किए कहा—'मैंने'। राजा ने पास बुला कर सारी बात पूछी। पण्डित ने चोरी के लिए आने का कारण बताया और जो सजा देनी हो सो दें ऐसा भी कहा। राजा ने कहा—"तुमने तो मेरे गर्व की चोरी कर ली है, इसलिए सजा के बदले तुम्हें इनाम देता हूं और तुम्हें अपना जिगरी दोस्त बनाता हूं।" उसी दिन से राजा के जीवन में विलासिता, अभिमान और प्रमाद के बदले प्रजा-पालन और जनसेवा साकार हो उठी।

यह था एक ही धर्मवचन सुनने का प्रभाव! कहा भी है—

'एक वचन श्री सद्गुरु केरा, जो वसे ते दिलमांहि रे प्राणी।
नरक निगोद में ते नहिं जावे, इम कहे जिनराज रे प्राणी॥'

१९

दुर्लभ धर्मश्रवण—२

महानुभावो ! कल मैंने धर्मश्रवण की दुर्लभता के विभिन्न कारणों पर प्रकाश डाला था। आज फिर दुर्लभ धर्मश्रवण के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण बातों पर विवेचन करूंगा।

धर्मश्रवण मनुष्य के जीवन में उतना ही जरूरी है, जितना भोजन और पानी। बल्कि भोजन-पानी तो कभी छोड़ा भी जा सकता है, लेकिन धर्मश्रवण आत्मा की खुराक होने से रोजाना अत्यन्त जरूरी है। उसे छोड़ा नहीं जा सकता।

धर्मश्रवण का महत्त्व

मानवजीवन के विकास की पहली सीढ़ी धर्मश्रवण है। मनुष्यत्व के विकास में श्रवण का जितना महत्त्व है, उतना ही, बल्कि उससे भी बढ़कर उसका महत्त्व आध्यात्मिक जीवन में है। भगवान् महावीर ने भगवतीसूत्र में श्रवण को आध्यात्मिक विकास में प्रथम स्थान दिया है—'सवणे नाणे विन्नाणे पचक्खाणे य संजमे।'

उठाया। उसने गुप्तरूप से नगर के सभी द्वारों पर सशस्त्रसैनिकों को तैनात कर दिया। सभी को यह हुक्म था कि जो भी अपरिचित आदमी नगर से बाहर निकलता दीखे, तुरंत पकड़ लो।

रोहिणेय चोरी का माल नगर में ही छिपा देता। बात ठंडी पड़ने पर धीरे-धीरे अपनी गुफा में ले जाता। जब वह सुबह होते ही निकलने लगा तो खाली हाथ था। फिर भी सैनिकों ने पकड़ लिया। उसे अभयकुमार के पास लाया गया। अभयकुमार ने नाम-पता पूछा तो उसने बताया—"मेरा नाम दुर्गचण्ड है। शालिग्राम में रहता हूं। खेती-बाड़ी करके अपना जीवन-निर्वाह करता हूं।" अभयकुमार ने शालिग्राम में जांचपड़ताल करवाई तो रौहिणेय की सारी बातें ठीक निकलीं। अतः चोरी सिद्ध न होने के कारण दण्ड नहीं दिया जा सका।

अभयकुमार को एक बात और सूझी। उसने रौहिणेय के भोजन में ऐसी वस्तुएँ मिलवा दीं, जिनके खाने से वह बेहोश हो गया। बेहोशी की दशा में उसे एक सजे हुए कमरे में पहुंचा दिया गया। चारों ओर नाचगान, रागरंग और सुन्दरियों की महफिल लगा दी गई। रौहिणेय को होश आया तो कमरे की सजावट व रागरंग व सुन्दरियों को देख कर आश्चर्य में पड़ गया। सुन्दरियों ने भी यह निवेदन किया—"प्राणनाथ! आप स्वर्ग में हैं। ये सारे भोगविलास आपके लिए प्रस्तुत हैं। हम आपकी दासियाँ हैं। यथेच्छ स्वर्गीय सुख-भोग कीजिए।" रौहिणेय संगीत, नृत्य, वाद्य की झंकार को देख कर उनकी मादकता में अपने आप को भूल गया। इतने में रत्नों से जड़ी हुई एक सोने की छड़ी लिए एक तेजस्वी युवक आया। उसने अभि-वादन करते हुए विनम्र शब्दों में कहा—"महानुभाव! हम सभी स्वर्गवासी देव आपका स्वागत व नमन करते हैं। इस लोक का यह

रामायण के पात्रों का त्याग, विनय, सहिष्णुता, कर्त्तव्यपालन आदि सुन कर कैदियों के हृदय बदलने लगे। पहले जो कैदी उनकी बात नहीं मानते थे, पश्चात्तापपूर्वक अपना अपराध कबूल नहीं करते थे, वे अब बात भी मानने लगे और पश्चात्ताप के साथ अपराध भी कबूल करने लगे। मुंशीरामजी के पिताजी (जेलर) उन्हें धीरे-धीरे दण्डमुक्त करके सदाचारी और सामाजिक जीवन बिताने के लिए तैयार करके घर भेज देते।

धर्मश्रवण का महत्त्व कितना है, यह इस पर से जाना जा सकता है।

धर्मश्रवण का प्रभाव

धर्मश्रवण के प्रभाव से बड़े-बड़े डाकू, चोर, लुटेरे, हत्यारे और पापात्मा लोगों ने अपना जीवन एक झटके में बदल दिया है।

उज्जैन का राजा चन्द्रसिंह अपने भव्य शयनकक्ष में शय्या पर पड़ा-पड़ा आधी रात को वैभव के गर्व में स्वप्न में बड़बड़ाने लगा। गर्व ही गर्व में मूंछों पर ताव देकर खंखारा करके एक संस्कृत का श्लोक बना कर बोल उठा—

"चेतोहरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः।
सद्बान्धवाः प्रणतिगर्भगिरश्च भृत्याः॥
वल्गंति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गाः।......"

अर्थात्—"मेरे यहाँ चित्त को रहने वाली सुन्दर युवती रानियां हैं, अनुकूल मित्र हैं, अच्छे बांधव हैं और प्रेम के साथ मधुर वचन बोलने वाले नौकर हैं, हाथियों और चपल घोड़ों का झुंड शोभा पा रहा है।"

भाग्यशालियो ! यह था धर्मश्रवण का अपूर्व लाभ ! धर्मश्रवण ने रौहिणेय के जीवन का पासा ही पलट दिया। इसी तरह आप भी अन्य सभी कार्य छोड़ कर इस दुर्लभ धर्मश्रवण का लाभ उठायेंगे तो आपका इहलोक और परलोक दोनों ही सुधर जायेंगे।

धर्मश्रोता बनना पसंद करो !

आप अगर अन्य व्यर्थ के प्रपञ्चों को छोड़ कर श्रोता बनेंगे तो घाटे में नहीं रहेंगे। आपके कान में एक भी शब्द पड़ गया और आपके जीवन में वह रम गया तो बेड़ा पार है।

आप भरत चक्रवर्ती के नाम से तो परिचित हैं। वे भ० ऋषभदेव के पुत्र थे। एक दिन जब वह सिंहासन पर बैठे थे कि उन्हें खुशखबर मिली कि आपके पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई है। और उसी समय ज्योतिषी पचांग लेकर बैठ गए और ग्रहगोचरों का फलादेश बताने लगे। भरतजी उनसे पुत्र का भविष्य सुन रहे हैं। इतने में दूसरी ओर से समाचार मिलता है—आपके शस्त्रागार में चक्ररत्न प्रगट हुआ है, उसकी पूजा कीजिए। तीसरी ओर से यह सुसंवाद प्राप्त होता है कि भगवान् ऋषभदेव को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है। समवसरण लग रहा है। भरतजी को पुत्रप्राप्ति का हर्ष हो ही रहा था, चक्र के प्रगट होने का भी हर्ष और मिल गया। दुनियादारी की दृष्टि से इनसे बढ़कर लाभ और सुख क्या हो सकता है ? परन्तु भरतजी ने सोचा—पुत्र का जन्मोत्सव तो कुछ देर से भी किया जा सकता है। और चक्ररत्न ! उसकी पूजा अभी न की जाएगी तो वह जायगा कहाँ ? जो भाग्य में है, वह कहीं भी नहीं जा सकता। परन्तु जिस धर्म के प्रताप से पुण्य की प्रबलता के कारण मुझे ये दोनों चीजें

सचमुच धर्म का एक भी वचन कानों में पड़ जाय तो श्रद्धालु श्रोता के जीवन में अद्भुत परिवर्तन आ जाता है।

राजगृह के पास वैभारगिरि में एक डाकू रहता था। धन तथा स्त्रियों का वह अपहरण किया करता था। नगर के लोग उसके भय से कांपते थे। नाम था—'लोहखुर'। उसका पुत्र रौहिणेय भी प्रसिद्ध डाकू बन गया था। पिता की सारी विद्याएँ वह सीख गया था। मरते समय पिता ने उसे शिक्षा दी—"बेटा! किसी भी साधु का धर्मोपदेश मत सुनना। मेरी बात भूलना मत।" रौहिणेय ने उसे गाँठ बाँध लिया।

एक बार वह राजगृह की ओर जा रहा था। रास्ते में भगवान् महावीर का धर्मोपदेश हो रहा था। उसने कानों में अंगुलियाँ लगा लीं और तेजी से दौड़ना शुरू किया। जब वह समवसरण के ठीक सामने पहुंचा तो पैर में काँटा लग गया। उसे निकालने के लिए नीचे झुका तो भगवान् के मुख से निकले हुए ये शब्द अचानक उसके कानों में पड़ गए—

"देवों के पैर पृथ्वी को नहीं छूते। उनकी पलकें नहीं झपतीं। पुष्पमालाएँ नहीं मुर्झातीं। शरीर पर पसीना नहीं आता।"

रौहिणेय नहीं सुनना चाहता था, लेकिन इतने शब्द तो कानों में पड़ ही गए। राजगृह में प्रतिदिन चोरियाँ होने लगीं। प्रजा ने एकत्रित हो कर राजा से पुकार की। राजा श्रेणिक ने अधिकारियों को धमकाया। किन्तु वे भी लाचार थे। चोरी के नित्य नए ढंग निकलते। किसी को पता भी न लगता कि चोर कहाँ से आया, किधर गया।

अन्त में प्रधानमंत्री, अभयकुमार ने चोर को पकड़ने का बीड़ा

भौतिकवाद के विचारों से प्रेरित हो कर धर्मश्रवण के अवसर को चूक जाते हैं। उन्हें यह पता नहीं कि महाराज के भी शरीर का क्या भरोसा है? आज है, कल नहीं! इसलिए अगर महाराज का देहावसान हो गया तो फिर उनसे धर्मश्रवण कैसे कर पायेंगे?

इसलिए मैं कहता हूं, आप धर्मश्रवण के अमूल्य अवसर को न चुकिए। इसकी दुर्लभता का रहस्य समझ कर दूसरे बिना महत्त्व के कामों को छोड़ कर भी धर्मश्रवण के काम को पहले करें।

स्थान—गौड़ीजी का उपाश्रय पायधुनी, बम्बई	}	वि० संवत् २००६ कार्तिक वदी १२

नियम है कि प्रत्येक नवागन्तुक अपने पूर्वजन्म के अच्छे-बुरे कार्यों का बयान करता है। शुद्ध हृदय से अपना सारा हाल सुना देने के बाद ही वह स्वर्ग में निवास कर सकता है। मैं सौधर्मेन्द्र की आज्ञा से यहाँ आया हूं। अतः आप अपना सारा वृत्तान्त सुनाने की कृपा करें।"

रौहिणेय यहाँ के ऐश्वर्य को देख कर यहीं रहने के लिए लालायित हो चुका था। इसलिए उसने अपना सारा वृत्तान्त यथार्थरूप से सुनाने का निश्चय कर लिया। किन्तु सहसा रौहिणेय को भगवान् महावीर के वे शब्द याद आए कि 'देवों के पैर तो पृथ्वीको नहीं छूते' ये सभी तो पृथ्वी पर चल रहे हैं। 'उनकी पलकें नहीं झपतीं' तथा 'मालाओं के फूल भी नहीं मुर्झाते' एवं 'पसीना भी नहीं आता' परन्तु इन सबके तो इसके विपरीत बातें हैं। कहीं मेरे साथ धोखा तो नहीं हो रहा है।" ज्यों-ज्यों वह सोचता गया, उसे अभयकुमार का जाल प्रतीत हुआ। अतः रौहिणेय ने पूर्वजन्म के वृत्तान्त को इस प्रकार घड़ कर बताया, जिससे बनावटी मालूम न हो। वही दुर्गचण्ड नाम तथा खेती को अपनी आजीविका बताया।

अभयकुमार का रचा हुआ जाल निष्फल हो गया। चोरी साबित न होने से रौहिणेय को छोड़ दिया गया। रौहिणेय ने सोचा— 'अनिच्छापूर्वक मैंने भ० महावीर के वचन सुने थे, जिन्होंने मुझे मृत्यु से बचा लिया तो अगर मैं पूरा धर्मप्रवचन सुन लेता तो कितना लाभ होता !"

बस, उसी समय रौहिणेय चोर भ० महावीर की शरण में पहुंचा। उनका धर्मप्रवचन श्रवण किया। शुद्धहृदय से अपनी आत्मकथा सुनाई। सम्राट् श्रेणिक भी वहाँ बैठा था। उसने रौहिणेय के सारे अपराध क्षमा कर दिये। रौहिणेय की आत्मा पवित्र हो गई।

अत्यन्त श्रद्धा होती है और वह उनके कहे वचनों पर श्रद्धा रख कर चलता है। इसी प्रकार कई लोगों को यंत्र, मंत्र, तंत्र, जादू-टोना, चमत्कार आदि पर श्रद्धा हो जाती है। वे औषधियों, दवाइयों से भी बढ़ कर यंत्रमंत्रों पर श्रद्धा रखते हैं। कई लोगों को ज्योतिष पर तथा शकुन, स्वर आदि पर बड़ी श्रद्धा होती है। परन्तु यहाँ इन लौकिक वस्तुओं पर श्रद्धा दुर्लभ नहीं बताई गई है। लौकिक वस्तुओं पर तो किसी न किसी कारण से मनुष्य को श्रद्धा हो जाती है। परन्तु जो वस्तुएँ लोकोत्तर हैं, अथवा अतीन्द्रिय हैं, उन पर श्रद्धा होनी बड़ी कठिन होती है।

इसलिए यहाँ कल्याणमार्ग पर श्रद्धा को दुर्लभ बताई है। साथ ही कल्याणमार्ग के बताने वाले महापुरुषों पर श्रद्धा भी बहुत कठिन है। कल्याणमार्ग का मतलब शुद्ध और व्यापक धर्म से है। यों अगर सीधे ही धर्म पर श्रद्धा रखने का कह दिया जाता तो लोग धर्म का अर्थ किसी सम्प्रदायविशेष से लगाते हैं। यहाँ तो व्यापक सम्प्रदायातीत धर्म पर श्रद्धा करने की बात है। क्योंकि ऐसी श्रद्धा बड़ी दुर्लभ होती है। इसी कारण जैनधर्म में इस दुर्लभ श्रद्धा को तीन भागों में बांटा है—(१) देव पर (२) गुरु पर (३) धर्म पर।

देव पर श्रद्धा

देव पर श्रद्धा का अर्थ किसी देवी-देवता पर विश्वास करने से नहीं है, किन्तु जो धर्मनायक, धर्मसारथि, धर्मचक्रवर्ती, धर्मदेव हैं, देव ही नहीं, देवाधिदेव हैं; हजारों-लाखों देव-देवी जिनकी सेवा में उनकी धर्मदृढ़ता के कारण नतमस्तक रहते हैं, ऐसे तीर्थंकर या अर्हन्तदेव पर श्रद्धा रखना देव पर श्रद्धा है।

उपलक्षण से यहाँ परमज्योतिस्वरूप अशरीरी सिद्ध परमात्मा एवं

प्राप्त हुई है, उस धर्मप्रवचन का श्रवण मुझे पहले करना चाहिए। यह सांसारिक नाते या पद तो अनादिकाल से चलते आ रहे हैं, परन्तु धर्म का नाता या धर्मश्रोता का पद बारबार नहीं मिलता। अतः भरतजी पुत्र और चक्ररत्न छोड़ कर भ० ऋषभदेव का पीयूषवर्षी धर्मप्रवचन श्रवण करने के लिए पहुंचे। भरतजी ने पुत्रोत्सव व चक्रीपदोत्सव को छोड़ कर श्रोता बनना ही क्यों श्रेयस्कर समझा? इसलिए कि भरत जानते थे कि पुत्ररत्नप्राप्ति व चक्ररत्नप्राप्ति से भी बढ़कर धर्मरत्न की प्राप्ति है, जो श्रोता बन कर श्रवण करने से प्राप्त होती है। श्रोता बन कर आत्मा अनन्तगुणों को प्राप्त कर सकती है, चक्रीपद का तो कहना ही क्या? इसीलिए भरतचक्रवर्ती भौतिक-राज्य की सम्पदा को छोड़ कर आत्मिकराज्य की सम्पदा को प्राप्त करने के लिए पहुंचे। परन्तु भरतजी की जगह और कोई होता तो शायद ऐसा निर्णय न करता। वह भौतिकवैभव को ही अधिक महत्त्व देता और यह सोचता कि भगवान् ऋषभदेव तो फिर यहाँ पधार जायेंगे, फिर उनकी वाणी सुन लेंगे, पुत्ररत्न और चक्ररत्न के मिलने का आनन्द छोड़ कर अभी क्यों जाँय?

आजकल कई लोग ऐसा भी सोचते हैं कि धार्मिक नित्यनियम या धर्मश्रवण तो फिर कर लेंगे? महाराज तो घर के ही हैं। चातुर्मासभर यहीं रहने वाले हैं। जब चाहेंगे तब उनके धर्मप्रवचनों का श्रवण कर लेंगे। परन्तु कुछ पैसों की कमाई होती हो या कहीं शादी का आमंत्रण आया हो तो उसे पहले महत्त्व देना चाहिए आदि

इसी अन्धी श्रद्धा का परिणाम है कि हजारों व्यक्ति धर्म के नाम पर या किसी तुच्छ स्वार्थ के वशीभूत हो कर देवीदेवों के आगे निर्दोष पशुपक्षियों का खून चढ़ाते हैं।

सिकंद्राबाद में एक स्त्री को संतान हो कर मर जाते थे। किसी स्याने ने कहा—तुझे मसान (भूत-प्रेत) लग गया है। इस वार बच्चा हो जाय उसे जमीन में गाड़ देना। फिर सब बच्चे जिंदा रहेंगे।" फलस्वरूप उस औरत ने अन्धश्रद्धावश बच्चा पैदा होते ही जमीन में गाड़ दिया। अनायास ही एक कुम्हार वहाँ मिट्टी खोदने आ गया। उसे मिट्टी खोदते हुए वह बालक मिल गया। उसने पुलिस में मामला दर्ज कराया। अदालत में मुकद्दमा चला। बड़ी दौड़धूप के बाद मुश्किल से स्त्री को बरी कराया गया।

यह है देव पर अन्धश्रद्धा का परिणाम !

काशीपुर (नैनीताल) की एक बड़ी रोमांचक घटना है। वहाँ ठाकुरद्वारा (कालीमन्दिर) में प्रतिवर्ष मेला लगता है। मेले में हजारों नरनारी उमड़ते हैं। इसी एक मेले में पर्व के दिन श्री बाबूसिंह चौहान पहुंचे। प्रवेशद्वार में बड़ी कठिनाई से घुसे। आगे जाकर मन्दिर के आंगन में देखा कि एक व्यक्ति हाथ में खांडा लिए हुए खड़ा है। लोग आते हैं और बकरे को आगे करके उसकी कमर या पूंछ पर अपने बालक का हाथ रखा देते हैं। बकरे को न बांधा जाता है और न उसका गला यूप जैसी किसी चीज में फंसाया जाता है। वधिक एक बार बकरे की गर्दन से खांडा छुआ कर जोर से कूद कर उसकी गर्दन पर खांडा मारता है, जिससे उसका सिर धड़ से अलग हो जाता है। सिर को दान-दक्षिणा लेकर मन्दिर के एक कमरे में लगी काली देवी की मूर्ति के सामने फैंक दिया जाता है और धड़, जो तड़फता रहता है, उसे बाद में खींच कर एक दूसरे कमरे में फैंक

२०

श्रद्धा परम दुर्लभ—१

कल मैंने दुर्लभ धर्मश्रवण पर काफी विस्तार से कहा था। आज भगवान् महावीर द्वारा बताई गई तीसरी दुर्लभ वस्तु 'श्रद्धा' पर कुछ विवेचन करूंगा। वीतराग सर्वदर्शी जीवनमर्मज्ञ भ० महावीर ने अपने दीर्घ अनुभव के आधार पर फरमाया—

"आहच्च सवणं लद्धु ं सद्धा परम दुल्लहा।
सोच्चा नेआउयं मग्गं बहवे परिभस्सई॥"

अर्थात्—"कदाचित् धर्मश्रवण भी प्राप्त हो जाय, परन्तु कल्याणमार्ग पर श्रद्धा तो परम दुर्लभ है। क्योंकि बहुत से लोग न्याययुक्त कल्याणमार्ग की बात सुन कर भी श्रद्धा से परिभ्रष्ट हो जाते हैं।"

श्रद्धा किन पर दुर्लभ ?

सर्वप्रथम यह सोचना है कि यहाँ किस वस्तु पर 'श्रद्धा' को परम दुर्लभ बताई गई है ! कोई रोगी जब किसी वैद्य या डाक्टर से इलाज करवाता है, और स्वस्थ हो जाता है तो उस वैद्य या डाक्टर पर रोगी को असीम श्रद्धा हो जाती है। हितैषी माता-पिता पर बालक को

कहाँ देव और कहाँ देवाधिदेव !

आप जानते ही हैं कि मनुष्य अपने-आप ही कर्म बांधता है, खुद ही कर्म भोगता है और स्वयं ही कर्मों को काट सकता है। किसी देवी या देवता की ताकत नहीं कि किसी के अशुभकर्मों को शुभ में बदल दे। हाँ, देवता पुण्यशील व्यक्ति के पुण्य प्रवल हों तो उसके मनोरथ पूर्ण होने में निमित्त अवश्य बन जाते हैं। परन्तु वीतरागदेव के प्रति श्रद्धा से और उनकी आज्ञा की आराधना करने से वही कार्य अपने अशुभकर्मों के कट जाने से देवी-देवों के आगे गिड़गिड़ाए या मनौती किए वगैर हो सकता है तब फिर क्यों देवी-देवों के आगे गिड़गिड़ाया जाय या क्यों अपनी श्रद्धा को दूषित बनाया जाय ? इसका मतलब यह नहीं है कि सात्त्विक देवीदेवों को माना न जाय या उनकी अवगणना की जाय; अपितु उनकी शक्ति, बुद्धि, ज्ञान और दिव्यता का विचार करके प्रेरणा ली जाय कि मनुष्य उत्तमकार्य करने से दिव्यात्मा बन सकता है। परन्तु जहाँ तक धर्मयुक्त उच्चजीवन पर श्रद्धा का सवाल है, वह तो अरिहन्त या सिद्ध देवाधिदेव परमात्मा के प्रति ही सुदृढ़ होनी चाहिए। क्योंकि देवता चाहे भौतिकवल और वैभव में मनुष्य से कितने ही आगे वढ़े हुए हों, आध्यात्मिक वल में मनुष्य की समता नहीं कर सकते। कहाँ कामी-भोगी और रागी-द्वेषी देवता और कहाँ कामभोगों से निर्लिप्त वीतराग देवाधिदेव !

जैनधर्म की हर साधना मनुष्य के जीवन को उन्नत बनाने और आदर्श की ओर लेजाने के लिए है। इस दृष्टि से जो व्यक्ति जैसा वनना चाहता है अथवा जिस मंजिल पर पहुंचना चाहता है, उसके लिए यह जरूरी है कि वह उस मंजिल पर पहुंचे हुए या उतनी उच्च-भूमिका पर गये हुए आदर्श पर पूरी और दृढ़ श्रद्धा रखे। यदि वह

शुद्ध चेतनामय आत्मा को भी देव की कोटि में गिना जा सकता है।

अन्धी श्रद्धा का परिणाम

कई लोग कहा करते हैं कि हम तो चमत्कार को नमस्कार करते हैं। देवता पर श्रद्धा तो चमत्कार के कारण तुरंत बैठ जाती है, लेकिन वीतरागदेव तो कोई चमत्कार दिखाते नहीं, इसलिए हमारी श्रद्धा उन पर जमती नहीं। ऐसे लोगों से मैं कहता हूं कि चमत्कार तो एक मामूली जादूगर भी बता सकता है, पर क्या उसके जीवन पर आपको श्रद्धा होगी? अगर होती तो भी क्षणिक श्रद्धा होगी। वीतरागदेवों के जीवन में सबसे बड़ा चमत्कार तो उनके चारित्र का है; सैकड़ों विघ्नबाधाओं परिषहों और उपसर्गों के बीच धर्म पर अडोल रहने का है। क्या ऐसा चमत्कार सामान्य जादूगर दिखला सकता है? 'नहीं।'

सामान्य आदमी जहाँ भी अपने से बढ़कर शक्तिशाली किसी तत्त्व को या आश्चर्य को देखता है कि तुरंत उसे चमत्कारी मान कर उसके सामने झुक जाता है, उसके आगे मस्तक रगड़ने लगता है। इसी कारण अधिकांश जनता वीतरागदेव के त्याग, वैराग्य, शान्ति, क्षमा, धर्मदृढ़ता आदि चमत्कारों को भूल कर यानी देवाधिदेव को भूल कर भैरों, भवानी, शीतला, पीर, मसानी, दुर्गा, चण्डी आदि देवों के आगे मस्तक झुकाती है, अपने लौकिक स्वार्थसाधन के लिए उनकी मनौती करती है। यहाँ तक कि अपने लौकिक तुच्छ स्वार्थवश निर्दोष बकरे और भैंसे आदि की बलि तक चढ़ाती है। कहाँ तक कहा जाय इस अंधी तामसी श्रद्धा की कोई हद नहीं! यह श्रद्धा दुर्लभ नहीं, परन्तु सस्ती है।

दासानुदासों के प्रति श्रद्धा रखेगा या उनकी मनौती करके उनसे कुछ चाहेगा ? इसीलिए आत्मा की अनन्तशक्तियों का साक्षात्कार करने वाले वीतराग भगवान् महावीर स्वामी ने साधुओं के लिए ही नहीं, अपने लघुपुत्र श्रावकों के लिए कहा—

'असाइज्जा देवा'

अर्थात्—देवों से सहायता न चाहने वाले पक्के श्रावक होते हैं। मुझे एक रोचक दृष्टान्त इस सिलसिले में याद आ रहा है—

यूनान का बादशाह शिकंदर एक मस्त अवधूत दार्शनिक देवजान्स (डायोजिनिस) के पास पहुंचा। बादशाह ने देखा कि वह धूप में बैठा है और पास ही उसका सन्दूक पड़ा है। बादशाह को देख कर उसने आदर नहीं दिया। इस पर क्षुब्ध हो कर कहा—"तू जानता नहीं, मैं शिकंदर बादशाह हूं। इतना अनादर!"

देवजान्स—मैं देवजान्स हूं। मुझे दासों के दास से क्या प्रयोजन ? और उसके सत्कार की क्या आवश्यकता ?

शिकंदर—मैं दासानुदास कैसे हूं ?

देवजान्स ने कहा—

"दो बंदारा मन कि हिस ओ आजंद।
बर तो हमारोज सर फरजंद॥"

अर्थात्—जिन लोभ और काम (तृष्णा) के वशीभूत हो कर तू दिनरात उनकी चाकरी बजा रहा है, उन दोनों को तो जीत कर मैंने अपने चरणों में लोटने वाले परम आज्ञाकारी सेवक (दास) बना लिए हैं। अतः तू तो मेरे दासों का भी दास है।"

शिकंदर—"तुम मुझ से डरते हो या नहीं ?"

दिया जाता है। बहते हुए रक्त और तड़फते हुए बकरे के शरीर को देख कर दिल कांप उठता है।

कुछ ही देर में एक व्यक्ति कंधे पर बकरा लादे हुए आया। उसके साथ उसकी पत्नी भी थी, जो गोद में बालक को लिए हुए थी। बकरे को उस व्यक्ति ने वधिक के सामने खड़ा कर दिया और बालक के हाथ में उसकी पूंछ थमा दी। उसकी पत्नी का जी कच्चा हो रहा था, वह बकरे की हत्या अपनी आँखों से न देख सकने के कारण घूंघट निकाल कर एक ओर खड़ी हो गई। वह व्यक्ति बालक के पास था, और पास में खड़े अपने मित्र से हंसते हुए बातें कर रहा था। उसका ध्यान अपने मित्र की ओर था कि उधर वधिक ने बकरे की गर्दन से अपना खांडा अड़ाया और ज्यों ही उसे मारने के लिए उछला कि एकाएक बकरा आगे खिसक गया और बकरे की जगह बकरे की पूंछ पकड़ा हुआ बालक खड़ा हो गया। वधिक ने आव देखा न ताव तुरंत बकरे के बदले बालक की गर्दन पर खांडा दे मारा। बस, फिर क्या था? बालक का सिर धड़ से पृथक् हो गया। बालक के पिता को पता लगा तो वह चीख उठा। उसकी माँ आर्तनाद करने लगी। परन्तु बेरहम पंडों और पूजारियों ने उन्हें ललकार कर कहा—"काली माई को बकरा स्वीकार नहीं था, वह तुम्हारे बालक की बलि चाहती थी! इसमें किसी का क्या दोष? आखिरकार बालक का सिर बकरों के सिर के साथ ही काली माई के सामने फैंक दिया गया और माता-पिता को रोने भी नहीं दिया गया!

यह है देवीदेवों के प्रति श्रद्धा का नतीजा!

इसी प्रकार देवीदेवों के आगे शराब, मांस या अभक्ष्य वस्तुओं का चढ़ाना भी अन्ध श्रद्धा से प्रेरित होता है।

प्रति श्रद्धा रखने से देवों के प्रति श्रद्धा की तरह प्रत्यक्ष कोई फायदा नजर नहीं आता।

इसका समाधान यह है कि देवीदेव भी तो प्रत्यक्ष नजर नहीं आते। जो देवीदेव की उपासना करते हैं, उन्हें कदाचित् उनका साक्षात्कार हो जाता होगा, लेकिन सबके लिए तो ऐसा सम्भव नहीं। इसी प्रकार जो दृढ़श्रद्धापूर्वक वीतरागप्रभु की उपासना करता है, उसे भी उनका साक्षात्कार होना कोई असम्भव बात नहीं है। फिर वीतरागप्रभु तो हमारे घट-घट की बात जानते और देखते हैं। देवता का ज्ञान तो सीमित है। दूसरी बात यह है कि देवों के प्रति श्रद्धा से जो भी फायदा होगा, वह भौतिक होगा, शरीर और शरीर से सम्बन्धित ही होगा और वह फायदा भी तभी हो सकता है जबकि उक्त देव-श्रद्धालु के जीवन में वे अशुभकर्म उस फायदे में बाधक न हों। अगर अशुभकर्म उस फायदे के होने में विघ्नकारक होंगे तो वह देव भी उसे उस फायदे को दिलाने में लाचार होगा। जबकि वीतराग देवाधिदेव के प्रति श्रद्धा से मुख्यरूप से आत्मिक फायदा होगा। यानी वीतराग के प्रति दृढ़ आस्था से मनुष्य की आत्मा बलवान हो कर काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि शत्रुओं से लड़ने में हारेगी नहीं, उत्तम शुद्धधर्म को प्राप्त कर सकेगी, अपना आध्यात्मिक विकास कर सकेगी। हाँ, वीतराग के प्रति दृढ़ श्रद्धा से जो आत्मा शक्तिशाली बन कर कामक्रोधादिजनित अशुभकर्मों को काट कर शुद्ध बन जायगी। उसे भौतिक लाभ होने में बाधक जो अशुभकर्म थे, उनके दूर हो जाने से भौतिकलाभ भी अनायास ही प्राप्त हो सकेगा। यह दोहरा फायदा चाहे सामान्यव्यक्ति को नजर न आए किन्तु जो धर्मात्मा और वीतराग परमात्मा के प्रति दृढ़ श्रद्धालु बन कर अपना जीवन धर्ममय रखता है, उसे ये दोनों फायदे नजर आते हैं, वह अपने जीवन में इन दोनों आध्यात्मिक और भौतिक लाभों का अनु-

अपनी श्रद्धा को मजबूत नहीं रखेगा तो उस आदर्श पर पहुंचते-पहुंचते बीच में ही डांवाडोल हो कर गिर पड़ेगा। यही कारण है कि सर्वप्रथम धर्मसाधक को वीतराग देवाधिदेव अर्हन्त व सर्वकर्मरहित सिद्ध परमात्मा पर दृढ़ श्रद्धा रख कर चलना होता है। और यही श्रद्धा दुर्लभ है।

जो लोग चमत्कारों के स्थूल रूप को देख कर चौंधिया जाते हैं, वे देवीदेवों या प्राकृतिक वस्तुओं के प्रति श्रद्धा तक आकर अटक जाते हैं; वे यह नहीं सोचते कि देवों से भी बढ़ कर अनन्तगुनी आत्मशक्ति का चमत्कार बताने वाले देवाधिदेव वीतराग के ये चमत्कार क्या कम हैं कि वे बड़े से बड़े मरणान्त कष्ट के आने पर भी अपने समभाव से विचलित नहीं होते, जहरीले सांप, जंगली क्रूर जानवर एवं दुष्ट मनुष्यों द्वारा भयंकर उपद्रव खड़े करने पर भी राग-द्वेष करके डिगते नहीं, अपने मन को काम विकारों की आंधी के सामने भी सुदृढ़ और निश्चल रख सकते हैं। क्रोध, अभिमान, कपट और लोभ को चूर-चूर कर सकते हैं। यह आत्मबल का चमत्कार क्या कम है? और स्थूल चमत्कार भी ऐसे आत्मबली के देखना चाहें तो कम नहीं हैं। अरिहन्त वीतराग देव के ३४ प्रकार के अतिशय शास्त्र में बताए गए हैं। कुछ खास अतिशय ये हैं— वे जहाँ पधारते हैं, वहाँ महामारी, रोग, उपद्रव, अनावृष्टि, अतिवृष्टि युद्ध आदि शान्त हो जाते हैं, उनका स्वयं का शरीर रोगरहित होता है, शरीर में से सुगन्ध आती है, शरीर सुडौल और तेज से देदीप्यमान व आकर्षक होता है, उनके तेज के आगे शत्रु भी हतप्रभ हो कर दब जाता है या झुक जाता है आदि। लाखों देवीदेव भक्तिभावपूर्वक उनकी सेवा करने के लिए लालायित रहते हैं। देवों के अधिपति इन्द्र भी उनकी सेवा में हाथ जोड़े खड़े रहते हैं। तब कौन ऐसा अविवेकी होगा देवाधिदेव को छोड़ कर उनके दासों या

अम्वड़ ने सोचा—"इतने बड़े नगर में से केवल 'सुलसा' का ही नाम प्रभु ने क्यों लिया ? सुलसा की श्रद्धा-भक्ति की परीक्षा क्यों न ले ली जाय ? धन्य है, पुण्यशीला सुलसा, जिसे अर्हन्त भी याद करते हैं !" अम्वड़ ने घोर तपस्या और कठोर साधना की थी। व्रतों की सम्यक् आराधना की थी। इस कारण उसे वैक्रियलब्धि और अवधि-ज्ञान प्राप्त हो गए थे। अत: उसने वैक्रियशक्ति से अनेक रूप वनाए और सुलसा को भ० महावीर के प्रति श्रद्धा से विचलित करने का प्रयत्न किया ! आखिरकार अम्वड़ परिव्राजक ने भगवान् महावीर का रूप वना कर सुलसा की अन्तिम परीक्षा ले लेने की ठानी। लेकिन सुलसा की अर्हन्त देव के प्रति अनन्य श्रद्धा न डिगी। भ० महावीर के वेष में अम्वड़ को उसने वन्दना-नमस्कार गुरुवुद्धि से नहीं किया। वह देवश्रद्धा की परीक्षा में सफल हुई। इससे अम्वड़ परिव्राजक को अत्यन्त प्रसन्नता हुई।

यह था देवाधिदेव के प्रति अनन्यश्रद्धा का नमूना !

इसी श्रद्धा के अन्तर्गत सिद्ध परमात्मा के प्रति एवं आत्मदेवता के प्रति दृढ़श्रद्धा भी आ जाती है।

ईश्वर पर श्रद्धा का चमत्कार

जहाँ सिद्ध परमात्मा पर पक्की श्रद्धा होती है, वहाँ व्यक्ति अपनी जान को भी जोखिम में डाल कर सिद्ध भगवान् की आज्ञा का पालन करता है, किसी भी हालत में उनकी आज्ञाओं का भंग नहीं करता। पुराण में एक रूपककथा आती है। उसका सार यह है—

"नारदमुनि हाथ में वीणा लिए पृथ्वीलोक पर उतर रहे थे। ऊँचे दूर पर फल्गुनदी के किनारे एक छोटा-सा ग्राम था। वहीं विश्राम

देवजान्स—"पहले यह बताओ कि तुम धर्मात्मा हो पापात्मा ?"

शिकंदर—"मैं धर्मात्मा हूं।"

देवजान्स—"तो धर्मात्मा से मुझे क्या डर है ?"

शिकंदर—"मैं बादशाह हूं, तुम मुझसे जो चाहो सो मांग लो।"

देवजान्स—"मुझे तुमसे किसी चीज की जरूरत नहीं है। अगर देना ही चाहते हो तो यह धूप, जो आ रही है, उसे छोड़ दो।"

शिकंदर—"तुम बड़े हो या मैं ?"

देवजान्स—"देख लो, गुलाम बड़ा हो सकता है या मालिक ? मैंने कहा था कि तुम मेरे गुलामों के गुलाम बने हुए हो, तब कैसे बड़े हो सकते हो ?"

आखिर शिकंदर उन्हें सिर झुका कर निरुत्तर हो कर चला गया।

कहने का मतलब है कि काम, क्रोध, राग, द्वेष आदि को तो देवाधिदेव वीतराग ने जीत कर अपने दास बना लिये हैं, और देवीदेव अभी तक इनके अधीन हैं, यानी देवाधिदेवों के दासों के दास बने हुए हैं। तब दासानुदास देवों के प्रति श्रद्धा रखने के बजाय उनके मालिक वीतराग देवाधिदेवों के प्रति ही श्रद्धा क्यों न रखी जाय ?

देवाधिदेव पर श्रद्धा जमाने में कठिनाई

परन्तु देवाधिदेव के प्रति झटपट श्रद्धा यों नहीं बैठती है कि एक तो वे आज इस भरतक्षेत्र में प्रत्यक्ष विद्यमान नहीं हैं। दूसरे, उनके

हुआ। एक डोरी इस प्रकार से फैलाई गई जो फल्गुनदी के दोनों किनारों पर रहे। चौमासे के दिन थे। आकाश बादलों से घिरा था। विजलियाँ चमक रही थीं। गर्जन-तर्जन हो रहा था। हवा के तेज झोंके चल रहे थे। लेकिन ग्रामजनों को इसकी कोई परवाह नहीं थी। क्योंकि उन्हें तो ईश्वर देखना था। नहीं दिखा सके तो नारदजी को हरा कर नास्तिक बनाना था। विजय की उन्हें सौ फीसदी आशा थी। सारी तैयारी हो जाने पर नारदजी ने ग्रामजनों को सूचना दी—"देखो ! आप सबको क्रमशः डोरी पकड़ कर सामने के किनारे पहुंच जाना है। शर्त यह है कि डोरी पकड़ कर जाते समय मौन धारण कर लेना, इधर-उधर मत देखना। केवल डोरी और परले किनारे पर तुम्हारी दृष्टि होनी चाहिए। आँधी आए, तूफान आए तुम्हें जरा भी आंच नहीं आएगी। मुझ पर श्रद्धा रखना। डोरी पकड़ कर सीधे उस पार चले जाना। घबरा कर आसपास तैरती लकड़ी या डोंगी मत पकड़ना। मैं फिर आप सबको हिदायत करता हूं कि "आसपास कहीं नजर न दौड़ाना, मुझ पर पूरी श्रद्धा रखना, निर्विघ्न पार हो जाओगे।" यह सुन कर १०-१५ ग्रामवासी नदी के पानी में उतरे। किसी ने नारदजी पर ताना कसा—"इस भगत का दिमाग खराब होगया लगता है। इसमें कौनसी बड़ी लूट है ? अभी हम नदी पार कर लेंगे और यह हार जायगा।" चारों ओर सन्नाटा छा रहा था। नारदजी ने वीणा पर रामधुन शुरू की। नदी में वर्षा के कारण जोरों से बाढ़ आ रही थी। विजली कड़क रही थी। अंधेरा-सा छा रहा था। लकड़ी के मोटे-मोटे लट्ठे तैरते आ रहे थे। कुछ दूर तक तो ग्रामजन डोरी पकड़ कर तैरते रहे। लेकिन जहाँ पानी का वेग बढ़ा कि उनकी हिम्मत टूट गई। वे पास ही तैरती हुई एक डोंगी आ रही थी, उसमें कूद पड़े और वापिस इसी किनारे लौट कर आ गए। नारदजी ने सबको सम्बोधित करते हुए

भव करता है। और वह किसी महापुरुष के वाह्यचमत्कारों से ही प्रभावित न हो कर उनके आध्यात्मिक चमत्कारों से ही प्रभावित होता है, उन्हीं के कारण श्रद्धालु वनता है। जैनदर्शन के महान् आचार्य समन्तभद्र ने वीतरागस्तुति करते हुए कहा—

"देवागम-नभोयान-चामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान्॥"

हे प्रभो! आपके पास देवता आते हैं, आप आकाश में उड़ सकते हैं, आपके ऊपर छत्र-चामर ढोले जाते हैं। इन वाह्य-विभूतियों के स्थूल चमत्कार तो जादूगरों में भी देखे जा सकते हैं। आप इन स्थूल-चमत्कारों के कारण हमारे लिए महान् या पूज्य नहीं हैं, अपितु आध्यात्मिक चमत्कारों के कारण हैं।

दृढ़श्रद्धा की पहिचान

देवाधिदेव पर दृढ़श्रद्धा के वारे में भगवान् महावीर के युग का एक दृष्टान्त आपके सामने रखता हूं—

भगवान् महावीर के युग में अम्बड़ परिव्राजक नाम का एक प्रसिद्ध तपस्वी था। वह भगवान् महावीर के सिद्धान्तों से अत्यन्त प्रभावित था। और भ० महावीर पर श्रद्धा रख कर उनका अनुयायी वन गया था। एक वार उसने विचार किया कि 'राजगृह में भ० महावीर के हजारों लाखों भक्त हैं। अतः राजगृह जाने का संकल्प करूं और अपना यह संकल्प भ० महावीर के समक्ष व्यक्त करूं। देखें, वे किसे अपना धर्मसंदेश देने का कहते हैं।" अम्वड़ परिव्राजक ने भ० महावीर से कहा—"भंते! मेरा राजगृह जाने का विचार है। आपकी कोई सेवा हो तो फरमाएँ।" प्रभु ने शान्तभाव से कहा—"वहाँ मेरी एक भक्ता श्राविका है—'सुलसा'। उसे तुम 'धर्मत्व' कहना।"

आत्मदेवता पर अटल श्रद्धा

अपनी आत्मा पर श्रद्धा रखना भी दुर्लभ है। आत्मश्रद्धा देवश्रद्धा के अन्तर्गत आ जाती है। दरअसल, अपनी आत्मा पर श्रद्धा रखना ही देवाधिदेव—परमात्मा-पर श्रद्धा रखना है। जो अपनी आत्मा पर अविश्वासी है, वह दुर्बल है। उसे किसी दूसरे तत्त्व पर चाहे जितनी श्रद्धा हो, वह उस आत्मा पर अश्रद्धालु को पार नहीं लगा सकती। आत्मा पर श्रद्धा रखने का अर्थ है, मन, इन्द्रियों, शरीर तथा शरीर के अवयवों की शक्ति से भी पर आत्मा की शक्ति को समझना और उस पर दृढ़ श्रद्धा रखना। आत्मा चैतन्य, ज्ञान और आनन्द का केन्द्र है। शरीर आदि के अस्वस्थ होने, टूटने-फूटने पर आत्मश्रद्धालु को दुःख नहीं होता। क्योंकि वह शरीर और आत्मा को म्यान और तलवार की तरह पृथक् समझ लेता है।

गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर उनके गृहस्थपक्ष के श्वसुर ने धधकते हुए अंगारे रख दिये थे। लेकिन गजसुकुमार मुनि ने उफ् तक न किया। समभावपूर्वक सहते रहे। न सोमल पर ही द्वेष या क्रोध किया और न शरीर पर किसी प्रकार का मोह रख कर जलने की पीड़ा से हायतोबा मचाई। यह आत्मा पर अटल श्रद्धा ही तो थी; जिसके कारण वे इतनी असह्य वेदना को समभावपूर्वक सह सके। वे यह भलीभांति समझ चुके थे कि आत्मा अविनाशी है, अच्छेद्य है, अदाह्य है। यह अग्नि से जलने वाली नहीं। तब भला इस शरीर के जलने का अफसोस मैं क्यों करूं ?

स्कन्धक मुनि के ५०० शिष्य तेल की घाणी में पेरे (पीले) गए और उनकी निर्मम हत्या की गई, लेकिन उन मुनियों ने आत्मा और शरीर की पृथकता को अच्छी तरह समझ लिया था। वे आत्मा पर अविचल श्रद्धावान थे।

लेने के लिए वे उतर पड़े। वीणा पर भगवान् का भजन करने लगे। परन्तु बहुत देर हुई कोई भी उनके पास नहीं फटका। सभी गाँव के चौराहे पर बैठे थे, पर किसी ने नारदजी की ओर नजर तक न की। उन्होंने एक बूढ़े से पूछा—"क्या इस गाँव में किसी को भगवान् पर श्रद्धा नहीं? भजन सुनने का भी शौक नहीं?" उसने कहा—"यह तो नास्तिकों का गाँव है। यहाँ किसी को भगवान् की स्तुति या भजन में रुचि नहीं। तुम यहाँ नए आए हो, परदेशी-से जान पड़ते हो, तुम्हें पता नहीं दिखता।" नारदजी मन ही मन सोचने लगे—"ये लोग कितने अज्ञानी हैं। सर्वत्र भगवान् का वास है, पर इन्हें कहीं दिखाई नहीं देता। फिर उस बूढ़े की ओर देख कर कहा—"आप ऐसा कोई आदमी इस गाँव में बताएँ, जिसे भगवान् पर दृढ़ श्रद्धा हो।" वृद्ध बोला—"यहाँ तो सभी इस बारे में दृढ़ हैं कि ईश्वर नहीं है, जो ईश्वर होने का दावा करता है, उसे हम विवाद में हरा देते हैं।"

नारद—"अगर मैं तुम्हें ईश्वर बता दूं तो? बोलो क्या करोगे?"

वृद्ध—"करेंगे क्या! हम सभी आपके अनुयायी और आस्तिक बन जाएँगे।" नारदमुनि की सूचनानुसार थोड़ी ही देर में गाँव के लोग इकट्ठे हो गए। गाँव का मुखिया बोला—इस बाबा की अक्ल मारी गई है। इसे पता नहीं यहाँ कई भगत आगए लेकिन सभी हार खा कर चले गए। कोई भगवान् को न बता सका। मुखिया ने नारदजी के पास आकर कहा—"अगर आप हमें भगवान् न बता सके तो क्या करेंगे?"

नारद—"तो मैं नास्तिक बन जाऊँगा। तुम्हारी जमात में मिल जाऊँगा। मुखिया ने 'बहुत अच्छा' कह कर शर्त मंजूर कर ली। नारदजी की सूचना के अनुसार गाँव के किनारे लोगों का समूह इकट्ठा

जो राहगीर अजाने मार्ग पर या अपरिचित स्थान पर जाना चाहता है, वह अपने साथ में पथप्रदर्शक (गाइड) को ले लेता है, जो उस रास्ते या उस स्थान से भलीभांति परिचित हो। जहाँ ऐसा नहीं किया जाता वहाँ पथिक या तो रास्ता भूल जाता है या बड़ी परेशानी के बाद किसी रास्ते को पाता है। यही बात धर्मसाधना या धर्माचरण के—कल्याण के—मार्ग के सम्बन्ध में जाननी चाहिए। गुरु के बिना धर्मसाधना या आध्यात्मसाधना का कल्याणमार्ग कौन बता सकता है? गुरु के मार्गदर्शन से साधना का रास्ता भलीभांति तय किया जा सकता है। इससे आप समझ सकते हैं कि जिस व्यक्ति पर साधना के मार्ग पर साधक को ले जाने का दारोमदार हो, उस 'गुरुतत्त्व' पर कितनी श्रद्धा होनी चाहिए। श्रद्धा दृढ़ न होगी तो गुरु जिस रास्ते से ले जाना चाहेगा या जो रास्ता बताएगा, उस पर अनुगामी साधक चलने से हिचकिचाएगा, आनाकानी करेगा या गुरु के साथ कपट करके छिटकने का प्रयास करेगा।

कोई पुरुष कितना ही चालाक और बुद्धिमान क्यों न हो, पहुंचे हुए गुरु के बिना मर्म को नहीं जान सकता। जिसने तत्त्व का स्वयं अनुभव किया है, जो साधना के मार्ग में आगे बढ़ा हुआ है, वही दूसरों को तत्त्वदर्शन करा सकता है एवं मार्ग बता सकता है। इसमें वाणी का पाण्डित्य काम नहीं आता। इसी कारण भाषाशास्त्रियों गुरु शब्द का अर्थ किया है—

> 'गु' शब्दस्त्वन्धकारस्य　　रुशब्दस्तन्निरोधकः।
> अन्धकारनिरोधित्वाद्　　गुरुरित्यभिधीयते ॥"

गु शब्द का अन्धकार का वाचक है और 'रु' शब्द उसे रोकने का। अतः अन्धकार को दूर करने वाला 'होने से' वह गुरु कहलाता है।

कहा—"प्रिय ग्रामजनो ! यह जीवन एक नदी है। इस पर तैरने के लिए हमारे पास ईश्वर के प्रति दृढ़ श्रद्धा होनी चाहिए। परन्तु तुम तो डर गए। तुम्हारी श्रद्धा डगमगा उठी। मैंने तुमसे कहा था कि कुछ भी आंच न आएगी, पर तुम्हारी श्रद्धा न रही। सोचा—कहीं यह भगत डूबा देगा। इसलिए नौका में चढ़ बैठे और वापिस इसी किनारे आ लगे। तुम्हें सामने के तट पर पहुंचने के लिए मैंने श्रद्धा की डोरी दी थी, लेकिन तुम उसके सहारे न जा सके। अब भगवान् तुम्हें कैसे दिखाई दे ?"

"सच है, इस जगत् में अधिकांश लोग अश्रद्धा की डोरी पकड़ कर जीवन जीते हैं। फिर चिल्लाते हैं—'भगवान् नहीं है।' श्रद्धा का दीप तुम्हारे अन्तर में प्रगट करो तो तुम्हें चारों ओर अवश्य ही भगवान् दिखाई देंगे।"

ग्रामजन हतप्रभ हो कर नारदजी की बात सुनते रहे। पर नारद-जी उनके देखते ही देखते डोरी का सहारा लिए बिना ही पानी पर पैर रख कर सामने के तट पर पहुंच गए। एक मछुए ने चकित हो कर ऐसा होने का पूछा तो नारदजी ने बताया—"मैं भगवान् पर अखण्ड श्रद्धा के बल पर इस किनारे पहुंच गया हूं।" सब लोगों ने नारदजी के चरण छुए और कहा—अब हमें छोड़ कर आप कहाँ जा रहे हैं ?" नारदजी ने कहा—"कल सूर्योदय होते ही जो श्रद्धालु होगा, उसे इस बात पर विश्वास हो जायगा, अश्रद्धालु होगा उसे नहीं।" यों कह कर नारदजी वहाँ से चल पड़े।

भाग्यशालियो ! ईश्वरीय श्रद्धा का ही यह चमत्कार है कि व्यक्ति हंसते-हंसते प्राणों की बाजी लगा देता है।

हो, क्षमाधारी हो, अपनी इन्द्रियों का दमन करने वाला हो, जो एक-मात्र धर्म में निष्ठापूर्वक रत रहता हो, जो अपने शिष्यों (अनुयायियों) के चित्त में संसर्गमात्र से शुद्धि पैदा कर देता हो, जो स्वयं तरता है और दूसरों को निःस्वार्थभाव से तारता है, वही सद्गुरु है।'

जिसमें यह विशेषता हो, वही असली गुरु है। असली गुरु निःस्पृह होता है, उसे धन, शिष्य-शिष्या या सांसारिक पदार्थों का ममत्त्व नहीं होता। ऐसे गुरु के चरणों में अपनी श्रद्धा समर्पित करनी चाहिए। यही कारण है कि भारतवर्ष में प्राचीनकाल में लोग सच्चे गुरु की खोज में पहाड़ और जंगल छान डालते थे। और सच्चा गुरु मिल जाने पर उसके चरणों में अपना सर्वस्व सौंप कर निश्चिंत हो जाते थे। यही नहीं, पहले के जमाने में गुरुरहित रहना अपमान जनक समझा जाता था। 'नगुरा' या 'निगोड़ा' की गाली का अर्थ भी यही है कि "तेरा कोई गुरु नहीं है।" इसी कारण प्रत्येक शिष्ट, संस्कारी और विचारवान व्यक्ति अपना मार्गदर्शक गुरु चुन लेता था और उसके प्रति पूरी श्रद्धा रख कर उसके बतलाए मार्ग पर चलता था।

खेद है कि आज वह प्राचीन परिपाटी लुप्त-सी हो गई है। आज तो चाहे जो अयोग्य व्यक्ति गुरु बन बैठता है, और अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाने लगता है। शिष्य व अनुयायी भी लोभ और स्वार्थ के वशीभूत हो कर ऐसे गुरु की शरण में आते हैं और गुरु भी अपना दाव चलाते हैं। इसीलिए तो एक साधक को करारी बात कहनी पड़ी—

गुरु लोभी शिष्य लालची दोनों खेलें दाव।
दोनों डूबे बापड़ा बैठ पत्थर की नाव॥"

आगरा में रामकृष्ण मिशन के एक स्वामीजी थे। उनको दिल का दौरा पड़ता था। उनके शरीर में एक भयंकर फोड़ा हो गया था, डाक्टरों ने आपरेशन करा लेने की सलाह दी। स्वामीजी ने कहा—"मैं आपरेशन जरूर करा लूंगा, लेकिन क्लोरोफार्म नहीं सूंघूंगा।" डाक्टर ने कहा—"आप इतने कष्ट को कैसे सहन कर लेंगे?" स्वामीजी—"आप इसकी चिन्ता न करें। मुझे शरीर और आत्मा को पृथक्-पृथक् जानने का अभ्यास है।" बस, डाक्टर ने बिना क्लोरोफार्म सूंघाए उनका आपरेशन किया। स्वामीजी ने उफ् तक न किया। मानो उनका मन आत्मलोक में ही रमण हो गया था।

यह है आत्मदेवता पर श्रद्धा। कायोत्सर्ग में यही तो करना होता है। शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तु का चिन्तन छोड़ कर एकमात्र आत्मचिन्तन और आत्मा पर अडोल विश्वास करना होता है।

गुरु पर श्रद्धा

देव हर युग में या हर एक काल में प्रत्यक्ष नहीं होते। आत्मा भी प्रत्यक्ष नहीं दिखता। परन्तु उन देवाधिदेवों, परमात्मा एवं आत्मा का स्वरूप बताने और इनकी प्राप्ति का मार्ग बताने वाले गुरु तो प्रायः मौजूद रहते हैं। इसलिए गुरु की बहुत ही आवश्यकता होती है। इसी कारण कहीं-कहीं तो परमात्मा या देवाधिदेव वीतराग की अपेक्षा भी उनके स्वरूप को बताने वाले गुरु की महिमा अधिक बखानी गई है। कहा भी है—

"गुरु गोविंद दोनों खड़े किसके लागूं पाय।
बलिहारी गुरुदेव की, गोविंद दिया बताय॥"

नहीं छोड़ूंगा। इसीलिए मैंने सर्प का रूप धारण किया है। कृपया आप मुझे रोकें नहीं। अगर रोकेंगे तो मैं किसी दूसरे समय में, जब आप इसके पास नहीं होंगे, आकर इसे डसूंगा, छोड़ूंगा नहीं।"

क्रुद्ध सर्प के वचन सुन कर गुरुजी ने कहा—"भाई! आत्मा ही आत्मा का वैरी है। तू इसे काटेगा। इसको तेरे प्रति वैर जागेगा। यह पुरानी देह छोड़ कर नई देह धारण करेगा, वैर लेगा। इससे तो वैर की परम्परा ही बढ़ेगी। फायदा क्या होगा?"

सर्प—"आपकी बात सच्ची है। पर मैं इतना ज्ञानी नहीं। आप समर्थ पुरुष हैं। माफ कीजिए। मैं तो वैर लिए बिना नहीं मानूंगा।"

गुरुजी—"तो मुझे काट ले।"

सर्प—"ऐसा नहीं करूंगा। आप जैसे पवित्र धार्मिक पुरुष को काट कर मैं किस भव में छूटूंगा! मेरा अपराधी यह है, आप नहीं। इसलिए इसी को डस कर इसका खून पीऊँगा।"

गुरु—"तो मैं तुझे इसी का खून निकाल कर दे दूँ, तब तो तेरी तृप्ति हो जायगी?"

सर्प—"तो मुझे मंजूर है।"

गुरु ने सोए हुए शिष्य की छाती पर चढ़ कर गले के नीचे पत्ते का एक दोना रख कर चाकू से गले के पास चीरा लगाया। और खून निकाल कर दोने में भर कर सर्प को पिलाने लगे। शिष्य अब सोया कैसे रह सकता था। उसकी नींद उड़ गई। लेकिन उसने देखा कि गुरुजी उसकी छाती पर चढ़ कर गले में से नश्तर लगा कर खून निकाल रहे हैं तो उसने चुपचाप आँखें मूंद लीं। रक्त की धारा बह

श्रद्धेय सच्चा गुरु कौन ?

आज भूमण्डल पर असंख्य गुरुनामधारी घूमते फिरते हैं। जब-कि उनमें गुरुत्व के लक्षण भी नहीं होते। वे दूसरों के अन्धकार को तो क्या दूर करेंगे, अपना खुद का अन्धकार भी नहीं मिटा सकते। स्वयं ही कंचन और कामिनी के मोहजाल में फंसे हुए हैं, वे गुरु दूसरों को क्या मार्ग बताएँगे ? कहा गया है—

"गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः।
गुरवो विरलाः सन्ति शिष्यसन्तापहारकाः ॥"

अपने अनुयायियों से रुपये बटोरने वाले नाम के गुरु तो गली-गली में भटकते फिरते हैं, लेकिन अपने अनुयायियों के संसारभ्रमण के संताप या मानसिक द्वन्द्व को मिटाने वाले गुरु विरले ही मिलते हैं।

यह बात पहले भी थी और आज भी है। सारी सृष्टि ही गुण-दोषमय है। इसमें अच्छी और बुरी दोनों चीजें हैं। नकली सिक्के भी हैं, असली भी। मनुष्य को विवेकपूर्वक आँखें खोल कर चलना चाहिए। गुरु के सम्बन्ध में भी लक्षण और व्यवहार से जांच-परख कर निर्णय कर लो। सच्चे गुरु का लक्षण बताते हुए कहा है—

"योगीन्द्रः श्रुतपारगः समरसाम्भोधौ निमग्नः सदा।
शान्ति-क्षान्ति-नितान्तदान्तिनिपुणो धर्मैकनिष्ठारतः ॥
शिष्याणां शुभचित्तशुद्धिजनकः संसर्गमात्रेण यः।
सोऽन्यांस्तारयति स्वयं च तरति स्वार्थं विना सद्गुरुः ॥"

अर्थात्—'जो योगसाधना में निपुण हो, शास्त्ररूपी समुद्र का पारगामी हो, हमेशा समतारस के सागर में डूबा रहता हो, शान्त

है। शुद्ध और व्यापक सद्धर्म के प्रति श्रद्धा होना बड़ा ही कठिन होता है। एक ओर भय हो और दूसरी ओर प्रलोभन हो ऐसे समय में बड़े-बड़े पुरुषों की श्रद्धा धर्म से डिग जाती है। सामान्य व्यक्ति तो थोड़े-से पैसों के लोभ में ईमान और धर्म को बेच देता है। आजकल तो पश्चिम के भौतिकवाद के प्रवाह में लोग धर्म को ढोंग समझ कर उस पर श्रद्धा नहीं रखना चाहते। उनके दिमाग में यह सूत्र घर कर गया है—

"करे धर्म फूटे कर्म। करे पाप खावे धाप॥"

"अरे भाई! यों ही धर्म का पूंछड़ा बनने से दुःख उठाना पड़ता है। सब लोग ब्लेकमार्केट से, तस्करव्यापार से कमाते हैं और बंगले बंधवा लिये। हम ही क्यों अकेले धर्म-धर्म चिल्ला कर संकट और गरीबी में तड़फें।" धर्म पर अविचल श्रद्धा इसी कारण से तो दुर्लभ है। अन्यथा, हर बैठा ठाला आदमी मुंह से कह देता है—"मेरी तो धर्म पर अटल श्रद्धा है। मैं तो रोज महाराज के पास धर्म का व्याख्यान सुनने के लिए जाता हूं। अमुक त्याग-प्रत्याख्यान करता हूं आदि।" परंतु जब धर्मश्रद्धा की कसौटी होती है तब बड़ों-बड़ों के छक्के छूट जाते हैं।

अर्हन्नक श्रावक अपनी जहाजों में माल लदवा कर नगर के कुछ व्यापारियों को साथ लेकर चम्पानगरी से रवाना हुआ। कुछ दूर जहाजें चली होंगी कि एक देवता विकराल पिशाच का रूप धारण करके आसमान में प्रगट हुआ। अर्हन्नक से कहने लगा—"अरे धर्म के पूंछड़े! कह दे यह धर्म-कर्म सब झूठा है, ढोंग है। अगर नहीं कहेगा तो मैं तेरे साथियों सहित नौका को उलट दूंगा, जिससे तुम सब समुद्र में डूब जाओगे। अगर तुम ऐसा कह दोगे तो

वर्तमानकाल में गुरु बना कर भी प्रायः गुरु के आदेश को तभी तक मानते हैं, जब तक कोई असुविधा न हो, आराम मिलता हो या अपनी मनचाही बात पूरी होती हो। किन्तु इच्छा के प्रतिकूल या सुविधा में बाधक आदेश मिलते ही उस आदेश को ठुकरा देते हैं। ऐसा करना गुरु पर श्रद्धा नहीं कहलाती और न इस प्रकार गुरु बनाने का कोई अर्थ है। गुरु बनाने या गुरु के प्रति श्रद्धा का अर्थ है, अपनी स्वच्छन्दता और स्वच्छन्द निरंकुश वृत्तियों पर काबू रख कर अपनी इच्छा के विरुद्ध आदेश हो तो भी बिना हिचकिचाहट के उसका स्वीकार और पालन करना। सच्चा हितैषी गुरु कभी अहितकर आज्ञा दे नहीं सकता। गुरु के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा के साथ समर्पण करने वाला शिष्य सचमुच भाग्यशाली व कल्याणभाजक बनेगा। उसकी अन्तरात्मा उज्ज्वल बनेगी।

गुरु के प्रति गाढ़ श्रद्धा के लिए एक उदाहरण लीजिए—

एक बार एक गुरु और शिष्य घूमते हुए एक जंगल में पहुंचे। बहुत चलने से शिष्य थक गया था। अतः वे दोनों एक जगह विश्राम लेने के लिए रुके। शिष्य गुरु की गोद में मस्तक रख कर सो गया। थोड़ी ही देर में गाढ़ी नींद आ गई। गुरु जाग रहे थे। इतने में एक काला सांप फुफकारता हुआ उधर से आ निकला। जब वह सांप शिष्य के नजदीक आने लगा तो गुरुजी ने धीरे से खिसक कर उसे रास्ता देना चाहा। परन्तु सांप तो एकदम निकट आ गया। गुरु ने हाथ से उसे रोका तो भी न रुका और मनुष्यवाणी में बोला—"मुझे इसे (आपके शिष्य को) काटना है, रोको मत।" गुरु ने पूछा—इसको ही काटने का कुछ कारण भी तो होगा?" सर्प—"कारण यही है कि इसने मेरा रक्त पिया था, मुझे अब इसका रक्त पीना है। मुझे इसने बहुत हैरान किया है। इसलिए मैं वैर का बदला लिए बगैर

थोड़ी-सी जबान हिलाने में कौनसी चींटी मरती है। सबका काम बन जाता है। जीते रहेंगे तो फिर धर्म पाल लेंगे।

परन्तु अर्हन्नक की धर्मश्रद्धा पक्की थी। वह जरा-भी चलायमान न हुआ। साथियों से उसने कहा—"भोले भाइयो! जरा सोचो तो सही कि धर्म गया हुआ बारबार मिलेगा? प्राण या धन तो फिर भी मिल जायेंगे, मनुष्य जन्म भी मिल जायेगा। पत्नीपुत्र भी मिल जायेंगे। लेकिन क्या ऐसा धर्म फिर मिलेगा? और शरीर तो नाशवान है, कल नहीं छूटा, आज छूट गया और धर्मपालन करते हुए छूट गया तो इससे बढ़कर सुअवसर फिर कब मिलेगा?"

अर्हन्नक के समझाने पर साथी दृढ़ हो गए और कहने लगे—"हम आपके साथ हैं। जो आपकी गति होगी, वही हमारी होगी।"

देवता अर्हन्नक की मनवचनकर्म से धर्म पर दृढ़ता व दृढ़श्रद्धा देख कर अपनी माया समेट कर असली रूप में आकर अर्हन्नक के चरणों में गिर पड़ा। प्रसन्न हो कर कहने लगा—"धन्य हो अर्हन्नक! धन्य हो धर्मश्रद्धा-धुरंधर! जैसी आपकी प्रशंसा इन्द्र के मुख से सुनी थी, वैसे ही आप निकले। आप परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। मैं आपसे क्षमा चाहता हूं।"

यों कह कर कुण्डलयुगल देकर देव वापिस लौट गया।

यह है धर्मश्रद्धा का ज्वलन्त उदाहरण!

जिसकी धर्म पर ऐसी अचल श्रद्धा होती है, वह न तो भय से धर्म को छोड़ता है और न प्रलोभन के वश में हो कर धर्म को तिलांजलि देता है। वह परमकल्याणकारी सुखशान्तिप्रदायक धर्म को

चली, लेकिन शिष्य ने चूं या चां न की। सर्प खून पी कर तृप्त हो कर तुरंत चला गया। गुरुजी ने एक सर्जन डाक्टर की तरह घाव को ठीक ढंग से बन्द करके उस पर जंगली औषधि लगा कर पट्टी बांध दी। और स्वयं नीचे उतर गए। शिष्य उठ बैठा।

गुरुजी ने कहा—"बेटा! इतनी जबर्दस्त नींद है तेरी! तुझे कुछ पता भी चला या नहीं, मैंने क्या किया था?" शिष्य बोला—"जी हाँ, मुझे सब पता है गुरुदेव! आप मेरी छाती पर बैठे थे; हाथ में चाकू था, गले के पास चीरा लगा रहे थे।"

गुरुजी—"तो तू बोला क्यों नहीं?"

शिष्य—"गुरुदेव! आप जो कुछ करते होंगे, वह मेरे भले के लिए ही करते होंगे, ऐसी मुझे पक्की श्रद्धा थी, इसलिए मैं बिलकुल चुप रहा।"

कितनी अपार श्रद्धा है शिष्य की! गुरु के अन्तर से शिष्य के प्रति आशीर्वाद फूट पड़ा—"धन्य हो वत्स! तेरा शीघ्र कल्याण हो।"

यह है गुरु के प्रति अनन्यश्रद्धा का नमूना!

जब ऐसी श्रद्धा होती है तो गुरु शिष्य को अपना सर्वस्व अनुभव-ज्ञान उंडेल देता है; शिष्य को बारबार हितशिक्षा देकर उसके जीवन का सुन्दर निर्माण कर देता है। यही है गुरु के प्रति श्रद्धा का रहस्य!

धर्म के प्रति श्रद्धा

देव और गुरु के प्रति श्रद्धा तो धर्म के शुद्ध आचरण के लिए

थोड़ी-सी जबान हिलाने में कौनसी चींटी मरती है। सबका काम बन जाता है। जीते रहेंगे तो फिर धर्म पाल लेंगे।

परन्तु अर्हन्नक की धर्मश्रद्धा पक्की थी। वह जरा-भी चलायमान न हुआ। साथियों से उसने कहा—"भोले भाइयो ! जरा सोचो तो सही कि धर्म गया हुआ बारबार मिलेगा ? प्राण या धन तो फिर भी मिल जायेंगे, मनुष्य जन्म भी मिल जायेगा। पत्नीपुत्र भी मिल जायेंगे। लेकिन क्या ऐसा धर्म फिर मिलेगा ? और शरीर तो नाशवान है, कल नहीं छूटा, आज छूट गया और धर्मपालन करते हुए छूट गया तो इससे बढ़कर सुअवसर फिर कब मिलेगा ?"

अर्हन्नक के समझाने पर साथी दृढ़ हो गए और कहने लगे—"हम आपके साथ हैं। जो आपकी गति होगी, वही हमारी होगी।"

देवता अर्हन्नक की मनवचनकर्म से धर्म पर दृढ़ता व दृढ़श्रद्धा देख कर अपनी माया समेट कर असली रूप में आकर अर्हन्नक के चरणों में गिर पड़ा। प्रसन्न हो कर कहने लगा—"धन्य हो अर्हन्नक ! धन्य हो धर्मश्रद्धा-धुरंधर ! जैसी आपकी प्रशंसा इन्द्र के मुख से सुनी थी, वैसे ही आप निकले। आप परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। मैं आपसे क्षमा चाहता हूं।"

यों कह कर कुण्डलयुगल देकर देव वापिस लौट गया।

यह है धर्मश्रद्धा का ज्वलन्त उदाहरण !

जिसकी धर्म पर ऐसी अचल श्रद्धा होती है, वह न तो भय से धर्म को छोड़ता है और न प्रलोभन के वश में हो कर धर्म को तिलांजलि देता है। वह परमकल्याणकारी सुखशान्तिप्रदायक धर्म को

मैं तुम्हारा वाल भी वांका न होने दूंगा। तुम्हें कुछ द्रव्य भी दूंगा।"

पर अर्हन्नक भी कच्चे गुरु का चेला नहीं था। धर्म उसके रग-रग में व्याप्त था। धर्म छोड़ना या धर्म पर अश्रद्धा करना उसके लिए प्राणों को छोड़ने से भी बढ़कर था। उसने कहा—"जो धर्म मुझे प्राणों से भी बढ़कर प्रिय और सत्य है, उसे मैं कैसे मिथ्या कह दूँ। मेरे संस्कारों में भी यह चीज नहीं है। तुम अधिक से अधिक करोगे तो मेरे शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दोगे, लेकिन मेरी आत्मा का और मेरी धर्मश्रद्धा का कुछ भी वाल वांका नहीं कर सकते। शरीर तो कई वार मिल चुका है मिल जायगा; पर धर्म वड़ी मुश्किल से मिलता है। अगर धर्मश्रद्धा के लिए यह शरीर नष्ट होता है तो मैं इसे अपना अहोभाग्य और पुण्य अवसर समझूंगा।"

जब देवता का जोर अर्हन्नक पर कुछ भी न चला तो उसने भेद-नीति से काम लिया। अर्हन्नक के साथियों को वहकाना शुरू किया—"तुम लोग इस अर्हन्नक के साथ व्यापार करने व धन कमाने आए हो या अपने प्राण गंवाने? यह तुम्हारा साथी धर्मधारी वन कर अपने साथ तुम सबको ले डूबेगा। इसे समझाओ कि इतना-सा जवान से कह दो कि धर्म झूठा है। अन्यथा मैं तुम सबको समुद्र में डूबो दूंगा।"

अर्हन्नक के साथी जरा विचार में पड़े और वनियाबुद्धि लड़ाने लगे कि हम तो प्राण खोने इसके साथ नहीं आए हैं। वे अर्हन्नक को उपर्युक्त ढंग से समझाने लगे कि "भाई अर्हन्नक! 'आपत्काले मर्यादा नास्ति' आफत के समय मर्यादाएँ पालन नहीं की जातीं।

इसी कारण लोग मुझे भेंट देते हैं। यह ऊपरी आमदानी मेरे अल्प-वेतन के जितनी ही कानून-सम्मत है। विशेष कारण यह है कि मैं केवल अपने लिए नहीं, किन्तु तुम्हें और बालकों को सुखसुविधा देने के लिए ही इतना प्रयास करता हूं। साथ ही तुम स्त्री हो, बाहरी दुनिया के बारे में तुम और तुम्हारी जाति नहीं समझती। अतः तुम्हें इस मामले में सिरपच्ची न करके अपने घर, बालबच्चों और रसोई-घर में दिलचस्पी लेना ही ठीक है।" सुव्रताबहन को पति का ऐसा उत्तर सुन कर निराशा न हुई। बल्कि धैर्य और श्रद्धापूर्वक वह अपने काम में जुटी रही। पतिदेव पर असरकारक तरीके अजमाने के लिए काफी नैतिक हिम्मत और त्याग की जरूरत थी। सुव्रता बहन ने अपने पति को धर्म की राह पर लाने के लिए सारी शक्ति बटोर कर एक दिन अपने पतिदेव को अपना दृढ़ निश्चय सुना दिया—"मैं और मेरे आज्ञाकारी बालक आज से अपने घर पर आने वाली किसी भेंट का व्यक्तिगत उपयोग नहीं करेंगे। तथा वेतन के द्वारा जो सुविधाएँ नहीं मिल सकतीं, उन्हें किसी भी कीमत पर नहीं लेंगे।" पति कई दिन तक मौन रहे। इसकी प्रतिक्रिया के रूप में कई अवांछनीय परिणाम भी आए। तथापि अपने पति की धर्मविहीन प्रवृत्तियों में भाग व सहयोग न लेने के निश्चय पर दृढ़ रहीं। धैर्य, श्रद्धा और त्यागपूर्वक अपनाया हुआ कोई भी सुकार्य व्यर्थ नहीं जाता। धर्मश्रद्धा की कठोर अग्निपरीक्षा में सुव्रताबहन पास हुई और एक दिन उसके रूढ़ रिश्वतखोर राजकर्मचारी पति ने सुव्रताबहन की धर्मश्रद्धा व चातुर्यपूर्ण जीवनकला के सामने सिर झुका दिया। उन्होंने जिंदगीभर के लिए रिश्वत व भेंट न लेने का संकल्प किया और धर्म पर दृढ़ रहने की श्रद्धा व्यक्त की।

यह था धर्मश्रद्धा का दूरगामी सुपरिणाम !

किसी भी हालत में नहीं छोड़ता। एक आधुनिक उदाहरण लीजिए—

सुव्रता वहन की धर्म पर दृढ़ श्रद्धा थी। वह एक सरकारी कर्मचारी की सुघड़, संस्कारी और धर्मप्राण पत्नी थी। अपने पति और वालकों के साथ वह एक वड़े शहर में रहती थी। राजकर्मचारी होने के कारण सुव्रता वहन के पति को लोग सत्ता व पद के नाते गैरकानूनी तौर पर नकद रकम और वस्तु भेंट देते थे। शहर के कई सिनेमाघरों की ओर से उन्हें फ्री पास मिलता था। श्रीमंत लोग उन्हें व उनके परिवार को पर्यटन व प्रीतिभोज के लिए आमंत्रण देते। कई मोटरमालिक अपनी मोटर भेज देते थे। पैसा वटोरने का तरीका कई वार जोर जवर्दस्ती का होता था। ५००) माहवार तनख्वाह के अलावा दसगुनी करीव यह ऊपरी आमदनी हो जाती। विवाह के वाद एकाध साल तक तो सुव्रतावहन ने कोई खास ध्यान न दिया। किन्तु वाद में पतिदेव की इस आदत से वाकिफ हो जाने पर वह स्वयं शर्म और अफसोस महसूस करने लगी। उसने अपने पति को सन्मार्ग पर लाने का वीड़ा उठाया। वह जानती थी कि धर्मश्रद्धा के मार्ग पर लाने में कई विघ्न व संकट आते ही हैं। परन्तु खुद की धर्म पर दृढ़श्रद्धा थी, इसलिए गैरकानूनी (अधर्म) मार्ग से पैसा कमाने के वुरे नतीजों के कई उदाहरण पतिदेव के सामने पेश किये। जव इतने से ही न माने तो जोर देकर कहा—"मैं वालकों और ईश्वर की सौगन्ध खा कर आपसे सविनय प्रार्थना करती हूं कि रिश्वत के रूप में किसी प्रकार की रकम व वस्तु लेकर अपने कुल व हाथों को कलंकित न करने की प्रतिज्ञा लें। हक की कमाई में ही वरकत है।" सुव्रतावहन के पति ने इतना ही उत्तर दिया—"ऐसी नकद और दूसरी भेंट लेना कोई वुरा नहीं है। क्योंकि कचहरी के समय से अतिरिक्त समय में मैं लोगों का काम विशेष रुचिपूर्वक करता हूं। और

२१

श्रद्धा परम दुर्लभ—२

आगन्तुक महानुभावो ! कल मैंने परम दुर्लभ श्रद्धा पर आपके सामने विस्तार से कहा था। आज उसी विषय पर मुझे कुछ और बातें बतानी हैं।

श्रद्धा का लक्षण

कई लोग यह कह दिया करते हैं कि "श्रद्धा तो अन्धी होती है, उसमें तो बिना आँखें खोले, बिना विवेक और तर्क-वितर्क किये चलना होता है। जहाँ युक्ति न चलाई जा सकती हो, दलील न की जा सकती हो, वहाँ केवल आँखें मूंद कर चलना ही तो हुआ। अतः श्रद्धा करना हमारा काम नहीं। हम तो तर्क की कैंची चलाएँगे, किसी भी चीज को जांचेपरखे बिना उसे नहीं मान लेंगे।" वास्तव में ऐसा कहना श्रद्धा के लक्षण की नासमझी है। यद्यपि श्रद्धा में हृदयबल अधिक होता है, परन्तु बुद्धिबल को भी उसमें छोड़ा नहीं जाता। बल्कि जहाँ केवल बुद्धि की कूद-फांद होती है; हृदय की बात को ठुकरा दिया जाता है, वहाँ या तो अतितर्क के नाम पर वहम पनपता है, या अत्यन्त युक्ति की ओट में सच्ची और कल्याण-

किसी भी हालत में नहीं छोड़ता। एक आधुनिक उदाहरण लीजिए—

सुव्रता बहन की धर्म पर दृढ़ श्रद्धा थी। वह एक सरकारी कर्मचारी की सुघड़, संस्कारी और धर्मप्राण पत्नी थी। अपने पति और बालकों के साथ वह एक बड़े शहर में रहती थी। राजकर्मचारी होने के कारण सुव्रता बहन के पति को लोग सत्ता व पद के नाते गैर-कानूनी तौर पर नकद रकम और वस्तु भेंट देते थे। शहर के कई सिनेमाघरों की ओर से उन्हें फ्री पास मिलता था। श्रीमंत लोग उन्हें व उनके परिवार को पर्यटन व प्रीतिभोज के लिए आमंत्रण देते। कई मोटरमालिक अपनी मोटर भेज देते थे। पैसा बटोरने का तरीका कई बार जोर जबर्दस्ती का होता था। ५००) माहवार तनख्वाह के अलावा दसगुनी करीब यह ऊपरी आमदनी हो जाती। विवाह के बाद एकाध साल तक तो सुव्रताबहन ने कोई खास ध्यान न दिया। किन्तु बाद में पतिदेव की इस आदत से वाकिफ हो जाने पर वह स्वयं शर्म और अफसोस महसूस करने लगी। उसने अपने पति को सन्मार्ग पर लाने का बीड़ा उठाया। वह जानती थी कि धर्मश्रद्धा के मार्ग पर लाने में कई विघ्न व संकट आते ही हैं। परन्तु खुद की धर्म पर दृढ़श्रद्धा थी, इसलिए गैरकानूनी (अधर्म) मार्ग से पैसा कमाने के बुरे नतीजों के कई उदाहरण पतिदेव के सामने पेश किये। जब इतने से ही न माने तो जोर देकर कहा—"मैं बालकों और ईश्वर की सौगन्ध खा कर आपसे सविनय प्रार्थना करती हूं कि रिश्वत के रूप में किसी प्रकार की रकम व वस्तु लेकर अपने कुल व हाथों को कलंकित न करने की प्रतिज्ञा लें। हक की कमाई में ही बरकत है।" सुव्रताबहन के पति ने इतना ही उत्तर दिया—"ऐसी नकद और दूसरी भेंट लेना कोई बुरा नहीं है। क्योंकि कचहरी के समय से अतिरिक्त समय में मैं लोगों का काम विशेष रुचिपूर्वक करता हूं। और

देव, गुरु और धर्म पर दृढ़ श्रद्धा के लिए भी श्रीशंकराचार्य के मतानुसार पहले श्रुति (शास्त्र), युक्ति और अनुभूति तीनों का सहारा लेना ही पड़ेगा। आम आदमी इन तीनों में से जब एक, दो या तीनों का सहारा छोड़ देता है तो उसकी श्रद्धा देवादि पर अन्त तक जमी नहीं रहती। इसीलिए तो उसे दुर्लभ बताई है।

श्रद्धा की तीन कोटियाँ

श्रद्धा की तीन कोटियाँ भगवद्गीता में बताई हैं–तामसी, राजसी और सात्त्विकी।

तामसी श्रद्धा वास्तव में श्रद्धा नहीं होती। तामसी श्रद्धा वाला बिना ही किसी विवेक-विचार के किसी वस्तु पर श्रद्धा कर लेता है। उसकी पकड़ इतनी गहरी होती है कि वह दूसरे लोगों के समझाने और युक्तिपूर्वक सत्य गले उतारने पर भी उसे नहीं छोड़ता। वह प्रायः शब्दों के चिपटा रहता है। शब्दों के पीछे क्या आशय है, इस बात को नहीं समझता। इस विषय में एक उपयुक्त दृष्टान्त मुझे याद आ रहा है—

एक गुरु के दो शिष्य थे। एक बुद्धिमान था दूसरा शब्दासक्त अविचारी था। गुरु के प्रति दोनों की श्रद्धा थी। पर थी अपनी-अपनी दृष्टि और शैली से। गुरु ने अन्तिम समय में उन दोनों शिष्यों को पास बुलाकर तीन शिक्षाएँ दीं—(१) लोकप्रिय बनना, (२) मीठा खाना और (३) सुख से सोना। गुरुजी के स्वर्गवास के बाद दोनों शिष्य अलग-अलग देशों में विचरण करने लगे। अविचारी शिष्य ने गुरुजी के शब्दों से चिपट कर चलना शुरू किया। लोकप्रिय बनने के लिए वह यंत्र, मंत्र, तंत्र, जादूटोना, झाड़ा-फूंका, ज्योतिषबाजी और वैधक आदि करने लगा। लौकिक स्वार्थवश

धर्मश्रद्धा के साथ-साथ धर्मप्रवचनों (शास्त्रों) पर भी श्रद्धा रखना दुर्लभ है। धर्मप्रवचनों पर श्रद्धा धर्मश्रद्धा के होने में निकट-कारण है, इसलिए अलग-से शास्त्रकारों ने उसका निर्देश नहीं किया।

भाग्यशालियो ! देव गुरु और धर्म पर श्रद्धा की दुर्लभता के बारे में मैं काफी कह चुका हूं। आप मनन करके अपने जीवन में उतारेंगे तभी बेड़ा पार होगा।

स्थान—गौड़ीजी का उपाश्रय
पायधुनी, बम्बई

वि० संवत् २००६
कार्तिक बदी १३

कड़ी भूख में ही भोजन मीठा लगता है। और सुख से सोने का अर्थ है—अपना कर्तव्य-कार्य करके, नित्यकर्म से निवृत्त होकर, आत्म-विचारणा में मस्त होकर, निर्भय, निर्द्वन्द्व और निश्चिन्त होकर सोना। भयमुक्त और कर्तव्यश्रान्त मनुष्य ही सुख की नींद ले सकता है।" अपने प्राज्ञ गुरुभ्राता के वचन यद्यपि सत्य थे और कल्याणकारी थे, लेकिन शब्दासक्त गुरुबन्धु ने इस बात पर बहस करना शुरू कर दिया और सही बात को भी ठुकरा दी।

यह है तामसी श्रद्धा का नमूना !

राजसी श्रद्धा चंचल होती है। किसी एक वस्तु को सही समझ लेने पर भी उस पर श्रद्धा टिकती नहीं। राजसी श्रद्धा वाला भय और प्रलोभन के अधीन हो कर, किसी तुच्छ स्वार्थ से लिपट कर चलता है। राजसी श्रद्धा वाला तर्क-वितर्क बहुत ज्यादा करता है। बुद्धि को ज्यादा महत्त्व देता है। इसलिए उसकी श्रद्धा किसी एक में नहीं टिकती।

और सात्त्विकी श्रद्धा तो विवेक से प्रकाशमान होती है। वह श्रुति, युक्ति और अनुभूति के बाद निश्चित होती है और गाढ़ से गाढ़तर होती जाती है। कभी घटती नहीं।

यहाँ जिस श्रद्धा की दुर्लभता का जिक्र है, वह है सात्त्विकी श्रद्धा। सात्त्विकी श्रद्धा देव, गुरु और धर्म इन तीनों कल्याणकारी तत्त्वों पर होना ही संसार में दुर्लभ है।

श्रद्धा के चार प्रकार

पहले बताई गई सात्त्विक श्रद्धा भी चार प्रकार की होती है। वैसे तो श्रद्धा एक ही प्रकार की होती है और वह मन से सम्बन्ध रखती

कारी वस्तु व्यक्ति या विचारधारा पर विश्वास नहीं जमता। फलस्वरूप व्यक्ति डांवाडोल हो कर 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' जैसी स्थिति को प्राप्त हो जाता है। वह न तो कल्याण के मार्ग को ही पकड़ता है और न कल्याण का मार्ग (धर्म) बताने वालों या प्रेरणा देने वालों का ही अनुसरण करता है। वस्तुतः ऐसे व्यक्ति का जीवन ही नीरस और निरर्थक बन जाता है। इसीलिए तो ऐसे व्यक्तियों को श्रद्धा प्राप्त होना अतिदुर्लभ बताया है। यही कारण है कि श्रद्धा हृदय और बुद्धि का सन्तुलन करने वाली होती है। वह न तो कोरी भावुकता का आश्रय लेती है और न अतितर्क का सहारा। वह प्रत्यक्ष वस्तुओं के बारे में एक सीमा तक युक्ति, तर्क भी चलाती है, और अतीन्द्रिय या परोक्षवस्तुओं के बारे में सर्वज्ञ आप्तवचनों पर विश्वास रखने का भी कहती है। श्रद्धा का लक्षण आद्यशंकराचार्य ने इसी अभिप्राय को लेकर किया है—

"शास्त्रस्य गुरुवाक्यस्य सत्यबुद्ध्यावधारणम्।
सा श्रद्धा कथिता सद्भिर्यया सत्यमवाप्यते ॥"

अर्थात्—'शास्त्र (आप्तवचन), गुरुओं के वाक्य और सरलहृदय से यथार्थबुद्धि से वस्तुतत्त्व का ग्रहण-अनुभव जिससे होता हो, उसे ही सत्पुरुषों ने श्रद्धा कही है। जिसके सहारे साधक सत्य को पा लेता है।'

इसलिए श्रद्धा में न तो कोरा अन्धापन होता है और न कोरा बुद्धिवाद। जहाँ दोनों की 'अति' से दूर रह कर वस्तुतत्त्व का ग्रहण किया जाता हो वहीं श्रद्धा होती है। एक वैज्ञानिक यदि किसी नई वस्तु का आविष्कार करेगा तो वह केवल तर्क के सहारे चल कर नहीं कर सकेगा। पुराने वैज्ञानिकों की थ्योरियों (सिद्धान्तधाराओं) पर उसे पहलेपहल तो श्रद्धा रख कर ही चलना होगा।

दृढ़ इच्छाशक्ति और मजबूत संकल्पबल द्वारा श्रेयस्कर मार्ग की ओर कुछ करने को बढ़ाती है, कर्तृत्वमार्ग में प्रेरित करती है और कल्याणमार्ग पर दृढ़ रखती है।

साधक कई दफा साधना करते-करते ऊब जाता है, उसे कुछ भी सुफल नजर नहीं आता, वह निराश-हताश हो कर कुछ भी करने के लिए तत्पर नहीं होता, हार-थक कर निष्प्राण-सा हो कर बैठ जाता है, उस समय जो श्रद्धा उसमें इच्छाबल और संकल्पबल का संचार करती है और उसे कार्य में दृढ़ मनोबल के साथ जुट जाने को प्रेरित करती है, उसी का नाम प्राणमयी श्रद्धा है।

भगवान् ऋषभदेव एक साल तक निराहार रह कर अपनी साधना में रत रह सके, उसके पीछे कौन-सी श्रद्धा काम करती थी? यही तो प्राणमयी श्रद्धा थी। जिसे 'स्पिरीट' या उत्साह कहते हैं, वही प्राणमयी श्रद्धा बड़े-बड़े साधकों में होती है। परन्तु जहाँ यह श्रद्धा खत्म हो जाती है, वहाँ व्यक्ति नीचे गिर जाता है। भगवान् ऋषभ-देव के जिन ४०० राजकुमारों ने दीक्षा ली थी। उनमें निराशा और हताशा आगई, क्योंकि उनमें कोई स्पिरीट या प्राणमयी श्रद्धा भरने वाला नहीं था। भ० ऋषभदेव तो मौन रहते थे। वे तो किसी से भी बोलते या इशारा करके भी समझाते न थे। अतः प्राणमयी श्रद्धा के नष्ट हो जाने से उन ४०० कुमारों ने तापसमार्ग–सुविधा का मार्ग स्वीकार कर लिया, कठोर जैनेन्द्री दीक्षा की साधना का मार्ग छोड़ दिया।

तीसरी मानसी श्रद्धा है—जहाँ प्रतिकूल संयोग उपस्थित हो, अनुकूल वस्तु या व्यक्ति का वियोग हो जाता हो, रुचि किसी और वस्तु में हो, आवेश बार-बार आते हों, कामनाएँ अपने लुभावने व

लोगों का जमघट लगने लगा। गुरुजी के दूसरे वचन का पालन करने के लिए भिक्षा में सात्त्विक आहार की अपेक्षा तरह-तरह की मिठाइयाँ लाने लगा और खूब उड़ाने लगा। और गुरु के तीसरे वचन पर चलने के लिए उसने रात के ८ बजे से लेकर सवेरे ८ बजे तक लेट लगाना शुरू किया। कोई भी दर्शनार्थी भक्त आता तो कह-लवा देता—अभी आराम कर रहे हैं, सो रहे हैं। अभी दर्शन नहीं हो सकते।

मतलब यह कि गुरु और गुरुवचनों पर उसे श्रद्धा तो थी, पर उसके साथ विवेक नहीं था और शब्दों की ऐसी पकड़ थी कि मैंने जो मान लिया वही ठीक है। इसी कारण गुरुवचनों के पालन का उसे झूठा संतोष था। परिणामस्वरूप गुरु के तीनों वचनों का दुरुपयोग किया—झूठी लोकप्रियता प्राप्त की, पर आखिर फजीहत हुई। मिठाइयाँ अधिक खाने से बीमार रहने लगा और अधिक सोने से प्रमादी बना।

एक बार घूमते-घामते उसका प्राज्ञ गुरुबन्धु आ मिला। उसने अपने गुरु-भ्राता का रवैया देखा तो दंग रह गया। वह समझ गया कि मेरा गुरुभाई तो गुरुजी के शब्दों से चिपटा हुआ है, वचनों को जरूर घोट कर कंठस्थ कर लिए हैं, पर उनके पीछे के आशय को नहीं समझा है। अतः प्राज्ञ गुरुभाई ने उसे अपने पास बिठा कर प्रेम से समझाया कि गुरुजी के तीनों वचनों का क्या भाव था ? उसने कहा कि लोकप्रियता कोरे भाषणों से, मीठी चिकनीचुपड़ी बातों से या ज्योतिष, मंत्र, तंत्र आदि के प्रयोग से नहीं मिलती। वह तो झूठी और क्षणिक होती है। स्थायी लोकप्रियता सादगी, निःस्पृहता और निर्लोभिता से प्राप्त होती है। मीठा खाने का मतलब है—तप, जप या तितिक्षा करके खाना, जब कड़ी भूख लगे तब खाना।

जब पांचों पाण्डव द्रौपदी के सहित वनवास बिता रहे थे, उस समय उनसे यही पूछा जाता कि 'आप कैसे हैं ?" तो हमेशा यही उत्तर मिलता—"आनन्द में हैं।" इस प्रकार सदैव आनन्द में रहने का कारण यही था कि उनमें चैतन्यमयी श्रद्धा काम कर रही थी, उन्हें परमात्मबल प्राप्त था। अगर ऐसा न होता तो अत्यन्त कष्टकारी वनवास के समय जब भरपेट भोजन भी नहीं मिल पाता था, वे आनन्द न मानते; यही चैतन्यमयी श्रद्धा धर्मराज के जीवन में रमी हुई थी। प्रभु के प्रति उन्हें दृढ़ श्रद्धा थी, धर्म पर अटल विश्वास था। अपना सर्वस्व प्रभुचरणों में समर्पण करके धर्मराज युधिष्ठिर वन-वन में भटक रहे थे। एक बार धर्मराज युधिष्ठिर अनायास ही द्रौपदी के झोंपड़े में चले गए। द्रौपदी उस समय किसी जंगली अनाज को साफ कर रही थी। धर्मराज को आते देख द्रौपदी ने उठ कर स्वागत किया। धर्म-राज ने पूछा—"देवि ! क्या कर रही हो ?" द्रौपदी—"सच कह दूं ?" धर्मराज—"यह भी क्या पूछने की बात है ? सत्य तो कहना ही चाहिए।" द्रौपदी—"अगर आप सत्य सुनना चाहते हैं तो मैं कहती हूं कि आपका पाप भोग रही हूं। उसे आपका पाप न कहूं तो क्या कहूं ? आपने ही भीम और अर्जुन को भेज कर दूसरों के द्वारा बांधे हुए पापी दुर्योधन को बचा लिया। यह कह कर कि दूसरों के साथ युद्ध होने पर हम १०५ हैं और अपने साथ युद्ध होने पर हम ५ हैं, वे १०० हैं। अगर उस समय वह मारा जाता तो पाप कटता। मैं उस पापी के बचाये जाने के कारण ही दुःख भोग रही हूं। इसलिए मैं इस दुःख को आपका ही पाप कहती हूं।"

युधिष्ठिर—"अच्छा देवि ! अगर तुम यह कहती हो कि उस समय मुझे उसे मरने देना चाहिए तो तुम मुझे और मेरे सिद्धान्त को नहीं समझ पाई, यह दुर्भाग्य है मेरा।"

है। लेकिन जीवन के विभिन्न प्रसंगों को ले कर चार प्रकार की हो सकती है। वह इस प्रकार है—(१) शारीरिकी (२) प्राणमयी (३) मानसी और (४) चैतन्यमयी। वेदान्तदर्शन में जैसे चार कोष बताए हैं—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और ज्ञानमय; वैसे ही श्रद्धा भी चार प्रकार की हो सकती है। शारीरिकी श्रद्धा वह कहलाती है, जिसमें शरीर पर अनेक प्रकार के कष्ट आ पड़ें, शारीरिक असह्य दुःखों के कारण किंकर्त्तव्यविमूढ़ता आने लगे, प्रहारों के कारण शरीर क्षतविक्षत हो जाय; उस समय शरीर के कष्टों को देख कर भी देव-गुरु-धर्म पर श्रद्धा टिकाए रखना शारीरिकी श्रद्धा है।

भक्त प्रह्लाद को ईश्वर पर अटल श्रद्धा थी, लेकिन उसका पिता हिरण्यकशिपु दैत्यों का राजा था और ईश्वर को नहीं मानता था। वह स्वयं को ही सब कुछ समझने के लिए प्रह्लाद से कहता था। जब प्रह्लाद किसी तरह समझाने से नहीं माना तो उसने अनेक प्रकार की शारीरिक यातनाएँ दीं—पहाड़ से गिराया, डंडों से पिटवाया, खाल उधेड़ ली; लेकिन प्रह्लाद शारीरिक असह्य कष्ट को देख कर भी ईश्वर-श्रद्धा से विचलित न हुआ।

मतलब यह है कि शारीरिक कष्टों से जूझने वाली और हार न खाने वाली श्रद्धा शारीरिकी श्रद्धा हुई।

दूसरी प्राणमयी श्रद्धा है। जहाँ व्यक्ति श्रद्धा तो रखता है, लेकिन कर्तृत्व की ओर कदम नहीं बढ़ाता; वह संशय, विपर्यय या अनध्यवसाय से घिर कर कुछ करने को तत्पर नहीं होता, विरोधीबलों के द्वारा आक्रमण और प्रहार के समय घबरा कर भागने को तत्पर हो जाता है। इच्छाशक्ति निराशा और हताशा के थपेड़ों से आहत हो जाती है, वहाँ प्राणमयी श्रद्धा इन सब पर विजय पा कर मनुष्य को

द्रौपदी को सारा रहस्य समझ में आ गया। और वह चैतन्यमयी श्रद्धा में तल्लीन हो गई। धर्मराज में चैतन्यमयी श्रद्धा कूट-कूट कर भरी थी। इसीलिए वे आत्मस्वभाव को कभी छोड़ते नहीं थे। परमात्मा पर विश्वास रख कर हृदयबल का आश्रय लेकर चलते थे।

श्रद्धा दुर्लभ क्यों ?

सवाल यह होता है इस प्रकार की श्रद्धा दुर्लभ क्यों है ? यों तो कोई आदमी केवल मौखिक रूप से कह दे कि मेरी कल्याणमार्ग (धर्म) पर दृढ़ श्रद्धा है, इसे उसकी दृढ़श्रद्धा नहीं कहा जा सकता। दृढ़ श्रद्धा का पता तो उस समय लगता है, जब कसौटी का समय आता है। बहुधा कसौटी के समय आम आदमी की श्रद्धा डांवाडोल हो जाती है। इसी कारण श्रद्धा को अतिदुर्लभ कही है।

श्रद्धा की दुर्लभता में प्रथम कारण संशय का होना है। जहाँ संशय आ जाता है, वहाँ श्रद्धा टिकती नहीं। कहा भी है—

'संशयात्मा विनश्यति'

'जो संशय का पुतला है, वह नष्ट हो जाता है।' यानी किसी भी बात पर टिकता नहीं। संशय दो प्रकार का होता है—एक विश्वासपूर्वक और दूसरा अविश्वासपूर्वक। विश्वासपूर्वक जो संशय होता है, वह ज्ञानवर्द्धक होता है। उससे मनुष्य अपने कल्याण का रास्ता जिज्ञासा होने के कारण पा लेता है। लेकिन जहाँ संशय के साथ अविश्वास हो, वहम हो, वहाँ मनुष्य एक बात पर स्थिर नहीं रहता। यही श्रद्धा का डगमगाना है। एक उदाहरण लीजिए—

आप इस उपाश्रय के मकान में बैठे हैं। मकान पक्का और पक्की

नये-नये रूप में सामने आती हों, शंकाएँ मन को घेरे रहती हों, परिस्थितियाँ भी नाजुक या विपरीत हों, बुद्धि तर्क-वितर्क करने के लिए मचल रही हो, यानी मन डाँवाडोल होना चाहता हो, उस समय इन सबके खिलाफ लड़ कर विजय पाने वाली श्रद्धा मानसी श्रद्धा कहलाती है।

सत्यवादी हरिश्चन्द्र के सामने कितने प्रतिकूल संयोग थे ? उनका घरबार, राजपाट, धन व पत्नी-पुत्र से वियोग हो गया था, भंगी के घर पर अपमानपूर्वक रहना पड़ा, परिस्थिति बड़ी नाजुक थी। एक दूसरे से मिल नहीं सकते थे; धैर्य का बांध टूट सकता था, इतना सब होने पर भी हरिश्चन्द्र की सत्य धर्म के प्रति दृढ़ आस्था रही, वह किसके प्रताप से ? वह थी मानसी श्रद्धा, जिससे सत्य हरिश्चन्द्र को बल मिला; उनमें अपार धैर्य, उत्साह और मनोबल का संचार हुआ। यदि देव, गुरु और धर्म पर ऐसी मानसी श्रद्धा हो तो मनुष्य का बेड़ा पार हो सकता है।

चौथी है चैतन्यमयी श्रद्धा। आत्मा, परमात्मा तथा आत्मा के निज-गुणों पर कई बार जब श्रद्धा डांवाडोल हो जाती है, तब चैतन्यश्रद्धा का बल ही उसे टिकाए रखता है। आत्मा, परमात्मा आदि तत्त्वों पर विश्वास, समर्पण और आत्मीय-एकता का संचार जिससे होता है, वह चैतन्यमयी श्रद्धा कहलाती है। इस श्रद्धा के बल पर ही साधक बड़े-बड़े कष्टों, दुःखों, प्रहारों यहाँ तक कि मृत्यु तक को हंसते-हंसते सह लेता है। यह श्रद्धा बहुत ही ऊँचे दर्जे की श्रद्धा है। इसमें कभी डिगने का तो नाम ही नहीं होता। इसी श्रद्धा के जोर से मनुष्य बड़े-से बड़ा खतरा उठाने को तैयार हो जाता है।

की विचारधारा पढ़ता है तो उस पर श्रद्धा कर लेता है, पहले की श्रद्धा को छोड़ देता है। इस अनिश्चित दशा में किसी भी कल्याण-कारी सन्मार्ग पर श्रद्धा नहीं जमती। इसे ही अनध्यवसाय कहते हैं।

श्रद्धा की दुर्लभता का चौथा कारण दोषदृष्टि है। देवाधिदेव वीतराग तो पूर्ण होते हैं लेकिन गुरु तो अपूर्ण होते हैं और उनके द्वारा किये गए प्रवचनों में भी अपूर्णता होती है, इसलिए अत्यधिक तर्क-वितर्क और बुद्धिवाद बघार कर व्यक्ति देवाधिदेव सद्गुरु और धर्म की न्यूनताएँ या दोष ढूंढने लगता है। छद्मस्थ गुरु में तो कुछ दोष हो भी सकते हैं, पर जिसकी दोषदृष्टि बन जाती है, वह हर तत्त्व में नुक्स निकालेगा। इस कारण उसकी श्रद्धा देव, गुरु, धर्म पर मजबूत नहीं होती। औपचारिक रूप से लोकव्यवहार दिखाने के लिए वह इन पर श्रद्धा बताएगा जरूर, लेकिन अन्तर में पूर्वोक्त चारों प्रकार की सात्त्विकी दृढ़ श्रद्धा नहीं होगी।

श्रद्धा की दुर्लभता में पांचवाँ कारण भययुक्त शंका है। आप्तपुरुषों के वचनों में संदेह हो जाने पर मनुष्य श्रद्धा से च्युत हो जाता है। शंका श्रद्धा को मटियामेट कर देती है। देव, गुरु और धर्म पर संदेह हो जाने पर श्रद्धा खत्म हो जाती है। इसे यथार्थरूप से समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए—

एक विद्याधर ने किसी आदमी को आकाश में उड़ने की विद्या सिखाई; उसने विद्या की परीक्षा तो कर ली, लेकिन उससे विशेष काम लेने का मौका नहीं आया। मरते समय उसने अपने लड़के को वह विद्या सिखाते हुए कहा—"बेटा! मैं इस विद्या को आजमा चुका हूं। इसमें शंका न करना।"

द्रौपदी—"महाराज ! मेरी भूल हो तो क्षमा करें। आपके इन शब्दों ने मुझे व्यथित कर दिया है !"

युधिष्ठिर—"तुम मेरे हृदय को समझती हो देवि ! लेकिन आवेश में आकर बारबार भूल कर बैठती हो ! मैं पूछता हूं कि जब मैंने तुम्हें जुए के दाव पर लगा दी थी और तुम्हारे वस्त्र खींचे जा रहे थे; उस समय तुम्हारी रक्षा किसने की थी ? तुमने किससे प्रार्थना की थी ? हम सभी तो नीचे मुख किए दास की तरह बैठे थे।"

द्रौपदी—"उस समय मैंने अपने सब बलों को छोड़ कर एकमात्र परमात्मबल का आश्रय लिया था। परमात्मा से ही रक्षा की प्रार्थना की थी। उस समय जो चमत्कार हुआ, मेरी रक्षा हुई, वह परमात्म-बल के कारण ही।"

धर्मराज—"बस ! यही बात यहाँ समझो। दुर्योधन भले दुष्टता-पूर्ण व्यवहार करे, अन्याय के पथ पर चले, धर्म और भगवान् को भूल जाय, पर मुझे तो परमात्मबल की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। मुझे तो उस पर पूर्ण श्रद्धा और समर्पण की भावना रख कर चलना चाहिए। हृदयबल पर मस्तिष्कबल को मुझे हावी नहीं होने देना चाहिए। कोरा मस्तिष्कबल सांसारिक सुखसुविधाओं को चाहता है, किन्तु हृदयबल परमात्मा की शरण लेकर न्याय और धर्म पर चलना चाहता है। हृदयबली अपना स्वभाव नहीं छोड़ता, समता को नहीं त्यागता। दूसरे की देखादेखी अपनी सज्जनता को छोड़ देना हृदयबल होने का लक्षण नहीं, यह मस्तिष्कबल का काम है। यही कारण है कि दुर्योधन द्वारा इतने अनिष्ट किए जाने पर भी मैंने हृदय-बल के कारण ही उसे मारा जाने न दिया।"

है तो जान को जोखिम में डाल कर क्यों विद्या साधूँ ?" लड़के ने चोर से धन ले लिया और उसे पिताजी द्वारा वतायी हुई मंत्रविद्या विधिपूर्वक वता दी। चोर मंत्र पढ़ कर वेखटके छींके पर जा वैठा। उसे किसी प्रकार का भय न था और शंका भी न थी। पूरी श्रद्धा थी कि जरूर मंत्रसिद्धि से काम होगा। अतः वह एक वार मंत्र वोलता जाता और एक तार कटता जाता। जव सभी तार कट गए से तो चोर सर्र-से आसमान में उड़ गया।

इधर सूर्योदय होते ही सिपाही ढूंढते-ढूंढते इस लड़के के पास आ पहुंचे। इसके पास चोरी का माल देख कर इसे पकड़ लिया। लड़के की समझ में नहीं आ रहा था कि मुझे क्यों गिरफ्तार किया जा रहा है! उसने पूछा—"मेरा क्या कसूर है ? क्यों पकड़ते हो मुझे ?" सिपाहियों ने कहा—"चोरी का माल तेरे पास वरामद हुआ है, फिर पूछता है क्यों पकड़ते हो ?"

लड़का वोला-"यह चोरी का माल है ? मुझे तो पता नहीं। एक आदमी ने मुझे दिया है, और वह आकाश में उड़ गया है।"

सिपाही—"अवे ! दूसरों को उल्लू वनाना ! आदमी कहीं आकाश में विना विमान के उड़ता होगा ? चल, सीधी तरह से ! वरना डंडे पड़ेंगे।

लड़के के होश उड़ गए। वह पछताने लगा कि अगर मैंने पिता के वचनों पर शंका न की होती, भय न खाता तथा श्रद्धा की होती तो आज यह दिन न देखना पड़ता !

यह था शंका और भीति का नतीजा !

श्रद्धा की दुर्लभता का छठा कारण है—कांक्षा। मन में किसी चीज की इच्छा, वासना; स्पृहा, लालसा या प्रलोभन का होना कांक्षा है।

नींव वाला है; लेकिन फिर भी आपके मन में वारवार यही वात उठे कि कहीं यह मकान गिर पड़ा तो ? और इसी प्रकार का विचार वार-बार मन में उठता जाय तो यह संशय है। आपको श्रद्धा नहीं है, इस मकान पर। इसी प्रकार तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित और स्थापित धर्मतीर्थ (संघ) के बारे में वारवार संशय करना कि यह संघ कहीं धोखेवाजी तो नहीं है ? यह साधु या यह साध्वी न मालूम हमें कहीं धोखा तो नहीं दे देंगे ? इस प्रकार का विकल्पजाल मन में उठते रहना संशय है, जो श्रद्धा को रोकता है।

श्रद्धा की दुर्लभता का दूसरा कारण विपर्यय है। जब किसी मनुष्य के दिमाग में पूर्वग्रहवश किसी के बारे में उलटी बात घुस जाती है और वह निकलती नहीं तो उसकी श्रद्धा उस पर से डगमगा जाती है। जैसे जैनसाधुओं के वारे में द्वेष या पूर्वग्रह के कारण ऐसी वात घुस जाय कि ये तो बिलकुल असाधु हैं, मैले-कुचैले हैं। अथवा किसी भगवां वेषधारी भंगेड़ीगंजेड़ी साधु के वारे में स्वार्थवश यह बात ठस जाय कि यह तो पहुंचे हुए साधु हैं, इनका क्या कहना ? इस प्रकार का विपरीत ज्ञान सच्चीश्रद्धा में वाधक कारण है।

श्रद्धा की दुर्लभता का तीसरा कारण अनध्यवसाय है। जब कोई व्यक्ति देवाधिदेव, सद्गुरु या शुद्ध व्यापक धर्म का सही निर्णय नहीं कर पाता, तब उन पर श्रद्धा टिकनी दुर्लभ हो जाती है; वार-वार श्रद्धा डगमगाने लगती है। इस अनिश्चित दशा में वड़े-वड़े साधक कई जगह भटकते हैं। परन्तु एक निश्चय न होने के कारण उनके चित्त पर श्रद्धा दृढ़ नहीं होती। कई वार मनुष्य इधर-उधर की सुन कर या वहुत सी किताबें पढ़ कर भूलभुलैया में पड़ जाता है। एक वात को सुनता या पढ़ता है, उस पर श्रद्धा कर लेता है, फिर दूसरे से दूसरी वात सुनता है या किसी दूसरे लेखक

अच्छा है, मैं घर का काम करूं! तुम्हीं जाओ, मैं नहीं आती।" बुजुर्ग व परिचित उन साधुजी ने जब बुढ़िया को नहीं देखा तो अन्य बहनों से पूछा—"आजकल वह धर्मपरायण व धर्म की धोरी बुढ़िया नहीं दिखाई देती; क्या कहीं गई है?"

एक बहन ने महाराज से कहा—"महाराज! उसकी अब धर्म पर श्रद्धा नहीं रही। वह खुद नहीं आती और दूसरों को भी आने से रोकती है।"

साधुजी बोले—"अच्छा, ऐसी बात है! तो तुम मेरा नाम ले कर कह देना कि तुम्हारे परिचित फलां महाराज आए हैं, दर्शन करने के लिए न सही, केवल मिलने के लिए ही अवसर देख लो।"

बुढ़िया के पास यह समाचार पहुंचे तो वह गर्जती हुई बोली–मैंने बहुत दर्शन किये धर्मगुरुओं के, बहुत व्याख्यान सुने, कोई मुराद पूरी नहीं हुई। अब जा कर बेकार समय क्यों खोऊँ।"

साधु समझदार और अनुभवी थे। उन्होंने यह जवाब सुन कर गुस्सा नहीं किया किन्तु बुढ़िया को सन्मार्ग पर लाने के उद्देश्य से भिक्षा लेने के बहाने बुढ़िया के यहाँ पहुंचे। बुढ़िया ने हाथ जोड़े, और अनमनी-सी हो कर भिक्षा दी। साधुजी ने चला कर पूछा—"बहन, आजकल तुम धर्मध्यान नहीं करती, क्या कारण है?" बुढ़िया ने लम्बी सांस लेते हुए कहा—"क्या करोगे महाराज पूछ कर?"

साधु—"कारण बताओ तो कुछ उपाय भी किया जा सकता है?"

बुढ़िया—आप सुनना ही चाहते हैं तो सुनिए। मेरे एक लड़का है। मैंने उसकी शादी कर दी। शादी करने के बाद मैं समझती थी

पिता के देहान्त होने के बाद एक दिन लड़के ने पिता द्वारा सिद्ध की हुई विद्या को अजमा लेने की ठानी। वह पिता के कहे अनुसार सारा सामान लेकर जंगल में पहुंचा। एक पेड़ के नीचे उसने भट्टी खोदी; उस पर तेल की कढ़ाई जमाई और चौरासी तारों का एक छींका बना कर सूत के धागे में उसे बांध कर पेड़ की डालियों पर लटका दिया। विधि यह थी कि नीचे तेल गर्म होने लगे तब उसे मंत्र पढ़ते-पढ़ते छींके में बैठना था। यद्यपि वह विद्या उसके पिता द्वारा साधी हुई थी और किसी शंका या भय को कोई स्थान न था लेकिन लड़के को शंका और भय ने आ घेरा—"मैं छींके पर चढ़ूं और छींका टूटने से कदाचित् नीचे गिरा तो खौलते हुए तेल की कढ़ाई में पड़ कर जल मरूंगा।"

इधर लड़का पशोपेश में पड़ा था और उधर राजमहल में बहुत से हीरों व जवाहरात की चोरी हो जाने से सिपाही चोर ढूंढने के लिए इधर-उधर भागदौड़ कर रहे थे। चोर आगे-आगे भागता जा रहा था, सिपाही उसका पीछा कर रहे थे। अन्त में चोर उसी जंगल में पेड़ के पास पहुंचा, जहाँ यह लड़का विद्या सिद्ध करने की सोच रहा था। चोर ने लड़के से पूछा—"क्या कर रहे हो?" लड़का बोला—"मैं धनप्राप्ति के लिए अपने पिता की दी हुई आकाशगामिनी विद्या साध कर धन लेने आकाश में उड़ना चाहता हूं। मगर डर लगता है कि कहीं कढ़ाई में गिर पड़ूँगा तो! इसी शंका के कारण मैं ठिठक गया।" चोर ने सोचा—"सिपाही जंगल को चारों ओर से घेरे खड़े हैं। अगर मैं इसे चुराया हुआ धन दे दूंगा और विद्या द्वारा आकाश में उड़ जाऊँगा तो गिरफ्तारी से बच जाऊँगा, सिपाही इसे गिरफ्तार कर लेंगे। इस प्रकार मेरे बचने और धन पाने के दोनों काम हो जाएँगे।" अतः चोर ने कहा—"मेरे पास बहुत-सा धन है, तू ले ले और मुझे वह विद्या सिखा दे।" लड़के ने सोचा—अनायास ही धन मिलता

साधु—"सम्भव है, वहू रुग्ण रहती हो ? रोगिणी के भी बच्चा नहीं होता।"

वृद्धा—अजी ! उसके तो नख में भी रोग नहीं है। वह बहुत तंदुरुस्त है !

साधु—"हो सकता है, तुम्हारे लड़के में कोई त्रुटि हो।"

बुढ़िया—"ऐसा कुछ नहीं है। ऐसा होता तो मैं संतोष कर लेती कि जब लड़के में ही कमी है तो पोता कैसे हो ?"

साधु—"बहिन ! तुम्हारा लड़का परदेश रहता होगा, और बहू तुम्हारे पास ही रहती होगी, तब पोता कैसे हो ?"

बुढ़िया—"यह कारण भी नहीं है।"

साधु—"सम्भव है, तुम्हारा लड़का-वहू साथ ही रहते हों, लेकिन धन की या घर की किसी चिन्ता के कारण घुलते रहते हों, तब पोता कैसे हो ?"

बुढ़िया—"महाराज, मैं ऐसी भोली नहीं हूं। ऐसा होता तो मैं धर्म को क्यों दोष देती ?"

साधु—"एक बात और पूछता हूं। जो माता-पिता की सेवा नहीं करते, उनके भी आशीर्वाद न मिलने के कारण पुत्र नहीं होता।"

वृद्धा-"महाराज ! क्या कहूं ! मेरा लड़का और वहू दोनों मिल कर इतनी सेवा करते हैं कि शायद ही किसी को नसीब हो। अब बताइए आप कि धर्म का दोष है या नहीं ?"

"इसी कारण से तो मैंने धर्म छोड़ दिया। लोग मुझे बुरी कहें, कहते रहे। सच्ची बात तो कहनी पड़ेगी।"

देव, गुरु और शुद्ध धर्म पर श्रद्धा रखते और उपासना करते-करते जब वर्षों हो जाते हैं और मन में संजोई हुई कामना पूरी नहीं होती या कुछ लौकिक फल नहीं दिखाई देता, तब साधारण मनुष्य की श्रद्धा डगमगाने लगती है। साधारण मनुष्य क्या, बड़ों-बड़ों की श्रद्धा डांवाडोल हो जाती है। किसी प्रकार की कांक्षापूर्वक देव-गुरु-धर्म पर श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति का मन कांक्षा पूरी न होने पर उन्हें छोड़ते और पाप में पड़ते देर नहीं लगाता। एक व्यवहारिक उदाहरण लीजिए—

एक बुढ़िया थी। उसे धर्म से बड़ा प्रेम था। सदा साधुसंतों के दर्शन करने और धर्मोपदेश सुनने जाया करती थी। यही नहीं, वह गाँव की अन्य बहनों को भी प्रेरणा करके अपने साथ ले जाया करती थी। उसके एक ही लड़का था। बुढ़िया ने वयस्क होने पर उसकी शादी कर दी। शादी होने के बाद बुढ़िया को पोते होने की आशा थी। परन्तु वर्ष पर वर्ष बीत गए, मगर लड़के के कोई लड़का न हुआ। बढ़िया के पोता न होने से उसे विचार आया—"यह कैसा धर्म! वर्षों हो गए, धर्म पर श्रद्धा रखने और आचरण करने; लेकिन मेरे अन्तर की कामना पूरी नहीं की। जो धर्म एक पौत्र भी नहीं दे सकता, वह मोक्ष क्या देगा?" इस प्रकार वह बारबार विचार करती रहती। अब उसकी धर्मश्रद्धा घटने लगी। धर्म पर श्रद्धा के डगमगाते ही बुढ़िया ने धर्मक्रिया करना, साधुसंतों के स्वयं जाना और दूसरों को ले जाना और दर्शन-श्रवण करना छोड़ दिया। बुढ़िया जिस गाँव में रहती थी, वहाँ अकसर साधुसंत पधारते रहते। एक वृद्ध व अनुभवी संत गाँव में पधारे। बहुत-सी बहनें उनके दर्शन व धर्म-श्रवण करने पहुंची। कुछ बहनों ने बुढ़िया से कहा तो मुंह मचकोड़ कर कहा—क्या रखा है ऐसे धर्म में! बहुत कर लिया। इससे तो

नाराजी क्यों ? कोई पूर्व अन्तराय कर्म या अशुभ कर्म भी तो कारण हो सकता है ?

बुढ़िया हाथ जोड़ कर बोली—महाराज ! क्षमा कीजिए। आपने मुझे इतना विश्लेषण करके समझाया, मेरी आँखें खोल दीं। मुझसे भूल हुई। मैंने धर्म का असीम उपकार न माना। मैं कृतघ्नी और पापिनी हूं। मुझे दया करके आपने ठीक रास्ता दिखाया। अब मैं धर्म पर दृढ़ श्रद्धा रख कर यथाशक्ति धर्म की सेवा करूंगी।"

भाग्यशालियो ! यह है कांक्षाभाव से श्रद्धा के दूषित होने का उदाहरण ! वास्तव में दृढ़श्रद्धा के लिए किसी प्रकार की कांक्षा नहीं होनी चाहिए।

श्रद्धा की दुर्लभता में सातवाँ कारण विचिकित्सा है। धर्म या देव-गुरु की सेवा-पूजा के फल में सन्देह लाकर चित्त में अस्थिरता लाना विचिकित्सा है। यह मत सोचो कि हमने इतना धर्मपालन किया या इतनी सेवा-पूजा की उसका फल मिलेगा या नहीं ? अखंड श्रद्धा से ही हर कार्य में—श्रेयःकार्य में—सफलता मिलती है। श्रेयःकार्य में अनेक विघ्नों व बाधाओं को देख कर श्रद्धा को छोड़ बैठना ठीक नहीं। अखंड श्रद्धा डिगते ही कार्य में असफलता मिलती है। इस पर एक शास्त्रीय उदाहरण लीजिए—

दो मित्र थे। वे साथ-साथ खाते-पीते और रहते थे। एक दिन वे जंगल में घूमने गए। वहाँ मोरनी के अंडे पड़े देख कर दो अंडे उठा लिए। दोनों ने अपने-अपने अंडे सुरक्षित स्थान पर रख दिये। एक मुर्गी उन अंडों को बारी-बारी से सेती थी। पर दोनों मित्रों में से एक को तो पक्का भरोसा था कि मोरनी के अंडे में से बच्चा जरूर निकलेगा। लेकिन दूसरा अविश्वासी था। बार-बार उसका चित्त अश्रद्धा के कारण डगमगा उठता कि न जाने अंडे में से बच्चा निकलेगा

कि धर्म के प्रताप से मेरे पोता होगा। मैं धर्मक्रिया निरंतर करती थी, साधुओं की सेवा भी। परन्तु जब वर्षों हो गए बहुत धर्म करने पर भी मेरी आशा फलित न हुई। मैं पोते का मुंह न देख सकी। तब मैंने सोचा—"जो धर्म एक पोता भी नहीं दे सकता, उसे पकड़े रहने से क्या फायदा! इस कारण मेरी धर्म पर से श्रद्धा खत्म हो गई।"

साधुजी ने समवेदना दिखाते हुए कहा—"हाँ, बहिन, सच कहती हो! जो धर्म आशा पूरी न करे वह कैसा?" अपनी बात का समर्थन होते देख कर बुढ़िया तपाक से बोली—"महाराज! मैं झूठ कहती हूं तो बताइए।" साधुजी बोले—"मैं कब कहता हूं तुम झूठ कहती हो। पर एक बात पूछूं माना कि धर्म ने पोता नहीं दिया; लेकिन ऐसी अन्य कई सांसारिक बाधाएँ भी तो होती हैं, जिनके कारण धर्म बेचारा अकेला क्या करता? अकेला धर्म ही पोता दे देता तो घर में बहू के आने से पहले ही तुम मांगती। पर ऐसा नहीं होता; कुछ सांसारिक बाधाएँ हट जाने पर ही धर्म पोता देने में समर्थ हो सकता है।"

बुढ़िया छनक कर बोली—"महाराज! मेरे सिर के बाल पक गए हैं। कोई सांसारिक बाधा ही कारण होती तो मैं क्यों पोता चाहती? आप बताइए, कौन-सी सांसारिक रुकावट है, जिसके कारण पोता नहीं होता?"

महाराज ने व्यावहारिक दृष्टि से बुढ़िया से कहा—"हो सकता है, तुम्हें वह बाधा मालूम न हो। संभव है, तुम्हारे बेटा-बहू में आपस में मेलजोल न हो।"

बुढ़िया—"नहीं महाराज! उनमें तो इतना प्रेम है, जितना सीता और राम में था।"

हैं या अपनाने वाले बहुत कम हैं, इस प्रकार सोच कर श्रद्धा से हट जाता है।

इसके बाद श्रद्धा की दुर्लभता में अस्थिरीकरण भी कारण बनता है। कई बार मनुष्य आडम्बरों के चकाचौंध में आकर या दूसरे देवों धर्मों या गुरुओं के यहाँ अधिक भीड़ देख कर या अपनी ही मानसिक या चारित्रिक कमजोरी के कारण श्रद्धा से डिगने लगता है। अगर उस समय उस श्रद्धा से च्युत होते हुए व्यक्ति को स्थिर नहीं किया जाता, समझा-बूझा कर ठिकाने नहीं लाया जाता तो उसकी श्रद्धा खत्म हो जाती है।

समानधर्मी लोगों का परस्पर वात्सल्यभाव न होने से भी श्रद्धा डिग जाती है। जब मनुष्य एक धर्म, एक गुरु और एक देव वाले लोगों में आपस में सिरफुटौवल, फूट, कलह, मनमुटाव और स्नेह की कमी देखता है तो उसकी श्रद्धा डगमगा जाती है।

इसी प्रकार श्रद्धा को बढ़ाने के लिए जब प्रभावना या प्रबल-भावना बनाने के निमित्त नहीं मिलते तब भी श्रद्धा डगमगा जाती है। मनुष्य देखता है कि फलां स्थान पर जाने वाले लोगों को तो बढ़िया चीजें उपहार में दी जाती हैं, यहाँ तो कुछ नहीं, रूखा-सा व्यवहार है। तो कच्चा साधक तुरंत अश्रद्धालु बन जाता है। इसी प्रकार जब देव, गुरु और धर्म (माने हुए) में कोई दोष या कमी नजर आती है तो प्रभावना घट जाती है, इसी के साथ श्रद्धा भी खत्म हो जाती है। इसलिए प्रभावना भी श्रद्धावृद्धि का एक कारण है।

श्रद्धा का महत्त्व

अब यह सोचना है कि श्रद्धा का महत्त्व इतना क्यों है, जिसके कारण उसे पकड़ने के लिए पुरुषार्थ किया जाय! सच पूछा जाय तो

साधु—"सच कहती हो बहन ! धर्म का ही दोष है। इसलिए अब धर्म से जाकर अर्ज करनी पड़ेगी कि बहुत-से लोग पुत्र की आशा में घुल-घुल कर मर जाते हैं, फिर भी बेटे का मुंह नहीं देख पाते। मगर तुमने बुढ़िया को बेटा देकर चिन्तित और दुःखी कर दिया। बेटा नहीं देते तो बुढ़िया धर्मश्रद्धा तो नहीं छोड़ती।

वृद्धा तपाक से बोली—"महाराज, यह क्या कह रहे हैं ! बेटा मिला तो धर्म के प्रताप से ही है !"

साधु—"कई विवाह के लिए भटकते-फिरते हैं, पर तुम्हारे बेटे का विवाह होगया, यह भी धर्म ने बुरा किया ?"

बुढ़िया—"यह क्या फरमाते हैं ! पुत्र का विवाह भी तो धर्म के प्रताप से हुआ।"

साधु—"कई लड़के बीमार रहते हैं, पर तुमने बुढ़िया के लड़के एवं बहू को स्वस्थ एवं सुखी रख कर बुढ़िया के गले में पोते की चिन्ता डाल दी ! यह भी धर्म से अर्ज करना होगा।"

बुढ़िया—हजूर ! यह भी धर्म का प्रताप है !

साधु—तो फिर धर्म से मुझे यह अपील करनी चाहिए कि बेटा-बहू अविनीत मिलते, मातापिता से झगड़ने वाले मिलते तो बुढ़िया को पोते की चिन्ता तो न सताती।

बुढ़िया—"जिसने खोटे कर्म किए हों, उसी को ऐसे बेटा-बहू मिलते हैं। महाराज ! मैंने तो आप लोगों की कृपा से धर्म किया है, उसी का यह प्रताप है।

साधु—"तुम इतनी सब बातें धर्म के प्रताप से हुई, मानती हो। फिर जो धर्म [illegible] र इतनी

तल्लीन हो जाया करता। कहते हैं, उनके जीते-जी वह क, ख, ग सीखता था, मगर उपदेश बिलकुल ही नहीं दे सकता था। लेकिन रामकृष्ण परमहंस के दिवंगत हो जाने के बाद वह उपनिषदों पर गूढ़ व्याख्याएँ करने लगा, सुन्दर ज्ञानपूर्ण उपदेश करने लगा। उनके अनुयायी लोग आश्चर्यचकित हो गए।

इसीलिए कहा है—'श्रद्धा फलति सर्वत्र' अर्थात् श्रद्धा सर्वत्र फलित होती है। वह देव पर हो, सद्गुरु पर हो या धर्म पर अपना रंग दिखाए बिना नहीं रहेगी। धर्म की जड़ों को सींचने वाली श्रद्धा ही है।

यही कारण है कि श्रद्धा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और आवश्यक वस्तु है, साधक के जीवन में। परन्तु पूर्वोक्त कारणों से उस पर आवरण आ जाने के कारण वह दुर्लभ ही नहीं, दुर्लभतर हो जाती है।

अतः इस परम दुर्लभ श्रद्धा को प्राप्त करने और सुरक्षित रखने का प्रयत्न कीजिए। बाधक कारणों से दूर रहिए, आपका जीवन सार्थक होते देर न लगेगी।

स्थान—गौड़ीजी का उपाश्रय पायधुनी, बम्बई	}	वि० संवत् २००६ कार्तिक वदी १४

या नहीं ? वह अपने अंडे को बारबार हिलाकर देखता, ऊँचानीचा करता। फलस्वरूप अंडे में जो रस था, वह जम न सका और पतला पड़ गया। एक दिन उसने ज्यों ही देखने के लिए अंडा उठाया कि वह फूट गया। अंडे में से बच्चे के बजाय केवल पतला रस निकला। किन्तु दूसरे मित्र ने विश्वास रखा था। समय आने पर इस अंडे में से जरूर बच्चा निकलेगा। हुआ भी ऐसा ही। एक दिन समय आने पर मुर्गी ने अंडा फोड़ा तो उसमें से मयूर का बच्चा निकला। अविश्वासी मित्र को अपनी चंचलता, फल की उतावली और अनिश्चितता के कारण दुःखी होना पड़ा, उसका विश्वासी मित्र अटल श्रद्धा के कारण सुखी हुआ।

अतः विचिकित्सा भी श्रद्धा की दृढ़ता में बाधक कारण है। इसीलिए श्रद्धा दुर्लभ है।

इसी प्रकार श्रद्धा की दुर्लभता में मूढ़दृष्टि, अनुपबृंहण, अस्थिरीकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना भी कारण है। जब तक मनुष्य की दृष्टि स्पष्ट, सर्वांगी, सर्वक्षेत्रस्पर्शी नहीं होती, तब तक एक पहलू से ही वस्तु को देखता है। कई बार पूर्वग्रहवश पकड़ी हुई बात को छोड़ता नहीं। इसलिए मूढ़दृष्टि भी श्रद्धा में बाधक है।

फिर यह भी कारण है, कि मनुष्य अपनी हर प्रवृत्ति के साथ बढ़ावा या प्रोत्साहन चाहता है। जब उसे देव, गुरु, धर्म पर की हुई दृढ़ श्रद्धा पर प्रोत्साहन या बढ़ावा नहीं मिलता, उसकी प्रशंसा या प्रतिष्ठा नहीं होती अथवा वह जिन पर श्रद्धा रखता है, उसकी प्रशंसा, गौरव, सम्मानवृद्धि नहीं देखता तो उसकी श्रद्धा शिथिल होने लगती है। वह सोचने लगता है, मैं जिन देवाधिदेवों, महापुरुषों गुरुओं या धर्म पर श्रद्धा रखता हूं, उन्हें तो लोग हीनदृष्टि से देखते

इन तीनों में धर्मश्रवण करने वाले सबसे ज्यादा मिलेंगे, उससे कम दृढ़श्रद्धा वाले मिलेंगे तथा उससे कम मिलेंगे धर्माचरण करने वाले। कहा भी है—

"परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम्।
धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्तु महात्मनः॥"

"दूसरों को उपदेश देने में पाण्डित्य दिखाना सबके लिए सुलभ है। लेकिन धर्म में अपनी सर्वस्व शक्ति लगा देने वाले विरले ही महान् आत्मा होते हैं।"

गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपनी अनुभव से मंजी हुई शैली में कहा—

"पर-उपदेश कुशल बहुतेरे।
जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥"

मतलब यह है कि धर्मश्रवण करने वाले या धर्मोपदेश करने वाले तो बहुत मिल जायेंगे, लेकिन आचरण करने वाले बहुत ही थोड़े मिलेंगे।

ईसामसीह से किसी ने यह सवाल पूछा कि उपदेश पर अमल करने वाले थोड़े ही क्यों होते हैं? तो उन्होंने इसका उत्तर देते हुए कहा—"खेत में बोए हुए सभी बीज एक-सरीखे नहीं ऊगते। कुछ तो रास्ते में गिर जाते हैं, जिन्हें पक्षी चुग जाते हैं; कुछ पथरीली धरती पर गिरते हैं, जिनके अंकुर जल्दी ही सूख जाते हैं, कुछ कांटों पर गिरते हैं, जिन्हें काँटे दबा लेते हैं; कुछ बीज बंजर जमीन पर पड़ते हैं, जो ऊगते नहीं और थोड़े-से बीज अच्छी धरती पर गिरते हैं, जो पैदा होकर बड़े होते हैं और उनके एक-एक दाने से ३०×६०=१८०० दाने फलते हैं।" ठीक यही हालत आदमियों के धर्मश्रवण की है।

दुनिया के वड़े-से-वड़े काम श्रद्धा से हुए हैं, होते हैं। विना श्रद्धा के किया गया काम या दिया गया दान, पाला गया चारित्र अथवा किया गया पुरुषार्थ सफलीभूत नहीं होता। श्रद्धा से तो विष भी अमृत वन जाता है। भक्त मीरांवाई ने राणा के द्वारा भेजा गया जहर का प्याला गटागट पी लिया और उसका विलकुल असर न हुआ। इसके पीछे श्रद्धा का ही तत्त्व था। ईसामसीह हंसते-हंसते क्रूस पर लटक गये और शान्तिपूर्वक वेदना सहन करते रहे, इसके पीछे गाढ़ श्रद्धा की ही शक्ति थी! महात्मा सुकरात ने हंसते-हंसते जहर का प्याला स्वयं निर्दोष होते हुए भी पीया; उसके पीछे दृढ़श्रद्धा का ही वल था। जव मनुष्य में उत्कट श्रद्धा आ जाती है तो पत्थर को भी श्रद्धावल के आधार पर फोड़ सकता है। इसीलिए भगवद्गीता में कहा है—

'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः, यो यच्छ्रद्धः स एव सः'

यह आत्मा श्रद्धामय है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही वन जाता है। भक्त नचिकेता में श्रद्धा का ही परमवल था, जिसके आधार पर वह यमराज के पास वेखटके पहुंच गया, तीन दिन तक भूखाप्यासा रहा, और आखिर मृत्यु और अमरता का रहस्य अनेक प्रलोभनों व भयों को ठुकरा कर पा सका! सच ही कहा है—

"श्रद्धया सत्यमाप्यते"

श्रद्धा रखने से ही सत्य की प्राप्ति होती है।

श्रद्धा उत्कट हो तो ज्ञान भी फलवान होता है। एक ठोस उदाहरण लीजिए—

रामकृष्ण परमहंस का एक शिष्य था, जो निरक्षर था। लेकिन परमहंस पर उसे अपार श्रद्धा थी। श्रद्धावश वह उनकी सेवा में

लिया तो भी काम नहीं चलता। फिर धर्म के आचरण के साथ जो सावधानियाँ, अन्तर और वाह्यरूप से अतिचारों से बचने की विधियाँ बताई हैं, उनसे बचा न गया तब तक संयम या धर्म का परिपालन ठीक रूप में नहीं होता और न तब तक भवभ्रमण का रोग मिटता है।

यही कारण है कि श्रद्धा होने के बाद भी संयम में पराक्रम-पुरुषार्थ करना, उसे अमली रूप देना बड़ा ही कठिन होता है।

संयम से पुरुषार्थ की दुर्लभता के कारण

अब देखना यह है कि संयम में पुरुषार्थ के दुर्लभ होने के कौन-कौन-से कारण हैं ? जिन कारणों को लेकर मनुष्य संयम में पुरुषार्थ नहीं कर पाता; उनमें से मुख्य कारण ये प्रतीत होते हैं—(१) भोग का बोलबाला, (२) धन की अधिकता, (३) सत्ता की प्राप्ति, (४) इन्द्रिय-विषयों की रमणीयता, (५) कषायों और वासनाओं में शीघ्र प्रवृत्ति, (६) पुनर्जन्म, परलोक आदि पर अविश्वास, (७) सुसंस्कारों का अभाव, (८) सतत, दीर्घकाल तक टिके रहने में अधीरता।

आज संसार के सभी राष्ट्रों में अधिकांश लोगों का रुख सांसारिक पदार्थों के अधिकाधिक उपभोग की ओर है। जहाँ देखो वहीं भोग-विलास के आकर्षक साधन बढ़ रहे हैं। ऐसी दशा में अपने मन और इन्द्रियों पर संयम रखना कितना कठिन है ! यही कारण है कि प्रत्येक इन्द्रिय की तृप्ति के लिए विलासिता के साधन दिनोंदिन बढ़ते जा रहे हैं। आँखों की तृप्ति के लिए अश्लील और विकारवर्द्धक सिनेमा और नाटकों के दृश्य, नग्न नृत्य, सुन्दरियों के अर्धनग्न चित्र, कामोत्तेजक वातावरण का दर्शन असंयम को ही बढ़ावा देता है। कानों की तृप्ति के लिए सुरीले मादक गीत, रेडियो, ग्रामोफोन एवं सिनेमा घरों के

२२

संयम में पुरुषार्थ—१

आज मुझे विश्ववन्द्य भगवान् महावीर के द्वारा बताई गई चौथी दुर्लभ वस्तु पर कुछ कहना है। वह दुर्लभ वस्तु है—संयम में पुरुषार्थ ! उन्होंने अपने अनुभवरस से परिपूर्ण वाणी में कहा—

"सुइं च लद्धु ं सद्धं च वीरियं पुण दुल्लहं।
बहवे रोयमाणावि नो य णं पडिवज्जिए ॥"

उत्तराध्ययन० अ० ३ गा० १०

"कदाचित् धर्मश्रवण प्राप्त करके व्यक्ति श्रद्धा भी कर ले; लेकिन संयम में शक्ति लगाना तो बड़ा दुर्लभ है। क्योंकि बहुत-से व्यक्ति किसी श्रेयस्कर वस्तु पर रुचि कर लेते हैं, लेकिन उसे जीवन में उतारना स्वीकार नहीं करते।"

संयम में पराक्रम दुर्लभ क्यों ?

प्रश्न होता है, जब व्यक्ति किसी चीज को सुन कर, जान कर, महत्त्व समझ कर उस पर श्रद्धा कर लेता है, तब भी उसका आचरण उसके लिए दुर्लभ क्यों हो जाता है ? श्रद्धा और आचरण के बीच खाई क्यों पड़ जाती है ? जहाँ तक हमारा व्यावहारिक अनुभव है,

हे भगवन् ! धनप्राप्ति के साथ मेरी धर्मबुद्धि बनी रहे।

परन्तु आजकल प्रायः यही देखा जाता है, जो व्यक्ति, परिवार, समाज या राष्ट्र अधिक धनिक हो जाता है, वह प्रायः विलासी, ऐयाशी और शराबी-मांसाहारी बनते देर नहीं लगाता। इसीलिए नीतिकार कहते हैं—

"यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ॥"

अर्थात्—जवानी, धन की प्राप्ति, प्रभुता और अविवेक इन चारों में से हर एक अनर्थ करने वाली चीज है। यदि ये चारों इकट्ठी मिल जाँय फिर तो कहना ही क्या ?

खासतौर से जवानी में संयम तभी रह सकता है, जब तक धन प्रचुर मात्रा में न मिले। धन और सत्ता का जोड़ा है। प्रायः सत्ता भी धन वाले के हाथ में आती है और इन तीनों के साथ प्रायः अविवेक जुड़ ही जाता है तो सारे जीवन को असंयम में ले जाकर बर्बाद कर देता है। इसी कारण धन की अधिक मात्रा प्रायः मनुष्य को संयम के पास फटकने नहीं देती।

संयम में पुरुषार्थ का इसी से मिलाजुला तीसरा कारण सत्ता की प्राप्ति है। मनुष्य जब सत्ता पा जाता है; तो प्रायः वह अपने मन, इन्द्रियों, वासना, क्रोध-अभिमान आदि कषायों पर संयम नहीं रख पाता। वह या तो उच्छृंखल हो कर दुराचार के मार्ग में प्रवृत्त हो जाता है या फिर वह सत्ता के मद में आ कर दूसरों पर अत्याचार व अन्याय करने लगता है, वह अपने हाथों-पैरों, मन व इन्द्रियों पर संयम नहीं रख पाता। वह यही सोचने लगता है, मैं जो कुछ करता हूं, वह बिलकुल उचित है। कहा भी है—

कुछ धर्मोपदेश सुन कर भी लोभ में फंसे रहते हैं; कुछ उपदेश सुन लेते हैं, लेकिन उस पर अमल करने के कष्ट से या अपमान से घबरा जाते हैं। कुछ ज्ञान की बात सुनते हैं, लेकिन उन्हें मोह के कांटे दवा लेते हैं, कुछ जड़ता के प्रतिनिधि श्रोता होते हैं, जिनके जीवन की ऊपरभूमि पर जरा भी उपदेश का असर नहीं होता और थोड़े-से लोग ऐसे होते हैं, जो सुन कर श्रद्धापूर्वक ग्रहण करते हैं और उस पर अमल करके सफल होते हैं।"

ईसामसीह के इस उत्तर से आप समझ गए होंगे कि सुनने, सोचने-समझने और करने में कितना अन्तर है।

जैनधर्म की दृष्टि से कहूं तो श्रद्धा, प्रतीति और रुचि के बाद ही स्पर्शना, पालना और अनुपालना होती है। जैसे किसी नामी वैद्य का नाम सुन कर कोई रोगी श्रद्धापूर्वक उससे दवा ले लेता है, लेकिन उसे जब तक यह खातरी नहीं होती कि "इस वैद्य से इसी रोग के अनेक रोगियों ने दवा ली और वे स्वस्थ हो गए," तब तक वह दवा कारगर नहीं होती। प्रतीति हो जाने पर भी दवा कड़वी होने के कारण उसे लेने की रुचि जब तक नहीं होती, तब तक वह दवा ली भी नहीं जाती और रोग भी मिटता नहीं। मान लो, दवा पर रुचि हो गई, लेकिन वैद्य ने दवा की शीशी हिला कर सेवन करने का कहा था, मगर रोगी ने शीशी के नीचे जमे हुए दवा के असली तत्त्व को कचरा समझ कर शीशी हिलाई नहीं, ऊपर-ऊपर का पानी पी गया, नीचे की असली दवा का सेवन नहीं किया तो भी उसका रोग नहीं मिटेगा। मान लो, दवा भी सेवन कर ली, लेकिन पथ्यपालन नहीं किया, या परपथ्य का पालन नहीं किया तब भी रोग मिटेगा नहीं। इसी तरह देव, गुरु, धर्म या धर्मवचन पर श्रद्धा प्रतीति और रुचि तो हो गई, लेकिन उनके मर्म को न समझ कर असली तत्त्वों का पालन न किया; निःसार क्रियाकाण्डों को ही अपना कर धर्मपालन का संतोष मान

को देखते ही प्रवल कामेच्छावश उसे स्पर्श करने के लिए वहाँ आता है और वेचारा स्पर्शेन्द्रिय के वश हो कर खड्डे में गिर जाता है और पकड़ लिया जाता है। कमल की मधुर सुगन्ध में मस्त वना हुआ भौंरा सोचता है कि रात वीत जायगी, सवेरा होते ही उड़ जाऊँगा। इस प्रकार कमल के कोश में वह वन्द हो जाता है। यद्यपि वह सख्त लकड़ी को भी काट सकता है; लेकिन सुगन्ध के मोह में फंस कर असंयमी वना हुआ भ्रमर कमल के कोश में फंसा रहता है। उसके मनसूवे धरे रह जाते हैं। सुवह होते ही एक हाथी आता है और अपने पैरों से उस कमल को उखाड़ कर भौंरें सहित रौंद डालता है! मछली पकड़ने वाले लोग कांटे के साथ आटे की गोली लगा देते हैं। आटे की गोली देख कर मछली उसे खाने के लोभ से खिंच कर वहाँ आती हैं और कांटे में फंस जाती है। वस, फिर तो पकड़ ही ली जाती हैं और इस तरह जीभ के वश हो कर वह अपने प्राण गंवा देती है। पतंगा रोशनी के रूप में मोहित हो कर उसमें अपने प्राण होम देता है। वह रूप-मोहान्ध पतंगा यह नहीं सोचता कि इसमें पड़ कर मैं जल जाऊँगा। पर चक्षुरिन्द्रिय के विषय में आसक्त हो कर ही वह ऐसा करता है। एक एक इन्द्रिय में आसक्त होने से प्राणी की जव इतनी करुण दशा हो जाती है तो पांचों इन्द्रियों और मन के द्वारा जो रातदिन विषयों में फंसा रहता है, उसकी कितनी दयनीय और अधम दशा हो जाती है!

मि० पिटरसन नामक एक विद्वान् लिखता है, मुझे कुछ महीनों पहले एक ४० साल का आदमी मिला, जो चेहरे से ६० साल का लगता था; क्योंकि पांचों इन्द्रियों के विषयों का रस चूस-चूस कर अव वह वेचैन हो गया था। अव दुनिया में कोई भी चीज ऐसी न नहीं, जिसमें उसे सरसता प्रतीत होती हो। दुनिया की सभी वस्तुओं का स्वाद उसने लिया, परन्तु वदले में कुछ त्याग या संयम नहीं

अश्लील गाने सारे वातावरण को विलासमय एवं असंयमी बना देते हैं। नाक की तृप्ति के लिए मोहक सुगन्धित पदार्थ वातावरण को मादक बनाने के लिए काफी हैं। जीभ को संतुष्ट करने के लिए एक से एक बढ़ कर स्वादिष्ट; चटपटी, मीठी और मसालेदार वस्तुएँ सामने हों तो जीभ पर संयम कैसे रखा जा सकता है ? और स्पर्शेन्द्रिय की तृप्ति के लिए कोमल गुदगुदाने वाली शय्या, चमकीले-भड़कीले मुलायम वस्त्र, स्नो, पाउडर, लवेंडर एवं त्वचा को कोमल, सुन्दर व लचीली बनाने के लिए अनेक प्रसाधन की सामग्री आदि धड़ल्ले के साथ बढ़ती जा रही है। मन को कामोत्तेजना से भर देने के लिए अश्लील साहित्य तथा दृश्य आदि का प्रचुरमात्रा में स्वागत किया जा रहा है ऐसी दशा में जहाँ भोगविलास की ही बोलबाला हो वहाँ त्याग और संयम की ओर झुकना कितना कठिन है, यह हम अंदाजा लगा सकते हैं। यही कारण है कि संयम में पुरुषार्थ की दुर्लभता का प्रथम कारण संसार में भोगविलास के साधनों का प्रचुरमात्रा में बढ़ना है।

संयम में पुरुषार्थ की दुर्लभता का दूसरा कारण है—धन की अधिकता। जहाँ धन अधिक होने लगता है, वहाँ विलासिता और रागरंग ही सूझता है। संयम के तंग ढीले पड़ने लगते हैं। धन का नशा ही ऐसा है कि मनुष्य उसके नशे में पागल हो कर अपने हिताहित, संयम-असयम, हानिलाभ के बारे में नहीं सोच पाता। संयम की बात उसे चुभती है। वह चाहता है कि कोई भी मुझे अपने मन और इन्द्रियों पर अंकुश रखने की बात न कहे। वास्तव में धन के साथ यदि विवेकबुद्धि न हो तो वह अर्थ अनर्थकर बन जाता है। इसीलिए धर्मराज युधिष्ठिर भगवान् से यही प्रार्थना करते थे—

"धने मे धर्मबुद्धिः स्यात्।"

स्वीकार कर सकता है ? ऐसे असंयम के वातावरण में भी संयम के पुनीत मार्ग पर विरले ही टिके रह सकते हैं।

एक संत का उपदेश सुन कर एक सुनार ने तीन बातों से बचने की प्रतिज्ञा ले ली—(१) झूठ न बोलना (२) चोरी न करना (३) परस्त्री को न ताकना। यानी जीभ, हाथ और आँख तीनों पर संयम रखने का नियम लिया। सुनार अपनी दूकान खोलता तब रोजाना इन तीन प्रतिज्ञाओं का विचार करता और प्रतिज्ञाओं पर डटे रहने का निश्चय करता। किन्तु उसके सामने एक कठिनाई आई। दूसरे सुनार घड़ाई कम कीमत पर कर देते मगर सोना-चांदी में से कुछ हिस्सा चुरा कर उसकी पूर्ति कर लेते। पूर्ति क्या कर लेते, घड़ाई से भी ज्यादा वसूल कर लेते। पर यह प्रतिज्ञाबद्ध सुनार चोरी नहीं कर सकता था। अतः उसे घड़ाई की कीमत अधिक करनी पड़ी, जिससे उसके पास गहने घड़वाने के लिए कोई नहीं आता था। पर सुनार ने कठिनाइयों का सामना करते हुए भी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहने की ठान ली। उसने अपने लड़के को भी समझा-बूझा कर ये तीनों प्रतिज्ञाएँ दिला दीं। लड़के की मां पहले मर ही चुकी थी, पिता का भी अब देहान्त हो गया। लड़का अनाथ व निर्धन हो गया, लेकिन संयमरूपी धन उसके पास था, वह अपनी प्रतिज्ञाओं पर दृढ़ था। स्वर्णकार का धंधा नहीं चला तो उसने बर्तन बेचने का धंधा शुरू किया। १७-१८ वर्ष का वह संयमप्रिय लड़का बुरी तरह से गरीबी का शिकार होने से पुराने-फटे कपड़े पहन कर और रूखीसूखी रोटी खा कर गुजारा करने लगा। उसकी हालत देख कर दूसरे सुनार कहने लगे—"भाई ! धर्म भले ही करो, मगर दूकानदारी तो हमारे पुराने तरीके के बिना चलेगी नहीं।" लेकिन लड़का पक्का था। असंयम की ओर खींचने के लिए अनेक लोगों ने उसे फुसलाया-बहकाया, मगर उसने साफ

'प्रभुता पाय काह मद नांही।'

यानी सत्ता और प्रभुत्व पाकर जिसमें घमंड नहीं होता, वह मनुष्य नहीं देवता है। लोग उसे देवता की तरह पूजते हैं। परन्तु संसार में ऐसे व्यक्ति बहुत ही विरले होते हैं। इसी कारण से तो सत्ता की प्राप्ति होने पर संयम के मार्ग पर होश रखना बहुत ही दुर्लभ है।

इन्द्रिय-विषयों की रमणीयता भी संयम में पराक्रम करने में दुर्लभता का चौथा कारण है। पांचों इन्द्रियों के विषय जब अपना लुभावना रूप बना कर मनुष्य के सामने आते हैं तो उनका मोहक-रूप देख कर मनुष्य उनमें आसक्त हो जाता है, विषयों में बुरी तरह फंस जाता है। उन पर संयम रखना उसके लिए बड़ा ही कठिन हो जाता है। कहा भी है—

"कुरंग-मातंग-पतंग-भृंग-मीनाः हताः पञ्चभिरेव पञ्च।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते, यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च॥"

"मृग श्रवण के विषयसुख से, हाथी स्पर्शेन्द्रिय के विषयसुख से, पतंगा नेत्र के विषयसुख से, भौंरा नाक के विषयसुख से और मछली जीभ के विषयसुख से विनाश के मुख में जाती है, तो जो मानव इन पांचों ही इन्द्रियों का एक साथ असंयमपूर्वक सेवन करता है, वह बेचारा क्यों नहीं बेमौत मरेगा?"

जब संगीत की मधुर स्वरलहरी हिरण के कानों में पड़ती है तो वह बेचैन हो जाता है। झुंड के झुंड हिरण दौड़ कर आ जाते हैं। उन्हें भान ही नहीं रहता कि कोई हमें मार डालेगा तो! हाथी को पकड़ने के लिए इस काम में निष्णात व्यक्ति कागज की नकली हथनी बनाते हैं और एक गहरा खड्डा खोद कर उसमें थोड़ी-सी घास को बिछा कर उस पर नकली हथनी को खड़ा कर देते हैं। हाथी हथनी

नहीं बनवाने हैं।" दीवान ने ईमानदार सुनार को लाने का बीड़ा उठाया। बहुत जांच-पड़ताल के बाद वही स्वर्णकारपुत्र संवेगचन्द्र दीवान को प्रामाणिक जँचा। दीवान ने उसे ले कर राजा के सामने हाजिर किया। राजा ने पूछा—"लड़के! ईमानदारी से काम करेगा?" लड़के ने कहा—"हजूर! मेरे पिता ने एक महात्मा से चोरी, जारी और झूठ के त्याग की प्रतिज्ञा ली थी, मुझे मेरे पिता ने ये ही तीन प्रतिज्ञाएँ दिलाई हैं, मैं उनका भलीभांति पालन करता आ रहा हूं। आपकी इच्छा हो तो मुझे सेवा करने का मौका दीजिए, मैं आपका काम ईमानदारी से करूंगा।" राजा उसकी बात सुन कर बहुत खुश हुआ और उस लड़के को आभूषण घड़वाने का काम देना शुरू किया। मिहनताना भी दुगुना देने लगा। इस तरह प्रामाणिकता से काम करने से उस लड़के की आर्थिक स्थिति ठीक होती चली गई।

दूसरे सुनारों ने उस राजसुनार को मालदार हुए देख कर उसे अपनी कन्या देने का सोचा। आखिर लड़के की सगाई हो गई। शादी का समय आया तो राजा ने उसके विवाहखर्च के लिए उसे पांच हजार रुपये और आवश्यक चीजें देने के लिए अपने खजानची को आदेश दिया। धूमधाम से लड़के की शादी हो गई। धीरे-धीरे वह बड़े परिवार वाला और धनाढ्य बन गया।

भाग्यशालियो! उस सुनार को डिगाने के कितने अवसर आए, कितने लोगों ने उसे विचलित करने का प्रयत्न किया, लेकिन उसने अपनी कृतप्रतिज्ञाओं को ठुकरा कर असंयम के मार्ग पर चलना स्वीकार न किया। सामान्यतौर पर आदमी कषायों और लालसाओं के चक्कर में पड़ कर संयम का मार्ग छोड़ बैठता है। इसीलिए तो संयम के मार्ग पर डटे रहना दुर्लभ है।

किया। वह विद्वान् था, व्यापारी भी। उसने अनेक देशों में भ्रमण भी किया था। वह अनेक घाटों का पानी पी चुका था। परन्तु ४० वर्ष की उम्र में ही उसे अपना जीवन नीरस मालूम होने लगा। उसकी जिंदगी कड़वी, रुखी और विषम बन गई थी। कुदरत ने उसे अच्छा शरीर दिया था, लेकिन उसने लापरवाही से सारा शरीर निचोड़ दिया। ४० साल तक पहुंचते-पहुंचते तो उसके सिर के सारे बाल सफेद हो गए; गालों में खड्डे पड़ गए, चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गई, बुढ़ापे के सभी चिह्न नजर आने लगे। उसका मन इन्हीं स्वार्थी और असंयमी विचारों में घूमता रहता था कि कौन-सी वस्तु खानी है? कौन-सा मादक पेय पीना है? क्लब में कौन-सा खेल खेलना है? कितने घंटे सोना है? किस स्त्री के साथ नाचना, गाना और मौज उड़ाना है? कितनी अधम और दयनीय दशा थी उस मनुष्य की? लेकिन यह सब पांचों इन्द्रियों और मन के असंयम के कारण ही तो हुई थी।

यही कारण है कि पांचों इन्द्रियविषयों की चकाचौंध में फंस कर मनुष्य के लिए संयम के मार्ग में पुरुषार्थ करना दुर्लभ हो जाता है।

संयम में पुरुषार्थ के दुर्लभ होने का पांचवां कारण कषायों और वासनाओं में शीघ्र प्रवृत्त हो जाना भी है। प्राणियों का ऐसा स्वभाव बन जाता है या बन गया है कि वे कषायों और वासनाओं में तुरंत प्रवृत्त हो जाते हैं। एक तो बचपन से ही घर और समाज का वातावरण ही प्रायः असंयम का मिलता है। फिर मनुष्य के सामने रात-दिन कषायों और वासनाओं की भट्टी में धधकने वाले व्यक्तियों की ही घटनाएँ घटित होती हों, वहां जिंदगी के प्रारम्भ से आज तक असंयम से अभ्यस्त व्यक्ति एकाएक संयम के कठोर व कष्टप्रद मार्ग को कैसे

इस भव को बिगाड़ा तो परभव भी बिगड़ जायगा, इस बात को न समझ कर इन्द्रियविषयों की आसक्ति में फंस कर अपनी इहलीला समाप्त कर देता है, लेकिन असंयम को छोड़ कर परलोक में उत्तम गति प्राप्त करने के लिए संयम में पुरुषार्थ करने का कहने वाले महापुरुषों की बात नहीं सुनता। और यही सोचता है—

"हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो॥"

—उत्तराध्ययनसूत्र अ. ५ गा. ६

अर्थात्—"ये कामभोग तो हाथ में ही आए हुए हैं। भविष्यकाल में प्राप्त होने वाले सुख अनिश्चित हैं। वर्तमान के सुख को भविष्य के काल्पनिक सुख के भरोसे क्यों छोड़ा जाय? न जाने परलोक है या नहीं?"

यही कारण है कि बड़े-से बड़े साधक भी वर्तमान वैषयिक सुख के चक्कर में पड़ कर संयम से हट जाते हैं और असंयम के लुभावने मार्ग पर चल पड़ते हैं।

ज्ञाताधर्मकथासूत्र में दो भाइयों का जिक्र आता है। वे दोनों राजकुमार थे। उन दोनों भाइयों में से कुंडरीक ने राजपाट व सांसारिक सुखों को छोड़ कर मुनिदीक्षा अंगीकार कर ली। पुंडरीक राजगद्दी पर बैठा। एक ने त्याग-(संयम) मार्ग स्वीकार किया, दूसरे भोगमार्ग में फंसे रहे।

कुछ अर्से बाद कुंडरीकमुनि विहार करते हुए पुंडरीक राजा की राजधानी में आए। वहाँ राजा की भावभक्ति-वश लम्बे समय तक टिके रहे। इससे वैषयिक गुणों व भोगों की ओर उनका खिंचाव हो गया। फलस्वरूप अपने भाई से उन्होंने राज्य की मांग की। पुंड-

जवाब दे दिया—"भूख और गरीबी का कष्ट सहना मंजूर है, लेकिन चोरी, जारी और झूठ कभी नहीं करूंगा। मनुष्यजन्म बारबार थोड़े ही मिलता है।"

उस नगर के राजा नरवाहन ने रात को शय्या पर लेटे-लेटे सोचा—"मुझे सारा परिवार अच्छा मिला है। फौज-पलटन भी अच्छी है, लेकिन खजाने में धन कितना है? यह देख लेना चाहिए।

प्रातःकाल होते ही राजा खजाना देखने गया। सारा दिन बीत गया, लेकिन खजाना पूरा न देख सका। दो तीन दिन में जाकर राजा ने पूरा खजाना देखा। राजा ने सोचा—"मेरे खजाने में तो बहुत धन है, फिर मैं प्रजा पर कोई नया कर क्यों लगाऊँ? अब तो जीवन सार्थक करने का यही उपाय है कि मैं रोजाना अपने हाथों से दान करूं।"

दूसरे ही दिन से राजा गरीबों को दान देने लगा। भूखों को अच्छा खाना देता, फटेहाल लोगों को अच्छे कपड़े देता। वह प्रतिदिन जो नये वस्त्र पहनता, और बहुमूल्य गहने पहनता उन्हें दान में दे दिया करता। जिस सुनार से राजा आभूषण बनवाता था, वह राजा के द्वारा जड़ने के लिए दिये गए असली मोती और हीरेपन्ने आदि अपने पास रख लेता और उनके बदले नकली मोती, हीरेपन्ने आदि जड़ देता। बहुत दिन यों करते-करते हो गए। आखिर एक दिन पाप का घड़ा फूट गया। सुनार के घर की तलाशी ली गई, माल बरामद हुआ और राजा ने उसे देशनिकाला दे दिया।

राजा ने नगर में अनेक सुनारों की खोज करवाई; पर कोई ईमानदार सुनार न मिला। राजा ने दीवान से कहा—"क्या नगर में कोई ईमानदार सुनार नहीं है? यदि न मिले तो मुझे किसी से आभूषण

भनों के आने पर भी सुसंस्कारप्रेरित व्यक्ति कभी असंयम के रास्ते पर नहीं जाता। परन्तु सुसंस्कार भी विरले लोगों को ही मिलते हैं।

वामनस्थली (सौराष्ट्र) के राजकुमार 'रा'दयास, अभी १६ वर्ष के युवक थे। एक दिन प्रातःकाल वे वामनस्थली के बाहर उवेन नदी के किनारे वायुसेवन करने गये थे। वामनस्थली की हरियाली से पूर्ण सीमाभूमि में घूम कर जब वे अपना घोड़ा मोड़ कर वापिस लौट रहे थे तो नगर के मुख्य दरवाजे पर मोतियों से गूंथी हुई छूमरी (ऐंठानी) पर चांदी का घड़ा सिर पर रखे पानी भरने जाती हुई नगर-सेठ की युवती पुत्रवधू मिली। राजकुमार की दृष्टि उस पर पड़ी और वे उस वणिक् युवती के मदमाते यौवन और पायल की झंकार से मोहित हो गए। सहसा उसकी रसीली आँखों के सामने अपनी आँखें कीं। परन्तु दूसरे ही क्षण राजकुमार रा' दयास को भान हुआ कि 'अरे ! यह मैं क्या कर रहा हूं ! मेरे जीवन में कभी नहीं, और आज यह आसुरी वृत्ति क्यों पैदा हुई ? अगर इस समय कील मिलें तो मैं अपनी इन आँखों में भोंक लूं !" यह सोच कर दूसरे ही क्षण उन्होंने अपनी आँखें दूसरी ओर मोड़ लीं और घोड़े को सरपट दौड़ाते हुए वे दरबारगढ़ में पहुंचे। घोड़े से उतर कर वे सीधे ही तेज कदमों से रनवास में आए। अपनी माता के चरणों में सिर रख कर वे सिसक-सिसक कर रोने लगे। युवराज को रोते देख राजमाता को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने कारण पूछा तो राजकुमार ने कहा—"माता जी ! आज इन आँखों ने ऐसा पाप किया है, जो आपके इस पुत्र के लिए पहला ही है। इस पाप के बदले आप अपने हाथों से इन आँखों में नमक आंज दे !" माता ने दुःखपूर्वक पुत्र के सामने देख कर पूछा—"बेटा ! ऐसा कौन-सा पाप किया है, जिसके कारण मुझे तेरी

संयम में पुरुषार्थ की दुर्लभता में छठा कारण पुनर्जन्म या परलोक में विश्वास न होना है। बहुत-से लोग इस भौतिकवाद के जमाने में यह सोचने लगे हैं कि मनुष्यजन्म इसीलिए मिला है कि खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ। न मालूम परलोक है या नहीं? किसने स्वर्गनरक को देखा है! जो कुछ विषयों का उपभोग करना हो सो कर लो। गुजराती में कहावत है—

"आ भव मीठो, तो परभव कोणे दीठो !"

"अगर यह जन्म मधुर-मधुर है तो इसका आस्वादन कर लो, परलोक किसने देखा है !"

आपने 'मधुबिन्दु' का दृष्टान्त सुना ही होगा। मैं उसका सार सुनाता हूं। एक वृक्ष की डाली को पकड़े हुए एक मनुष्य लटका हुआ है। उसके ठीक नीचे एक अंधेरा गहरा कुंआ है। वह वृक्ष की जिस टहनी पर लटका हुआ है, उसी पर शहद का छत्ता है। शहद की बूंद गिरती है, वह मुंह ऊँचा करके उसे चाट लेता है। दूसरी ओर उस वृक्ष के पास से हो कर एक देवता का विमान जा रहा है। उसमें बैठे हुए देव इसे बुला रहे हैं कि ऊपर विमान में आ जा, हम तुझे दिव्यलोक में ले जाएँगे। पर वह व्यक्ति मृत्यु के खतरे को भी उठाना मंजूर कर लेता है, लेकिन शहद की बूंद के लोभ को छोड़ कर दिव्यलोक में नहीं जाना चाहता। एक बूंद तो और चाट लूं। बस, एक बूंद और! यों करते-करते वह मधुबिन्दु के मोह में पड़ कर अपने प्राण दे देता है। डाली टूट जाती है। वह धड़ाम से कुँए में गिर पड़ता है और मर जाता है।"

यह कहानी असंयमी जीवन की कहानी है। इन्द्रियविषयों के प्रलोभन में पड़ा हुआ मनुष्य; परभव में अवश्य जाना पड़ेगा, अगर

संयम में पुरुषार्थ की दुर्लभता में आठवाँ कारण संयममार्ग की मर्यादा पर सतत दीर्घकाल तक दृढ़ न रहना है। मनुष्य का सामान्यतया यह स्वभाव होता है कि वह एक ही एक चीज पर बहुत लम्बे समय तक टिका नहीं रहता, उससे ऊब जाता है; या थक जाता है अथवा हताश हो जाता है। जैसे भोजन में भी एक ही एक चीज आए तो आप उससे अरुचि करने लगते हैं, वैसे ही मनुष्य साधना में भी नये स्वाद को अपनाने के लिए लालायित रहता है। संयममार्ग वैसे तो नीरस नहीं है, परन्तु भौतिकता की चकाचौंध से मनुष्य उसे नीरस और रूखा समझने लगता है और यहाँ तक कहने लगता है कि अब कहाँ तक इस संयम की रट लगाते रहेंगे! इस कारण कई वर्ष तक मनुष्य संयममार्ग की मर्यादा पर चल कर फिर उसे छोड़ बैठता है। इसी कारण को ले कर संयम में पुरुषार्थ पर टिके रहना बड़ा दुर्लभ बताया है। कोई भी साधना तब तक आनन्ददायक या सफल नहीं होती जब तक कि दीर्घकाल तक आदर और श्रद्धापूर्वक निरंतर उसका सेवन न किया जाय। योगदर्शन में महर्षि पतञ्जलि ने कहा है—

"स तु दीर्घतर-नैरन्तर्य-सत्कारासेवितो दृढ़भूमिः"

'चित्त वृद्धिनिरोधरूप योग तभी सुदृढ़ होता है, जबकि, दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कारपूर्वक उसका सेवन किया जाय।'

ऐसा न होने पर लम्बे समय तक संयम की उच्चसाधना करने के बाद बड़े-बड़े साधक एक ही झटके में नीचे गिरते देखे गए हैं। अर्हन्नक मुनि ने दीक्षा तो ले ली; लेकिन उन्होंने संयम की साधना का दीर्घकाल तक अभ्यास व उसका महत्त्व समझ कर श्रद्धापूर्वक सेवन न किया। फलतः ग्रीष्मऋतु के समय भिक्षाचरी के लिए जा रहे थे कि एक सुन्दरी के मोहजाल में सहसा फंस गए और एक ही झटके में

रीक राजा राज्य जरूर करते थे, लेकिन अनासक्त हो कर ही। उनका मन तो संयम और त्याग के मार्ग में ही रहता था। राज्य करते हुए भी वे श्रावकव्रतों का पालन करते थे। अपने भाई के इस प्रस्ताव से उन्हें मनचाहा मिल गया। पुण्डरीक राजा ने पहले कुण्डरीक मुनि को संयम में स्थिर रहने के लिए बहुत समझाया। परन्तु वे टस से मस न हुए। अन्त में पुण्डरीक ने कुण्डरीक को राज्य सौंप दिया और स्वयं ने दीक्षा अंगीकार कर ली। बहुत समय के त्याग के बाद कुण्डरीक को असंयम व भोग के साधन मिले थे, इसलिए वे तो उन्हें भोगने में एकदम टूट पड़े। अतिभोग के परिणामस्वरूप वे रोग के शिकार हुए और तीन ही दिन में मृत्यु के मुख में पहुंच गए।

पुण्डरीक ने मुनि बन कर संयममार्ग की आराधना की। वे भी तीन दिन में आयुष्य पूर्ण कर कालधर्म को प्राप्त हुए। एक तीन दिन तक संयममार्ग की आराधना कर के आयुष्य पूर्ण कर स्वार्थ-सिद्ध नामक देवलोक में पहुंचा और दूसरा तीन दिन तक असंयम के मार्ग में फंस कर आयुष्य पूर्ण करके सातवीं नरक में गया।

बन्धुओ! कुण्डरीक ने मुनि बन जाने पर भी असंयम के भयंकर परिणाम को जानते हुए भी वर्तमान क्षणिक वैषयिक सुख को ही सर्वस्व समझ कर छोड़ा नहीं, बल्कि स्वीकृत संयमपथ को कष्टकर समझ कर छोड़ दिया। इसी कारण तो संयम में पुरुषार्थ बड़ा दुर्लभ है।

संयम में पुरुषार्थ की दुर्लभता में सातवाँ कारण सुसंस्कारों का अभाव है। इसी कारण अच्छे कुल या उत्तम खानदान का बड़ा महत्त्व समझा जाता है और सम्बन्ध जोड़ते समय उत्तम खानदान और पवित्र कुल का विचार किया जाता है। क्योंकि उत्तम खानदान में सुन्दर संस्कार कूट-कूट कर भर होते हैं। कितने ही भयों या प्रलो-

२३

संयम में पुरुषार्थ—२

कल मैंने संयम में पुरुषार्थ की दुर्लभता के कारणों पर विस्तार से कहा था। आज पुनः संयम में पुरुषार्थ के अन्य पहलुओं पर गहराई से व्याख्या करने की भावना है।

संयम जीवन के लिए अमृत है। असंयम नैतिक मृत्यु है। जिसकी आत्मा सहज संयम में स्थिर हो जाती है, उसके लिए संयम में पुरुषार्थ सरल हो जाता है। वल्कि संयम में पुरुषार्थ को वह स्वाभाविक और असंयम में रमण को अस्वाभाविक समझने लगता है।

संयम में पुरुषार्थ का रहस्य

संयम में पुरुषार्थ का मतलब कोई यह न समझ ले कि सबको घरवार, धनसम्पत्ति छोड़ कर साधु वन जाना है। साधुजीवन की साधना तो उच्चसंयम की साधना है ही, लेकिन गृहस्थजीवन में भी संयम की आवश्यकता होती है। संयम का अर्थ केवल ब्रह्मचर्य-पालन कर लेना भी नहीं है। ब्रह्मचर्य, चाहे वह मर्यादित हो चाहे पूर्ण, संयम का प्रधान अंग जरूर है, लेकिन इतने में ही संयम

आँखों में नमक आंजना पड़े, स्पष्ट कहो!" राजकुमार रा' दयास ने कहा—"माता! आज मैं राजकुमार हूं। कल नवलखा सौरठ का अधिपति बनूंगा। जिसे यदुवंश की इस राजगद्दी पर बैठना हो, उसे नगर की प्रत्येक स्त्री को अपनी माँ-बहन के समान समझनी चाहिए। पर मैं इस धर्म को चूक गया हूं। मेरी इन आँखों ने नगरसेठ की पुत्रवधू पर विकारभरी दृष्टि डाली। अतः आसुरी भाव में बहने वाली इन आँखों को तुरंत सजा मिलनी चाहिए।" रा' दयास के ये वचन सुन कर हर्षपूर्वक राजमाता बोली—"शाबाश बेटा दयास! तुम सरीखे पुत्र को पा कर मुझे गौरव है। तूने राजपूतानी के दूध को उज्ज्वल किया है। पर तेरी आँखों में एक दिन नहीं, चार दिन तक नमक आँजना चाहिए। जो कल नवलखा सोरठ (राज्य) का स्वामी होने वाला है, जिसके हाथ में लाखों बहनों और माताओं की पवित्रता की सुरक्षा की जिम्मेवारी आने वाली है, वह रक्षक यदि प्रजा को नीतिनाश के मार्ग में प्रेरित करे तो उसका खुद का भी नाश भी निश्चित है।" माता के ये बोल आदरपूर्वक शिरोधार्य करके मस्तक झुका कर रा' दयास बोले—"माता! आप सरीखी माता को पा कर मैं धन्य हो उठा! आप ही अपने हाथों से मेरी आँखों में ४ दिनों तक नमक आँज कर मुझे कुलगौरवभंग की सजा दें।" रा' दयास की माता ने अपने बेटे में जो संयम और कुलमर्यादा के संस्कार भरे, वे जीवनभर अमिट रहे।

यह सुसंस्कारों के कारण संयम की सुरक्षितता का जीता जागता उदाहरण है। पर जहाँ माताओं द्वारा ऐसे सुसंस्कार नहीं मिलते, बल्कि कुसंस्कार ही अधिक मिलते हैं, वहाँ संयम की सुरक्षितता कितनी मुश्किल है, इसका स्वाभाविकतौर पर अनुमान लगाया जा सकता है।

करना ठीक नहीं। किसी दूसरे उदार भक्त के चलें।" शिष्य ने बहुत आग्रह किया तो गुरु सहमत हो गए। शिष्य ने राजा से याचना की—"बहुत भूखे हैं, कुछ मिलेगा।" राजा ने भौंहे तान कर कहा—"चले जाओ, यहाँ से! यहाँ कुछ भी न मिलेगा। तुम जैसों के लिए यह भोजन नहीं है।" शिष्य ने कहा—"अजी! इतना भोजन तैयार हुआ है तो कुछ बचा-खुचा भी होगा, उसमें से दे दो।" राजा ने साफ इन्कार कर दिया। शिष्य ने कहा—"कुछ भी तो दे दो।" राजा ने गुस्से में आकर कहा—"गोबर है तुम्हारे जैसों के लिए!" यह उत्तर गुरु को भी अच्छा न लगा। शिष्य तो सुन कर अत्यन्त व्यथित हो गया। उन्होंने निराश हो कर आगे चलते-चलते कहा—"अच्छा! तुझे गोबर ही मिलेगा।" गुरु-शिष्य ने और कहीं चल कर भोजन किया और गाँव के बाहर एक कुटिया में डेरा जमाया। संयोगवश दूसरे दिन राजमहल में लीद ही लीद आकर पड़ने लगी। राजा ने उठवाने का प्रयत्न किया तो एक टोकरा उठाने से पहले चार टोकरे लीद आकर पड़ गई। सवेरा होते-होते तो सारा राजमहल लीद से भर गया। राजा हैरान हो गया। उसे पहले दिन दो महात्माओं को निराश और अपमानित करके भगाने और उनके द्वारा कहे गए उद्गार का स्मरण हुआ। सोचा—"हो न हो, उन महात्माओं के वचन का ही फल हो।" राजा ने महात्माओं को ढूंढना शुरू किया। पता लगा कि वे नगर के बाहर कुटिया में हैं। राजा शीघ्र ही उनके पास पहुंचा और अपने अपराध के लिए हाथ-जोड़ कर क्षमा मांगी। और भोजन के लिए पधारने की प्रार्थना की। परन्तु सन्त तो निःस्पृह थे, उन्हें कोई जरूरत नहीं थी, राजा के भोजन की। राजा ने गिड़गिड़ा कर कहा—"महाराज! मेरा राजमहल सारा लीद से भर गया है, जितना हटवाया, उससे कई गुना आकर पड़ गया। अब कृपा करके ऐसा उपाय बताइए,

संयम की साधना को तिलाञ्जलि दे बैठे। बाद में उनको उत्थान का भी निमित्त मिलता है और पुनः संयम में स्थिर होते हैं। लेकिन वे एक बार तो गिर ही चुके थे।

भाग्यशालियो! संयम में पुरुषार्थ की दुर्लभता के इन कारणों पर गहराई से विचार करें। संयम का जीवन में जो अनिवार्य स्थान और महत्त्व है, उसे समझ कर, आदरपूर्वक यदि आप उसे जीवन का अंग बना लेंगे तो आपके लिए संयम नीरस नहीं, सरस बन जायगा; दुर्लभ नहीं, सुलभ हो जायगा।

स्थान—गौड़ीजी का उपाश्रय
पायधुनी, बम्बई

वि० सं० २००६
कार्तिक सुदी १

एक जगह पहुंचा जहाँ रैदास नामक एक महात्मा अपनी रांपी से जूता बना रहे थे। और मुंह से भगवान् का नाम जप रहे थे। उनका ध्यान अपने ही काम में संलग्न था। राजा ने देखा—"यह व्यक्ति मेरी निन्दा से बचा हुआ है। अगर यह निन्दा करने लगे तो मेरा काम बन जाय।" फलतः राजा ने उसके पास जा कर कहा—"क्या आपने नहीं सुना; यहाँ का राजा बड़ा दुराचारी और बदमाश है? उसने एक कुँवारी कन्या को अपने यहाँ रख लिया है और उससे अनुचित सम्बन्ध जोड़ रखा है!" रैदास ने सुना तो सही, लेकिन तुरंत ही वह भगवान् के नाम जपने में लग जाता। राजा की कही बात का उस पर कोई असर नहीं हुआ। और न उसने राजा की निन्दा ही की। राजा निराश हो कर उन्हीं महात्माजी के पास पहुंचा और कहने लगा—"महाराज! एक व्यक्ति मेरे नगर में मेरी निन्दा से बचा है, उसे मैंने कितना ही कहा, लेकिन वह तो मेरी बात पर कोई ध्यान न देकर अपने काम में और परमात्मा के नामजप में लग जाता।" महात्मा बोले—'राजन्! वह रैदास भक्त है। वह कभी किसी की निन्दा नहीं करता और न किसी की निन्दा सुनता ही है। इसलिए अब यह एक टोकरा लीद तो तुम्हारे यहाँ ही रहेगी, हटेगी नहीं।"

राजा यह सुनकर लौट आया।

इस कहानी का तात्पर्य यह है कि कानों से परनिन्दा और स्व-प्रशंसा न सुनना या सुन कर रागद्वेष न करना ही श्रोत्रेन्द्रिय संयम है। यही वर्तमान युग में दुर्लभ हो रहा है। और तो और, एक सम्प्रदाय या एक फिरके के साधु दूसरे सम्प्रदाय या फिरके के साधुओं की निन्दा सुन कर या स्वयं निन्दा करके बड़े प्रसन्न होते हैं। कानों से अपनी निन्दा सुनकर प्रसन्नचन्द्र राजर्षि जैसे ऊँचे साधक

की इतिसमाप्ति नहीं हो जाती। अतः चाहे वह ब्रह्मचारी हो, गृहस्थ हो, वानप्रस्थ हो या संन्यासी, साधु हो, प्रत्येक अवस्था में संयम में पुरुषार्थ की जरूरत रहती है, फिर वह चाहे अपनी-अपनी भूमिका के ही अनुसार ही क्यों न हो! और संयम का वास्तविक अर्थ यहाँ पांचों इन्द्रियों, मन, वचन, काया, चार कषाय, हाथ, पैर तथा सांसारिक पदार्थों, यहाँ तक कि ६ ही काया (सृष्टि के सभी प्राणियों) के प्रति संयम से है। स्वेच्छा से भलीभांति इन्द्रिय, मन आदि पर अंकुश रखना, नियंत्रण रखना संयम है।

श्रोत्रेन्द्रिय संयम का अर्थ यह नहीं है कि कानों से आप सुनें ही नहीं या कान की श्रवणशक्ति को खत्म कर दें। अपितु कानों के द्वारा गंदी, निन्दात्मक या अश्लील बात या गायन न सुनें। अगर कभी कानों में पड़ भी जाय तो उस पर से आसक्ति या राग-द्वेष न लावें। फिल्मी गीत सुनने हों तो आपके कान सदैव तैयार रहें और आध्यात्मिक संगीत सुनने में अरुचि दिखाएँ तो समझना चाहिए श्रोत्रेन्द्रिय-संयम नहीं है। दूसरे की निन्दा की बातें या अपनी प्रशंसा की बातें सुनने के लिए आपके कान सदा तैयार रहें और अपनी निन्दा और दूसरों की तारीफ हो रही हो वहाँ मन में द्वेष-भाव भड़क उठे तो समझना चाहिए श्रोत्रेन्द्रिय-संयम नहीं है।

एक गुरु और शिष्य एक नगर से हो कर जा रहे थे। शिष्य को अत्यन्त भूख लगी थी। शिष्य ने देखा कि एक जगह शादी का शामियाना लगा हुआ है, हजारों आदमियों का भोजन तैयार हो रहा है। पूछने पर पता लगा कि यहाँ के राजा के यहाँ शादी है। शिष्य ने गुरुजी से कहा—गुरुदेव! इस राजा के यहाँ चलें। कुछ भोजन मिल जायगा तो खा-पी कर आगे चल देंगे।" गुरुजी ने कहा—'वत्स! यह राजा उदार हृदय का नहीं है; इससे याचना

"केयूरे नैव ज़ानामि, नैव जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥"

हे भाई ! मैं वाजूवन्दों को भी नहीं पहिचान सकता और न इन दोनों कुण्डलों को पहिचान सकता हूं। लेकिन मैं इन दोनों नूपरों (नेउरों) को तो जानता हूं, क्योंकि मैं भाभी के चरणों में प्रतिदिन वन्दन करने जाता था, तो मेरी दृष्टि नूपुर पर तो सहज ही पड़ जाती थी।"

यह है नेत्र-संयम का पाठ ! आज लोगों का आँखों पर संयम वहुत ही दुर्लभ हो रहा है। उनकी नजर चलते-चलते सिनेमा की सुन्दरियों के चित्रों पर दौड़ेगी। इतना ही नहीं सिनेमा की तारिकाओं को देखने के लिए भीड़ उमड़ेगी। पर सन्तों के दर्शन के लिए या भगवान् के दर्शन के लिए ? वहाँ तो समय के अभाव का वहाना वनाया जाएगा। भक्त तुकाराम ने आँखों पर संयम के लिए भगवान् से प्रार्थना की है—

"पापाची वासना न को दाउ डोला।
त्यांहून आंधला वरा च मीं॥"

अर्थात्—"हे प्रभु ! मुझ पर तेरी ऐसी कृपा हो कि मेरी आँखों में पाप की वासना न आए। अगर इतना न कर सका तो मेरा अन्धा वन जाना अच्छा है।"

यदि अलाउद्दीन अपनी आँखों पर संयम रखता और पद्मिनी को देख कर विकारभाव न लाता तो रानी पद्मिनी आदि सैकड़ों रानियों को जीते-जी धधकती हुई ज्वाला में पड़ कर जौहरव्रत न करना पड़ता। रथी की आँखों के असंयम ने ही सती चन्दनवाला की माता धारिणी को जीभ खींच कर प्राणत्याग करने को विवश

जिससे यह हट जाय।" महात्मा क्षमा के सागर होते हैं। उन्होंने कहा—"राजन्! एक काम करो। तुम अपने यहाँ किसी कुमारी कन्या को अपनी बेटी की तरह रखो। उसके खाने-पीने आदि का सारा प्रबन्ध कर दो। किसी भी तरह उसे बाहर मत जाने दो। फिर लोगों में ऊहापोह मचेगा, तुम्हारी निन्दा होगी कि 'देखो! राजा ने फलां लड़की को अपने महल में रख छोड़ी है। उसके साथ अनुचित सम्बन्ध जोड़ रखा है। राजा हो कर इतनी नीचबुद्धि है इसकी, प्रजा की कन्या के प्रति। तुम इस निन्दा को चुपचाप सुनते रहना, जवाब मत देना। जो निन्दा करेंगे, उनके यहाँ यह लीद उठ कर चली जायगी।" बस, राजा ने ऐसा ही किया। कुँवारी कन्या को अपने राजमहल में बेटी की तरह रखने पर भी राजा की खूब निन्दा लोगों में होने लगी। कई दिनों बाद तो यहाँ तक लोग कहने लगे—"यह राजा पापी है। इसका मुंह देखना भी पाप है।" राजा को देख कर लोग कानाफूसी करने लगे। राजा स्वयं अपनी निन्दा सुनने के लिए नगर में वेश बदल कर गश्त लगाता। जब अतिनिन्दा होने लगी तो दूसरी ओर राजमहल से वह लीद भी हटने लगी। राजा ने सोचा—"महात्मा की बात तो सर्वथा सही है।" आखिर एक टोकरा लीद रह गई। राजा ने उसे हटाने का प्रयत्न किया, मगर वह हटती ही नहीं थी। आखिर हारथक कर राजा पुनः उन महात्माओं के पास पहुंचा और हाथ जोड़ कर विनयपूर्वक कहा—"महात्मन्! आपकी कृपा से आपके निर्देश के अनुसार कार्य करने से राजमहल से बहुत-सी लीद हट चुकी है, लेकिन अभी एक टोकरा लीद और है, वह हटाने पर भी नहीं हटती, क्या कारण है?" महात्मा ने कहा—"राजन्! अभी तुम्हारे नगर में कोई तुम्हारी निन्दा करने से बच रहा है। जब वह तुम्हारी निन्दा करने लगेगा, तब वह लीद भी हट जायगी।" राजा नगर में गश्त लगाते-लगाते

चीजों के खाने के चक्कर में पड़ जाती है, मन को आर्डर देने लगती है कि फलां चीज बड़ी स्वादिष्ट है; वह चीज लाओ। वह चीज तो कड़वी, कसायली या फीकी है, नहीं चाहिए! इस प्रकार जीभ जब अपनी मर्यादा का उल्लंघन करके अपने उत्तरदायित्व को छोड़ बैठती है, तब असंयम में ले जाकर मनुष्य का सर्वनाश करा बैठती है।

एक राजा बड़े दुःसाध्य रोग से पीड़ित था। वैद्यों ने उसका इलाज इस शर्त पर करना स्वीकार किया कि वह आम न खाए। जिस दिन आम खाएगा, उस दिन रोग बढ़ जायगा, फिर हम इलाज करना छोड़ देंगे।" राजा ने पथ्यपालन की हामी भर ली। इलाज चलता रहा। राजा ने व राजपरिवार ने अपने सब राजकर्मचारियों को सख्त हिदायत दे दी कि कोई भी व्यक्ति यहाँ आम न लाए। एक दिन बाहर के कुछ परदेशी बढ़िया आम ले कर राजा को भेंट देने आए। राजा ने पहले तो आम को देखने से भी परहेज किया कि देखूंगा तो फिर मन चल जायगा। लेकिन फिर सोचा—"मुझे खाना तो है नहीं, देखने में क्या हर्ज है?" परदेशी सौदागर आम भेंट करके चले गए। राजा ने एक आम उठा कर अपने हाथ में लिया, सूंघने लगा। आम की मोहक गन्ध से राजा मोहित हो गया और अपने सेवक से कहा—"इसे जरा छिल कर ले आ।" वह छिलके उतार कर और गुठली निकाल कर एक रकाबी में ले आया। राजा ने सोचा—"एक टुकड़ा ही तो लेना है। इतने-से टुकड़े से क्या हो जायगा? बस, आम खाते ही राजा के शरीर में वही रोग पुनः फैल गया। वैद्यों को बुलाया गया। वैद्यों ने असलियत का पता लगा लिया और इलाज करने में अपनी असमर्थता प्रगट की। आखिर उस रोग में कुपथ्य करने के कारण राजा का देहान्त हो गया।

भी अपने पर संयम न रख सके और मन ही मन द्वेषभाव रख कर घमासान युद्ध करने लगे। अगर वे श्रोत्रेन्द्रिय के उस असंयम के रास्ते से सम्भलते नहीं और अपने द्वारा असंयम हो जाने का पश्चात्ताप न करते तो उस असंयम की बदौलत उन्हें सातवीं नरक की यात्रा करनी पड़ती।

'चक्षुरिन्द्रिय संयम का अर्थ है—आँखों से किसी वस्तु या व्यक्ति को देखकर राग या द्वेष की भावना न लावें। आँखों पर संयम कैसे होता है, इसके लिए रामायण का एक भव्य उदाहरण लीजिये—

रामचन्द्रजी जब १४ वर्ष के लिए अयोध्या छोड़ कर वनवास को गए तब सीताजी तो साथ में थीं ही, लक्ष्मण भी साथ में थे। एक बार जब रावण मर्यादा का उल्लंघन करके पतिव्रता सती सीता को बलात् अपहरण करके ले जाने लगा तो सती सीता ने अत्याचारी रावण के पंजे से छूटने का बहुतेरा उपाय किया। लेकिन जब वह इसमें सफल न हुई तो वह जिस रास्ते से विमान द्वारा ले जाई जा रही थी, उस रास्ते में एक-एक करके अपने गहने उतार कर डालती गई, ताकि भ० राम उस पथ को जान सकें। इधर जब राम और लक्ष्मण पंचवटी को लौटे और कुटिया को सूनी देखी तो सीता के विरह में राम व्याकुल हो उठे। अपने भाई लक्ष्मण को साथ लेकर वे सीता की खोज में चल पड़े। रास्ते में जब वे बिखरे हुए गहने मिले तो राम ने लक्ष्मण से कहा—"भाई! मेरा मन इस समय सीता के वियोग में व्याकुल हो रहा है, दृष्टि पर अंधेरा छाया हुआ है, अतः मैं देख कर भी निर्णय नहीं कर पा रहा हूं कि ये आभूषण किसके हैं? अब तू ही भली-भाँति जाँच परख कर बता कि ये आभूषण तेरी भाभी के ही हैं या अन्य किसी के? यह सुन कर लक्ष्मण ने जो कुछ कहा वह आँखों पर संयम का ज्वलन्त उदाहरण है—

है। इसी प्रकार स्पर्शेन्द्रिय-संयम का अर्थ है—कोमल, कामोत्तेजक, गुदगुदाने वाली वस्तुओं का स्पर्श न किया जाय, ऐसी चीजों का उपभोग न किया जाय।

एक राजा ने एक बहुत कीमती स्प्रिंगदार पलंग बनवाया। उस पर सुन्दर, मुलायम मखमल के गद्दे तकिये लगवाए और अपने एक खास शयनगृह में उसे रखवाया। कुछ दिनों बाद ही राजा का उस पर सोने का मुहूर्त था। एक दासी उस शयनागार की सफाई किया करती थी। उसे पता नहीं था कि राजा आज आएँगे। उसने सफाई करते-करते सोचा—"कितना बढ़िया पलंग है और फिर इस पर ये नरम-नरम गद्दे-तकिये लगे हुए हैं। अभी कोई आने वाला तो है नहीं। मैं जरा-सी सो कर तो देखूँ! यहाँ कौन देखता है?" दासी के पलंग पर बैठते ही स्प्रिंग के कारण पलंग एकदम लचलच करने लगा। दासी को लेटने की इच्छा हुई। वह लेट गई। खिड़की में से हवा के झौंके आ रहे थे। दासी को लेटते ही नींद आ गई।

किसी कार्यवश राजा यकायक शयनगृह में आ पहुंचे। आते ही क्या देखते हैं, कि दासी पलंग पर लेटी हुई है! राजा ने क्रोध में आगबबूला हो कर कहा—अरी हरामजादी! तेरी इतनी जुर्रत! मैं तो अभी तक इस पलंग पर सोया ही नहीं, और तू सबसे पहले सो गई!" राजा ने क्रोध ही क्रोध में हंटर उठाया और दासी पर लगा-फटकारने। दो-चार चाबुक लगते ही दासी तो एकदम हक्कीबक्की हो कर जागी। राजा का कोपकांड देख कर पहले तो वह घबराई, परन्तु शीघ्र ही वह हंसने लगी। दासी को हंसती देख कर राजा विस्मय में पड़ गया। उसने पूछा—"मैं चाबुक मार रहा हूं फिर भी तू हंसती क्यों है?" दासी ने पहले तो कुछ भी जवाब न दिया। राजा ने

किया। अपने छोटे भाई युगबाहु की पत्नी मदनरेखा पर मणिरथराजा की दृष्टि के असंयम ने ही अपने प्रिय भाई को जान से मार डालने का पापकर्म कराया।

आँखों पर संयम हो तो मनुष्य किसी भी सुन्दर वस्तु को देख कर लुभायेगा नहीं और वह हितकर न हो तो उसे पाने के लिए लालायित न होगा। आज बहुत-सी बहनें नए नए डिजाइन की आकर्षक साड़ियाँ व आभूषण देख कर अपने घर की हैसियत न होने पर भी गृह-स्वामी को विवश करती हैं और घर में देवरानी-जिठानी के परस्पर क्लेश का कारण भी यह असंयम बनता है।

रसनेन्द्रिय संयम का अर्थ है, अपनी जिह्वा पर नियंत्रण रखना, जीभ से दो काम होते हैं, बोलने का और चखने का। इन दोनों कामों में सावधानी बरती जाय। बोलने के समय ध्यान रखें कि मैं जीभ से असत्य, कर्कश, कठोर, निश्चयकारी, हिंसाकारी, छेद-भेदकारी, फूट डालने वाला, मर्मस्पर्शी, पापवर्द्धक, कामोत्तेजक, अनर्गल वचन तो नहीं कह रहा हूं। कई लोग वचन से दूसरों को गाली देकर, निन्दा करके, चुगली खा कर असंयम में प्रवृत्त होते हैं। वचन ही आपस में कलह और युद्ध करवाता है। अतः वचन पर काबू रखना बड़ा कठिन है। सम्प्रदायों, जातियों, समाजों, राष्ट्रों में अगर वचन का विवेक आ जाय तो आपस में लड़ना-भिड़ना बन्द होकर राग-द्वेष शान्त हो जाय। परन्तु वचन पर असंयम तो आज धड़ल्ले से बढ़ता जा रहा है।

जीभ से दूसरा काम होता है, चखने का। खाने का काम मुंह और दांतों का है। जबान का काम केवल उसे चखना है कि वह खाना ठीक और पथ्य है या नहीं? लेकिन जबान इतनी चटोरी बन जाती है कि चखने का काम छोड़कर चटपटी, मसालेदार, स्वादिष्ट, मीठी

"एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताणं सव्वसत्तु जिणामहं॥"
—उत्तराध्ययन सूत्र अ० २३ गा० ३६

"एक मन को जीत लेने पर पांचों इन्द्रियाँ जीती जा सकती हैं। और पाँचों इन्द्रियों पर विजय पा लेने के बाद पांचों प्रमाद और पांचों अव्रतों पर विजय पाई जा सकती है। इस प्रकार इन्द्रियों और मन को शिक्षित बना लेने पर इन दसों पर विजेता हो कर मैं सब शत्रुओं को जीत लेता हूं।"

विद्यार्थी-अवस्था में नेपोलियन बोनापार्ट को अक्लोनी गाँव में एक नाई के यहाँ रहना पड़ा। नेपोलियन बहुत ही सुन्दर और सुकुमार युवक था। नाई की चंचल स्त्री उस पर मुग्ध हो गई और उसे अपनी ओर खींचने का प्रयत्न करने लगी। किन्तु नेपोलियन तो अपने पढ़ने-लिखने में ही व्यस्त रहता। नाई की पत्नी की ओर देखने और उसके मोहक शब्द सुनने को नेपोलियन कभी नहीं ठिठका। आखिर जब नेपोलियन देश के प्रधान सेनापति-पद पर नियुक्त हुआ तब वह एक बार फिर उसी स्थान पर गया और नाई की स्त्री को दूकान पर बैठी देख बोला—"तुम्हारे यहाँ नेपोलियन बोनापार्ट नामक एक युवक रहता था, कुछ याद है तुम्हें!" नाई की पत्नी झुंझला कर बोली—"रहने भी दो, ऐसे नीरस व्यक्ति की मैं चर्चा भी नहीं करना चाहती। किसी से बात करना या हंसना तक उसे न आता था, केवल किताबों का कीड़ा बना रहता था।" नेपोलियन ने हंस कर कहा—"ठीक कहती हो देवि! बोनापार्ट यदि तुम्हारी रसिकता में फंस गया होता तो देश का प्रधान सेनापति हो कर आज वह तुम्हारे सामने खड़ा नहीं हो सकता था।

यह था जीभ पर असंयम का परिणाम ! ऐसे कुपरिणाम तो हम आज प्रायः घर-घर में देखे जा सकते हैं। साधुसाध्वियों के जीवन में भी जिह्वा पर असंयम आज बढ़ गया है, इस कारण अनेकों बीमारियाँ लगी हुई दिखाई देती हैं। नहीं तो, उच्चसंयमी व्यक्ति के शरीर में बीमारी आ ही नहीं सकती। मगर खानपान पर असंयम हो तो बीमारियाँ क्यों नहीं आएँगी ?

गाँधीजी को एक जापानी मित्र ने तीन बन्दरों का मिट्टी का खिलौना भेंट दिया था। उसमें एक बन्दर मुंह पर दोनों हाथ लगाए हुए था, एक आँखों पर हाथ लगाए हुए था और एक के दोनों कानों पर हाथ थे। गाँधीजी उस मूर्ति को अपने सामने रखते थे। और उसके नीचे यह वाक्य अंकित करवा दिये थे—"बुरा मत सुनो, बुरा मत देखो, बुरा मत बोलो।" यानी कान, आँख और जीभ इन तीनों पर संयम रखो।

एक बार बादशाह हुमायूँ बहरामखाँ के साथ वार्तालाप कर रहे थे। बहरामखाँ बातचीत के समय आँखें बन्द किए हुए था। हुमायूँ ने कहा—"क्या आप सपना ले रहे हैं ?" बहरामखाँ ने कहा—"नहीं साहब ! बड़े-बूढ़ों के मुंह से सुना है कि तीन समय पर मनुष्य को तीन प्रकार का संयम रखना चाहिए। संत के साथ बात करते समय मन पर संयम रखना आवश्यक है; बादशाह के साथ बात करते समय आँखों का संयम रखना चाहिए और आम जनता के साथ वाणी का संयम जरूरी है। क्योंकि शब्द वह पक्षी है, जो एक बार उड़ने के बाद पुनः पींजरे में नहीं आ सकता।"

इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय (नाक) पर संयम रखना भी जरूरी है। नाक पर संयम न रखने के कारण ही मनुष्य आज हजारों फूलों को कुचल कर, निचोड़ कर बनाए गए सुगन्धित इत्र का उपयोग करता

साथ ६ सिपाही थे, वे उसके आधीन थे, जबकि पीछे वाला उन ६ सिपाहियों के साथ स्वयं आधीन थे। एक शासनकर्ता है तो दूसरा गुलाम है।"

इस दृष्टान्त के द्वारा परमहंस ने अन्तर समझाया कि "यही फर्क संत और सामान्य आदमी में समझो। संतप्रकृति का व्यक्ति ५ इन्द्रियों व मन इन छहों को अपने काबू में रखता है, शासन करता है और सामान्य मनुष्य इन छहों का गुलाम है, आधीन है।

संयममय और असंयममय जीवन की पहिचान केवल कपड़ों, या अमुक पोशाक, ठाठबाठ या लोगों की भीड़ जमा हो जाने से नहीं होती, उसकी पहिचान व्यक्ति के जीवन-व्यवहार से होती है।

स्वैच्छिक संयम और बलात् संयम

जगत् के अधिकांश मनुष्य अपनी इच्छा से पांचों इन्द्रियों, मन व अन्य बातों पर संयम करना—अंकुश रखना—नहीं चाहते। जब किसी पर आ पड़ती है, तब वह संयम रखने की सोचता है। वह जबर्दस्ती से संयम है, इच्छापूर्वक संयम नहीं कहलाता। एक आदमी बीमार पड़ जाता है। अधिकतर बीमारियाँ पेट की खराबी से होती हैं। वैद्य ने कहा—इसमें आपको लंघन करना पड़ेगा या दूध के सिवाय और कुछ नहीं लेना होगा, अथवा तेल, गुड़, खटाई, मिर्च या नमक आदि वस्तुएँ या वायुकारक वस्तुएँ बिलकुल छोड़नी होंगी तो उसे बलात् उन चीजों पर संयम करना पड़ता है। परन्तु वही संयम अगर पहले से ही स्वेच्छा से होता तो उसको बीमारी भी न आती और संयम व तप का भी फल मिलता। दोनों तरह से लाभ होता। जेल में किसी कैदी को जबर्दस्ती भूखा रखा जाता है उसमें और अपनी इच्छा से आहार छोड़ कर उपवास करने में अन्तर

फिर हंसने का कारण पूछा और कहा—"जा तेरा गुनाह माफ किया जायगा, हंसने का जो भी कारण हो, बता दे।" दासी ने कहा—"महाराज! मुझे हंसी आई आपकी अज्ञानता पर कि मैं तो आपके पलंग पर थोड़ी-सी देर सोई जिसके फलस्वरूप मुझे दो-चार चाबुक की मार खानी पड़ी, परन्तु जो जिंदगीभर इस पर पलंग पर सोएगा उसकी क्या दशा होगी? मैं तो इतनी अल्प सजा से बच गई, उसके लिए आपका आभार मानती हूं।"

राजा दासी की बात सुन कर फौरन विचार में पड़ गया। उसे लगा कि दासी का कहना यथार्थ है। मैं जिंदगीभर इस एक ही इन्द्रिय (स्पर्शेन्द्रिय) का नहीं, पांचों इन्द्रियों के विषयों का खुला उपभोग करूंगा तो वर्तमान में सुन्दर दिखाई देने वाले इन विषयभोगों का परिणाम कितना दुःखदायी होगा? मुझे कितनी भयंकर सजा भोगनी पड़ेगी?' बस, राजा ने उसी दिन से अपने असंयमी और विलासी जीवन का त्याग कर दिया और सादा जीवन स्वीकार कर लिया।

राजघराने में पली-पुसी और विवाहित मीरांबाई ने मखमल के गद्दे-तकिये और पलंग छोड़ कर सादी चटाई अपनाई, सुन्दर वस्त्रों और आभूषणों को छोड़ कर सादी पोशाक और सादा रहनसहन अपना कर अपना जीवन संयममय बना लिया था, उसके पीछे क्या रहस्य था? यही था कि इन्द्रियों और मन के असंयम में फंस जाने वाला व्यक्ति कभी भगवान् की भक्ति नहीं कर सकता।

मन पर संयम का रहस्य यही है कि पांचों इन्द्रियां कदाचित् असंयम की ओर ले जाने लगें, लेकिन मन उस समय जागृत रहे और उस पर अंकुश लगा दे तो मनुष्य जगत् को जीत सकता है। गणधर गौतम स्वामी इसी रहस्य को प्रगट कर रहे हैं—

फिजूल ही लाए। यह किसान तो हाथों से ही पानी पी रहा है।" नौकर--"हजूर ! गाँवों के लोग तो इसी तरह पीया करते हैं। आप ठहरे राजा, आपसे ऐसा होना कठिन है।" राजा--"मुझे भी ईश्वरकृपा से यह प्रेरणा मिल गई। अब मुझे लोटा-गिलास नहीं चाहिए। किसी गरीब को दे दे।" नौकर ने बहुत समझाया; परन्तु आखिर राजा की इच्छा के आगे झुकना पड़ा।

दोपहर का वक्त था। एक खेत के किनारे पेड़ के नीचे राजा की रसोई बन रही थी। आज राजा को जो आनन्दानुभव हुआ, उसकी अपने पिछले जीवन से तुलना कर रहा था। इतने में एक किसान पास के खेत से आया। उसने कपड़े में बंधी हुई मोटी रोटियाँ निकालीं। हथेली पर रोटियाँ रख ली, ऊपर की रोटी पर चटनी रख ली और दूसरे हाथ से खाने लगा। राजा ने यह देखा तो अपने नौकर से फिर कहा--"हम थाली-कटोरी आदि बर्तन फिजूल लाए। मैं भी तो इसी तरह खा सकता हूं।" नौकर ने पहले की तरह बहुत समझाया लेकिन राजा को संयम के साम्राज्य में पहुंचना था, इसलिए थाली-कटोरे आदि बर्तन भी गरीबों को बंटवा दिए। थोड़ी देर में रोटी खा कर वह किसान अपने हाथ का सिरहना बना कर और एक अंगोछा बिछा कर वहीं पेड़ के नीचे सो गया। थोड़ी देर तक गाढ़ी नींद लेकर वह चला गया। राजा को आज संयम के नये-नये पाठ मिल रहे थे। उसने अपने नौकर से कह कर गद्दा, तकिया, बिछौने आदि सब गरीबों को दिलवा दिये और नौकर से कहा कि "तू भी वापिस लौट जा। ईश्वर की अपारकृपा से मुझे तुम्हारी और इस सामान की भी जरूरत नहीं है। अब मैं अपने हाथ-पांव से काम लूंगा।" नौकर बेचारा बहुत गिड़गिड़ाया, पर राजा ने उसे समझा-बूझा कर सामान के साथ वापिस भेज दिया।

इन्द्रिय और मन पर संयम ने ही मुझे इस महान् पद पर पहुंचाया है।"

हाँ, तो इन्द्रियों और मन पर विजय प्राप्त करने वाला ही महान् पद पर पहुंचता है, इस तथ्य को भलीभांति समझ लेने से व्यक्ति के लिए संयम में पुरुषार्थ सरल बन जाता है।

संयमी और असंयमी में अन्तर

स्वामी रामकृष्ण परमहंस से किसी श्रद्धालु ने पूछा—"स्वामीजी! संत और सामान्य मनुष्य में क्या अन्तर है, आप भी चलते-फिरते खाते, पीते, पहनते हैं; हम भी। आप भी शरीर की सभी चेष्टाएँ व क्रियाएँ करते हैं, हम भी करते हैं! फिर दोनों में तात्त्विक अन्तर अन्तर क्या है?" इस पर रामकृष्ण देवने एक दृष्टान्त द्वारा समझाते हुए कहा—"एक बार एक राजमार्ग पर पिता-पुत्र जा रहे थे। उसी समय राजा की सवारी वहाँ से निकली। राजा के साथ ६ सिपाही थे। पुत्र ने पिता से पूछा—"यह कौन जा रहा है?" पिता बोला—"राजा।" थोड़ी देर बाद एक चोर को पकड़ कर राज्य के ६ सिपाही ले जा रहे थे। यह देख कर पिता से पुत्र ने पूछा—"पिताजी, यह कौन है?" पिता—"चोर है, बेटा!" इस पर पुत्र को आश्चर्य हुआ। उसने पिता से पूछा—"पिताजी, पहले एक आदमी जा रहा था, उसके साथ भी ६ सिपाही थे और जो अभी जा रहा है, उसके साथ भी ६ सिपाही हैं। परन्तु आप पहले जाने वाले को राजा और पीछे जाने वाले को चोर बताते हैं, ऐसा क्यों? कुछ समझ में नहीं आया!" पिता—"दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है!" बेटा—"किस बात का? ठाठबाठ का या कपड़ों का?" पिता—"ना बेटा! ऐसा कोई फर्क नहीं।" पुत्र ने पूछा—"तो फिर क्या फर्क है?" पिता ने गम्भीरता से कहा—"पहले जिस आदमी के

रोने लगा और राजा से गरीबी मिटाने का उपाय पूछने लगा।" राजर्षि कहने लगा—"मैं तो कोई तरकीब नहीं जानता। भगवान् का नाम लेता हूं। वही भेज दिया करता है। मैं तो उन चीजों का उपयोग भी नहीं करता। तू भी मेरी तरह सब कुछ भगवान् के भरोसे छोड़ दे और भजन कर। इसके सिवा मैं तुझे और क्या रास्ता बताऊँ?" किसान दौड़-दौड़ा घर आया और घरवाली को दरवाजे से ही पुकार कर कहा—"अरी सुन! बड़वाले महात्मा ने एक तरकीब बताई है। अपना सब दलिदर दूर हो जायगा। मैं भगवान् के नाम पर घरबार, खानापीना सब कुछ छोड़ कर एक पेड़ के नीचे आसन जमा कर बैठ जाऊँगा। आज घर में जो कुछ भी सामान हो उसका बढ़िया खाना बना कर खिला दे; न जाने कितने दिन भूखे रहना पड़े।" किसान-पत्नी बोली—"तुम पागल तो नहीं हो गए। बहकी-बहकी बातें कर रहे हो।" परन्तु किसान ने हठ पकड़ ली। वह खा-पी कर एक पेड़ के नीचे आसन जमा कर बैठ गया।

भूखेप्यासे बैठे उसे दो दिन हो गए। "अभी तक कोई नहीं आया! इस महात्मा ने कहीं चकमा तो नहीं दे दिया। दो दिन की कमाई से भी गया, भूखा मरा सो अलग!" किसान मन में पछता रहा था और बड़बड़ा रहा था। वह ईश्वर को कोसने लगा। इतने में तो थाली लिए एक आदमी आता दिखाई दिया। किसान ने आतुर हो कर पूछा—"तू देवदूत है? तो अब तक कहाँ मरा था? ला, जल्दी ला; क्या-क्या लाया है?" देवदूत ने थाल आगे बढ़ाया तो तीन-चार मोटी रोटियाँ और दो प्याज थे। किसान ने एकदम आगबबूला हो कर थाली उठा कर देवदूत के सिर पर दे मारी। बोला—"शर्म नहीं आई, रोटी और प्याज लाते हुए! उस बड़वाले बाबा को तो छप्पन भोग और मुझ गरीब को प्याज-रोटी! यह तो

है या नहीं ? इस बात को आप भलीभांति समझ लें। स्वैच्छिक संयम आनन्ददायी है, कर्मों की निर्जरा व संवर उससे हो सकते हैं, पुण्यवृद्धि भी होती है, परन्तु बलात् संयम रखने से न तो कर्मों की निर्जरा होती है, न संवर होता है और न वह आनन्ददायी हो सकता है। इसके लिए एक रोचक उदाहरण लीजिए—

एक राजा था। बूढ़ा होने पर उसके मन में विचार आया कि अब राजपुत्र सब कुछ संभालने लायक हो गया है, इसलिए सारी ज़िंदगी दुनियादारी में बिताना अच्छा नहीं। अब अपनी इच्छा से मन और इन्द्रियों पर संयम करके प्रभुभजन करते हुए शेष ज़िंदगी बितानी चाहिए। उसने अपने विचार को कार्यान्वित करने के लिए राजकुमार व मंत्रियों से सलाह ली। उन्होंने इच्छा न होते हुए भी राजा की प्रबल इच्छा को देखते हुए सहमति प्रगट की। राजकुमार ने राजा से कहा—"पिताजी ! आप वृद्ध हैं, कभी कष्ट सहन नहीं किया है, इसलिए एक घोड़ा, बिछौना, कुछ नौकरचाकर, आवश्यक बर्तन, खानेपीने की सामग्री तथा अन्य जरूरत की चीजें साथ में लेते जांय।" राजा ने संयम रखने की इच्छा से अत्यन्त जरूरी कुछ सामान और एक नौकर साथ में दे देने की स्वीकृति दी। नगरवासी, राजकुमार और राजपरिवार के सब लोग काफी दूर तक विदा देने आए। अपने लोकप्रिय न्यायी राजा को आश्रुपूर्ण नेत्रों से विदा देकर सब लौटे। राजा एक नौकर के साथ आगे जंगल की ओर बढ़ा। रास्ते में जोर की प्यास लगी। कुछ दूर एक झरना बह रहा था, उसमें से लोटा लेकर पानी भरने के लिए नौकर दौड़ कर गया। राजा भी पीछे-पीछे पहुंचा। नौकर लोटा भर ही रहा था कि एक किसान आया। उसने झरने में हाथ धोए। दोनों हाथों से पंखे की तरह पानी इधर-उधर हटाया और चुल्लू से पानी पीने लगा। राजा ने साश्चर्य देख कर अपने नौकर से कहा—अरे ! हम लोटा-गिलास

अधिक मिट्टी का उपयोग न करना, जरूरत से ज्यादा पानी का उपयोग न करना, अग्नि के इस्तेमाल पर कंट्रोल करना, हवा का उपयोग भी जरूरत से ज्यादा न करना और वनस्पतिजन्य चीजों का इस्तेमाल भी केवल जीवननिर्वाह के अतिरिक्त न करना पृथ्वीकाय आदि का संयम है।

महात्मा गाँधीजी गृहस्थ संत होते हुए भी एक छोटे-से लोटे में पानी लेकर उससे हाथमुंह धो लेते थे। लोगों ने कहा—"बापूजी! साबरमती नदी बह रही है, आप पानी के उपयोग में कंजूसी क्यों करते हैं? उन्होंने अपनी शैली में उत्तर दिया—"जरूरत से ज्यादा पानी ढोलने और इस्तेमाल करने का हमें हक नहीं है। हमारी अपेक्षा और प्राणियों व मनुष्यों को भी इसकी जरूरत है। अधिक होने से हम जरूरत से ज्यादा उपयोग करें, यह ठीक नहीं।"

एक बार गाँधीजी को थोड़े-से नीम के पत्तों की जरूरत थी। काका कालेलकर एक बड़ी डाली तोड़ कर ले आए! बापू ने कहा—"इतने अधिक पत्तों का हमें क्या करना है? हमें तो जितना चाहिए वह भी पेड़ से क्षमा मांग कर उपकृतभाव से लेना चाहिए! जरा भी अधिक लेना गुनाह है।

इसी प्रकार एक बार हाथ धोने के लिए गाँधीजी ने थोड़ी-सी मिट्टी किसी से मंगवाई। वे भाई एक बड़ा-सा ढेला उठा ले आए। गाँधीजी ने उन्हें उपालम्भ देकर कहा—"हमें जितनी मिट्टी चाहिए, उतनी ही लेनी चाहिए अधिक नहीं।" और वह बाकी की मिट्टी उसी स्थान पर उन्होंने डलवाई।

मतलब यह है कि गाँधीजी मिट्टी, पानी, वनस्पति पर तो संयम रखते ही थे और सिखाते भी थे, लेकिन जलाने के कोयलों, कपड़ों, तथा अन्य खानेपीने की चीजों पर भी बहुत संयम रखते थे।

शाम को राजा एक गाँव के बाहर बड़ के पेड़ के नीचे आकर बैठा। राजा ईश्वर-चिन्तन कर रहा था। इतने में एक आदमी झाड़ू लेकर आया और हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया। राजा की आँखें खुली तो पूछा—"भाई! तू कौन है? यहाँ क्यों आया है?" उसने अपने को देवदूत बताया और कहा कि "मुझे भगवान् ने आपकी सेवा के लिए भेजा है।" राजा—"मेरे पास नौकरचाकर क्या कम थे, जो मैं भगवान् को कष्ट में डालता?" परन्तु देवदूत ने भगवान् के आदेशानुसार वह जगह साफ की। उस पर जाजम बिछा दी। फिर मिष्टान्न-पक्वान्न से भरा एक थाल लेकर आया। राजा ने कहा—"भाई! मुझे इनमें से किसी भी वस्तु की जरूरत नहीं है।" देवदूत ने कहा—"मैं तो भगवान् के हुक्म की तामील कर रहा हूं। आप इन्कार करेंगे तो भी अपना फर्ज बजाए बिना नहीं जाऊँगा।" राजा ने सोचा—"करने दो इसे। न तो मुझे इसकी जाजम पर बैठना है और इसका लाया हुआ खाना खाना है, न और कुछ ही लेना है।"

पर वह देवदूत मानता ही न था। रोज-रोज उसका यही सिलसिला जारी रहा। राजा देवदूत का लाया हुआ खाना गरीबों को बांट देता और स्वयं जंगल में से कंदमूल, फल बीन कर लाता उसे ही खा कर अपने आसन पर सो जाता। थोड़े ही दिनों में इस संयमनिष्ठ राजा की शोहरत फैलने लगी कि कोई बड़ा पहुंचा हुआ महात्मा आया है। बड़ा करामाती है। रोज उसके लिए नए-नए फर्श बिछते हैं और बढ़िया-बढ़िया भोजन का थाल आता है।" वहाँ दर्शकों और भक्तों का ठाठ जमने लगा। एक किसान अपनी गरीबी से बड़ा बेजार था। उसने सोचा—"इस महात्मा से कोई उपाय पूछूं और हो सके तो इसी का शिष्य बन कर मैं भी आनन्द लूटूं।" वह पहुंचा राजर्षि के पास। भक्तिभाव से प्रणाम करके अपना दुखड़ा

२४

सत्संगति की महिमा

एक विचारक ने कहा था कि "कौन मनुष्य कैसा है, यह पूछना चाहते हो तो पहले मुझे उसकी संगति कैसी है, किसके साथ वह ज्यादा रहता है, यह बता दो।" वास्तव में संगति का असर बहुत जबर्दस्त और अचूक पड़ता है। मनुष्य ही क्यों, पशु, पक्षी, कीट-पंतग, या जड़ वस्तुओं पर भी अच्छी-बुरी संगति का प्रभाव पड़ता है। मनुष्य तो संसार का सर्वोत्कृष्ट प्राणी है, इसलिए उस पर अच्छे या बुरे संग का प्रभाव पड़े, इसमें आश्चर्य की बात नहीं है। जो मनुष्य जैसे मनुष्यों की सोहबत या कंपनी में रहता है, उस पर वैसे ही मनुष्यों की आदतों, विचारों, व्यवहारों, वचन और कार्यों का रंग चढ़ जाता है। अच्छे मनुष्य के सहवास में रह कर मनुष्य अच्छी आदतें, अच्छे विचार, अच्छे आचरण, अच्छे वचन व अच्छे कार्य सीखता है और बुरे आदमी के साथ रह कर बुरी आदतें, बुरे वचन, बुरे विचार और गंदे आचरण सीख जाता है। चोर की संगति में कुछ दिन रहने पर मनुष्य प्रायः चोरी करना सीख जाता है और वेश्यागामी या व्यभिचारी की सोहबत में रह कर वैसे ही दुष्कर्म सीखने लगता है। संगति से मनुष्य पर अच्छा या बुरा चेप लग ही जाता है।

मैं रोज ही खाता था। इसके लिए दो दिन भूखों मरने की क्या जरूरत थी? यह लौटा ले जा और भगवान् से कह कि उस महात्मा जैसे ठाठ लगा दें तो खाना खाऊँगा।" देवदूत ने भगवान् से आ कर सारा हाल सुनाया। उन्होंने कहा—"उसे समझा कि राजा ने मेरे नाम पर जो छोड़ा था, वह उसे दे दिया, जो तूने छोड़ा सो तुझे भेज दिया। तू तो इसका भी अधिकारी नहीं था। राजा का संयम और त्याग तो स्वैच्छिक व निष्काम था; पर तूने तो जबर्दस्ती बिना मन के, खानेपीने पर संयम किया है और स्वार्थवश घरबार छोड़ा है। और राजा तो हमारी भेजी हुई चीजों का उपभोग भी नहीं करता है, तू तो बढ़िया चीजों का उपभोग करने के लिए ही कमर कसे हुए है।" किसान का वैराग्य उड़ गया। वह वापिस घर में आकर पहले की तरह रहने लगा।

यह कहानी स्वेच्छा से संयम और बलात् स्वार्थवश संयम का अन्तर स्पष्ट बता रही है।

अन्य बातों पर संयम भी आवश्यक

पाँचों इन्द्रियों और मन के अलावा हाथों, पैरों और शरीर पर भी संयम आवश्यक है। हाथों से किसी के थप्पड़, घूंसा आदि न मारना चोरी व छीनाझपटी न करना किसी को धक्का न देना, किसी का बुरा न करना हाथों पर संयम है। पैरों से किसी के ठोकर लगाना, किसी को कुचलना, रौंदना, दबाना और लात मारना पैरों का असंयम है। उसे रोकना संयम है। इसी प्रकार अपने शरीर से गलत चेष्टाएँ करना, दूसरे पर बोझरूप होना, शरीर को गलत प्रवृत्तियों में लगाना शरीर का असंयम है। उस पर काबू रखना शरीरसंयम है। इसी प्रकार पृथ्वीकायादि पर संयम भी जीवन में जरूरी है। जरूरत से

छुड़वा दी। इनमें सात्त्विक आदतें डाल दीं। तोतों को भी मनुष्य ने पिंजरे में डाल कर प्रायः अपनी तरह बोलना सिखा दिया। अन्य प्राणियों पर मनुष्यों की संगति का कैसा असर पड़ता है, इस बारे में एक उदाहरण लीजिए—

एक दफा एक बाघरी ने एक ही तोते के दो बच्चों को अलग-अलग जगह अलग-अलग मनुष्यों के हाथ बेचे। एक बच्चा, जहाँ बेचा गया था, उसके मालिक के यहाँ सदा गंदी और क्रूरताभरी बातें हुआ करती थीं। परिणामस्वरूप तोते के उस बच्चे में वैसे ही संस्कार पड़ गए। जबकि तोते का दूसरा बच्चा जहाँ बेचा गया था, उसके मालिक के यहाँ सभ्यता से बातें होतीं थीं। कोई भी किसी के साथ असभ्य बर्ताव नहीं करता था। फलस्वरूप उस बच्चे में अच्छे संस्कार पड़े। एक बार बाघरी को विचार आया कि अब तो तोते के वे दोनों बच्चे बड़े हो गए होंगे, जरा देख तो आऊँ कि वे अब कैसे हैं ?" अतः बाघरी जिस मालिक के यहाँ तोते के बच्चे को खराब संस्कार मिल रहे थे, उसके यहां पहले पहुंचा। बाघरी को नव-आगन्तुक मनुष्य देख कर वह तोता बोल उठा—"यहाँ तू क्यों आया है ? यहाँ से तेरा मुंह काला कर !" यह सुन कर बाघरी को बड़ा दुःख हुआ। वह वहाँ से उस जगह गया, जहाँ तोते का दूसरा बच्चा बेचा गया था। वह संस्कारी घर में रहता था। इसलिए बाघरी को देखते ही बोला—"आओ, पधारो, स्वागतम्।' एक ही तोते के इन दोनों बच्चों के स्वभाव व वचन में इतना अंतर देख कर बाघरी को बड़ा आश्चर्य हुआ। लेकिन जांच करने पर उसे पता लगा, जो बच्चा जिन व्यक्तियों की, जिस घर की सोहबत में रहता था, उस पर उस घर के वैसे ही संस्कार पड़े, वैसी ही आदतें और वचन सीख गया।

इसके अलावा कषायों और वासनाओं पर भी संयम रखना बहुत जरूरी है। यह संयम मन से सम्बन्ध रखता है। अगर मनुष्य अपने मन और इन्द्रियों पर स्वेच्छा से संयम कर ले तो काफी चीजों पर संयम हो जाता है।

भाग्यशालियो ! काफी विस्तार से मैं आपको संयम में पुरुषार्थ के बारे में कह चुका हूं। आप अपने जीवन में संयम को स्थान देंगे तो उससे भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के लाभ होंगे; इसमें कोई सन्देह नहीं। संयमी जीवन स्वयं ही अमृतमय, सुखमय और संतोषमय होता है। अतः मन में दृढ़ निश्चय कर लें—असंजमं परियाणामि संजमं उवसंपवज्जामि (असंयम के परिणामों को भलीभांति जानकर मैं संयम को स्वीकार करता हूं)।

स्थान—गौड़ीजी का उपाश्रय पायधुनी, बम्बई } वि० संवत् २००६ कार्तिक शुक्ला २

घुले जा रहे हैं। न आराम से रोटी खाते हैं और न सुख की नींद सोते हैं।" सेठ ने सेठानी की बात सुन कर मुस्कराते हुए कहा—"तुम्हें पता नहीं। निन्यानवे के चक्कर में नहीं आएँ तब तक ही इनकी ऐसी मस्ती है!" सेठानी—"यह चक्कर कौन-सा है?" सेठ—"कभी बताऊँगा।" एक दिन सेठ लक्ष्मीनन्दन बड़े सबेरे उठ गए। देखा कि धन्ना सुथार काम पर गया हुआ है, जमना घर में गाय की सेवा कर रही है। इधर-उधर कोई नहीं है। बस, एक थैली में ६६) रुपये डाल कर चुपके से उसके घर के पिछले दरवाजे से घुसे और वह थैली घर के एक कोने में डाल कर उलटे पैरों लौट आए। करीब आध घंटा बाद जमना घर की सफाई करने आई। झाड़ू लगाते-लगाते उसे एक थैली नजर आई। पहले तो वह चौंकी। फिर उसे खोल कर देखी तो चांदी के रुपये दीखे। जमना पढ़ी-लिखी नहीं थी। इसलिए उसने बीस-बीस रुपये के पांच ढेर लगाए। एक ढेरी में एक रुपया कम था। यानी १००) रु० में एक रुपया कम था। सुबह-सुबह इतने रुपये पा कर उसे बड़ी खुशी हुई। उसने थैली उठाई और संभाल कर घर में रख दी। पति के आते ही उसने हाल सुनाया। धन्ना ने सुन कर कहा—"भगवान् की कृपा हुई है। मगर एक रुपया और दे देते तो पूरे पांच बीसी यानी सौ रुपये हो जाते। खैर, जो भी हो, हमें एक रुपया पूरा करना है। अब तो धन्ना और जमनाबाई दोनों मेहनत करने में जुट पड़े। पहले तो सुबह से शाम तक मेहनत करते थे; तब ४–६ आने कमाते; उसमें आनन्द से गुजारा चल जाता। 'बासी रहे न कुत्ता खाय' की कहावत के अनुसार रुपये संभालने और सुरक्षित रखने की कोई चिन्ता न थी। परन्तु अब तो रात के ८–६ बजे तक डट कर मेहनत की, तब मुश्किल से ८ आने कमाए। खाने में कतरब्योंत की। सूखी रोटी और राबड़ी खा कर दो आने में काम चलाने लगे। ।≈) बचाए। शाम को जब

दूसरे प्राणियों की संगति से भी मानव-स्वभाव में परिवर्तन

इतना ही क्यों ? मनुष्य के सिवाय अन्य प्राणियों के सहवास से भी मनुष्य के जीवन में बहुत परिवर्तन हो जाता है।

"कुछ ही वर्षों पहले अखबार में एक घटना छपी थी कि रामू नामक एक लड़के को भेड़िये उठा कर ले गये। भेड़िये उसे अपनी मांद में रखते। रामू भेड़िये की तरह गुर्राता, कच्चा मांस चबा जाता। वह सारी चेष्टाएँ भेड़ियों की-सी करता था। वह मनुष्य की भाषा नहीं बोल सकता था। आखिर कुछ लोग भेड़ियों की गैरहाजरी में रामू को वहाँ से बलपूर्वक उठा ले आए और बलरामपुर के अस्पताल में दाखिल करा दिया। यहाँ डॉक्टरों ने उसे सुधारने, उसकी आदतों को बदलने की काफी कोशिश की, लेकिन उन्हें पूरी सफलता न मिली।"

यह घटना बताती है कि संगति का कितना जबर्दस्त असर होता है।

अन्य प्राणियों पर भी मनुष्यों की संगति का असर

जैसे मनुष्यों पर अन्य प्राणियों की संगति का असर होता है, वैसे ही अन्य प्राणियों पर भी मानवसंगति का असर पड़ता है। जैसी प्रकृतिवाले मनुष्य के सहवास में दूसरे प्राणी रहेंगे, वैसे ही स्वभाव के धीरे-धीरे बन जायेंगे। यह बात तो अनुभव सिद्ध है कि गाय, भैंस, बकरी, ऊँट, घोड़ा आदि सब मनुष्य के सम्पर्क में आने से पहले जंगलों में भटकते रहते थे। जंगली जानवर थे। उनकी आदतें भी जंगली और क्रूर थीं। लेकिन मनुष्य ने अपने सम्पर्क में ला कर, अपने साथ रख कर इन्हें पालतू बना दिये। इनकी क्रूर प्रकृति

लिए सीताजी ने एक सुन्दर कथा रामचन्द्रजी को कही थी। कथा का सार इस प्रकार है—

एक सत्यवादी शुद्ध मन के साधु अरण्य में तप करते थे। उनकी शान्त तपश्चर्या के प्रभाव से अरण्य के पशुपक्षी भी पारस्परिक वैरभाव भूल गए थे। इससे सारा अरण्य ही आश्रम जैसा बन गया था। अरण्यसिंह का आसन भी बदल गया, वहाँ इन्द्र का आसन डोलने लगे इसमें कौन-सी आश्चर्य की बात है! इन्द्र ने साधु की तपस्या भंग करने का निश्चय किया। वह हाथ में तलवार लेकर योद्धा का वेश बनाए हुए साधु के पास आया। नतमस्तक हो कर उसने साधु से विनम्र प्रार्थना की—"महाराज! मुझे इस अरण्य में घूमना है, इसलिए तलवार पास में रहेगी तो न मालूम मेरे हाथ से किसी की हत्या हो जाय, अथवा कोई प्रतिपक्षी मिल जाय और तलवार छीनने लगे; इसलिए आप कृपा करके मेरी यह तलवार आपके पास सुरक्षित रहने दें। मैं वापिस आकर आपसे ले लूंगा।" न जाने किस विचार से, साधु ने उसकी प्रार्थना स्वीकार करके तलवार अपने पास रख ली। इन्द्र साधु को तलवार दे कर विदा हुआ। साधु ने तलवार की रक्षा करने की जिम्मेवारी ली थी। इसलिए वह रातदिन उस तलवार को अपने पास ही रखता था। देवपूजा के लिए फूल लाने जाता तब भी तलवार उसके पास ही रहती। तलवार के नित्य सहवास के कारण साधु का विश्वास उस पर बढ़ गया और अपने तप-जप पर उसकी आस्था कम हो गई। परन्तु साधु को इस बात का पता नहीं लगा। वह स्वभाव से क्रूर बन गया। अरण्य में अब जीवहिंसा होने लगी। हिरणों का आसन डोल उठा। इस कारण साधु की तपस्या भंग हो गई और इन्द्र का आसन निष्कंटक व स्थिर हो गया।

इस पर से समझा जा सकता है कि दूसरे प्राणियों पर भी मानव की सोहबत का कैसा असर पड़ता है ?

जड़ साधनों की संगति से भी मनुष्य में परिवर्तन

अकसर यह देखा जाता है कि चेतन ही नहीं, जड़पदार्थों की संगति का भी मनुष्य के जीवन और स्वभाव पर जबर्दस्त प्रभाव पड़ता है। वातावरण का प्रभाव तो पड़ता ही है। रातदिन धन की सोहबत में और माया में ही रचेपचे रहने वाले व्यक्ति पर धन ऐसा जादू डाल देता है कि उसकी धर्म में रुचि प्रायः कम हो जाती है।

सेठ लक्ष्मीनन्दन और कमला दोनों अपना गृहस्थजीवन आनन्द से बिता रहे थे। सेठ के यहाँ पैसे की या नौकरचाकरों की कोई कमी न थी। आमदनी अच्छी थी। परन्तु सेठ को रातदिन और अधिक धन कमाने और अर्जित धन की सुरक्षा की चिन्ता लगी रहती थी। वे रोटी भी सुख से नहीं खा पाते थे। एक दिन सेठानी ने अपने पड़ौस में ही रहने वाले धन्ना सुथार और जमनाबाई का बेफिक्री का मस्त जीवन देखा। उनके चेहरे पर रौनक थी, आराम की नींद सोते थे। न ऊधो का लेना था, न माधो का देना। अपने हाल में मस्त थे। शाम को रोज भगवान् का भजन करते; ईमानदारी से धंधा करते और संतोष और शान्ति से दिन बिताते। अपनी कमाई से कभी गरीबों, भूखों व दुखियों को दान भी दे देते थे।" सेठानी ने सेठ से एक दिन कहा—"देखो तो, अपने ये पड़ौसी दम्पति कितने आनन्द में हैं ? अपने पास इतने सुखसाधन होते हुए भी कुछ शान्ति नहीं, बेफिक्री नहीं, निश्चिंतता और मस्ती नहीं। न इनकी तरह हमें शाम को भजन की सूझती है और न कुछ धर्माचरण की ही। इतनी कमाई और पैसा होते हुए भी आप रातदिन चिन्ता ही चिन्ता में

जाती है। अच्छी वस्तु की संगति से जब जड़पदार्थों की कीमत बढ़ जाती है तो मनुष्य की क्यों नहीं बढ़ेगी? एक कवि कहता है—

जाइयो तहाँ ही जहाँ संग न कुसंग होय।
कायर के संग शूर भागे पर भागे है।
फूलन की वासना सुहाग भरे वासन पै।
कामिनी के संग काम जागे पर जागे है।
घर बसे घर पै बसो, घर में वैराग कहाँ?
काम, क्रोध, लोभ, मोह पागे पर पागे है।
काजर की कोठरी में लाख हु सयानो जाय।
काजल की एक रेख लागे पर लागे है॥"

जैसे बुरी संगति से अच्छी चीज भी बुरी कहलाने लगती है, वैसे ही अच्छी संगति से बुरी चीज भी अच्छी कहलाने लगती है। यही नहीं; बुरे से बुरा व्यक्ति पापी, चोर और दुष्ट भी साधुपुरुषों या सज्जनों की संगति करने से सुधर जाता है।

सत्संगति से लाभ

आजकल लोग लाभ की बात को जल्दी ग्रहण कर लेते हैं और नुकसान की बात हो, पैसा खर्च करना पड़ता हो या समय देना पड़ता हो, ऐसी बात जरा भी सुनना नहीं चाहते।

आप या आपके घर में कोई बीमार हो जाता है तो आप स्वयं रोग के कारण, निदान और निवारण के उपाय से अनभिज्ञ होने से वैद्य, डाक्टर या हकीम के पास जाकर राय लेते हैं। आपको किसी पर मुकद्दमा चलाना हो या कोई जबर्दस्त आदमी आप पर जुल्म

भजन करने वाले पूछने आए कि आज रात को हम भजन करने आएँ ?" तो धन्ना भगत ने कहा—"भाई आज फुर्सत नहीं है, कल आना।" दूसरे दिन भी कड़ी मेहनत की और आठ आने बचाए। भजन करने वाले आए पर भगत का रूख न देखकर लौट गए। तीसरे दिन भी कस कर मेहनत की तो दस आने बचाए। अब तो १००) रु० पर आठ आने अधिक हो गए। अब तो धन्ना भगत के जी में आया कि ६ बीसी ही पूरे कर लें। फिर इसी तरह क्रम चला। अब तो दोनों के तन पर पूरे कपड़े भी नहीं थे; भोजन भी जैसेतैसे करके झटपट पेट में डाल लेते। क्योंकि अब तो धन के संग से धन्ना को अधिकाधिक धन कमाने और जोड़ने का लोभ सवार हो गया था। अब तो उसने व्याज पर रुपये देने शुरू किए। वसूली करने में डांटडपट से काम लेने लगा। सेठानी ने अब धन्ना और जमना को देखा तो बिलकुल बदले हुए नजर आए। अब चेहरे पर नूर नहीं था और न वह पहले की-सी मस्ती थी। सेठानी ने जब अपने पति से यह जिक्र किया और ऐसी हालत होने का कारण पूछा तो उन्होंने कहा—"मैंने तुम्हें पहले कहा था कि निन्यानवे के चक्कर में पड़ते ही आदमी बदल जाता है। धन्ना और जमनाबाई दोनों अब निन्यानवे के चक्कर में पूरी तरह फंस गए हैं। मुझे भी तो इसी का चक्कर है, जिससे चाहते हुए भी जीवन में मस्ती नहीं ला पाता।

धन की संगति से मनुष्य कितना बदल जाता है, इसकी यह बोलती हुई कहानी है ! शस्त्रों का सहवास भी मनुष्य का स्वभाव बदल देता है। जिस समय रामचन्द्रजी दण्डकारण्य में थे, उस समय उनके हाथ से किसी प्रकार की हिंसा न हो, इस हेतु से जैसे सूर्य का उनकी निकटवर्ती किरणों पर असर होता है, इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु के सहवास का असर होता है, इस बात को समझाने के

अर्थात्—सत्संगति बुद्धि की जड़ता दूर करके ज्ञान का प्रकाश कर देती है, वाणी में सत्य का सिञ्चन करती है, सम्मान और उन्नति की ओर मनुष्य को ले जाती है, सर्व दिशाओं में यश फैलाती है, श्रीवृद्धि भी करती है, भला बताइए सत्संगति मनुष्यों को क्या नहीं बना देती ?" इसीलिए तुलसीदास इस पर जोर देकर कहते हैं—

"एक घड़ी आधी घड़ी, आधी में पुनि आध।
'तुलसी' संगत साधु की, कटे कोटि अपराध ॥"

अगर जीवन में संतसमागम के थोड़े-से क्षण मिल जांय तो वे सादे ही जीवन को बदल देते हैं। वाल्मीकी लुटेरे को संत नारद का थोड़ा-सा ही सत्संग मिला था, जिससे उसका जीवन बदल गया और वह लुटेरे से ऋषि बन गया था। वर्षों से खूंख्वार और नास्तिक बने हुए प्रदेशी राजा की खराब जिंदगी केशीश्रमण के एक ही बार के अल्प-समय की संगति ने बिलकुल बदल दी। वह नास्तिक से आस्तिक बना और उसकी स्वार्थी तथा खूंख्वार बुद्धि को परमार्थी और सात्त्विक बना दी। ११४१ व्यक्तियों की हत्या करने वाले नरसंहारक अर्जुन-माली का जीवन पहले राजगृही के सुदर्शन श्रमणोपासक के और बाद में भगवान् महावीर के थोड़े-से समय के सत्संग ने बदल गया। वह क्रूर से क्षमाधारी, पापी से धर्मात्मा, नरसंहारक से नरोद्धारक पतित-पावन मुनि बन गया। सत्संगति ने ही अंगुलिमाल जैसे लुटेरे और हत्यारे को भगवान् बुद्ध की एक बार की संगति ने धर्मात्मा और नम्र संत बना दिया। राजगृही के कालसौकरिक (कसाई) के पुत्र सुलस ने अभय कुमार मंत्री की सत्संगति पा कर वंशपरम्परागत पशुवध का धंधा छोड़ दिया। उसके पिता और अन्य सम्बन्धियों के बहुत मनाने-समझाने पर भी वह विचलित न हुआ। यह सत्संगति का अचूक प्रभाव नहीं तो और क्या था ?

यह था तलवार के सहवास का शान्त साधु पर प्रभाव !

जड़ वस्तुओं पर अच्छी-बुरी संगति का प्रभाव

जड़ वस्तुओं पर भी अच्छी या बुरी संगति का प्रभाव पड़ता है। पानी की कोई कीमत नहीं होती; लेकिन पानी को दूध के साथ मिला कर लोग दूध के भाव उसे बेचते हैं। घी की अपेक्षा तेल सस्ता है। जब बिनौले या नारियल का तेल घी के साथ मिश्रित कर दिया जाता है तो ये तेल भी घी के साथ-साथ घी के भाव में बिकते हैं। कंकर जैसी तुच्छ वस्तु गेहूं के साथ मिल कर गेहूं के साथ तुलती है। नीतिकार कहते हैं—

"संतप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामाऽपि न ज्ञायते।
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते॥
अन्तःसागरशुक्तिकुक्षिपतितं तज्जायते मौक्तिकं।
प्रायेणाधममध्यमोत्तमजुषामेवंविधो वृत्तयः॥"

अर्थात्—तपी हुई लोह की कड़ाई में पड़े हुए जल का नामनिशान नहीं रहता। वही जल का बिन्दु जब कमलिनी के पत्ते पर पड़ा हो तो मोती के रूप में शोभा पाता है। समुद्र के अन्दर अगर वही पानी सीप के पेट में पड़ जाय तो मोती बन जाता है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि अधम, मध्यम और उत्तम जैसे पदार्थ या व्यक्ति की सोहबत होती है, वैसी ही वृत्ति या प्रकृति हो जाती है।

मिट्टी का घड़ा सुन्दरी की सोहबत से उसके मस्तक पर स्थान पाता है। पाषाण अगर मूर्तिकार के हाथ में पड़ जाता है तो वह देव के रूप में पूजनीय बन जाता है। काच सोने के साथ जड़ा जाता है तो मरकतमणि का-सा प्रकाशमान हो उठता है। इसी प्रकार खराब वस्तु के सम्पर्क से अच्छी वस्तु की भी कीमत घट

पर चमकते हुए तेज, बाहुबल व कंधे पर धनुष्यबाण आदि को देखते हुए कोई वीरपुरुष मालूम होता था। उसने एकाएक मुनियों के पास आ कर नमस्कार करके पूछा—"महाराज! आप इस भयंकर जंगल में यहाँ क्यों और कैसे आगए? यहाँ का रास्ता पानी और कीचड़ से लथपथ हो रहा है। चातुर्मास लगने में दिन चार ही बाकी रहे हैं। शहर यहाँ से करीब ४० कोस दूर है। फिर आप चातुर्मास कहाँ बिताएँगे?" साधुओं को लगा कि यह व्यक्ति कुछ संस्कारी लगता है, नहीं तो, मुनिमर्यादा, चातुर्मास और विहार की कल्पना इसके दिमाग में कैसे आती? आचार्य महाराज ने कहा—"भाई! हम रास्ता भूल गए हैं। हम अष्टापद जाने के लिए निकले थे। परन्तु वर्षा होने से कीचड़, घास, जीवजन्तु आदि पैदा हो गए। पगडंडी बन्द हो गई। हम तीन दिन से इधर-उधर भटक रहे हैं। शहर पहुंच सकना असम्भव है। अतः यहीं आसपास में कोई बस्ती हो तो बताओ। मुनियों के लिए जैसा शहर वैसा ही वन! तुम अनुमति दो तो जंगल में ही तपजप करके चातुर्मास बिता डालें।" आगन्तुक जरा विचार में पड़ा। धीरे-धीरे उसके रक्त में रमे हुए संस्कारों ने अंगडाई ली और उसने एक चट्टान की ओर अंगुलि करते हुए कहा—"इन टेकरियों की ओट में जो झौंपड़ियाँ दिखाई दे रही हैं, वे भीलों की हैं। यह भीलपल्ली है। हम भी वहीं रहते हैं। आप यहाँ चार माह रहना चाहें तो हम आपको रहने का स्थान दे देंगे। पर एक शर्त है, और उस शर्त को पालने का वचन दें तभी यहाँ रह सकते हैं।" साधुवृन्द के नायक आचार्य समयज्ञ थे। उन्होंने पूछा—"कौनसी शर्त है वह?" उसने कहा—"देखिए! हम लुटेरे हैं, आप हैं साधु। हम दोनों की राहें अलग हैं। हमारा मार्ग मारने का है, आपका तारने का है। हमारा धर्म लूटने का है, आपका धर्म लूट छुड़ाने का उपदेश देने का है। आप हमारा साथ करेंगे तो बिगड़ेंगे और हम

या अन्याय करता हो तो उसे मिटाने के हेतु आप स्वयं कानून के जानकार न होने से वकील या न्यायाधीश के पास जाते हैं। आपको कोई मकान बनाना होता है तो आप किसी राज या मिस्त्री के पास जा कर सलाह लेते हैं। वैसे ही आपको अपना जीवन सुखी, उन्नत और प्रशस्त बनाना हो तो त्यागी साधुओं की संगति में जाकर उनके वचन सुनना और उनसे उपाय पूछना जरूरी है। सत्पुरुषों की संगति के बिना मनुष्य में विवेक नहीं पैदा हो सकता। गोस्वामी तुलसीदास-जी कहते हैं—

"बिनु सत्संग विवेक न होई"

अतः अपने जीवन में धर्म-अधर्म, हिताहित और कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक प्राप्त करने के लिए संतपुरुषों का समागम बहुत ही लाभदायक और आवश्यक है। सत्संगति से लाभ का सरल शब्दों में कवित्त सुनिए—

"ज्ञान बढ़े गुणवान की संगत, ध्यान बढ़े तपसी-संग कीने।
मोह बढ़ै परिवार की संगत, लोभ बढ़े धन में चित्त दीने।
क्रोध बढ़े नर मूढ़ की संगत, काम बढ़ै तिय के संग कीने।
बुद्धि, विवेक, विचार बढ़े, कवि दीन सुसज्जन-संगत कीने॥"

वास्तव में मनुष्य को सन्मार्ग पर जाने के लिए सत्संग बड़ा लाभ-दायक है, भौतिक दृष्टि से भी और आध्यात्मिक दृष्टि से भी। इसीलिए नीतिज्ञों ने एकस्वर से सत्संगति की प्रशंसा की है—

"जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं।
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति॥
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं।
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्॥"

पल्लीपति अभी साधुओं के साथ-साथ चल रहा था। आचार्य महाराज ने उससे कहा—"एक प्रश्न पूछूं ? क्योंकि चातुर्मास में तुम्हारी शर्त के अनुसार हमने तुम सबसे कुछ भी कहना उचित न समझा।" पल्लीपति ने गद्गद् हो कर कहा—"निःसंकोच पूछिए न प्रभो! आप जो कुछ पूछेंगे, मैं आप से कुछ नहीं छिपाऊँगा!" आचार्य—"तुम कहते हो, मैं चोर हूं, पर तुम्हारे संस्कार तो तुम्हारे चोर होने की साक्षी नहीं देते। तुम किसी ऊँचे खान-दान के मालूम होते हो। तुम्हारे कुछ गुण मुझे तुम्हारा परिचय पाने को विवश कर रहे हैं।" आचार्य सुस्थित की प्रेममयी वाणी से पल्लीपति का हृदय पिघलने लगा। उसे अपने भव्य भूतकाल की धुंधली-सी याद आ गई। वेदना के आँसू उमड़ पड़े। उसने आँखें पोंछते हुए कहा—"प्रभो! अब उन पुरानी बातों को छेड़ कर आप मेरे घाव को मत कुरेदिए। मैं वर्तमान में कौन हूं, यही जानना बस होगा।" आचार्य ने अपनी मानवरत्नपरीक्षक बुद्धि से जरा नजदीक आकर वात्सल्य का हाथ फिराते हुए कहा—"पल्लीपति! स्मृति के अंगारे पर विस्मृति की राख अब क्यों ढक रहे हो; वह तुम्हें अन्दर ही अन्दर ही जलाया करेगी। उसे बाहर लाओ, ज्ञान व पश्चात्ताप के जल से उसे बुझा दो।" आचार्य के वात्सल्य से सने वचन पल्लीपति के हृदय में सीधे उतर गए। उसने कहा—"प्रभो! मेरी वेदना की भट्टी आपके भावभरे ज्ञान के छींटों से ठंडी नहीं होगी। वह मुझे ठंडी करके ही ठंडी होगी। फिर भी आपकी जिज्ञासा को देख कर अपनी रामकथा और व्यथा आपके सामने प्रगट कर देता हूं—

'मेरा जन्म त्रिपुरी के राजा विमलयश के यहाँ हुआ। माता का नाम सुमंगला था। मेरा नाम पुष्पचूल था। मेरी एक बहन थी पुष्पचूला। मैं अपने पिता का इकलौता पुत्र था। बहुत लाडप्यार से मेरा पालनपोषण हो रहा था। मुझे प्रत्येक बात की स्वतंत्रता

सत्संगति से भौतिक लाभ तो अनेक हैं। साधुपुरुषों की संगति से गृहस्थजीवन की पारिवारिक कलह से लेकर परिवार के किसी व्यक्ति के बुरे स्वभाव को मिटाने तक की गुत्थी सुलझ जाती है। सामाजिक जीवन में उपस्थित होने वाले अटपटे विकट प्रश्न भी संत-पुरुषों की संगति से मिनटों में हल होते देखे गए हैं। और तो और, श्रेणिक राजा जैसे अनेक राजाओं के क्रोधावेश में आ कर अन्तःपुर को जला बैठने तक का विचार भ० महावीर जैसे महापुरुषों के तनिक सत्संग से पलट जाता है।

सत्संग से नैतिक लाभों का तो कोई ठिकाना ही नहीं। शराब, शिकार, मांसाहार, जुआ, व्यभिचार, चोरी, भांग, गांजा, सुलफा आदि नशैली वस्तुओं के सेवन आदि किसी भी दुर्व्यसन में फंसा हुआ और लूट, डाका, हत्या आदि करने वाला कैसा भी पापी धार्मिक बन कर नीतिमय जीवन विताने लगा है तो संतसमागम के प्रभाव से ही। इस विषय में मैं आपको वंकचूल का उदाहरण सुनाता हूं—

आषाढ़ के घने बादल आसमान में छा रहे हैं। पानी बरस जाने से चारों ओर पृथ्वी जलमय बन रही थी। साधुओं का एक समूह अटवी पार कर रहा था। परन्तु अब चारों ओर पानी, कीचड़ और बीच-बीच में मेंढक हो जाने से आगे का मार्ग बन्द हो गया था। मुनिवर वहीं एक पेड़ के नीचे रुक जाते हैं। सोचते हैं—अब क्या किया जाय ? रास्ता नजर नहीं आ रहा है। चातुर्मास लगने में सिर्फ ४ दिन बाकी हैं। चौथे दिन यानी आषाढ़ी पूर्णिमा को तो चातु-र्मास्य स्थल पर पहुंच ही जाना है। फिर तो विहार हो नहीं सकेगा। अब तो न इस अटवी में चातुर्मास विताया जा सकता है, न आगे बढ़ने की स्थिति है। सभी इसी चिन्ता से व्यग्र हो रहे थे। तभी अटवी में एक विशालकाय मनुष्य आता दिखाई दिया। उसके चेहरे

उसी पल्ली में तब से अब तक हम हैं, जिसमें आप चार महीने रहे। वह बूढ़ा भील मर गया। उसने मुझे सबका सरदार बना दिया। मेरे मातहत अब ५०० भील हैं। इस पल्ली का मैं बेताज बादशाह हूं। चोरी, लूट और हत्या यही मेरा धंधा है। मेरी धाक से बड़े-बड़े थर्राते हैं। पर आज जब मैं अपने वात्सल्यमय माता-पिता को याद करता हूं तो हृदय विषाद से भर जाता है, आँखें गीली हो जाती हैं। माता-पिता का प्यार अब दुनिया में न रहा। क्योंकि वे हमारे वियोग में रो-रो कर मर गए। मैं अभागा उनके अन्तिम समय में भी न जा सका। प्रभो! यही मेरी दुःखद कहानी है।" आचार्य सहृदयतापूर्वक बोले—"पुष्पचूल! इसी का नाम तो जीवन है। जो जीवनपथ पाप की अंधेरी घाटी में से गुजरता है, वहाँ प्रकाश की भी गुंजाइश है। उस घाटी में से भी धर्म-नियम की सीढ़ियों के जरिए मानव ऊपर आ सकता है। तुम्हें कुछ न कुछ जीवनपाथेय देने को मेरा जी चाहता है। मैं तुम्हें चातुर्मास की स्मृति के रूप में ४ नियम देता हूं; जो कठिन नहीं हैं। तुम्हारे जीवन-विकास में वे सहायक सिद्ध होंगे। पहला नियम यह है—"मैं चाहता हूं कि तू किसी जीव की हिंसा न करे। परन्तु यह नियम अभी तेरे लिए दुष्कर होगा, इसलिए यही नियम दिलाता हूं कि किसी पर प्रहार करते समय ७ कदम पीछे हटना और सात बार प्रभु का स्मरण करना।"

"कबूल है धर्मावतार!" वंकचूल ने कहा।

आचार्य—"दूसरा नियम यह है—मैं चाहता हूं कि तुम सादे और सात्त्विक भोजन पर रहो, लेकिन अभी इतना होना मुश्किल है। पर यह तो तुम से हो सकता है—जिस खाने की चीज की पहिचान न हो, या तुम जिसका नाम न जानते हो, उसे मत खाना।" वंकचूल ने यह भी मंजूर किया। आचार्य ने तीसरा नियम बताते हुए कहा—

आपका साथ करें तो हमारी जीविका खत्म हो जायगी। अतः आप हमारे मार्ग में हस्तक्षेप न करना। मेरे मातहत ५०० लुटेरे हैं। हमारा धंधा लूटने का है। लूट और चोरी के साथ हत्या और मारपीट तो जुड़ी हुई हैं। मैं जानता हूं कि आपका मार्ग सच्चा है, परन्तु हमारे काम का नहीं। अहिंसा का स्वीकार करें तो खून कैसे हो? लूट न करें तो पेट कैसे भरें? इसलिए आप यहाँ खुशी से रहिए, पर हमारे किसी भी आदमी को उपदेश न देने की शर्त ध्यान में रखें। नहीं तो…" लुटेरे की यह स्पष्ट, समझदारी से भरी, और निखालिस बात सुन आचार्य को आनंद हुआ। आचार्य ने भावी मंगल की आशा से सभी साधुओं से विचारविमर्श करके चोरपल्ली में उसकी शर्त के अनुसार चातुर्मास विताने की स्वीकृति दे दी।

प्रकृति के इस सुरम्य शान्त वातावरण में मुनियों ने एक झोंपड़ी में चातुर्मास विताने के लिए अपने आसन जमाए। स्वाध्याय, ध्यान, मौन, तप और आत्मसाधना में चार महीने वायु के झोंके की तरह झटपट बीत गए। लुटेरे चोरी-लूट का माल लेकर साधुओं के निवास-स्थान के आगे से हो कर गुजरते जरूर थे; पर त्याग का प्रकाश उनके हृदयों को स्पर्श करता उससे पहले ही वे वायुवेग की तरह सरपट आगे निकल जाते।

चातुर्मास समाप्त हो गया। आज साधुवृन्द विहार करने की तैयारी में था। पल्लीपति ने आकर भावपूर्वक नमन किया। पल्लीपति और कुछ उसके मातहत लोग साधुओं को विदाई देने पीछे-पीछे चल रहे थे। चाहे उपदेश न दिया हो, लेकिन त्याग, तप, शान्ति और संयम का मूक असर सभी के हृदयों पर अंकित हो चुका था। पगडंडी के मोड़ पर आचार्य रुके। उन्होंने पल्लीपति और उसके साथियों को मंगलपाठ सुनाया। साथी लोग तो वापिस लौट गए। लेकिन

उसी पल्ली में तब से अब तक हम हैं, जिसमें आप चार महीने रहे। वह बूढ़ा भील मर गया। उसने मुझे सबका सरदार बना दिया। मेरे मातहत अब ५०० भील हैं। इस पल्ली का मैं बेताज बादशाह हूं। चोरी, लूट और हत्या यही मेरा धंधा है। मेरी धाक से बड़े-बड़े थर्राते हैं। पर आज जब मैं अपने वात्सल्यमय माता-पिता को याद करता हूं तो हृदय विषाद से भर जाता है, आँखें गीली हो जाती हैं। माता-पिता का प्यार अब दुनिया में न रहा। क्योंकि वे हमारे वियोग में रो-रो कर मर गए। मैं अभागा उनके अन्तिम समय में भी न जा सका। प्रभो! यही मेरी दुःखद कहानी है।" आचार्य सहृदयतापूर्वक बोले—"पुष्पचूल! इसी का नाम तो जीवन है। जो जीवनपथ पाप की अंधेरी घाटी में से गुजरता है, वहाँ प्रकाश की भी गुंजाइश है। उस घाटी में से भी धर्म-नियम की सीढ़ियों के जरिए मानव ऊपर आ सकता है। तुम्हें कुछ न कुछ जीवनपाथेय देने को मेरा जी चाहता है। मैं तुम्हें चातुर्मास की स्मृति के रूप में ४ नियम देता हूं; जो कठिन नहीं हैं। तुम्हारे जीवन-विकास में वे सहायक सिद्ध होंगे। पहला नियम यह है—"मैं चाहता हूं कि तू किसी जीव की हिंसा न करे। परन्तु यह नियम अभी तेरे लिए दुष्कर होगा, इसलिए यही नियम दिलाता हूं कि किसी पर प्रहार करते समय ७ कदम पीछे हटना और सात बार प्रभु का स्मरण करना।"

"कबूल है धर्मावतार!" वंकचूल ने कहा।

आचार्य—"दूसरा नियम यह है—मैं चाहता हूं कि तुम सादे और सात्त्विक भोजन पर रहो, लेकिन अभी इतना होना मुश्किल है। पर यह तो तुम से हो सकता है—जिस खाने की चीज की पहिचान न हो, या तुम जिसका नाम न जानते हो, उसे मत खाना।" वंकचूल ने यह भी मंजूर किया। आचार्य ने तीसरा नियम बताते हुए कहा—

थी। सभी दास-दासी मेरी आज्ञा में सिर झुकाए तैयार खड़े रहते। परन्तु मैं इस स्वतंत्रता को हजम न कर सका। माता-पिता के वात्सल्य का मैंने दुरुपयोग किया। धीरे-धीरे बुरी सोहबत के कारण मुझ में स्वच्छन्दता और उन्मत्तता बढ़ती गई। मेरे उपद्रव के कारण लोग मुझे 'पुष्पचूल' के बदले 'वंकचूल' कहने लगे। शराब के नशे में चूर हो कर मैं नगरी के राजमार्ग पर सरपट घोड़ा दौड़ाता हुआ जाता, कोई गरीब उसकी टक्कर में आ जाता तो उसे आश्वासन देने के बदले में धमका देता। चाहे जिसके चाबुक मार देता। मेरे इस प्रकार के कारनामों से नगरी के निर्दोष प्रजाजन त्रस्त हो गए। उन्होंने पिता के पास मेरी शिकायत की। माता और पिता ने मुझे खूब स्नेह उंड़ेल कर समझाया; लेकिन मैंने एक न सुनी; उनकी हितशिक्षा ठुकरा दी। मेरा पत्थर-सा दिल नहीं पिघला। मातापिता की इस ममता को मैं उनकी निर्बलता मान कर उलटा अधिक उपद्रवी बन गया। दशहरे के दिन तो उसकी हद हो गई। मेरे पिता ने हार-थक कर आखिर मुझ से कहा—"जा पापी! चला जा यहाँ से! मुझे अपना काला मुंह मत बताना। मेरी गरीब प्रजा बेचारी त्रस्त हो गई है।" इन शब्दों ने मेरे स्वाभिमान को चुनौती दी। और मैं उसी क्षण घर से बाहर निकल पड़ा। मेरी छोटी बहन बहुत-कुछ समझाने के बावजूद भी मेरे प्रति अटूट स्नेह के कारण मेरे साथ चल पड़ी। हम दोनों भाई-बहन चलते-चलते इसी अटवी में आ चढ़े। तीन दिन तक सतत चलने से मैं और बहन थक कर चूर हो गए थे। पैरों ने जवाब दे दिया। फिर भी मैं बहन को बिठा कर किसी तरह उठ कर भोजन की तलाश में निकला। सामने से एक भील आता दिखाई दिया। मैं रुका। मैंने उसके सामने अपनी व्यथा सुनाई। उसने मुझे अपनी पल्ली में चलने का निमंत्रण दिया। और

नियम याद आया। तुरंत वह सात कदम पीछे हटा, भगवान् का नाम भी स्मरण करने लगा। संयोगवश तलवार पीछे की दीवार से टकराई। और उसकी आवाज से चौंक कर एकदम पुष्पचूला की नींद उड़ गई। पुरुषवेप में ही वह बोली—"चिरंजीवी हो मेरे भाई!" वंकचूल के आश्चर्य का पार न रहा। उसने अपनी वहन से पुरुष-वेप पहनने का कारण पूछा। और कहा—"आज तो मुझ-से महान् अनर्थ हो जाता। मैं भगिनीहत्या कर बैठता। भला हो उन महान् संत का; जिन्होंने प्रहार से पहले सात कदम पीछे हटने व प्रभुस्मरण करने का नियम दिलाया। पुष्पचूला ने मर्दाना वेप पहनने का सारा कारण बताया और वंकचूल का समाधान किया। इससे नियमनिष्ठा दृढ़ हो गई।

इसके ८ ही दिन वाद धारानगरी पर चढ़ाई करने की वारी आई। प्रस्थानसमय कुछ अपशकुन हुए पर इस वीर ने परवाह न की। धारा-नगरी में ज्यों ही लूट मचाने का प्रयत्न किया, पहले ही सुसज्जित चौकीदारों और ग्रामजनों ने डट कर मुकाविला किया। लुटेरे भी वहादुरी से लड़े। पर अंत में एक वड़े समूह के सामने कहाँ तक टिक पाते? अतः मौका देख कर वहाँ से भागे। फौज पीछे लगी; लेकिन ये सभी इस सिफ्त से भागे कि पकड़ा न सके। घोर जंगल में पहुंच कर पूर्वनिश्चित एक दर्रे में घुस गये। भूखे-प्यासे और थके हुए लुटेरों ने वंकचूल के आदेश से जंगल में खड़े वृक्षों के सुन्दर और सुगन्धित फल तोड़े और अपने सरदार के आगे ला कर ढेर कर दिये। कुछ लोग पानी लाए। वंकचूल ने एक फल उठाया और सूंघते हुए पूछा—"फल तो वड़े सुन्दर और खुशबूदार हैं, क्या नाम है, इनका? एक लुटेरे ने कहा—"नाम से आपको क्या मतलव है? भूख मिटानी है, मिटाइए।" परन्तु साथियों के वहुत आग्रह पर भी वंकचूल ने उन अज्ञात फलों को नहीं खाया। भूखा ही रहा। दूसरे सव साथियों

"मैं चाहता हूं कि तुम शीलवान बनो, पर कदाचित् इतना करना तुम्हारे लिए कठिन होगा। इसलिए राजा की रानी के प्रति कुदृष्टि से देखने और सहवास करने का त्याग करना। क्योंकि वह प्रजा की माता होती है।" "महाराज ! कैसी बात करते हैं ! आप न कहें तो भी यह नियम मुझे एक बार नहीं, सात बार कबूल है।" आचार्य ने चौथा नियम बताया—"मैं चाहता हूं तुम मांसाहार न करो, लेकिन यह तुमसे शक्य न हो तो कौए के मांस का त्याग करना। बोलो, चारों नियमों का भलीभांति पालन करोगे न ? नियम लेना आसान पर उसे पालन करना कठिन होता है।" वंकचूल ने चारों ही नियमों के पालन का विश्वास दिलाते हुए आचार्य से कहा—"महाराज ! मैंने ये नियम एक पूज्य संत के सामने चातुर्मासिक पुण्यस्मृति के रूप में लिए हैं। अब तो पुष्पचूल इन पर पर्वत के समान अडिग रहेगा, आप जरा भी चिन्ता न करें।

आचार्य ने विदा लेते हुए कहा—"पुष्पचूल ! ये नियम और संस्कार ही तुम्हारे जीवन में प्रकाश करेंगे, तुम्हारे जीवन को उन्नत बनाएँगे।"

मुनिवरों ने आगे कदम बढ़ाया। पुष्पचूल ने भावुक हो कर गुरुचरणों की धूलि मस्तक पर चढ़ा कर नमस्कार करते हुए विदा ली।

लूट का माल लेकर ज्यों ही पल्लीपति वंकचूल अपने घर में घुसा तो उसने देखा—आंगन में एक ही पलंग पर अपनी पत्नी के साथ कोई पुरुष लिपट कर सोया हुआ है। देखते ही वंकचूल ने एक-दम आगबबूला हो कर तलवार खींची—"पापी !" परन्तु तलवार मारने के लिए उठाई थी कि सहसा मुनि के द्वारा दिया गया पहला

कर मुस्कराती हुई रानी ज्यों ही वंकचूल का हाथ पकड़ने जाती है। वंकचूल को अपना नियम याद आया। कितना कठिन काम था यह ? एकान्त स्थान और समय; ढलछती जवानी और यौवन में मद-माती नारी का निमंत्रण ! "चाहे शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो जाँय, मैं नियम को तोड़ नहीं सकता" ऐसा वह मन ही मन कह रहा था। वंकचूल ने हाथ छुड़ाते हुए कहा—माँ ! यह क्या कर रही हो ? अपना धर्म को मत भूलो ! हम तो तुम्हारे वालक हैं। वालक पर माँ की विकारी दृष्टि कैसे हो सकती है ?" रानी ने उसे छल-वल, भय और प्रलोभन सभी तरह से अपने कामजाल में फंसाने का प्रयत्न किया। लेकिन वंकचूल अडिग रहा। इन दोनों की वातें पास की अट्टालिका में सोया हुआ एक व्यक्ति एकाग्र हो कर सुन रहा था। रानी ने जब कोई और उपाय न देखा तो जोर से चिल्लाना शुरू किया—"दौड़ो, दौड़ो, चोर ! चोर ! मेरी लाज लूट रहा है !" ज्यों ही पहरेदार रानी के महल में वंकचूल को गिरफ्तार करने आए; ज्यों ही गुप्तरूप से वार्तालाप सुनने वाले व्यक्ति ने एकदम प्रगट हो कर आज्ञा दी—"इस चोर को मेरे महल में ले आओ और रानी को कारागार में डालो।" पहरेदार आश्चर्य में पड़े। लेकिन राजाज्ञा का पालन करने के लिए विवश थे। वंकचूल के दृढ़ चरित्र से प्रभावित राजा ने रातभर वंकचूल से वातें की। उसका सारा परिचय प्राप्त किया। सारा रहस्य खुल गया था। प्रातःकाल राजसभा में घोषित किया गया कि "राजकुमार वंकचूल मेरा अपना दत्तकपुत्र रहेगा और उज्जैनी के सेनापति पद पर उसे नियुक्त किया जाता है। और उनके साथियों को सेना में यथायोग्य पद पर नियुक्त किया जाता है। रानी को देहान्तदण्ड की सजा दी जाने वाली थी, लेकिन वंकचूल की प्रार्थना पर उसे क्षमा दी जाती है।" उज्जैनी में आनन्द की लहर छा गई। वंकचूल के सेनापति वन जाने के कारण नगरी में असुरक्षा का भय समाप्त हो

"मैं चाहता हूं कि तुम शीलवान बनो, पर कदाचित् इतना करना तुम्हारे लिए कठिन होगा। इसलिए राजा की रानी के प्रति कुदृष्टि से देखने और सहवास करने का त्याग करना। क्योंकि वह प्रजा की माता होती है।" "महाराज! कैसी बात करते हैं! आप न कहें तो भी यह नियम मुझे एक बार नहीं, सात बार कबूल है।" आचार्य ने चौथा नियम बताया—"मैं चाहता हूं तुम मांसाहार न करो, लेकिन यह तुमसे शक्य न हो तो कौए के मांस का त्याग करना। बोलो, चारों नियमों का भलीभांति पालन करोगे न? नियम लेना आसान पर उसे पालन करना कठिन होता है।" वंकचूल ने चारों ही नियमों के पालन का विश्वास दिलाते हुए आचार्य से कहा—"महाराज! मैंने ये नियम एक पूज्य संत के सामने चातुर्मासिक पुण्यस्मृति के रूप में लिए हैं। अब तो पुष्पचूल इन पर पर्वत के समान अडिग रहेगा, आप जरा भी चिन्ता न करें।

आचार्य ने विदा लेते हुए कहा—"पुष्पचूल! ये नियम और संस्कार ही तुम्हारे जीवन में प्रकाश करेंगे, तुम्हारे जीवन को उन्नत बनाएँगे।"

मुनिवरों ने आगे कदम बढ़ाया। पुष्पचूल ने भावुक हो कर गुरुचरणों की धूलि मस्तक पर चढ़ा कर नमस्कार करते हुए विदा ली।

लूट का माल लेकर ज्यों ही पल्लीपति वंकचूल अपने घर में घुसा तो उसने देखा—आंगन में एक ही पलंग पर अपनी पत्नी के साथ कोई पुरुष लिपट कर सोया हुआ है। देखते ही वंकचूल ने एकदम आगबबूला हो कर तलवार खींची—"पापी!" परन्तु तलवार मारने के लिए उठाई थी कि सहसा मुनि के द्वारा दिया गया पहला

कम नहीं है। साधुसंतों के दर्शन, प्रवचनश्रवण और सेवा में अनेक अशुभ कर्म (पाप) कट जाते हैं, पुण्य बढ़ जाता है और मनुष्य नर से नारायण तक बन जाता है। इस सम्बन्ध में पुराण की एक सुन्दर कथा आपके सामने रखता हूं—

एक दिन नारदजी ने भ० श्रीकृष्ण से पूछा—"सत्संग क्या फल देता है?" उत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा—"अगर तुम्हें सत्संग का फल देखना हो तो रौरव नामक नरक में जाओ। वहाँ एक कीड़ा है। वह तुम्हें सत्संग का फल बताएगा।" नारदजी रौरव नरक में पहुंचे। ज्यों ही नारदजी उस कीड़े के पास पहुंचे त्यों ही वह मर गया। उसने नारदजी से न कुछ कहा, न सुना। नारदजी पश्चात्ताप करते हुए श्रीकृष्णजी के पास आए। श्रीकृष्णजी ने पूछा—"क्यों नारदजी! देख लिया सत्संग का फल?" नारदजी—"क्या कहूं। मुझे देखते ही कीड़ा तो मर गया। समझ में नहीं आया, क्या बात है? उलटा मेरे सिर पाप लग गया।" श्रीकृष्ण ने कहा—"अच्छा, उस आम के पेड़ पर जो घोंसला है, उसमें जो तोते का बच्चा है, वह तुम्हें सत्संग का फल बताएगा, जाओ।" नारदजी वहाँ जाते हैं तो वह भी तड़फड़ाकर तुरंत मर गया। नारदजी के दिल में पश्चात्ताप हुआ। एक नहीं, दो हत्याएँ लग गईं। कुछ दिनों बाद वे भ० कृष्ण से मिले तो फिर बात छेड़ी। श्रीकृष्ण ने कहा—"देखो, उस जगह एक गाय का बछड़ा है, वह तुम्हें सत्संग का फल बताएगा।" नारदजी वहाँ जाते हैं तो वह बछड़ा शीघ्र ही छटपटा कर प्राण छोड़ देता है।" यह देख कर नारदजी के दिल को बड़ी चोट लगी। और गोहत्या के पाप का तो बड़ा दुःख हुआ। सोचा—"मैं न जाता तो ये तीन हत्याएँ तो न होतीं। श्रीकृष्णजी के तो मजाक होती है। अब मुझे कहीं नहीं जाना है।" कुछ दिनों बाद भ० श्रीकृष्ण ने उन्हें स्वयं बुला कर पूछा—"कहो, नारदजी! सत्संग का फल देख लिया

ने छक कर वे फल खाए। सभी थक कर चूर हो गए थे, इसलिए लेटते ही नींद में लोटपोट हो गए। पर वंकचूल को भूखे पेट नींद कहाँ से आती? उसने सबको जगा कर चलने का विचार किया। परन्तु यह क्या? सब सोये के सोये पड़े हैं! हिलाने और आवाज देने पर भी कोई नहीं उठता! वंकचूल ने सबको टटोल कर देखा तो मालूम हुआ कि सबके प्राण-पखेरू उड़ गये हैं। वंकचूल को उनकी मृत्यु का कारण समझते देर न लगी। एक ओर उसे अपने साथियों के मर जाने का अफसोस था तो दूसरी ओर संत के दिए हुए नियम के पालन से जान बच जाने का आनन्द था। नियम पर श्रद्धा अब और बढ़ गई। वह भारी मन से पल्ली पहुंचा। अपने मृतसाथियों के परिवार को आश्वासन दिया।

अब तो वंकचूल के मन में संत के वचनों के प्रति अपार श्रद्धा बढ़ गई और यह इच्छा हो गई कि बस, एक चोरी और कर लूं। फिर सदा के लिए बन्द। उज्जैनी के राजा की रानी का नवलखा हार पूनम की चांदनी रात को अकेले जा कर चुराने का संकल्प किया। ठीक पूर्णिमा के दिन वंकचूल अपने साधनों सहित राजमहल में पहुंच गया। रानी अट्टालिका में पलंग पर सोई हुई थी। चांदनी सुन्दर मुखमण्डल पर पड़ रही थी। वंकचूल धीमे कदमों से रानी के पलंग के पास आया। नवलखाहार उसके गले में पड़ा था। रानी एकदम चौंक कर उठी। और बोली—"कौन है तू?" चांदनी में वंकचूल की ढाल-सी देह, उभरा हुआ वक्षस्थल एवं सुन्दर रूप को देखकर रानी चकित और मोहित हो गई। वह पास आ कर बोली—"मैं जानती हूं कि तू चोर है। लेकिन आज तो मैं तुम्हें स्वयं को चोरी के माल के रूप में सौंपती हूं। मेरे हृदय के चोर! मैं तो देह, गहने और दिल सभी तुम्हें देने को तैयार हूं। जरा नजदीक आ।" यों कह

का बछड़ा बना। वहाँ भी आपने दर्शन की कृपा की तो मर कर राजा के पुत्र के रूप में जन्मा हूं। यह आपके सत्संग का ही फल मुझे मिला है।" नारदजी के मन का अब पूरा समाधान हो चुका था। वे वहाँ से लौट कर अपने स्थान पर आ गए और श्रीकृष्णजी से सारी घटना कह सुनाई।

सत्संग का इतना उत्तम फल पा कर कौन इसे अपनाने को तैयार न होगा! इसीलिए कहा है—

"क्षणमपि सज्जनसंगतिरेका, भवति भवार्णवतरणे नौका।"

"एक क्षणभर की सज्जनों की संगति संसारसमुद्र को पार करने में नौका बन जाती है।"

सत्संगति का फल हजार वर्ष के तप से भी अधिक

और एक पौराणिक कथा यह बताती है कि एक बार की सत्संगति और हजार वर्ष का तप दोनों में संगति बड़ी है। कथा इस प्रकार है—

एक बार वशिष्ठजी विश्वामित्रजी के यहाँ पधारे। उन्होंने वशिष्ठ-जी का आदरसत्कारपूर्वक आतिथ्य किया। भोजन कराया। दक्षिणा में अपना एक हजार वर्ष का तप भेंट में दिया। उसे लेकर वशिष्ठ अपने आश्रम में गए। किसी समय विश्वामित्रजी भी वशिष्ठजी के यहाँ पहुंचे। उन्होंने भी उनका बहुत आदरसत्कारपूर्वक आतिथ्य किया, भोजन कराया। तत्पश्चात् दक्षिणा के रूप में अपना सिर्फ एक घड़ी का सत्संग अर्पण किया। यह देख विश्वामित्र को बहुत गुस्सा आया कि वशिष्ठजी! क्या मेरी मजाक उड़ा रहे हैं? कहाँ मेरी एक हजार वर्ष के तप की दक्षिणा और कहाँ इनकी एक घड़ी

गया। वंकचूल के सेनापति बनने के बाद एक ही साल में राज्य में काफी परिवर्तन हो गया। परन्तु पड़ोसी राजा यदाकदा सिर उठाता था। युद्ध का संदेश भी आपहुंचा था। वंकचूल ने युद्ध की तैयारी की। वंकचूल के प्रबल पराक्रम से विजय तो प्राप्त हो गई; मगर अनेक शस्त्रप्रहारों से वंकचूल का शरीर क्षतविक्षत और घायल हो गया था। नगर में धूमधाम से प्रवेश कराया। परन्तु वंकचूल की हालत गंभीर देख कर सबके मन पर गमगीनी छाई हुई थी। राजा ने अनेक उपचार करवाए; मगर वंकचूल का जहरीला घाव न भरा। आखिर एक वैद्य ने कहा—"अब तो एक ही उपाय है, सेनापति को बचाने का। इन्हें कौए का मांस मेरी दवा के साथ खिलाया जाय।" वंकचूल से जब पूछा गया तो उसने दृढ़ता के स्वर में इन्कार किया—"यह कभी नहीं हो सकता। मैं अपने धर्म पर अटल रहूंगा। शरीर तो फिर मिल सकता है, लेकिन गया हुआ धर्म फिर नहीं मिल सकता। मरना तो एक दिन है ही। अगर नियमपालन करते हुए यह शरीर गया तो खुशी की बात है।" राजा और रानी दोनों ने वात्सल्यभाव से बहुत समझाया। लेकिन वंकचूल टस से मस न हुआ। वंकचूल ने गुरुजी द्वारा दिये गए नियम का पालन करते हुए प्रसन्नतापूर्वक शान्ति से शरीर छोड़ दिया।" सारी नगरी में वंकचूल की मृत्यु पर शोक छा गया। पर वंकचूल की आत्मा प्रसन्नता से नियमनिष्ठा के कारण देवलोक में जा विराजी थी!

यह था संतसमागम का अद्भुत लाभ! सत्संग से वंकचूल को लाभ तो मिला ही, साथ ही उसके परिवार व साथियों को भी अनायास ही लाभ मिला।

सत्संगति का फल

सत्संगति का यह फल तो प्रत्यक्ष मिला। परन्तु परोक्ष फल भी

ऊँची कर दीजिए।" विश्वामित्र ने तुरंत जल ले कर संकल्प किया—"हे धरा! तुम्हें मैं अपनी हजार वर्ष की तपस्या का फल देता हूं, उसके प्रभाव से तुम सिर्फ एक बीता ऊँची हो जाओ।" परन्तु पृथ्वी जरा भी न हिली। तब वशिष्ठजी ने जल लेकर कहा—"हे पृथ्वी! मैं तुम्हें एक घड़ी के सत्संग का फल देता हूं, तुम ऊँची हो जाओ, जिससे हमारी चर्चा का निर्णय हो जाय।" सबके आश्चर्य के बीच पृथ्वी तुरंत शेषनाग के सिर से ऊपर हो गई। शेषनाग प्रसन्न हुए। विश्वामित्र बोले—"जल्दी उत्तर दो।" शेषनाग हंस कर बोले—"उत्तर तो कभी का मिल चुका है।" विश्वामित्र समझ गए, लेकिन जरा झेंप गए। परन्तु प्रत्यक्ष निष्पन्न उत्तर मिल जाने से उनका क्रोध ठंडा हो गया। और दोनों ऋषि मर्त्यलोक में लौट आए।

इस कथा पर से आप सत्संगति का महत्त्व समझ ही गए होंगे। वास्तव में सत्संगति पारसमणि है। पारसमणि के स्पर्श में चाहे जैसा लोहा आ जाय वह उसे सोना बना देता है। इसी प्रकार सत्संगति भी पापी से पापी व्यक्ति को धर्मात्मा बना देती है। यही नहीं, पारसमणि तो सोना ही बना कर रह जाता है, अपने समान नहीं बनाता; लेकिन सत्संगति अपने पास आने वाले व्यक्ति को अपने जैसा बना देती है। इसीलिए कहा है—

> "लाखों पापी तिर गए सत्संग के प्रताप से।
> क्षण में बेड़ा पार है, सत्संग के प्रताप से॥"

सत्संगति शरीर से ही नहीं, मन से हो

कई लोग यह शिकायत करते हैं कि हमें वर्षों हुए सत्संग करते; कुछ भी फायदा नहीं हुआ। उनके इस कथन पर विचार करेंगे तो पता लगेगा कि वर्षों सत्संग करने पर भी उनके जीवन में परिवर्तन

या नहीं ?" नारदजी बोले—मिला भी नहीं और मुझे चाहिए भी नहीं। जहाँ जाता हूं, वहाँ हत्या होजाती है। मेरे निमित्त से यह पाप हो, ऐसा मैं नहीं चाहता।" श्रीकृष्णजी ने कहा—देखिए ! अपने गाँव से कुछ दूर एक नगर है। वहाँ के राजा के यहाँ आज पुत्रजन्म हुआ है। वह राजकुमार आपको जरूर सत्संग का फल बताएगा।" नारदजी—"ना ! अब मेरी हिम्मत नहीं होती। नारकी में गया, वहाँ कीड़ा मर गया, तोते के बच्चे के पास गया, वह भी मर गया, बछड़े के पास गया तो उसने भी मुझे देखते ही प्राण छोड़ दिये। वहाँ तो मुझसे कोई जवाबतलब करने वाला नहीं था, लेकिन राजा के यहाँ जाने पर अगर मुझे देखते ही राजकुमार मर जाय तो राजा मुझे फांसी के तख्ते पर चढ़ा देंगे।" श्रीकृष्ण—"मुझ पर विश्वास रखिए। इस बार ऐसा नहीं होगा।" नारदजी—"अच्छा, आपके विश्वास पर जाता हूं।" नारदजी राजा के यहाँ जाते हैं। वहाँ पुत्र-जन्मोत्सव की धूम मची हुई थी। राजा नारदजी को देख कर बहुत प्रसन्न हुआ। चरणों में झुक कर नमस्कार किया। बड़ी आवभगत करते हुए राजा ने कहा—"मेरा प्रबल पुण्योदय था कि आज मेरे यहाँ पुत्रजन्म हुआ, और दूसरी ओर आप जैसे संतों का बिना बुलाए पधारना हुआ, दर्शन हुए। कहिए, क्या आज्ञा है, मेरे लिए ? अन्तःपुर में पधारिए, दर्शन दीजिए।" नारदजी—"हुक्म कुछ नहीं। मैं तुम्हारे पुत्र को देखना चाहता हूं।" राजा—"खुशी से पधारिए। आपके लिए कोई रोकटोक नहीं।" नारदजी अन्तःपुर में जाकर रानी को दर्शन देते हैं। नवजात शिशु नारदजी के दर्शन करके कहता है—"महाराज ! क्या सत्संग का फल अभी तक आपको देखने को न मिला ? वह नारकी का कीड़ा मैं ही था। लेकिन वहाँ आप सरीखे ब्रह्मचारी महापुरुष के दर्शन होते ही तुरंत मर कर तोते का बच्चा हुआ। वहाँ भी आप पुण्यपुरुष के दर्शन पा कर प्राण छोड़ कर गाय

२५

व्यसनों से राष्ट्र को बचाइए !

['देवकरणमेन्सन' के पास चार रास्ते पर वम्बई-राज्यसरकार की ओर से वर्तमान उपप्रधानमंत्री श्रीमोरारजी देसाई के मुख्यमंत्रित्वकाल में आयोजित सभा में युगवीर स्व० आचार्य श्री विजयवल्लभसूरिजी महाराज ने जनता व खासकर राष्ट्रीयनेताओं के समक्ष व्यसनों से राष्ट्र की सुरक्षा पर डेढ़ घंटे तक ओजस्वी प्रवचन दिया था। उनके प्रवचन से प्रभावित हो कर अनेक लोगों ने शराव, मांस, बीड़ी, तम्वाकू आदि का त्याग किया था। —सम्पादक]

आगन्तुक महानुभावो !

आज आप सव लोग एक विशेष प्रयोजन से इकट्ठे हुए हैं। व्यसनों से राष्ट्र की सुरक्षा के वारे में आप सव लोग मेरे विचार जानना चाहते हैं। मैं तो यह मानता हूं कि इस प्रश्न पर केवल हमारे राष्ट्र को ही नहीं, विश्व के सभी विचारशील राष्ट्रों को गहराई से सोचना चाहिये।

शत्रुराष्ट्रों की अपेक्षा व्यसनशत्रु भयंकर हैं

किसी भी राष्ट्र पर जब दूसरे राष्ट्र का हमला होता है तो उस

के सत्संग की दक्षिणा ! विश्वामित्र का मुंह चढ़ा देख वशिष्ठजी ने कहा—"विश्वामित्रजी ! आपके चेहरे पर कुछ आश्चर्यमिश्रित क्रोध और विषाद प्रतीत होता है। क्या आपको मेरे द्वारा एक घड़ी के सत्संग के फल की दक्षिणा से आश्चर्य और खेद हुआ है ? अगर आपको सत्संग के माहात्म्य के बारे में शंका हो तो हम किसी महान् पुरुष के पास चल कर न्याय करा लें।" अतः दोनों ऋषि सत्यलोक में ब्रह्माजी के पास गए। ब्रह्माजी ने इसका रहस्य जान कर सोचा—"ये दोनों ऋषि तप व तेज में समान पराक्रमी हैं। अगर मैंने किसी एक के पक्ष में न्याय दिया तो दूसरा क्रुद्ध हो कर श्राप न दे दे। अतः इस बला से किसी तरह पिंड छुड़ाना चाहिए।" उन्होंने दोनों से कहा—"ऋषियो ! आपका प्रश्न अतिगूढ़ है। किसी सात्त्विक पुरुष द्वारा ही उसका उत्तर मिल सकता है। मैं ठहरा रजोगुणी। अतः आप विष्णुजी के पास पधारें।" वे दोनों वैकुण्ठ में विष्णुजी के पास गये। विष्णुजी ने भी बला टालने की दृष्टि से कहा—"यह काम निरन्तर समाधिस्थ एकाग्रचित्त पुरुष का है। इसलिए आप शिवजी के पास जाइए। वे न्याय देंगे।" कैलाश में शिवजी के पास गए। उन्होंने कहा—"मेरे समाधि में बैठने के ४-५ क्षण ही बाकी हैं। अतः मुझसे इस समय उत्तर न दिया जा सकेगा। आप शेषनाग के पास जाइए।" वहाँ गए तो शेषनाग बहुत प्रसन्न हुआ। बोला—"कहिए मेरे लिए क्या आज्ञा है ?" दोनों ने वही प्रश्न प्रस्तुत किया। शेषनाग ने कुछ सोच कर कहा—"विश्वामित्र ! मेरे सिर पर पृथ्वी का बड़ा भारी बोझ है। इसलिए चित्त व्याकुल है। आप जरा-सी देर के लिए इस बोझ को उठा लें तो मैं आपका निश्चिंतता से न्याय कर दूंगा।" विश्वामित्र बोले—"हम में इतनी ताकत कहाँ ?" शेषनाग—"आप सिर पर पृथ्वी को न उठा सकें तो अपने एक हजार वर्ष के तप के प्रभाव से केवल एक बीताभर

इसी प्रकार हम भी व्यसनों से अपने राष्ट्र की तभी सुरक्षा कर सकते हैं, या लोहा ले सकते हैं, जब हम उन्हें पहिचान लें। जैनशास्त्रों में बताया है कि जिस वस्तु का त्याग करना हो उसे पहले ज्ञपरिज्ञा से जान (पहिचान) लेनी चाहिये, फिर उसे प्रत्याख्यानपरिज्ञा से छोड़नी चाहिये। इसी प्रकार हमें भी व्यसनरूपी शत्रुओं का सामना करके उनसे राष्ट्र को बचाने के लिए पहले उन व्यसनों को पहिचान लेना अनिवार्य है।

जैनाचार्यों ने सामान्यरूप से सात बड़े व्यसन बताए हैं—

(१) जुआ, (२) चोरी, (३) मांसाहार, (४) मद्य, (५) वेश्यागमन, (६) परस्त्रीगमन और (७) शिकार।

आजकल इनके अतिरिक्त राष्ट्र में कुछ और व्यसन घर कर गये हैं, जो अत्यन्त भयंकर हैं; उनका समावेश भी इन सातों में हम कर सकते हैं। जैसे जुए (द्यूत) खेलने में सट्टा, फीचर, बदनी आदि का समावेश हो जाता है। जितनी हानि जुए में है, उतनी ही, बल्कि उससे भी बढ़ कर हानि इनमें है। डाका डालना, लूटना, गिरहकटी करना, ठगना, तस्कर-व्यापार करना, चोरबाजारी करना, आय, विक्रय आदि के कर की चोरी करना, किसी का अपहरण करना; इन सबका समावेश चोरी में हो जाता है। इसी प्रकार मांस, मछली और अंडों का सेवन मांसाहार के अन्तर्गत आ जाता है। शराब, ब्रांडी, ह्विस्की, बीयर, गांजा, अफीम, सुलफा, भंग, चरस आदि का समावेश मद्य में हो जाता है। हुक्का, बीड़ी, सिगरेट, चुरुट, जर्दा, तपकीर, तम्बाकू आदि का सेवन भी नशीली चीजें होने के कारण मद्य के समान वर्जनीय समझना चाहिए। क्योंकि मद्य शब्द का अर्थ है—'बुद्धिं लुम्पति यद्द्रव्यं मदकारि तदुच्यते,' यानी जो पदार्थ बुद्धि का लोप कर देता है, बिगाड़ देता है, वह सब मद्य कहलाता है।

न होने का कारण यह है कि वे केवल शरीर से सत्संग करते हैं, उनका मन या तो पुत्र-परिवार में भटकता रहता है, या व्यापार-धंधे में। शरीर संत के पास हो और मन बाहर दुनियादारी में घूम रहा हो तो सत्संग का यथेष्ट लाभ कैसे मिल सकता है ? फिर भी संत-समागम व्यर्थ नहीं जाता, थोड़ा-बहुत लाभ तो मिल ही जाता है।

संतसमागम का पूरा लाभ तो क्षेत्रशुद्धि होने पर ही मिलता है। जमीन भलीभांति साफ करके जोती गई हो तभी उसमें बोया हुआ बीज उगता है। जड़माया, छलकपट, लोभ-तृष्णा और मन के विकारों को शुद्ध करने के साथ-साथ हृदय में विकास की तड़फन हो तभी संतसमागम से अपूर्व लाभ मिल सकता है।

भाग्यशालियो ! काफी विस्तार से मैं सत्संगति के बारे में कह चुका हूं। आप हृदय से सत्संगति को अपनाएँगे तो आसानी से बेड़ा पार हो जायगा।

स्थान—गौड़ीजी का उपाश्रय
पायधुनी, बम्बई

वि० सं० २००६
भाद्रपद कृष्णा २, गुरुवार

होने वाले हैं और ८ व्यसन क्रोध से होने वाले हैं। इन्हें प्रयत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिये। काम से होने वाले १० व्यसन ये हैं—(१) शिकार, (२) जुआ, (३) दिन में सोना, (४) निन्दा करना, (५) व्यभिचार, (६) मद करना, (७) गंदा नाच देखना, (८) गंदे गाने गाना, (९)कामोत्तेजक बाजे बजाना या सुनना, (१०) निरर्थक भटकना। इसी प्रकार क्रोध से होने वाले ८ व्यसन ये हैं—(१) चुगली करना (२) पाप कर्म में साहस करना (३) द्रोह करना, (४) ईर्ष्या करना, (५) दूसरों की नुक्ताचीनी करना, (६) गलत तरीकों से धन कमाना, (७) गाली देना, (८) कटुवचन कहना।

वास्तव में, दुनिया में जितने भी बड़े-बड़े पाप हैं, उन सबका समावेश पूर्वोक्त ७ कुव्यसनों में हो जाता है। वैसे तो सभी व्यसन त्याज्य हैं। जिनका त्याग धर्मपथ पर चलना चाहने वाले प्रत्येक श्रद्धालु पुरुष के लिए जरूरी होता है। जैनदृष्टि से इन सातों कुव्यसनों का त्याग करने पर ही कोई व्यक्ति मार्गानुसारी, सम्यक्त्वी या व्रतधारी श्रावक हो सकता है। परन्तु इन व्यसनों का जो लंबा-चौड़ा परिवार है, उसे जान लेना बहुत ही आवश्यक है, इस दृष्टि से हमने व्यसनों के परिवार का परिचय करा दिया।

व्यसन का अर्थ और उसके त्याग का महत्त्व

परन्तु व्यसन का वास्तविक अर्थ क्या है और उसे छोड़ना क्यों आवश्यक है? इसे जान लेने पर ही मनुष्य के दिल में व्यसनत्याग की अन्तःप्रेरणा जागती है।

संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से व्यसन का अर्थ होता है—

'व्यस्यति सुखात् स्वर्गाद्वा यत्तत् व्यसनम्'

राष्ट्र के नेता व राज्यकर्ता उससे रक्षा के लिए चिन्तित हो उठते हैं और अपने राष्ट्र को विरोधी राष्ट्र के आक्रमण से बचाने के लिए कई तरह की तैयारियाँ करते हैं; शत्रु को परास्त करने और खदेड़ने के लिए विविध शस्त्र-अस्त्र जुटाते हैं और सेना को उन शस्त्रास्त्रों से शत्रुराष्ट्र का सामना करने का आदेश देते हैं। इसी प्रकार व्यसन भी राष्ट्र के शत्रु हैं। इन व्यसनशत्रुओं का हमारे राष्ट्र पर चारों ओर से आक्रमण हो रहा है। सामान्य शत्रु तो शरीर का ही नाश करता है, किन्तु ये व्यसनशत्रु हमारे राष्ट्र के शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा पर हमला करते हैं और धीरे-धीरे इन्हें गुलाम बना कर इनका नाश कर डालते हैं। इसलिए शत्रुराष्ट्रों की अपेक्षा ये व्यसनरूपी दुश्मन अधिक जबर्दस्त हैं। हमला होने के बाद शत्रुराष्ट्र से तो एक ही बार में निपट लिया जाता है और कुछ ही दिनों में हार या जीत का फैसला हो जाता है। मगर व्यसनों का हमला जब हमारे राष्ट्र के नागरिकों के शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा पर होता है तो वह कई वर्षों तक, कभी-कभी तो जिंदगीभर तक चलता है और उसमें जीत प्रायः व्यसनों की ही होती है। व्यसनों से लोहा लेना टेढ़ी खीर है। मनुष्य प्रायः व्यसनरूपी शत्रु के सामने अपने घुटने टेक देता है। फिर भी व्यसनों के हमले से बचने के लिए राष्ट्र प्रयत्नशील हो, दृढ़तापूर्वक व्यसनत्याग के नियम पर डटा रहे और राष्ट्र की सुरक्षा के लिए प्राणों की आहुति तक दे डालने का संकल्प हो तो एक दिन राष्ट्र को व्यसनों से मुक्त किया जा सकता है।

व्यसनों का परिवार

युद्ध के मैदान में योद्धा शत्रुओं का तभी डट कर सामना कर सकता है, जब वह शत्रु और मित्र राष्ट्रों के सैनिकों को पहिचान ले।

आमतौर पर बोलचाल की भाषा में व्यसन को बुरी लत, बुरी आदत अथवा कुटेव कहते हैं। जैसे दलदल में फंस जाने पर मनुष्य का उसमें से निकला बड़ा ही कठिन होता है। ज्यों-ज्यों वह उसमें से निकलने की कोशिश करता है, त्यों-त्यों और अधिक गहरा धंसता जाता है। वैसे ही किसी भी व्यसन में फंस जाने पर उसका उसमें से सहीसलामत निकलना बड़ा ही कठिन हो जाता है। किसी भी अहितकर बात का आदी हो जाना ही तो व्यसन में फंसना है। इसीलिए व्यसन का एक अर्थ दुःख भी होता है। क्योंकि सभी प्रकार के व्यसन मनुष्य को यहाँ और वहाँ दोनों जगह दुःख देने वाले हैं। इसलिए सभी व्यसनों का छोड़ना आवश्यक है।

व्यसनों से अपना और राष्ट्र का विनाश

व्यसनी मनुष्य को अपने व्यसन के पोषण के लिए काफी कष्ट, ताने और अपमान सहने पड़ते हैं। व्यसनी अपनी जिंदगी को भी खतरे में डाल देता है; अपना घर-बार तक फूंक देता है। इतना होने पर भी उसे रात-दिन बेचैनी रहती है। व्यसनी कभी सुख की सांस नहीं ले सकता। कई व्यसनी तो अपने व्यसन के इतने आदी हो जाते हैं कि वे दूसरों की गुलामी भी स्वीकार कर लेते हैं, दरदर के भिखारी बन जाते हैं। व्यसनी इस लोक में तो अपनी ज़िंदगी बर्बाद कर ही लेता है, परलोक में भी उसे अच्छी जिंदगी नहीं मिलती। कहा भी है—

> "इहैव निन्द्यते शिष्टैर्व्यसनासक्तमानसः।
> मृते तु दुर्गतिं याति गतत्राणो नराधमे॥"

जिसका दिल-दिमाग व्यसनों में फंसा होता है, शिष्टपुरुषों की दृष्टि में वह निन्दनीय समझा जाता है। उसके जीतेजी सज्जन

मतलब यह है कि जो चीजें नशा पैदा करके दिमाग में चढ़ जांय, उस पर हावी हो जांय, उन सबकी गणना मद्य में हो जाती है। गंदे सिनेमा या अश्लील नाटक का समावेश परस्त्रीगमन में हो जाता है। क्योंकि इनमें मानसिकरूप से परस्त्री के प्रति व्यभिचार, कुदृष्टि और दुर्भावना होने के कारण उन्हें एक प्रकार से परस्त्रीगमन ही समझना चाहिए। इसी प्रकार हस्तमैथुन, गुदामैथुन, बलात्कार आदि सृष्टिविरुद्ध कुकर्म भी परस्त्रीगमन के अन्तर्गत समझने चाहिये। वेश्या की महफिल में जाना, उसके अश्लील नृत्य-गीत आदि की गणना भी मानसिकरूप से वेश्यागमन में समझ लेनी चाहिए। इसी प्रकार हत्या, दंगा, मारपीट, तोड़फोड़ करना, आग लगा देना, जहर दे देना, दम घोट देना, निर्दोष पशुपक्षियों की बलि देना आदि सब हिंसाकाण्ड शिकार के अन्तर्गत हैं। जैसे निर्दोष पशुपक्षियों एवं जलचरजीवों का वध करना शिकार कहलाता है, वैसे ही हत्या, दंगा, मारपीट, तोड़फोड़, आगजनी आदि द्वारा निर्दोष मनुष्यों के वध को भी मनुष्यों का शिकार कहा जा सकता है।

इसी प्रकार वैदिक धर्ममान्य ग्रन्थ में १८ व्यसन बताये गये हैं। वे श्लोक इस प्रकार हैं—

> दश कामसमुत्थानि तथाऽष्टौ क्रोधजानि च।
> व्यसनानि दुरन्तानि यत्नेन परिवर्जयेत् ॥१॥
>
> मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः।
> तौर्यत्रिकं वृथाटया च कामजो दशको गणः ॥२॥
>
> पैशुन्यं साहसं, द्रोहं ईर्ष्याऽसूयार्थदूषणम्।
> वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥३॥

अर्थात्—बड़ी कठिनता से दूर होने वाले १० व्यसन काम से पैदा

साथ ही अपने राष्ट्र को भी विनाश के मुख में धकेलता है। महाभारत की एक घटना है—

एक बार भ० कृष्ण ने सभी यादवों को एकत्रित करके भरी सभा में कहा—"अगर तुम मेरी तीन बातें मान जाओगे तो अपनी और द्वारिका की रक्षा कर सकोगे। अन्यथा, मैं या कोई भी तुम्हें और तुम्हारी नगरी को विनाश से नहीं बचा सकेगा। इन तीन बातों के न मानने पर तुम्हारा और साथ ही द्वारिका का विनाश भी निश्चित होगा।" यादवों ने पूछा—'वे तीन बातें कौन-सी हैं, जिनसे हमारी और द्वारिका की रक्षा हो सकेगी कृपा करके हमें बताइए। हम अवश्य ही उन्हें मान लेंगे।"

भ० कृष्ण उस जमाने के युगपुरुष, कर्मयोगी और यादवों के श्रद्धेय थे। इसलिए श्रद्धाविनत हो कर उत्सुकतापूर्वक यादवलोग उनकी तीन बातें सुनने लगे। उन्होंने यादवों को सम्बोधित करते हुए कहा—"भाइयो! पहली बात है—शराब का सर्वथा त्याग करो। क्योंकि शराब तुम्हारी बुद्धि को बिगाड़ देती है, जिससे तुम अपने हिताहित का भान भूल जाते हो। शराब के नशे में बेसुध हो कर तुम आपस में लड़ते-भिड़ते हो, गाली-गलौज करते हो; इससे तुम्हारी संतान पर बहुत बुरे संस्कार पड़ते हैं। समाज में कोई तुम्हारी इज्जत नहीं करता। सभी तुम्हें हिकारतभरी दृष्टि से देखते हैं। तुम पर कोई भी विश्वास नहीं करता और न किसी जिम्मेवारी का काम तुम्हें कोई सौंपता है। नशे में चूर हो कर तुम अपनी मां-बहन-बेटी का भी भान भूल जाते हो। तुम्हारी सात्त्विकबुद्धि पर पर्दा पड़ जाता है, जिससे तुम्हें हिताहित, गम्यागम्य का भी होश नहीं रहता। इससे तुम अपना स्वास्थ्य, धन और चरित्र सभी नष्ट करते हो। दूसरी बात है—द्यूतकर्म छोड़ो। जुए में मनुष्य सर्वस्व हार जाता

'जो मनुष्य को सुख से या स्वर्ग से दूर फेंक देता है, उसे व्यसन कहते हैं।' सचमुच व्यसन से शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक या आध्यात्मिक सभी सुखों से मनुष्य वंचित हो जाता है। इसीलिए एक कवि ने कहा है—

'व्यसनस्य मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते'

व्यसन और मृत्यु दोनों कष्टकर हैं। लेकिन व्यसन मृत्यु से भी बढ़कर कष्टकर है। क्योंकि मृत्यु के समय मनुष्य प्रायः बेसुध हो जाता है। इसलिए उस समय कष्ट का भान नहीं होता। तथा मृत्यु के क्षण तो बहुत ही थोड़े होते हैं, इसलिए कष्ट भी होता है तो क्षणिक ही। लेकिन व्यसन तो चिरकाल तक कभी-कभी तो जिंदगीभर तक कष्ट देते रहते हैं। बल्कि व्यसन ही कई बार मौत को न्यौता दे देते हैं।

कच्छ के एक युवक को बीड़ी पीने का व्यसन लग गया था। यहाँ तक आदत पड़ गई कि उसे रोजाना १०० बीड़ियाँ फूंके बिना चैन नहीं पड़ता था। अत्यधिक धूम्रपान से उसके फेफड़े खराब हो गये, खांसी होने लगी। उसे डॉक्टर को दिखाया गया। डॉक्टर ने उसके शरीर की जांच करके कहा—"तुम्हारे फेफड़े खराब हो गये हैं। तुम्हें टी. बी. (क्षय) की बीमारी होगई है। किन्तु अभी तीसरे दर्जे तक नहीं पहुंची है। अगर तुम जीना चाहते हो तो आज से बीड़ी पीना बिलकुल छोड़ दो। दवा लो और आराम करो।" डॉक्टर के कहे अनुसार उसने दवा तो ली, लेकिन बीड़ी पीना न छोड़ सका। धूम्रपान की आदत ने उसे इतना जर्जर बना दिया कि दवा का उसके शरीर पर कोई असर न हुआ। आखिर एक दिन वह युवक इस संसार से चल बसा। बीड़ी का व्यसन उसके दुःख व मरण का कारण बना।

दिया, जिससे द्वारिका नगरी जल कर भस्म हो गई। यादव लोग आपस में लड़कट कर खत्म हो गए!

यह है व्यसनों से अपने और राष्ट्र के विनाश का ज्वलंत प्रमाण!

यूनान में एक किंवदंती प्रचलित है कि एक वार किसी भक्त ने सुकरात से पूछा कि "वह कौन-सा उपाय है, जिसके द्वारा हथियार उठाये वगैर एक सम्प्रदाय, जाति अथवा देश को दो वर्षों में समाप्त किया जा सकता है?" सुकरात ने उत्तर दिया—"प्रचुर रेशमी वस्त्र, शराव और मुक्त यौनाचार (व्यभिचार व भोगविलास) की सुविधाएँ सुलभ करा के यह कार्य किया जा सकता है।" भक्त ने दूसरा प्रश्न किया—"गुरुदेव! यदि यह कार्य जल्दी करना हो तो क्या करना होगा?" सुकरात ने कहा—"यदि रेशमी वस्त्र, मुक्त यौनाचार और शराव (व्यसन-सामग्रियों) का प्रवन्ध कर दिया जाय तो यह कार्य दो वर्षों के वजाय दो सप्ताहों में किया जा सकता है।" इस कथोपकथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यसनों के खुल्ले-आम प्रचार और प्रवन्ध से किसी भी देश जाति और सम्प्रदाय का अन्त बहुत ही शीघ्र किया जा सकता है। वैदिकधारा में आसुरी सभ्यता का पतन और मगध के नन्दसाम्राज्य का अन्त सुरा और मुक्त व्यभिचार पर आधारित विशाल ढांचे के विनाश का ऐतिहासिक प्रमाण है। परम समृद्ध रोम तथा यवन-साम्राज्यों के पतन के पीछे निर्वाध विलास और दुर्व्यसन-परायणता का इतिहास ही प्रधान है। म० गाँधीजी ने इस तथ्य-सत्य को भलीभांति समझ लिया था, इसलिए उन्होंने राष्ट्र को इन व्यसनासुरों से वचने का संकेत किया था।

व्यसनों से राष्ट्रीय संस्कृति का लोप

व्यसनों से हमारे राष्ट्र की वर्षों से प्रचलित संस्कृति का लोप

लोग उसकी निन्दा करते हैं। और ऐसा नराधम रक्षाविहीन हो कर मरने पर भी दुर्गति में जाता है।

जिस समाज या राष्ट्र में व्यसनी लोग ज्यादा होते हैं वह राष्ट्र भी भोगीविलासी हो जाता है, उस राष्ट्र की धर्मपुनीत संस्कृति का शीघ्र ही लोप हो जाता है।

सुप्रसिद्ध पाश्चात्य लेखक 'गिब्बन' ने रोम का इतिहास लिखा है। उसने रोम के उत्थान-पतन का कारण बताते हुए कहा है—"किसी भी देश का उत्थान सादगी से और पतन विलासिता से होता है। रोम का उत्थान भी सादगी से हुआ और उसका पतन विलासिता से हुआ।" यही बात आज हमारे राष्ट्र पर ठीक उतरती है। हमारे राष्ट्र का उत्थान सादे जीवन और उच्चविचार से हुआ था, लेकिन अब अनेक व्यसनों में फंस जाने के कारण विलासिता, आलस्य, दरिद्रता, फैशन और चरित्रहीनता आदि बुराइयों के जड़ जमाने से पतन हो रहा है।

इसलिए कोई भी राष्ट्रहितैषी व्यक्ति राष्ट्र के उत्थान के लिए इन व्यसनों को हितकर नहीं समझेगा और न मनुष्यजीवन को सार्थक बनाना चाहने वाला कोई भी समझदार राष्ट्रभक्त इन्हें अपने जीवन में अपनाना लाभदायक ही समझेगा। फिर भी अफसोस है, बहुत-से राष्ट्रहितैषी कहलाने वाले लोग भी इन व्यसनों को अपने जीवन में अपनाए हुए हैं, अनेक दुर्व्यसनों को पोषण देते हैं; व्यसनों के प्रचार के लिए हमारी राष्ट्रीय सरकार के लोग भी जुटे हुए हैं। यह जानबूझ कर अपने हाथों से अपने राष्ट्र को पतन के गड्ढे में गिराना नहीं तो क्या है ?

व्यसनी मनुष्य अपने आप अपने विनाश को तो बुलाता ही है,

चुपके से पैर रखती हुई घरों में घुस जाती और चोरी करती थी। उसने अदालत में इकरार किया कि गत ५ वर्षों में छोटी-बड़ी चोरी किये बिना उसका एक भी दिन खाली नहीं जाता था। उसने लगभग १७०० चोरियाँ ५ वर्षों में की थीं। क्योंकि वह कहा करती थी कि मुझे अपनी मां और पुत्र के पालन के लिए तथा प्रतिदिन के २५०) रु० नशेबाजी में खर्च करने के लिए चाहिए। इसी के लिए मैंने चोरी का पेशा अपनाया है।" राष्ट्र की संस्कृति का यह कितना बड़ा नुकसान है!

राष्ट्र के हजारों व्यक्तियों को जुए-सट्टे में बर्बाद होते हम अपनी आँखों से देखते हैं। कई बार तो वे सट्टे में अपना सारा घर फूंक देते हैं और अन्त में कोई उपाय न देख कर अपनी इज्जत बचाने के लिए अपने बालबच्चों और परिवार को निराधार छोड़ कर आत्महत्या कर बैठते हैं।

अजमेर में एक जैन भाई थे। वे पहले काफी धनाढ्य थे, पर उन्हें सट्टे का चस्का लग गया। पहले तो उन्होंने सट्टे में खूब धन कमाया। परन्तु एक बार ऐसी नौबत आगई कि पहले का कमाया हुआ सारा धन और पास की सारी पूंजी उन्होंने खो दी। लोगों ने बहुत समझाया कि अब आप सट्टा करना बन्द कर दीजिए। पर वे न माने। फिर सट्टा किया। रुपये चुकाने को थे नहीं। वे कर्जदार हो गए। अपनी इज्जत बचाने के लिए उन्होंने अपनी पत्नी से गहने मांगे। पत्नी ने सोचा कि ये फिर सट्टे में खो देंगे। इसलिए उसने अपने गहने देने से साफ इन्कार कर दिया। इससे उस भाई को अपनी जिंदगी पर बड़ी ग्लानि हुई और निराश हो कर उन्होंने आना-सागर तालाब में डुबकी लगा ली। इस प्रकार आत्महत्या करके अपनी जीवनलीला समाप्त कर दी।

है। यहाँ तक कि अपने धन, राजपाट और स्त्री तक को भी दाव पर लगा देता है। जुए से मानवजीवन में रातदिन आर्तध्यान और रौद्रध्यान होते रहते हैं, जो पापकर्मबन्धन के कारण हैं। जुआरी पर कोई भी व्यक्ति सहसा विश्वास नहीं करता। इससे मनुष्य दीन-हीन, अपमानित और निन्दित बन जाता है। जुए में प्राप्त होने वाली सम्पत्ति-कमाई भी हराम की—बिना मेहनत की-होती है, जो प्रायः टिकती नहीं, और मनुष्य की सात्त्विक बुद्धि को बिगाड़ डालती है। ऐसा हराम का धन प्रायः विलासिता के कार्यों में खर्च होता है। यह भी राष्ट्र का बहुत बड़ा नुकसान है। तीसरी बात है—परस्त्रीगमन छोड़ो। अपनी विवाहिता पत्नी के अतिरिक्त संसार में जितनी भी स्त्रियाँ हैं, उन सबको माता, बहन या पुत्री के समान समझो। परस्त्रीगामी मनुष्य इस लोक में तो निन्दित होता ही है, परलोक में भी दुर्गति का भागी होता है। परस्त्रीगमन से समाज की सुव्यवस्था भंग होती है, बड़े-बड़े युद्ध होते हैं, जिनसे राष्ट्र के जानमाल का नाश होता है।"

श्री कृष्णजी की इन तीन बातों को सुनकर यादवों ने कहा—'हम ऐसा ही करेंगे। इन तीनों बातों को छोड़ देंगे।'

परन्तु पड़ी हुई कुटेव छूटनी बड़ी कठिन है। यादव लोग भी भ० कृष्ण की उन तीनों हितकर बातों को भूल गए और पुनः उन तीनों बातों का दौर चलाने लगे। शराब पीने लगे, जूआ भी खेलने लगे और परस्त्रीगमन भी गुप्तरूप से करने लगे। नतीजा यह हुआ कि यादव लोग एक दिन शराब के नशे में मतवाले हो कर आपस में गालीगलौज करने लगे, लड़ने-भिड़ने लगे। शराब के नशे में चूर हो कर उन्होंने द्वैपायन ऋषि को जा छेड़ा। कहते हैं—उन्होंने शाप दे

कर्मठ, उत्साही और प्रगतिशील बनी। इसी प्रकार जब तक हिन्दुस्तान में तम्बाकू, चाय, अफीम आदि नशीली चीजें नहीं आई थीं, यहाँ की जनता बहादुर, पराक्रमी, पुरुषार्थी और हर कार्य को करने में उत्साही थी। लेकिन जब से ये चीजें गाँवों और नगरों में पहुंची, गाँवों और नगरों के लोग आलसी, निरुत्साही, निरुद्यमी और कायर बनने लगे। आज तो अमेरिका में अपराधविज्ञान की दृष्टि से विभिन्न अपराधियों की जांच करने के बाद समाजशास्त्री इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि हत्या, मारपीट, डाका, चोरी, दंगे आदि अधिकांश अपराध शराब, धूम्रपान, मांस आदि के अत्यधिक सेवन के कारण होते हैं। भारतवर्ष में भी इन वर्षों में ये अपराध उत्तरोत्तर बढ़ते जा रहे हैं। इसका मूल कारण भी व्यसनों में वृद्धि है।

चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में यहाँ लोग घरों में ताले नहीं लगाते थे। इसका कारण यह था कि चोरी, डकैती, लूटपाट आदि बहुत ही कम होती थी। परन्तु आज इन कुव्यसनों का भारत में बहुत ही दौरदौरा है। इसके कारण राष्ट्र की शान्ति और सुव्यवस्था को काफी धक्का पहुंचा है। मारपीट, हत्या, दंगे, आग लगाना आदि मानवशिकार के कारण भी राष्ट्र में अशान्ति और अराजकता बढ़ी है। जुए, सट्टे आदि से मनुष्य बिना मेहनत के हराम का खाने का आदी हो जाता है।

इन सभी व्यसनों से राष्ट्र की आर्थिक हानि भी कम नहीं है। एक तम्बाकू के व्यसन को ही ले लीजिए। इसमें सारे राष्ट्र के अरबों रुपये सालभर में व्यय हो जाते हैं। क्योंकि आजकल हुक्के के अलावा बीड़ी, सिगरेट आदि का प्रचार भी काफी बढ़ गया है। अगर तम्बाकू शराब आदि में खर्च होने वाली रकम को बचा कर राष्ट्र के निर्माण-कार्यों में लगाई जाय तो हमारा देश कर्जदारी से मुक्त हो सकता है।

हो जाता है। क्योंकि जब व्यसन मनुष्य के जीवन में जड़ जमा लेता है तो सादगी, सद्गुण, सदाचार और नीति-धर्म के तत्त्व—जो भारतीय संस्कृति के मूलाधार हैं—लुप्त होने लगते हैं। साथ ही व्यसनों से मनुष्य का जीवन धर्मसंस्कारों से रहित हो जाता है, विकृत बन जाता है। विकृतजीवनमनुष्य को परतंत्रता की ओर ले जाता है। विकृतजीवन से मनुष्य इन्द्रियों और मन का इतना अधिक गुलाम बन जाता है कि कुछ देर के लिए किसी चीज के खाने-पीने का जरा-सा त्याग करने का कहा जाय तो वह उस चीज के बिना रह नहीं सकता।

एक संत ने एक युवक से कहा—"भाई ! कल सुबह ७ बजे मुझे उपाश्रय में मिलना।' उसने कहा—"महाराज ! यह तो मेरे लिए मुश्किल है।" संत ने पूछा—"क्यों क्या बात है ? क्या देर से उठते हो ?" उसने कहा—"महाराज ! शर्दी के दिन हैं। उठते-उठते सात तो बज ही जाते हैं। फिर उठते ही मुझे चाय पीने की आदत है। जब तक मैं चाय नहीं पी लेता, तब तक टट्टी नहीं उतरती। इसी कारण मैं ७ बजे पहुंचने में लाचार हूं।" संत ने कहा—'जवानी में भी जब चाय का व्यसन लग चुका है तो बुढ़ापे में तो और भी कई व्यसन लग जायेंगे।'

यह है, हमारे राष्ट्र के जवानों की व्यसनपरस्ती !

इस प्रकार के हजारों जवान होंगे, जो सिगरेट, बीड़ी, तम्बाकू आदि व्यसनों के शिकार बने हुए हैं। वे और कोई चीज छोड़ सकते हैं, मगर धूम्रपान को नहीं छोड़ सकते। आजकल तो लोग धड़ल्ले से शराब पीने के आदी बनते जा रहे हैं। उसके लिए फिर चाहे घरबार ही क्यों न नीलाम करना पड़े। नशे के साथ चोरी का भी प्रायः सम्बन्ध है। 'लॉस एंजिल्स' की एक महिला बिल्ली की तरह

जाता है। समाज में कोई भी व्यक्ति ऐसे लोगों पर सहसा विश्वास नहीं करता। ऐसे लोग समाज में प्रायः अपमानित और तिरस्कृत होते रहते हैं। इनकी संतान को कोई भी सुसंस्कार नहीं मिल पाते।

व्यसनों से आध्यात्मिक हानि भी कम नहीं है। क्योंकि व्यसन व्यसनासक्त मनुष्य की इन्द्रियों और मन पर हावी हो जाते हैं। इससे उसकी आत्मा की आवाज दब जाती है। आत्मा जब इन्द्रियों और मन के अधीन हो जाती है तो स्वाभाविकरूप से ही आध्यात्मिक विकास रुक जाता है। आज राष्ट्र का जो आध्यात्मिक पतन हो रहा है, उसका मूल कारण भी व्यसन ही है।

व्यसनों से राष्ट्र की सुरक्षा के उपाय

आप सब राष्ट्र के हितैषी हैं, इसलिए मैंने आपके सामने व्यसनों से राष्ट्र की बर्बादी का चित्र प्रस्तुत किया है। आप सोचते होंगे कि महाराज केवल बीमारी का वर्णन कर रहे हैं। वह तो न्यूनाधिक रूप में हम सब जानते ही हैं। परन्तु इसका इलाज क्या है ? मैं अपने अनुभव के आधार पर राष्ट्र से व्यसनों के दूर करने के कुछ उपाय भी सुझाऊँगा।

सर्वप्रथम उपाय तो यह है कि व्यसन-मुक्ति का कार्य अकेली सरकार के बूते की बात नहीं। क्योंकि सरकार का काम कानून बनाना और दंडविधान करना है। परन्तु उसका अमल कराने के लिए जनता को जागृत करना, उसमें नैतिक चेतना जगाना, उसमें ज्ञानज्योति जगाना, जनता को प्रेरणा और मार्गदर्शन करना सरकार के बस की बात नहीं। उसके लिए राष्ट्र में जितने भी त्यागी, व्यसनमुक्त, निःस्पृही, तपस्वी पैदलविहारी साधुसंत-संन्यासी व मुनि हैं, उन्हें भारत के विभिन्न प्रान्तों में गाँव-गाँव में भ्रमण करके जनता को

इस प्रकार का एक नहीं, अनेकों व्यक्ति देश में होंगे, जो जुए-सट्टे में बर्बाद होने पर अपनी जीवनलीला समाप्त कर देते हैं।

वेश्यागमन से भी भयंकर एक व्यसन है, जो आज हमारे देश के नौनिहालों को लगा है। वह है—अश्लील सिनेमा देखने और सिनेमा की नटनटियों के पीछे दीवाने बन कर अथवा कॉलेजियन युवकयुवतियों का एक-दूसरे के प्रति आकर्षित हो कर अपनी जवानी को कामाग्नि में भस्म करने का व्यसन। इस व्यसन के कारण राष्ट्र का चरित्रधन समाप्त होता जा रहा है। राष्ट्र में स्वेच्छाचार, अतिकामुकता, वासना, विलासिता और फैशनपरस्ती आदि भयंकर बीमारियाँ राष्ट्र के युवकों को लगनी शुरू हो गई है।

पशुओं के शिकार की अपेक्षा मनुष्यों का शिकार बातबात में तोड़फोड़, आगजनी, हत्याकांड, दंगे, लड़ाई-झगड़े और मारपीट आदि के कारण बढ़ता जा रहा है। इससे राष्ट्र की अपार धन-जन-सम्पत्ति निरर्थक बर्बाद हो जाती है। यह व्यसन भी कम भयंकर नहीं है। इन सब व्यसनों पर से हम अंदाजा लगा सकते हैं कि ये व्यसन हमारी राष्ट्रीय संस्कृति के लिए कितने घातक हैं !

व्यसनों से राष्ट्र की सभी प्रकार की हानि

जिस राष्ट्र में पूर्वोक्त पुराने और नये व्यसनों की बाढ़ आ जाती है, उस राष्ट्र के अधिकांश लोग आलसी, कामचोर, अकर्मण्य, कामी, क्रोधी, अभिमानी, क्रूर और अकुशल बन जाते हैं। पुराने चीन राष्ट्र में अफीम का व्यसन घरघर में बहुत ही भयंकररूप से फैला हुआ था। जिसके कारण राष्ट्र में पुरुषार्थ, उत्साह, कर्मठता, कर्तृत्व आदि गुण नष्ट हो गए थे, परन्तु ज्यों ही चीन में नवोदय हुआ अफीम को देश निकाला दे दिया, त्यों ही चीन की जनता पुरुषार्थी,

इस प्रकार दूसरे व्यसन भी छुड़ाए। आज वहाँ लगभग ८०-८५ हजार लोगों ने शराब पीना छोड़ दिया है। अन्य व्यसन भी छोड़े हैं। इस तरह रचानात्मक कार्यकर्ता और राष्ट्रीय नेता भी गाँवों में घूम-घूम कर जनता को व्यसन छुड़ावें।

इसके अतिरिक्त गाँवों में जहाँ-जहाँ शराब, जुए, सट्टे और व्यभिचार के अड्डे हों, वहाँ उन्हें प्रेम से समझा-बुझा कर बन्द कराएँ। जहाँ सत्याग्रह या सविनय विरोध करने की जरूरत हो, वहाँ सामूहिकरूप से सभी कार्यकर्ता व नेता मिल कर करें। गाँव की पंचायतों द्वारा इस विषय में प्रस्ताव पास करवा कर वैधानिकरूप से व्यसनों का धंधा बन्द करावें। पेशेवर वेश्याओं को उनका धंधा छुड़वा कर उन्हें उचित सहायता दे कर नैतिक जीवन बिताने के लिए प्रेरित करें। इसके अलावा विविध व्यसनों के बारे में छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ, पोस्टर, हेंडबिल आदि छपवा कर जनता में वह साहित्य वितरित करें।

इसके उपरान्त राष्ट्र के नेताओं, शासनकर्ताओं और सरकार का कर्त्तव्य है कि विभिन्न व्यसनों के लिए सख्त कानून बनाएँ तथा उनका पालन भी कड़ाई से हो, इस प्रकार की व्यवस्था सोची जाय; जिससे कानून के पालन में जहाँ भी ढिलाई देखें, वहाँ राजकर्मचारियों और ऑफिसरों को तुरंत सावधान करें और उचित कार्यवाही करें।

विविध व्यसनों के लिए किया जाने वाला विज्ञापन बन्द हो। अखबारों, पोस्टरों, मासिक पत्रिकाओं आदि को सख्त हिदायत दे दी जाय कि कोई भी इनके बारे में विज्ञापन न लें। इस प्रकार का कानून भी बन जाय कि विविध व्यसनों के बारे में कोई भी विज्ञापनबाजी न करें।

शराब, अफीम आदि नशैली चीजों पर भी वर्ष में करोड़ों रुपये खर्च होते हैं। देश में चाय की भी करोड़ों रुपयों की वार्षिक खपत है। इसके अलावा जुए-सट्टे में इस राष्ट्र की जनता का करोड़ों रुपया स्वाहा हो जाता है। मांस-अंडे आदि में भी करोड़ों रुपये व्यय होते हैं। अनाज की कमी का बहाना बना कर जो लोग मांस का सेवन करते हैं, वे राष्ट्र को धोखा देते हैं। वे अनाज भी उतना ही खाते हैं, जितना एक अन्नाहारी खाता है; और मांस अतिरिक्तरूप में खाते हैं, सो अलग। इस देश में मांसाहार प्रायः विदेशी लोगों के सम्पर्क से देखादेखी, स्वादलोलुपतावश किया जाता है। राष्ट्र की अधिकांश मांसाहारी जनता मांस खाने के कारण प्रायः अनेक रोगों से घिरी रहती है। करोड़ों रुपये उन बीमारियों के इलाज पर खर्च हो जाता है। वेश्यागमन या व्यभिचार से राष्ट्र की स्वास्थ्य-सम्पत्ति नष्ट होती है। प्रजा की गाढ़ी कमाई का पैसा इस व्यसन के साथ-साथ फैशन, विलासिता और कामुकता की पूर्ति में लगता है। इससे राष्ट्र में सदाचार, सच्चरित्रता और सादगी की संस्कृति चौपट हो जाती है। विलासिता और कामुकता की ओर राष्ट्र की युवा पीढ़ी को खींचने वाले सिनेमा के अभिनेता और अभिनेत्रियाँ एक ही चलचित्र (फिल्म) के बनाने के लाखों रुपये ले लेते हैं। उन अश्लील चलचित्रों के देखने से कौन-सी सुशिक्षा या संस्कृति का उज्ज्वल पाठ मिलता है ?

इन सभी व्यसनों से शारीरिक हानि भी कम नहीं है। जितनी भी नशैली चीजें हैं, उनके सेवन से शरीर अनेक रोगों का घर बन जाता है। जुए-सट्टे में फंसे हुए लोगों का जीवन दिनरात चिंताओं से घिरा रहता है। चोरी-डकैती करने वालों का जीवन भी भयाक्रान्त रहता है।

शराबी, चोर, डाकू, लुटेरे आदि का सामाजिक जीवन भी बिगड़

वात मालूम हुई। गाँधीजी ने जाति-वहिष्कार की परवाह न करके विलायत जाने की अपनी उत्कट इच्छा माताजी के सामने प्रगट की और उनसे आज्ञा मांगी। माताजी रुढ़ धर्मसंस्कारों में पली होते हुए भी अनुभवी और पुत्र का विकास चाहने वाली थीं। उन्होंने कहा—वेटा! तू विलायत जाए, इसमें मुझे कोई ऐतराज नहीं, जाति-वहिष्कार की भी मुझे चिन्ता नहीं। परन्तु सुना है कि वहाँ जाने पर लोग विगड़ जाते हैं, अपने धर्मसंस्कार छोड़ वैठते हैं। अतः अगर तू तीन वातों की प्रतिज्ञा ले तो मैं तुझे खुशी से विलायत जाने दे सकती हूं। वे तीन वातें ये हैं—(१) मांसाहार (अंडे सहित) का त्याग, (२) शराव का त्याग और (३) परस्त्रीगमन का त्याग। ये तीन वड़े व्यसन ही धर्मभ्रष्ट होने के कारण हैं।" म० गाँधीजी ने इन तीनों वातों के त्याग की प्रतिज्ञा लेना कवूल किया। अतः उनकी माताजी वहाँ उपाश्रय में विराजमान जैनसाधु श्रीवेचरजी स्वामी के पास उन्हें ले गईं और उनसे कहा—"महाराज! इसे (मोहनदास गाँधी को) मांसाहार, शराव और परस्त्रीसेवन इन तीन वातों के त्याग की प्रतिज्ञा जिंदगीभर के लिए दिला दीजिए। यह विलायत जा रहा है। "जैन साधुजी ने महात्मा गाँधीजी को उपर्युक्त तीनों वातों के त्याग की प्रतिज्ञा करा दी और प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहने का कहा। सचमुच, इन तीनों प्रतिज्ञाओं के कारण ही गाँधीजी महात्मा वने। क्योंकि उनके सामने प्रतिज्ञा से फिसलने के कई प्रलोभन और भय भी आए, लेकिन वे डिगे नहीं; दृढ़ रहे। इससे विदेशी लोगों पर भी उनके जीवन की सुन्दर छाप पड़ी और भारतीय जनता भी उनके अहिंसक प्रयोगों के प्रति विश्वस्त वनी। परन्तु इन तीनों प्रतिज्ञाओं के लेने की प्रेरणा करने वाली तो उनकी धर्म-संस्कारमूर्ति माता पुतलीवाई ही थी।

अगर इस प्रकार घर-घर में माताएँ-वहनें परिवार में सवको

व्यसनमुक्त बनने की प्रेरणा देनी चाहिये; उसे नैतिक मार्गदर्शन देना चाहिये। साधु-संतों के पास त्याग-तप की पूंजी तो है ही। उनका कर्त्तव्य भी धर्मप्रचार करना है। साथ ही उनके पास समय भी काफी है, निश्चिन्तता भी है। क्योंकि वे घरबार, धनार्जन आदि की जिम्मेवारी से रहित हैं। भारत की जनता त्यागी, पादविहारी साधु-संतों के प्रति श्रद्धालु है। अगर वे आत्मीयतापूर्वक जनता को व्यसनत्याग की यह बात समझाएँगे तो वह कभी उनकी बात नहीं टालेगी; बल्कि उनकी बात आदरपूर्वक मानेगी।

साथ ही देश में जो व्रतबद्ध लोकसेवक हैं तथा राष्ट्रीय नेता हैं, उन्हें भी साधुसंतों के द्वारा व्यसनत्याग के लिए प्रेरित जनता में महात्मा गाँधीजी की तरह घूम-घूम कर उसे व्यसनों से दूर रहने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए। विभिन्न व्यसनों के दुष्परिणामों की स्लाइडें बनवा कर प्रोजेक्टर या मैजिक लैंटर्न द्वारा ग्रामीण जनता को दिखाएँ, जिससे उसे व्यसनों के विरक्ति पैदा हो। साथ ही व्यसन-त्याग करने वालों के नीतिनिष्ठ संगठन बना कर उनकी सभी प्रकार की समस्याएं नीति-धर्म की दृष्टि से हल करें। इसके लिए उदाहरण लीजिए—

मध्यप्रदेश के सरगूजा जिले में आदिवासी जाति की एक बहन राजमोहनी देवी ने उस आदिवासी पिछड़े क्षेत्र में व्यसनत्याग कराने का बीड़ा उठाया। ४८ साल की वह महिला सफेद खादी के वेश में बापू (गाँधीजी) के आदेश को भगवान् का आदेश समझ कर उस क्षेत्र में कृतसंकल्प हो कर घर से निकल पड़ी। जिलेभर में घूम कर वह अपने अनपढ़ और गाढ़ अज्ञान में पड़े हुए भाइयों को समझाने लगी—"शराब छोड़ दो। भगवान् शराब पीना पसंद नहीं करते।"

बिगाड़ता है। अतः सरकार को इस आय की पूर्ति दूसरे किसी अच्छे जरिये से करनी चाहिए।

बन्धुओ! मेरा आप सबसे नम्र अनुरोध है कि आप स्वयं इन सब व्यसनों को छोड़ें और राष्ट्र को व्यसनों से बचाने के पवित्र कार्य में सद्भावना पूर्वक जुट पड़ें। साधुसंतों और रचनात्मक कार्यकर्ताओं से भी मेरा सप्रेम अनुरोध है कि वे भी समाजनिर्माण के इस भव्य-कार्य में संलग्न हो जांय।

आशा है, आप मेरा आशय समझ गये होंगे। आप और हम व्यसनों से जितनी जल्दी राष्ट्र को बचायेंगे, उतनी ही जल्दी राष्ट्र का कल्याण होगा, राष्ट्र सुखशान्तिपूर्वक जीएगा।

स्थान—देवकरण मेन्सन के पास, चार रास्ता, बम्बई

वि० सं० २००६ कार्तिक वदी ६

एक बुनियादी उपाय और सुझाता हूं। वह यह है कि भारतीय संस्कृति में समाज की ईकाई कुटुम्ब को माना गया है। अगर कुटुम्ब संस्कारी हों तो समाज में भी संस्कारी व्यक्तियों की बहुतायत होती है। इसलिए प्रत्येक परिवार में संस्काररूप से व्यसनत्याग की बात रगरग में रम जाय, ऐसा प्रयत्न होना चाहिए। इसी कारण भारतीय परिवार में आचार्य (गुरु) से पहले माता-पिता को आद्य संस्कारदाता मान कर उन्हें 'देव' समझने का विधान किया गया है–'मातृदेवो भव' पितृदेवो भव" (अर्थात्–माता को देवता मानो, पिता को देव मानो)। परिवार में माता-पिता का स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण है। पिता की अपेक्षा भी माता का स्थान बढ़ कर है। इसलिए परिवार में माताएँ अपने बच्चों को, बहूबेटियों को तथा अपने पति, देवर, जेठ आदि को बारबार व्यसनों के त्याग के विषय में प्रेरणा दें। बच्चों का हृदय कोमल होता है, उन्हें बचपन में जैसे संस्कारों में ढाल दिया जाता है, ढल जाते हैं। बच्चों को व्यसनों से नुकसान और व्यसनत्याग के महत्त्व को पुष्ट करने वाली प्रेरणाप्रद कहानियाँ सुनाएँ। अपने परिवार में कोई भी व्यसन न लगने दें। अगर कोई लड़का-लड़की या परिवार का व्यक्ति किसी व्यसन में बुरी सोहबत या अन्य कारणों से प्रवृत्त होता मालूम पड़े तो तुरंत सख्ती से रोकथाम करें। इस विषय में महात्मा गाँधीजी की माता पुतलीबाई का उदाहरण प्रेरणादायक है—

म० गाँधीजी जिस समय विलायत जाने को तैयार हुए। उस समय उनकी जाति की ओर से साफ इन्कार था कि मोहनदास गाँधी विलायत न जाए; अगर विलायत जायेगा तो उसे जातिबहिष्कृत कर दिया जायगा। जातिवालों का मनाही करने के पीछे यह आशय था कि विलायत जाने पर मनुष्य धर्मभ्रष्ट हो जाता है, अपने धर्म के संस्कारों पर स्थिर नहीं रहता। गाँधीजी की माता पुतलीबाई को यह

हैं। यह ढाई अक्षर का ऐसा शब्द है, जिसे संसार की सभी आत्माएँ चाहती हैं। फिर वह स्वर्ग का अधिपति इन्द्र हो, नरक में छटपटाने वाला नारकीय जीव हो, मनुष्यलोक का सर्वोच्च सम्राट् हो अथवा पशुलोक का क्षुद्र कीड़ा हो। सभी प्राणियों को 'शान्ति' शब्द अत्यन्त प्रिय है। और सभी प्राणियों के सारे प्रयत्न भी शान्ति के लिए होते हैं।

जिनके पास धन नहीं है या कम है, वे धन पाने के लिए उखाड़-पछाड़ करते हैं। जिन्हें मकान की जरूरत है वे मकान बनाने के लिए अनेक प्रयत्न करते हैं। जिनको सत्ता की भूख है, वे किसी भी प्रकार से सत्ता प्राप्त करने के लिए जोड़तोड़ करते हैं। इसी प्रकार जगत् के सभी प्राणी अपनी-अपनी रुचि और आवश्यकता के अनुसार नाना प्रयत्न कर रहे हैं। मतलब यह है कि प्राणियों के प्रयत्न चाहे भिन्न-भिन्न रूप में दिखाई देते हों, मगर सबका उद्देश्य वस्तुतः शान्ति प्राप्त करना ही है। यह बात दूसरी है कि अधिकांश प्राणियों को अपनी अज्ञानता, स्वार्थ एवं दुर्व्यवहार के कारण अपने प्रयत्नों के परिणामस्वरूप शान्ति के बदले अशान्ति ही पल्ले पड़ती है।

अशान्ति क्यों ?

सवाल यह होता है कि प्रयत्न शान्ति के लिए होने पर भी अशान्ति क्यों पल्ले पड़ती है ? दरअसल, बात यह है कि उन्होंने शान्ति के असली स्वरूप को एवं उसके वास्तविक उपायों को समझा नहीं है, कइयों ने समझा है तो आचरण में नहीं लाये हैं अथवा उलटा आचरण किया है। कई जगह विश्वशान्ति-परिषदें स्थापित हुई, विश्वशान्ति-सम्मेलन भी हुए, कई राष्ट्रों द्वारा विश्वशान्ति के

प्रतिज्ञाबद्ध कराएँ, धर्मसंस्कारों पर सुदृढ़ रखें तो सभी कुव्यसनों से अपने परिवार को बचाए रख सकती हैं। धर्मों के इतिहास में तो ऐसी प्रेरणामूर्ति अनेक महासतियों व सन्नारियों के उदाहरण प्रसिद्ध है, जिन्होंने अपने पति और संतान को, जो या तो इन कुव्यसनों के मार्ग पर चढ़ गए थे या बुरी सोहबत में पड़ कर चढ़ने वाले थे; इन कुव्यसनों से बचाया है। चोर, जुआरी, व्यभिचारी व उन्मार्ग-गामी पति को भी सन्मार्गगामी बनाया है। आज भी कई माताएँ-बहनें अपना यह दायित्त्व निभाती हैं।

व्यसनों पर प्रतिबन्ध से आय कम नहीं

अब तो हमारी राष्ट्रीय सरकार होने से उसे देश को व्यसनों से बचाने के लिए जागरूक हो कर प्रयत्न करना चाहिये। कोई कह सकता है कि जब सरकार सभी व्यसनों पर प्रतिबन्ध लगा देगी, कानूनन बन्द कर देगी तो व्यसनों की विविध सामग्री (जैसे शराब, मांस, तम्बाकू, चाय, सिगरेट, बीड़ी, अफीम, जुआ, सट्टा आदि) पर लगाये हुए टेक्स के द्वारा सरकार को जो करोड़ों रुपयों की आय होती है, वह बन्द हो जायगी। इस तरह आय का जरिया बन्द होजाने से सरकार जनकल्याण के कामों तथा नहरों, बांधों आदि के बनाने में खर्च कहाँ से करेगी ?

इसके उत्तर में नम्रनिवेदन है कि जिन वस्तुओं से देश नैतिक, आध्यात्मिक दृष्टि से बर्बाद होता हो, राष्ट्र की जनता व्यसनों में फंसकर चरित्रहीन, विलासी, आलसी, और दीन-हीन बन कर कंगाल होती हो; अपनी संस्कृति को भूलती जा रही हो; ऐसी चीजों पर कर से होने वाली आय भी गलत है। ऐसी गलत आय से प्राप्त धन जनता के कल्याण के कामों में खर्च किया जाता है तो वह बुद्धि को

हैं। राग (मोह, आसक्ति), घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, मनमुटाव, कलह, फूट, निन्दा, चुगली आदि सब इन्हीं का परिवार है। इसीलिए प्रशान्तात्मा भगवान् महावीर फरमाते हैं—

"वमे चत्तारि दोसे उ इच्छंतो हियमप्पणो।"

"यदि तू आत्मशान्ति और आत्महित चाहता है तो इन चारों दोषों का वमन कर। जब तक ये दोष तेरे हृदय में भरे रहेंगे तब तक शान्ति नसीब नहीं होगी।"

संसार के अधिकांश लोग आज इस बात को भूल कर या इसे नजरअंदाज करके विविध सांसारिक पदार्थों में शान्ति ढूंढ रहे हैं।

शान्ति का वह अमृतमय झरना कोई धन में ढूंढता है। भला, धन अपने आप में विषमता की जड़ है तो वहाँ शान्ति कैसे मिलेगी? धन के लिए परस्पर कलह, कलेश, झगड़े और युद्ध होते हैं। धन को लेकर मानव अपने माता-पिता, भाई, पुत्र तक को भी छोड़ देता है, उन्हें भी मारने-पीटने पर उतारू हो जाता है। तब धन में शान्ति कहाँ? इसी प्रकार कई लोग यह सोचा करते हैं अगर हमारे हाथ में सत्ता आ जाय तो हम शान्ति और अमनचैन कर दें, अथवा हमें शान्ति प्राप्त हो जाय। परन्तु सत्ता की लालसा ही अशान्ति की जड़ है। और जो सत्ता छीनाझपटी करके या अपना कोई स्वार्थसिद्ध करने की दृष्टि से प्राप्त की जाती है, उसमें कदाचित् एक (सत्ता पाने वाले) को शान्ति हो, लेकिन बाकी सबको अशान्ति होती है। और वह अशान्ति एक को भी शान्ति से नहीं रहने नहीं दे सकती। सत्ता जब सेवा के लिए स्वयं न लेकर जनता द्वारा आग्रहपूर्वक निःस्पृहता के कारण दी जाती है, तब वह शान्तिदायक बनती है, स्व-पर दोनों

२६

विश्वशान्ति का सन्देश

[कोरिया-युद्ध को लेकर विश्वशान्ति का संदेश देने के लिए चौपाटी पर एक विशाल सभा का आयोजन किया गया था। उसमें स्व० युगवीर पू० आचार्यश्रीजी म० विशेष अतिथि के रूप में आमन्त्रित थे। उस प्रसंग पर पू० आचार्यश्रीजी म० ने अपनी ओजस्वी वाणी द्वारा विश्वशान्ति का सन्देश दिया था, जिसे जनता ने मंत्रमुग्ध हो कर सुना था।

—सम्पादक]

उपस्थित सर्वसज्जनो और सन्नारियो !

अभी-अभी आपके सामने विश्वशान्ति के लिए प्रार्थना हुई। कुछ वक्ताओं ने मुझसे पूर्व इस विषय पर अपने-अपने विचार प्रगट किये। मैं इसी विषय पर आपके सामने अपने विचार रखूंगा।

संसार के ढाई-तीन अरब मानवों में कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं होगा, जो शान्ति न चाहता हो ! मनुष्य ही क्यों, पशु-पक्षी, कीट, पतंगे आदि छोटे से छोटे प्राणी भी शान्ति की प्यास में बेचैन रहते

लेकिन अन्दर अशान्ति और ईर्ष्या की आग धधक रही है। वे मौका पाते ही अणुशस्त्रों के माध्यम से संसार को तवाह करके स्मशान की शान्ति-निर्जीवशान्ति-बनाये रखना चाहते हैं। पर क्या मुर्दों की शान्ति वास्तविक शान्ति है ?

बहुत-से लोग अपनी कुशलक्षेम के लिए दूसरे मनुष्यों या दूसरे प्राणियों के कुशलक्षेम की कोई कीमत नहीं समझते। वे अपने क्षेम-कुशल के लिए दूसरों को गुलाम बनाने, दूसरों का गला घोंटने, वध करने और अकुशल करने के प्रयत्न करते रहते हैं, इसी में शान्ति समझते हैं। मगर यह शान्ति प्राप्त करने का मार्ग नहीं है। ऐसा करना शान्ति पर कुठाराघात करना है।

कुछ लोग निर्दोष जीवों की वलि देकर शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं, परन्तु यह भी निरा भ्रम है। दुःखविपाक सूत्र में उदाहरण दे कर स्पष्ट बताया है कि जिन लोगों ने शान्ति प्राप्त करने के लिए नरबलि या पशुबलि का रास्ता अपनाया था, उन्हें उक्त पापकर्मवश कितनी अशान्ति मिली ! ईश्वर के नाम पर या देवीदेव के नाम पर धर्म की दुहाई देकर मनुष्य, पशु या किसी पक्षी का वध करने से संसार में कभी शान्ति नहीं हो सकती।

एक राजा को किसी याज्ञिक पुरोहित ने बहका दिया कि 'अगर वह राज्य में शान्ति चाहता है तो यज्ञ करके पशुबलि दे।' राजा इसके लिए तैयार हो गया। लेकिन मंत्री न्यायी, दयालु और निष्पक्ष था। मंत्री ने सोचा—"शान्ति के नाम पर पशुवध जैसा निकृष्ट कृत्य करने में कौन-सी शान्ति है ? क्या दूसरों को घोर अशान्ति पहुंचाना ही शान्ति प्राप्त करना है ? इस निकृष्ट स्वार्थ में शान्तिदेवी का निवास कहाँ ? उसने यज्ञ करने वाले पुरोहित से पूछा—"आप इन

लिए प्रस्ताव भी पास हुए, किन्तु मेरा यह ठोस अनुभव है कि केवल शान्तिमंत्र बोलने या भावना करने से ही विश्व में शान्ति स्थापित नहीं हो जायगी।

जब तक व्यक्ति, परिवार, संघ (समाज), नगर, राष्ट्र आदि विश्व की सभी ईकाइयाँ अपनी-अपनी भूमिका और कर्त्तव्यसीमा में आए हुए शान्ति के पाठों को क्रियान्वित नहीं करते, तब तक शान्ति दूराति-दूर होती चली जायगी।

अशान्ति के मूल कारणों को दूर किये बिना केवल शान्तिमंत्र का उच्चारण या शान्ति रखने का प्रस्ताव धधकती हुई भट्टी पर चढ़ी हुई कढ़ाई में उफनते हुए दूध में दो चार ठंडे पानी के छींटे डालने के समान है। भट्टी पर दूध है, नीचे इन्धन जल रहा है, उस पर पानी के थोड़े-से छींटे थोड़ी देर के लिए उफान शान्त कर देते हैं, मगर ४-५ मिनट के बाद फिर दूध उफनता है। यदि दूध के उफान को सदा के लिए शान्त करना है, तो उसके नीचे भट्टी में जलती हुई लकड़ियों को हटाना होगा। आप लकड़ियों को भी सुलगती रखें और दूध को भी उफनने देना न चाहें, ऐसा हो नहीं सकता।

आज मनुष्य की जिन्दगीरूपी भट्टी में कषायों की आग सुलग रही है। जरा-जरासी बातों पर अशान्ति का उफान आ जाता है। कभी धर्मसम्प्रदाय के नाम पर, कभी जाति-कौम के नाम पर, कभी राष्ट्रान्धता को लेकर, कभी राजनैतिक पक्षान्धता या प्रान्तीयता को लेकर जोरों से उफान आता है। और हम उस उफान के मूल कारण-कषाय-को दूर किये बिना केवल शान्ति के उपदेश देकर या मंत्रोच्चारण करके रह जाते हैं। उससे स्थायी शान्ति नहीं होती।

क्रोध, अभिमान, कपट और लोभ ये चार कषाय अशान्ति के बीज

के लिए। ऐसी सत्ताप्राप्ति में छीनाझपटी, द्वेष, ईर्ष्या या प्रतिस्पर्धा की बीमारी नहीं होती।

कई लोगों को अभीष्ट सांसारिक पदार्थों या वासना-कामना की तृप्ति में शान्ति में प्रतीत होती है। परन्तु यह देखा गया है कि जितनी-जितनी सांसारिक पदार्थों की कामना या वासना बढ़ती जाती है, एक के बाद एक नई-नई इच्छा पैदा होती जाती है, पूर्णतया तृप्ति या संतुष्टि कभी होती नहीं। तब अतृप्त इच्छाओं से या अनिष्ट पदार्थों के संयोग और ईष्ट के वियोग से अशान्ति पैदा होती है। इसलिए सांसारिक पदार्थों में शान्ति ढूंढना उसी प्रकार है जिस प्रकार कस्तूरिका मृग अपनी नाभि में कस्तूरी होते हुए विविध झाड़ियों, जंगलों या जगहों में कस्तूरी की सुगन्धि ढूंढता रहता है।

बहुत-से लोग, खासकर सत्ताधीश या राजनीतिज्ञ यही सोचा करते हैं कि युद्ध से, मारकाट से या रक्तक्रान्ति से विश्व में शान्ति हो जायगी; अणु-अस्त्रों के प्रयोग से डर कर जनता अपने आप शान्ति से रहना सीख जायगी। परन्तु दुनिया का आज तक का इतिहास क ता है कि शस्त्रास्त्रों, युद्धों, मारकाट या खून-खच्चर से कदापि शान्ति नहीं हुई और न कभी होगी। उलटे, अशान्ति बढ़ाने के साधनों से शान्ति में वृद्धि के बजाय अशान्ति ही बढ़ती है। विविध राष्ट्रों या राज्यों में शासन की उथल-पुथल इस बात की साक्षी है कि अशान्ति के उपर्युक्त साधनों से कभी शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। भय, दुःख, लड़ाई और संघर्ष अपने-आप में ही अशान्ति के कारण हैं। वैर-विरोध, द्वेष और ईर्ष्या तो अशान्ति की आग भड़काने का ही काम करती हैं।

परन्तु खेद है आज के कई अणुआयुधों से सम्पन्न राष्ट्र अणुअस्त्र के धड़ाकों में ही शान्ति मानते हैं। ऊपर से शान्ति की बातें करते हैं,

दो तुम्हारे शास्त्र ! ऐसे पक्षपातपूर्ण मनगढ़ंत शास्त्रों को कौन मानेगा ? रहने दीजिए ! मैं ऐसी शान्ति नहीं पसंद करता, जिसमें किसी भी प्राणी को अशान्ति पहुंचाई जाती हो। मेरा कर्त्तव्य मुझे सभी प्राणियों को शान्ति पहुंचाने के लिए प्रेरित करता है।"

ये और इस प्रकार के अज्ञान से प्रेरित हो कर अशान्ति के साधनों से भला कहाँ शान्ति प्राप्त हो सकती है ? इनसे तो अशान्ति की ही जड़ें सींची जाती हैं।

शान्ति कहाँ और कैसे हो ?

यह तो मैं पहले बता चुका हूं कि अशान्ति का मूल कारण कषाय है। अगर कषायों को उनके परिवार सहित मन्द करने व दूर करने का प्रयत्न करें तो शान्ति निश्चित है। भगवद्‌गीता में शान्ति के लिए सीधा उपाय बताया है—

'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'

'त्याग से तुरंत शान्ति मिलती है।"

सच्ची शान्ति भोग में नहीं, त्याग में है। मनुष्य सच्चे हृदय से ज्यों-ज्यों त्याग की ओर बढ़ता जायगा, त्यों-त्यों शान्ति उसके निकट आती जाएगी।

एक समय मिथलानरेश निमि भोजन के बाद गवाक्ष में बैठे थे। सहसा उन्होंने देखा—"मांस का पिंड लिए हुए एक चील आकाश में मंडरा रही है। और बीसियों पक्षी चोंचें मार मार कर उससे वह पिंड छुड़ाना चाहते हैं। प्रहारों से हैरान हो कर चील ने वह मांसपिंड छोड़ कर शान्ति की सांस ली। अब जिस दूसरे पक्षी ने उसे उठाया था, उसके साथ दूसरे पक्षी छीनाझपटी करने लगे। उसने भी

निर्दोष पशुओं को अशान्ति पहुंचा कर किस प्रकार शान्ति प्राप्त कर सकेंगे ?"

पुरोहित—"इन बकरों का ईश्वर के नाम पर बलिदान किया जायगा। इस बलिदान के प्रताप से सबको शान्ति मिलेगी।"

मंत्री—"ईश्वर अगर सबका स्वामी है तो इन बकरों का भी है या नहीं ? और जैसे आप लोग शान्ति चाहते हैं उसी प्रकार वे भी शान्ति चाहते हैं या नहीं ? अगर शान्ति चाहते हैं तो इन्हें क्यों मारा जा रहा है ?"

पुरोहित मंत्री के सवालों का कोई जवाब नहीं दे सका। अतः क्रुद्ध हो कर चिल्लाने लगा—"आप नास्तिक मालूम होते हैं। यहाँ से चले जाइए। नहीं तो, यज्ञ अपवित्र हो जायगा।"

मंत्री—"मैं नास्तिक नहीं हूं। लेकिन यह जानना चाहता हूं कि जिन जीवों के लिए आप शान्ति चाह रहे हैं, उनमें यह बकरे भी हैं या नहीं ? जब सभी जीव जीना चाहते हैं, कोई मरना नहीं चाहता, तब इन शान्ति के इच्छुक बकरों को मार कर अशान्ति पहुंचाना और अपनी शान्ति चाहना कहाँ का न्याय है ?"

पुरोहित ने उटपटांग बात करके मंत्री को टालने का प्रयत्न किया। मंत्री ने अपने पद की हैसियत के प्रधान पुरोहित से कहा—"मैं लौट कर आऊँ, तब तक इन पशुओं को मारने का काम बन्द रखा जाय, यह मेरी अधिकृत आज्ञा है।" मंत्री ने राजा के पास पहुंच कर कहा—"महाराज ! नगर में बड़ा अत्याचार हो रहा है ?" राजा—"कौन, किस पर और क्यों अत्याचार कर रहा है ? उन्हें रोकिए।"

मंत्री—"अत्याचार करने वाले स्वयं राजगुरु हैं। वे जबर्दस्ती

काम हो जाता है, बशर्ते कि वह रेडियम असली हो, नकली नहीं। इसी प्रकार पूर्ण शान्ति प्राप्त करने के लिए अगर आप पूर्ण त्याग कर सकें तो अच्छा ही है। यदि पूर्णतः त्याग न कर सकें तो आंशिक त्याग तो जरूर करना चाहिए। लेकिन वह त्याग दिखावा न हो, वास्तविक हो, हृदय से हो। त्याग भले ही थोड़ा हो, पर शुद्ध और हार्दिक हो तो वह शान्ति प्राप्त करा सकता है। जिन देवों ने त्याग करके शान्ति नहीं प्राप्त की वे जगत् को शान्ति की प्रेरणा नहीं दे सके। इसीलिए उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—

"चइत्ता भारहं वास चक्कवट्टी महिड्ढिओ।
संति संतिकरे लोए पत्तो गइमणुत्तरं॥"

"चक्रवर्ती की विशाल ऋद्धि प्राप्त करके जिन्होंने उसे व भारतवर्ष के राज्य का त्याग किया; लोक में शान्ति करने वाले उन शान्तिनाथ भगवान् ने शाश्वतशान्ति का उत्तम स्थान प्राप्त कर लिया।"

कई लोग शान्ति के लिए यंत्र-मंत्र-तंत्र आदि का प्रयोग करते हैं, मगर शान्तिनाथ भगवान् ने मंत्रतंत्रादि का उपयोग न करके त्याग के द्वारा शान्ति का पाठ जगत् को सिखाया। स्वयं शान्तिस्वरूप बने और जगत् को अपने उदाहरण से बतला दिया कि सच्ची शान्ति भोग में नहीं, त्याग में है।

इसी बात की पुष्टि के लिए एक उदाहरण लीजिए—

बनारस के एक राजा ने अपनी राजसभा में बड़े-बड़े विद्वानों को आमंत्रित किए। सभा के प्रारम्भ में ही उसने सभी विद्वानों के सामने एक प्रश्न रखा—"सारा संसार शान्ति चाहता है, वास्तव में शान्ति किसमें है? यह बताइए।" एक विद्वान् ने कहा—"शान्तिस्तु सुन्दरीसंगे (यानी शान्ति तो रमणी के साथ सहवास में है)।"

"महाराज ! आपकी आज्ञा से मैंने पशुओं को मारने से बचाया है।"

राजा—"मैंने यह आज्ञा कब दी थी ?"

मंत्री—"आपने आज्ञा दी थी कि जबर्दस्ती साधु न बनाया जाय।"

राजा—"वह तो साधु बनने के विषय में थी, बकरों के विषय में कहाँ थी ?"

मंत्री—"जैसे दूसरे लोगों के कथन के अनुसार जबर्दस्ती साधु बना कर स्वर्ग भेजना अनुचित है; उसी प्रकार बकरों को जबर्दस्ती मार कर स्वर्ग भेजने का कार्य भी तो अनुचित और अत्याचारपूर्ण है ? कोई भी पशु स्वर्ग जाने के लिए मरना नहीं चाहता, अपितु घास खा कर ज़िंदा रहना चाहता है। यदि यज्ञ करने वाले यह कहें कि हम ज्ञानी हैं, पशुओं को ज्ञान नहीं, इसीलिए उन्हें स्वर्ग भेजते हैं तो इसके उत्तर में पशुओं की ओर से और खास कर मेरी ओर से कहना है कि हमें तो इस बात पर विश्वास नहीं है। विश्वास तो तब हो जब ये लोग अपने परिवार के लोगों को मार कर पहले स्वर्ग भेज दें। परन्तु जब यज्ञकर्ता लोग अपने माता-पिता और पुत्र को न मार कर स्वर्गसुख से वञ्चित रख कर बकरों के लिए स्वर्गसुख पहुंचाने की बात करते हैं, तो हमें इनकी बात पर जरा भी विश्वास नहीं होता। इनसे पूछिए कि क्या आप अपने परिवार को यज्ञ में होम सकते हैं ?"

राजा ने यज्ञकर्ता पुरोहितों से पूछा तो वे बगलें झांकने लगे। इतना ही कहा—शास्त्र में पशुओं को होमने का विधान है, कुटुम्ब को होमने का नहीं।" राजा ने डांटते हुए कहा—"बस, रहने

गत हो जायगी। इसलिए मुझे कहना चाहिए कि विश्वशान्ति का उद्देश्य रखे बिना व्यक्तिगत आत्मशान्ति क्षणिक होगी।

इसलिए विश्वशान्ति को सक्रियरूप से जगत् में स्थापित करने के लिए मुख्यतया तीन ठोस उपाय करने जरूरी हैं—

पहला उपाय है—स्वधर्म साधना का, दूसरा है—मंत्रजप तथा तपःसाधना का और तीसरा है—सक्रिय प्रयोग का।

स्वधर्मसाधना के उपाय में व्यवस्था की दृष्टि से सारे विश्व के हमें ७ विभाग कर लेने चाहिए—(१) व्यक्तिगत आत्मशान्ति, (२) गृहशान्ति, (३) ग्रामनगरशान्ति, (४) संघ व धर्मसम्प्रदायशान्ति, (५) राष्ट्रशान्ति, (६) विश्वशान्ति और (७) समष्टिशान्ति। इस सातों विभागों का अपनी-अपनी श्रेणी के अनुसार अपने-अपने हिस्से में आया हुआ स्वधर्म-पालन करना चाहिए।

स्वधर्म-साधना

व्यक्तिगत आत्मशान्ति के लिए उपाय तो हम पहले बता ही चुके हैं। वही उपाय गृहशान्ति या कौटुम्बिक शान्ति के लिए हैं। विधेयात्मक दृष्टि से सोचें तो पूर्वोक्त सातों प्रकार की शान्तियों के लिए सामान्यतया ये धर्म पालनीय हैं—(१) परस्पर स्नेह, वात्सल्य और शुद्धप्रेम हो, (२) विश्व के सभी प्राणियों के साथ मैत्री व बन्धुत्वभावना हो, (३) सभी प्राणियों के प्रति करुणा, दया, रक्षा व अभयदान की भावना हो, (४) गुणीजनों या गुणवान् प्राणियों के प्रति प्रमोदभावना हो, विशेष आत्मीयता हो; (५) जो मनुष्य, परिवार, सम्प्रदाय, नगरग्राम, राष्ट्र अथवा प्राणी उद्दण्डता करते हों, संसार की व्यवस्था को बिगाड़ते हों, अपना धर्मपालन न करते हों, अशान्ति पैदा करते हों, उन पर उपेक्षा की जाय, उनके साथ प्रेम-

छोड़ा तो तीसरा उसे लेकर भागा। किन्तु उसकी भी वही दुर्गति हुई। यह दृश्य देख कर राजा को अन्तःप्रेरणा हुई—"संसारी काम-भोगों की भी तो यही गति है। जिस-जिस ने उनका लोभ किया, उसी ने अशान्ति प्राप्त की और जिन्होंने उनका मोह छोड़ा, उन्होंने शान्ति प्राप्त की।

त्याग से शान्ति पाने की ज्वलन्त प्रेरणा इस दृष्टान्त से मिलती है।

सवाल यह होता है कि किस चीज का त्याग करने से शान्ति प्राप्त होगी? गीता में इसका उत्तर निम्नलिखित श्लोक द्वारा दिया गया है—

> "विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
> निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥"

अर्थात्—"जो व्यक्ति समस्त कामों (कामनाओं) का त्याग करके निःस्पृह, निर्ममत्व और निरहंकार हो जाता है; वह शान्ति को प्राप्त करता है।" इसका रहस्य यह है कि जो पापों और कामनाओं का त्याग कर देता है वह व्यक्ति निःस्पृह और निरासक्त तो हो ही जाता है। और इतना होने पर उसे मन, वचन, काया तीनों प्रकारों से शान्ति हो जाती है।

त्याग का अर्थ घरबार व धनसम्पत्ति छोड़ कर साधु बन जाना समझा जाय तो भी गलत नहीं होगा। परन्तु इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि किसी के घर में कस्तूरी हजार मन हो और किसी के यहाँ एक रत्तीभर हो तो चिन्ता नहीं। होनी चाहिए, असली कस्तूरी। एक तोला रेडियम धातु का मूल्य साढ़े चार करोड़ रुपया है, ऐसा कहा जाता है, उसका एक कण भी किसी के पास हो तो बहुत-सा

"महाराज ! मेरे परिवार में एकता और शान्ति का रहस्य बस इसी एक शब्द में निहित है। सहनशीलता का मन्त्र ही हमारे बीच एकता का धागा अब तक पिरोये हुए है। इस महामंत्र को जितनी बार दुहराया जाय उतना ही कम है।

भाग्यशालियो ! जहाँ सहनशीलता आ जायगी, वहाँ स्वार्थत्याग तो लाजिमी होगा। फिर गृहशान्ति में क्या कमी रह जायगी ? अगर घरों में हमारी माताएँ-बहनें इस मंत्र को जीवन में उतार लें तो आए दिन छोटी-छोटी बातों पर होने वाला महाभारत बन्द हो जाय और परिवार में शान्ति का झरना बहने लगे।

ग्राम और नगर की शान्ति के लिए विशेषतौर पर प्रत्येक ग्रामजन व नागरिक को ग्रामधर्म और नगरधर्म का पालन करना आवश्यक है। तभी ग्राम और नगर में शान्ति स्थापित हो सकेगी। जब भी गाँव या नगर पर आफत आये उस समय प्रत्येक व्यक्ति को उस आफत के मिटाने के लिये एकमन से जुट पड़ना चाहिये। गाँव और नगर में कोई भी फूट, कलह या वैमनस्य की अप्रिय घटना होने लगे, तब तुरंत ही उसे मिटा कर परस्पर शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न होना चाहिये।

संघशान्ति या धर्म-सम्प्रदाय-शान्ति के लिये विभिन्न धर्मसंघों या सम्प्रदायों में परस्पर सौहार्द, समन्वय और सौजन्य की भावना होनी चाहिए। सर्वमान्य कार्यक्रम सभी धर्मसम्प्रदाय के लोगों को एक हो कर मिलजुल कर सम्पन्न करने चाहिए। साम्प्रदायिक विद्वेष, तनातनी, मारपीट, कलह एवं वैमनस्य को कतई बढ़ावा नहीं देना चाहिए। तभी संघशान्ति होगी।

इसी प्रकार हर एक धर्मसंघ के अंदर फिरकेबाजी, वैमनस्य,

दूसरे विद्वान् ने कहा—'भोजनेन विना नहि' (अर्थात्—भोजन भर-पेट मिले बिना वह शान्ति भी नहीं मिलती), तीसरे विद्वान् ने कहा—"वेदाभ्यासाद् भवेच्छान्तिः (वेदों—शास्त्रों—के अध्ययन से शान्ति होती है)।" और चौथे विद्वान् ने कहा—"शान्तिश्च संयमे सदा। (सदा संयम रखने में ही वास्तविक शान्ति है)।" राजा ने सबका उत्तर सुन कर निर्णय दिया—"आप में से प्रथम दोनों ने शरीर को तीसरे ने विद्याभ्यास को और चौथे ने संयम को महत्ता दी है। मेरे ख्याल से सच्ची शान्ति विवेकविज्ञानपूर्वक संयम में है। निष्कर्ष यह निकला कि पापों, कषायों, वासनाओं का त्याग या उन पर संयम रखने से शान्ति प्राप्त हो सकती है।

विश्वशान्ति के उपाय

कहा जा सकता है कि ऊपर शान्ति के लिए जो भी उपाय बतलाए गये हैं, वे सब व्यक्तिगत शान्ति के हैं; विश्वशान्ति के नहीं। परन्तु एक बात खासतौर से ध्यान में रखनी है कि आत्म-शान्ति और विश्वशान्ति दोनों में कोई विसंगति नहीं है। दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हैं। आत्मशान्ति के लिए किया गया प्रयत्न विश्व-शान्ति का एक हिस्सा है और विश्वशान्ति के लिए जो भी प्रयत्न किया जायगा, उसमें आत्मशान्ति तो निश्चित ही आ जायगी। फिर भी हमें स्वार्थभावना न रख कर विश्वशान्ति को ही दृष्टिसमक्ष रखनी चाहिए। क्योंकि जब तक विश्वशान्ति नहीं होगी, आत्मशान्ति स्थायीरूप से नहीं हो सकती। एक व्यक्ति शान्तिपूर्वक अपने घर में ध्यान लगा कर बैठा है, मगर आसपास चारों ओर आग लगी है, तो वह कितनी देर शान्ति से बैठ सकेगा? आग की लपटें बहुत शीघ्र ही उसे घेर लेंगी और उसकी वह व्यक्तिगत शान्ति अशान्ति में परि-

(२) अनाक्रमण (३) सार्वभौमत्व-स्वीकार, (४) अहस्तक्षेप और (५) सहयोग। सहअस्तित्व का मतलब है, अपने से भिन्न सिद्धान्तों या मान्यताओं के कारण दूसरे देश का अस्तित्व समाप्त करके उस पर अपने सिद्धान्त और व्यवस्था लादने का प्रयोग न किया जाए। सब राष्ट्रों को सम्मानपूर्वक साथ जीने का अधिकार है, ऐसा माना जाय। (२) अनाक्रमण का अर्थ है—एक देश दूसरे देश की सीमा का उल्लंघन करके उसकी स्वतंत्रता पर या उसके शासित भूभाग पर आक्रमण न करे, जिससे उसकी अखंडता संकट में पड़ जाय। (३) सार्वभौमत्व-स्वीकार का मयलव है, प्रत्येक राष्ट्र की अपनी प्रभुसत्ता है। उसके सार्वभौमत्व पर किसी प्रकार की वाधा दूसरे राष्ट्रों की ओर से नहीं होनी चाहिए। (४) अहस्तक्षेप का अर्थ है—किसी भी राष्ट्र के आन्तरिक या वाह्य मामलों में कोई दूसरा देश किसी प्रकार का हस्तक्षेप या दस्तंदाजी न करे। और (५) सहयोग का अर्थ है—एक दूसरे के विकास में सम्पन्नराष्ट्र यथासम्भव सहयोग दें, परस्पर सहकार की भावना रखें। इस राजनीतिक पंचशील का अमल सारे देशों में हो जाय तो विश्वशान्ति को कोई खतरा नहीं।

इसके वाद समष्टि-शान्ति का भी विचार कर लें। समष्टि का अर्थ है—मनुष्य के अतिरिक्त सृष्टि के समस्त प्राणी। इसलिए समष्टि की शान्ति मनुष्य से भिन्न चेतनाशील प्राणियों से सम्वन्धित होते हुए भी उसका सीधा प्रभाव मानवसृष्टि पर पड़ता है। वहुत-सी दफा अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी, भूकम्प आदि प्राकृतिक प्रकोप होते हैं। उनके पीछे सारी प्राणिसृष्टि का पाप निमित्त होता है। मनुष्य अणुशस्त्रों आदि का प्रयोग या शिकार, पशुपक्षीवलि या पशुहत्या करता है तो उसके उक्त पापों के कारण भूकम्प, अतिवृष्टि सूखा, वीमारी आदि उपद्रव फूट निकलते हैं।

पूर्वक असहयोग रखा जाय; उन पर सामाजिक-नैतिक-दबाव डालने का प्रयत्न किया जाय, उनको न्याय दिया जाय।

विशेषरूप से गृहशान्ति के लिए परिवार में परस्पर सहनशीलता व स्वार्थत्याग की भावना आवश्यक है।

१७ वीं शताब्दि में जापान में उस समय के राज्यमंत्री ओ-चो-सान का परिवार अपने सौहार्द के लिए प्रसिद्ध था। यद्यपि उनके परिवार में लगभग एक हजार सदस्य थे, पर उनके बीच एकता का अटूट सम्बन्ध था। सभी सदस्य साथ रहते, साथ ही खाना खाते। कलह तो उनके घर से दूर ही रहता था। शान्ति का अखण्ड झरना उनके कुटुम्ब में बहता रहता था। दूर-दूर तक इस कुटुम्ब की शोहरत फैल गई थी। ओ-चो-सान-परिवार में इस प्रकार की शान्ति की बात उस समय के सम्राट् 'यामातो' के कानों में पहुंची। वे इसकी जांच करने के लिए स्वयं उस वृद्धमंत्री के घर पहुंचे। स्वागत, सत्कार और शिष्टाचार की रस्म पूरी हो जाने पर सम्राट् ने पूछा—"मैंने आपके परिवार की एकता, शान्ति, स्नेहसम्बन्ध और सहृदयता की कई कहानियाँ सुनी हैं। क्या आप मुझे बतलाएँगे कि एक हजार से भी अधिक परिवार वाले घर में यह सौहार्द, ऐक्य शान्ति और स्नेहसम्बन्ध किस तरह बना हुआ है?" ओ-चो-सान वृद्धावस्था के कारण अधिक देर तक बातें नहीं कर सकते थे, इसलिए अपने पौत्र को कलम-दावात व कागज लाने का इशारा किया। और कागज पर कांपते हाथों से कोई सौ शब्द लिख कर उस कागज को सम्राट् यामातो की ओर बढ़ा दिया। सम्राट् ने बड़ी उत्सुकता से कागज पर दृष्टि डाली और आश्चर्यान्वित हो गए। एक ही शब्द—'सहनशीलता'—को १०० बार लिखा गया था। सम्राट् को चकित और अवाक् देखकर वृद्ध महामंत्री ने कांपती हुई आवाज में कहा—

जप और तप की साधना

विशुद्ध भावना का भी बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। विश्वशान्ति के लिए स्वधर्म के आचरण के साथ-साथ 'सारी सृष्टि में शान्ति फैले' इस प्रकार की भावनाओं का आन्दोलन भी होना जरूरी है। यही कारण है कि जैनाचार्यों ने विश्वशान्ति के लिए भावनात्मक आन्दोलन जगाने हेतु 'बृहच्छान्तिपाठ' बनाया है। जिसके सूत्र इस प्रकार हैं—

"शान्तिः शान्तिकरः श्रीमान् शान्तिं दिशतु मे गुरुः।
शान्तिरेव सदा तेषां येषां शान्तिगृ'हे गृहे (सदा) ॥
श्रीसंघ-जगज्जनपद-राजाधिप-राजसन्निवेशानाम् ।
गौष्ठिकपुरमुख्याणां व्याहरणैर्व्याहरेच्छान्तिम् ॥
श्रीश्रमणसंघस्य शान्तिर्भवतु
श्री जनपदानां शान्तिर्भवतु
श्री राजाधिपानां शान्तिर्भवतु
श्री राजसन्निवेशानां शान्तिर्भवतु
श्री गौष्ठिकानां शान्तिर्भवतु
श्री पौरमुख्याणां शान्तिर्भवतु
श्री पौरजनस्य शान्तिर्भवतु
श्री ब्रह्मलोकस्य शान्तिर्भवतु

भावार्थ यह है कि "श्री शान्तिनाथ प्रभु सदा शान्ति करने वाले हैं, वे शान्ति का बोधपाठ पढ़ाने वाले गुरु मुझे शान्ति का मार्ग दिखाएँ। जिनके घर में सदा शान्ति रहती है, उनके घर में सदा

कलह और फूट नहीं होनी चाहिए। अन्यथा संघ में अशान्ति फैलेगी और व्यक्ति की शान्ति पर भी उसके छींटे उछलेंगे। संघ-शान्ति के लिए यह भी आवश्यक है कि संघ पर कोई भी आफत आए तो उसे निवारण करके शान्ति स्थापित की जाय।

भद्रबाहुस्वामी ने संघ में शास्त्रीयज्ञान लुप्त होने के समाचार सुन कर ज्ञान की उन्नति के लिए प्रयत्नशील चतुर्विध संघ का आमंत्रण पा कर अपनी योगसाधना छोड़ कर पाटलिपुत्र की ओर प्रस्थान किया। और वहाँ संघ की उन्नति के लिए विशिष्ट पुरुषार्थ में योगदान दिया। संघशान्ति के लिए संघ के प्रत्येक सदस्य को संघधर्म का पालन करना आवश्यक है।

राष्ट्रशान्ति के लिए राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य को राष्ट्रधर्म का पालन करना चाहिए। राष्ट्र के प्रति पूरी वफादारी रख कर, राष्ट्रीय उन्नति के कामों में सहयोग देना चाहिए। जब भी राष्ट्र पर आफत आए तब सब मतभेदों को भुला कर उस आफत का पूरी ताकत से सामना करना चाहिए। राष्ट्रविरोधी तत्त्वों को न तो बढ़ावा देना चाहिये और न स्वयं राष्ट्रहित के विरुद्ध कोई कार्य करना चाहिये। राष्ट्र में फूट डालना, राष्ट्र को गुलाम बनाने की मुरादवालों को प्रोत्साहन देना, दंगे, हड़ताल, तोड़फोड़ आदि करना राष्ट्र के प्रति गद्दारी है, राष्ट्र में अशान्ति को न्यौता देना है। अतः इन गलत कार्यों को करना राष्ट्रशान्ति में विघ्न डालता है। इसका मतलब यह नहीं है कि हम दूसरे राष्ट्र या राष्ट्रवालों के प्रति द्वेष, शत्रुता या वैर-विरोध रखें, उनकी उन्नति देख कर जलें। अपितु दूसरे राष्ट्रों के प्रति स्नेह-सौजन्य व सहयोग की भावना रखनी है।

विश्वशांति के लिए विश्व के प्रत्येक राष्ट्र को 'पञ्चशील' का पालन करना अनिवार्य है। राजनैतिक पञ्चशील ये हैं—(१) सहअस्तित्व

हमें भी विश्वशान्ति के लिए जपतप के इस प्रकार के प्रयोग करने चाहिए।

इसके बाद एक सवाल और खड़ा होता है कि सारे संसार में आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक; दूसरे शब्दों में स्वकृत, परप्राणीकृत और प्रकृतिकृत—ये तीन प्रकार के दुःख या अशान्ति-कारक ताप हैं। इनको दूर करने या शान्त करने का उपाय क्या है? भारतीय मनीषियों ने इसके लिए भी शान्तिमंत्र बताया है। वैदिक धर्म की प्रार्थना में आता है—

"ॐ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षँ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः, सा मा शान्तिरेधि।"

"ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः"

अर्थात्—आकाश (द्यु) लोक शान्तिदायक हो, ज्योतिष्लोक शान्तिमय हो, पृथिवी शान्तिमयी हो, जल शान्तिप्रद हो, औषधियाँ (अन्न आदि खाद्य वस्तुएँ) शान्तिकारिणी हों, वनस्पतियाँ (फल, मूल, फूल, शाक-भाजी आदि) शान्तिदायिनी हों, समस्त देव शान्तिदायक हों, समस्त ब्रह्म (चेतनाशील प्राणी) शान्तिदाता हों, सृष्टि का कणकण शान्तिमय हो, सर्वत्र शान्ति ही शान्ति हो और वह शान्ति मुझ में भी बढ़े। सारे जगत् की त्रिविध ताप से शान्ति हो! शान्ति हो!! शान्ति हो!!!"

यह है भारतीय महापुरुषों का सारी सृष्टि की शान्ति के लिए शान्तिपाठ! सृष्टि की शान्ति की कितनी उच्चभावना है! इसके अलावा संक्षेप में भी विश्वशान्ति की भावना व्यक्त की गई है—

बिहार में जब भूकम्प आया था, तब महात्मा गाँधीजी ने ये उद्गार निकाले थे कि "यह हमारे अस्पृश्यता के पाप का फल है।" इस पर कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने गाँधीजी से बहस की—"यह तो कुदरती प्रकोप है, इसका अस्पृश्यता से क्या सम्बन्ध ?" महात्मा-गाँधीजी ने कहा—"भले ही हम सृष्टि की इस रहस्यमयता को न समझें, लेकिन मानवसमाज में जो भी पाप—व्यक्ति, राष्ट्र, सम्प्रदाय या समाज की ओर से—किसी भी रूप में होते हैं, उनका प्रतिफल मिले बिना नहीं रहता। इसीलिए मैंने कहा था—"यह हमारे अस्पृश्यता के पापमय व्यवहार का फल है।"

इसी प्रकार शान्ति के भ्रम से जो लोग देवीदेवों के आगे, धर्म के नाम पर, शान्ति के नाम पर या परिवार-सुरक्षा के नाम पर पशुबलि देते हैं, पक्षियों को होमते हैं, वे भी समष्टि में अशान्ति फैलाने में निमित्त बनते हैं। मानवसृष्टि के बुरे कार्यों,—हिंसा, असत्य, मारकाट, अणुअस्त्रों का परीक्षण व प्रयोग, युद्ध आदि—का भी प्रभाव अन्यप्राणिजगत् पर पड़े बिना नहीं रहता। समष्टिशान्ति के लिए ये सब पापमय कार्य बन्द होने चाहिए।

सभी का सार यह है कि व्यक्ति से लेकर समष्टि तक की सारी ही सृष्टि की शान्ति के लिए पापमय कार्यों— अहितकर कृत्यों—का त्याग होना चाहिए; यह सर्वमान्य स्वधर्म है। जिस दिन इसका पालन नहीं होगा, उस दिन सृष्टि में त्राहि-त्राहि मच जायगी।

यही कारण है कि शान्तिनाथ भगवान् ने अचला महारानी के गर्भ में आते ही अपने पिता के राज्य में फैली हुई महामारी को अपने मातापिता द्वारा स्वधर्म-साधना के जरिये मिटा दी थी।

(६) सैनिक गुटबन्दियों के संगठनों को तोड़ दिया जाय। कोई भी शान्तिवादी राष्ट्र उनका सदस्य न बने।

(७) प्रत्येक राष्ट्र व उस राष्ट्र का नागरिक विश्वशान्ति के कार्यों में सहयोग दे।

(८) युद्धों को मिटा कर विश्व में स्थायी शान्ति स्थापित करने के लिए अपने हृदय को उदार और समन्वयशील बनाएँ।

मेरे ख्याल से ये आठ सूत्र ही विश्वशान्ति के सक्रिय प्रयोग के लिए बस होंगे।

इसके अलावा समय-समय पर विश्वशान्ति-परिषदों व विश्व-शान्ति-सम्मेलनों का आयोजन किया जाय और प्रत्येक राष्ट्र की प्रजा का लोकमत इस दिशा में तैयार किया जाय।

मैं शान्ति का एक पथिक हूँ

यद्यपि मैं एक जैनसाधु हूं; तथापि मैं न जैन हूं, न बौद्ध हूं, न मुसलमान हूं, और हिन्दू, ईसाई आदि में से भी कोई नहीं। मैं तो शान्ति के मार्ग पर चलने वाला एक विश्वशान्ति-पथिक हूं।

हम व्यक्तिगतरूप से चाहे जिस धर्म, जाति, कौम और सम्प्रदाय के हों, चाहे जिस देश या प्रान्त के हों; विश्वशान्ति जैसे सर्वमान्य कार्य के लिए हम सब एक ही पथ—विश्वशान्तिपथ—के पथिक हैं। इसलिए विश्वशान्ति के पथिक के नाते हम सबको एक होना चाहिये। अन्य बातों में चाहे हमारा मतभेद हो, मगर विश्वशान्ति के कार्य में हम सबका लक्ष्य समान है; हम सब एकमत हैं और एकमत हो कर हमें विश्वशान्ति के लिए पुरुषार्थ करना चाहिये। इसी में समस्त मानवजाति का कल्याण निहित है। अगर हम

शान्तिनाथ भगवान् का निवास रहता है। इसलिए श्रीसंघ, जगत् के सभी देशों, सभी शासनकर्ताओं, शासनाधीन ग्रामनगर आदि सन्निवेशों, विभिन्न राष्ट्रों की शान्तिसंस्थाओं अथवा शान्तिदूतों, पौरजनों, नेताओं आदि के नाम ले लेकर शान्ति की भावना का उच्चारण करें। जैसे—श्रमणप्रधान धर्मसंघ में शान्ति हो, जगत् के समस्त देशों में शान्ति हो, जगत् के समस्तराष्ट्रों के शासनकर्ताओं व राजाओं में शान्ति हो, राज्यों के अन्तर्गत विभिन्न ग्रामनगरप्रान्त आदि विभागों में शान्ति हो, राष्ट्रों की शांतिसंस्थाओं या उनके शांतिदूतों में शांति हो, नगरनेताओं या राष्ट्रनेताओं में शान्ति हो, नगर (ग्राम) वासियों में शांति हो, ब्रह्म (विश्व के समस्त चेतन) लोक में शान्ति हो।"

ये हैं विश्वशान्ति की भावना के लिए मंत्र। आत्मशान्ति के प्रत्येक साधक को विश्वशान्ति की भावना किये विना कोई चारा नहीं।

इन मंत्रों का हृदय से, श्रद्धापूर्वक उच्चारण करना ही जाप कहलाता है। मंत्रजप में अपूर्व शक्ति होती है। इससे सामूहिक संकल्पबल तैयार होता है और वह बड़ी से बड़ी अशांति को शीघ्र मिटा देता है। विश्वशान्ति का वायुमण्डल तैयार करने में इन शान्तिमंत्रों का जप आवश्यक है।

पहले कहा जा चुका है कि त्याग के विना कभी शान्ति नहीं हो सकती। इच्छाओं के त्याग का ही नाम तप है। इसलिए जप के साथ तप भी जरूरी है। इस प्रकार के शान्तिमंत्र के जप के साथ आयंबिल, एकाशन या उपवास आदि तप सामूहिक रूप से होने पर शीघ्र असर होता है। विष्णुकुमार मुनि ने तपस्या के साथ शान्तिमंत्र की जप-साधना की। जिसके फलस्वरूप श्रमणसंघ पर आई हुई भयंकर विपत्ति—अशान्ति दूर हुई। इसी प्रकार के विश्वशान्ति के हेतु कई और भी जप-तप के प्रयोग समय-समय पर आचार्यों द्वारा हुए हैं।

को बिछौने पर लिटा कर उस पर सफेद कपड़ा ओढ़ा दिया और पति के आगमन की प्रतीक्षा करने लगी। उसका पति आत्माराम घर में घुसा कि वातावरण में गमगीनी छाई हुई मालूम हुई। आज प्रतिदिन की तरह हंसते मुख से उसकी पत्नी ने स्वागत भी नहीं किया। चेहरा उदास था। आत्माराम ने उदासी का कारण पूछा तो उसने बताया कि पड़ौसी से जो दो रत्नकंकण पहनने के लिए लाई थी, वे आज उन्हें मांगने आए, पर मेरा मोह उन कंकणों पर होने से मैंने न दिये। इस पर झगड़ा हो गया।" एक ही श्वास में सुमतिदेवी धैर्यपूर्वक इतना कह गई, लेकिन अन्तर में विषाद था। उसके पति ने कहा—"तेरे जैसी सयानी और शान्त स्त्री पराये कंकणों के लिए पड़ौसी से झगड़ा करे, यह तो आश्चर्य की बात है।" सुमतिदेवी ने कहा—"जरा सुनिए तो सही! ये रत्नकंकण मुझे बहुत प्यारे लगते हैं। इनकी आकृति, इनकी जड़ाई और घड़ाई कितनी सुन्दर है? कितने तेजस्वी रत्न है! इसलिए इन्हें वापिस देने को जी नहीं चाहता!" आत्माराम—पर आज तुम्हें हो क्या गया? इतनी बहकी-बहकी बातें कर रही हो? जो वस्तु पराई है, वह कितने दिन रखी जा सकती है? उस पर ममत्व करके शोक करना अज्ञानता नहीं तो क्या है? पराई वस्तु तो जितनी जल्दी हो सके उसके मालिक को सौंप देनी चाहिए।" बस, पति के मुख के ये उद्गार सुनते ही, वह अपने पति को उस कमरे में ले गई जहाँ पर उसके दोनों पुत्र सदा के लिए सोये हुए थे। उनके ऊपर से वस्त्र उठाया और प्रज्ञा से प्रबुद्ध सुमतिदेवी ने कहा—"नाथ! ये हैं वे दोनों रत्नकंकण! एक है १६ वर्ष का और दूसरा है २० साल का। आज तक हमने इन्हें जतन से रखे। आज इनका समय पूरा हो गया। इन्होंने अपना मार्ग लिया। हम इनके न थे और ये हमारे न थे। केवल थोड़े समय के लिए हमें ये मिले थे। अब इन्हें निसर्ग-पड़ौसी को वापिस सौंप देना अपना कर्त्तव्य

"शिवमस्तु सर्वजगतः परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः ।
दोषाः प्रयान्तु नाशं, सर्वो भवतु सुखी लोकः ॥"

"सारा संसार निरुपद्रव हो, कल्याणमय हो, समस्त प्राणी दूसरों के हित में रत रहें। उनमें जो भी दोष हों, वे नष्ट हो जांय और सारा संसार सुखी हो।"

विश्वशान्ति का सक्रिय प्रयोग

अशान्त विश्व की शान्ति के लिए पूर्वोक्त दो उपायों के बाद तीसरा उपाय है—सक्रिय प्रयोग। अर्थात् विश्वशान्ति के लिए ऐसे ठोस प्रयोग भी साथ-साथ होते रहने चाहिए। इसके लिए मेरे निम्नलिखित सुझाव हैं—

(१) संसार के सभी छोटे-बड़े राष्ट्र संयुक्तराष्ट्रसंघ के सदस्य बनें और उसकी नीतियों पर चलें।

(२) राजनैतिक पंचशील का सभी राष्ट्र भलीभांति पालन करें।

(३) संसार के समस्त शान्तिपरायण राष्ट्रों और संस्थाओं तथा शान्ति के लिए सक्रिय कार्य करने वाले विशिष्ट व्यक्तियों का अनुबन्ध हो।

(४) शीतयुद्ध और महायुद्ध होने से रोके जांय, राष्ट्रों के आपसी विवाद समझा-बुझा कर न्यायी मध्यस्थों द्वारा हल किये जांय।

(५) अणुअस्त्रों पर प्रतिबन्ध के बारे में सभी राष्ट्रों को सहमत किया जाय और इस शर्त का पालन सबके लिए अनिवार्य कर दिया जाय।

लोग बुद्धि को सुधारने या ठीक रखने, संतुलित व स्थिर रखने का जरा भी अभ्यास करना पसंद नहीं करते। वे विना ही मेहनत के पास हो जाना चाहने वाले विद्यार्थी की तरह हैं। भाग्य का पता तो हर एक आदमी को नहीं होता। 'भाग्य में बुद्धि है या नहीं?' यह तो ज्ञानीपुरुष ही भलीभांति जान या वता सकते हैं। तव भाग्य से अज्ञात व्यक्ति को अपनी बुद्धि को स्थिर व संतुलित रखने या सुधारने के लिए ऊपर वताये हुए ८ गुणों को क्यों नहीं अपनाने चाहिए?

बुद्धि की अस्थिरता और बिगाड़ के कारण

बुद्धि के अस्थिर या विकृत रहने के कई कारण हैं। एक कारण तो यही है कि प्रायः वहुत-से लोग बुद्धि को सुधारने व स्थिर रखने के लिए जो ७ उपाय तथा ८ गुण वताएँ हैं, उनको अमल में लाना नहीं चाहते।

जैनशास्त्र में शुद्ध आत्मा को जन्ममरण के चक्कर और विविध वंधनों में डालने वाले ८ कर्म वताए गए हैं। उनमें सर्वप्रथम कर्म ज्ञानावरणीय वताया गया है, जो हमारी सम्यक्बुद्धि पर आवरण (पर्दा) डालता है। बुद्धि पर मोह, कुज्ञान, स्वार्थ, लोभ, क्रोध, अभिमान, कपट, अहंकार, राग-द्वेष, ईर्ष्या आदि का जवर्दस्त पर्दा तव पड़ता है, जव ज्ञानावरणीय कर्म के साथ मोहनीय कर्म मिल जाता है। ये दोनों मिल कर बुद्धि की सम्यक्गति को कुंठित कर देते हैं।

मोह, फिर वह शरीर का हो, किसी स्त्री का हो, परिवार का हो या किसी भी वस्तु का हो, वह बुद्धि को विकृत वना देता है। यह मोह ही कुज्ञान, स्वार्थ, लोभ आदि को पैदा करता है। बुद्धि पर जब यह हमला करता है तो अपने दल-वल के सहित आता है।

अपने-अपने पंथ, सम्प्रदाय, कौम, प्रान्त या देश के नाम पर झगड़ा करते रहे; अपनी-अपनी खिचड़ी अलग पकाते रहे तो विश्वशान्ति तो दूर रही, हम एक घर में भी शान्ति नहीं कर सकेंगे।

भारतवर्ष सदा से शान्तिप्रिय देश रहा है। इसने राज्यवृद्धि की नीयत से या दूसरे राष्ट्रों को गुलाम बना कर अपने कब्जे में करने की दृष्टि से कभी आक्रमण नहीं किया। ऋषि-मुनियों की उच्च-संस्कृति की विरासत इस देश की जनता को मिली है। इसलिए सारा संसार आज भारतवर्ष से विश्वशान्ति के सन्देश की अपेक्षा रखे, यह स्वाभाविक है।

आशा है, आप सब मेरे द्वारा वर्तमान अशान्त विश्व को दिये गये इस शान्तिसन्देश को भलीभांति हृदयंगम करेंगे और बताये गए उपायों पर चल कर संसार में विश्वशान्ति स्थापित करने में अपना पूरा योगदान देंगे।

स्थान—चौपाटी मैदान बम्बई } वि० सं० २००६ कार्तिक सुदी ३

यह है बुद्धि पर मोह के पर्दे का नतीजा! मोह अपने साथ लोभ, क्रूरता, रूपासक्ति, अज्ञानता, कपट, स्वार्थ आदि सबको ले आया और चोर की बुद्धि पर एकाएक धावा बोलकर उससे भयंकर पाप करवा कर उसने सर्वनाश में पहुंचा दिया। कहावत है—'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः' जब विनाश का समय नजदीक आता है तो बुद्धि भी वैसी ही उलटी बन जाती है। रावण, कंस, यादवजाति, जरासंध, शिशुपाल, कौरव आदि के उदाहरण जगत्प्रसिद्ध हैं। इस विषय में अधिक उदाहरण देने की या विस्तार करने की जरूरत नहीं। आप सब अपने रोजमर्रा के अनुभव से यह बात जानते हैं।

अन्याय-अनीति या हिंसा आदि से जो भी वस्तु—पैसा, सत्ता या और कोई चीज-प्राप्त की जाती है, आसक्तिपूर्वक संचित की जाती है, वह उस व्यक्ति की ही नहीं, जिस व्यक्ति के पास वह चीज जाती है, उसकी भी बुद्धि बिगाड़ डालती है।

अब्बु अब्बास टोपियाँ सी कर गुजारा चलाता था। बड़ी सादगी से वह अपनी जिंदगी बिताता था। वह रोजाना एक टोपी सीता और उसके मिले हुए दो पैसों में से एक पैसा दान में देता और एक पैसे से गुजारा चलाता था। सस्ती का जमाना था। अब्बु अब्बास जब एक टोपी बेच देता, तब दूसरी टोपी बनाता और उसके भी दो पैसों का इसी तरह उपयोग करता। रोजाना वह इसी तरह किया करता। एक दिन अब्बु अब्बास को अपना एक अमीर रिश्तेदार मिला; जिसने अपनी जिंदगी अन्याय-अनीति से धन कमाने में ही लगाई थी। काफी धन था उसके पास। उसने कहा—"भाई! मुझे कुछ रुपयों का दान करना है, तुम कहो तो उन्हें दान कर दूँ।" अब्बु अब्बास ने उससे कहा—"भाई! आपका विचार तो अच्छा है। लेकिन अन्याय-अनीति से कमाया हुआ पैसा जिसके पास आता

है। इनके पीछे शोक-रुदन करना व्यर्थ है। गई वस्तु वापिस नहीं आती। आइए, हम इन्हें शान्तिपूर्वक विदा दें।"

आत्माराम यह देख कर कुछ समय तक एकदम स्तब्ध और गंभीर हो गया। अन्त में उसकी आँखों में आँसू छलछला आए। सुमतिदेवी की आँखों में भी दो मोती-से आँसू थे। प्रज्ञा के प्रकाश ने उनके जीवन में गहरी समझ ला दी थी!

सुमतिदेवी का यह दृष्टांत स्थिरबुद्धि के लिए प्रेरणा देने में पर्याप्त है। बुद्धि को स्थिर रखने के लिए पूर्वोक्त ७ उपाय तो अचूक हैं ही। उनके अलावा शास्त्रों में बुद्धि के ८ गुण बताए गए हैं, उन्हें भी जीवन में उतारने का प्रयत्न करने से बुद्धि शुद्ध और स्थिर बनती है। वे ८ गुण इस प्रकार हैं—

"शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।
ऊहापोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः॥"

अर्थात्—"सुनने की रुचि; ध्यानपूर्वक सुनना, सुन कर उस बात को ग्रहण करना, दिमाग में जमा कर रखना, ताकि उसकी विस्मृति न हो; युक्तितर्कपूर्वक समझना, जो बात गलत या अहितकर सिद्ध हो, उसे दिमाग से निकाल देना, पकड़ कर न रखना, जो बात कही गई है उसके अर्थ पर गम्भीरता से चिंतन करना और अर्थ की विशेषरूप से जानकारी करना एवं सारी बातों में से वास्तविक तत्त्व (निचोड़) रूप जो बात हो उसे जान लेना, उसका निर्णय कर लेना; ये बुद्धि के गुण हैं।"

बहुत से लोग बुद्धि का ठीक ढंग से उपयोग करना ही नहीं जानते। वे यह सोचा करते हैं कि बुद्धि तो अपने आप ही बढ़ जायगी, उसके लिये क्या विचार या परिश्रम करना? अथवा भाग्य में लिखा होगा तो अपने आप बुद्धि आ जायगी! ऐसी मान्यता वाले

के पास आ कर रोते-रोते उसने पिताजी की बुद्धि बिगड़ जाने का किस्सा सुनाया। माता ने तुरंत लड़की के पिता को जुलाब की गोली देकर दस्त द्वारा खाया हुआ विकृत अन्न निकलवाया। अब पुरुष की बुद्धि ठिकाने आई। स्वस्थ हुआ। वह अब अपने किए का घोर पश्चात्ताप करके सिर पीटने लगा। लेकिन लड़की और उसकी माता ने उसके मन का समाधान कर दिया।

इसलिए बुद्धि के बिगड़ने के कारणों पर विचार करके मनुष्य उनसे दूर रहने का प्रयत्न करे और अपनी बुद्धि को सुधारने व स्थिर रखने का प्रयत्न करे तो कोई कारण नहीं कि बुद्धि स्थिर या स्वस्थ न रहे।

स्थिरता और अस्थिरता की दृष्टि से बुद्धि के तीन प्रकार

बुद्धि की विकृति या अस्थिरता तथा उसकी स्थिरता या स्वस्थता की दृष्टि से भगवद्गीता में उसके तीन प्रकार बताए हैं—

(१) सात्त्विकी, (२) राजसी और (३) तामसी।

एक बुद्धि ऐसी होती है, जो स्वस्थ और संतुलित हो कर किसी वस्तु के अंधकार और प्रकाश दोनों पहलुओं पर विचार करती है, हिताहित का विश्लेषण करती है और हितकारी वस्तु का निर्णय करके उसमें स्थिर हो जाती है। ऐसी बुद्धि को गीता में सात्त्विकी कहा है। यह सुधरी हुई, स्वस्थ और स्थिर बुद्धि है। इसे व्यवसायात्मिका बुद्धि भी गीता में कहा है। अर्थात् जो निश्चय करने वाली, निश्चय पर अटल रहने वाली अविकृत बुद्धि हो; वह व्यवसायात्मिका या सात्त्विकी बुद्धि कहलाती है। ऐसी बुद्धि वाला व्यक्ति बुद्धि को विकृत करने वाले कारणों से दूर और निर्लिप्त रहता है। वह किसी भी विकट अवसर पर चंचल या उत्तेजित नहीं होता, उतावली में आकर कोई निर्णय नहीं करता, और न ही उसकी बुद्धि विकट समय पर कर्त्तव्याकर्त्तव्य

उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में एक धनलुब्ध चोर की कथा दी गई है। वह यहाँ उपयुक्त होगी। एक चोर था। उसने चोरी करने के सिवा और कोई कला सीखी ही नहीं थी। धन के अतिलोभ व मोह के कारण उसकी चोरी करने की बुद्धि बनी। उसने अपने घर के आंगन में एक गहरा कुँआ खोद रखा था; जिसमें वह धन को दबा कर रखता था। मनुष्य के पास धन कितना ही हो, फिर भी उसे एक साथी की जरूरत रहती है, अकेलापन योगी-ध्यानी के अतिरिक्त सबको अखरता है। अतः चोर ने एक सुन्दर नारी के साथ विवाह कर लिया। जब वह गर्भवती हुई तो चोर ने अपनी विकृत बनी हुई बुद्धि से सोचा—"इसके पुत्र होगा तो वह मेरे धन का भागी बनेगा। अतः क्यों न इस स्त्री को ही मार डाला जाय, जिससे 'न रहे बांस न बजेगी बांसुरी' वाली कहावत के अनुसार न तो पुत्र होगा और न वह धन का भागी बनेगा। इस क्रूरता के फलस्वरूप उसने अपनी स्त्री को मार डाला। परंतु कामवासना शांत नहीं हुई थी, इसलिए उसने दूसरी शादी की। वह स्त्री भी सगर्भा हुई तो उसे भी मार डाली। धन का मोह व लोभ अनर्थकारी होता है। चोर ने एक रूपवती सुन्दरी के साथ विवाह किया। वह भी जब गर्भवती हुई तो चोर ने उसका भी सफाया करने का सोचा। परंतु उस नारी के अद्भुत सौंदर्य ने चोर की क्रूरता पर विजय पा ली थी। वह उसे मार न सका। लड़का हो गया। जब वह ८ वर्ष का हुआ तो फिर चोर की क्रूरता जाग उठी। धन की आसक्ति फिर उभर आई। चोर ने पत्नी को मार कर कुँए में डाल दिया। लड़के ने अपने पिता के क्रूर व्यवहार को देख कर घर से भाग जाने में ही अपना कल्याण समझा। नगर के राजा को इस बात का पता लगते ही उसने फौरन सिपाहियों को भेज कर चोर को गिरफ्तार करवा कर उसे शूली की सजा दे दी।

शरीर वज्रांग हो जाय। आप ऐसा कोई उपाय बताइए, जिससे मेरे शरीर पर किसी भी शस्त्र-प्रहार का असर न हो।"

क्या अपने एक शत्रु, जिसने दरदर का भिखारी बना कर कष्ट पहुंचाया हो, हैरान करने में कोई कसर न रखी हो, को युधिष्ठिर सच्ची सलाह दे दें ? आप में से प्रायः इन्कार ही करेंगे। परन्तु युधिष्ठिर तो सात्त्विकबुद्धि का धनी था, उसे परमात्मा पर और अपनी धर्मकरणी पर अटल विश्वास था कि अगर हमारा आयुष्य और पुण्य प्रबल है तो कोई हमारा बाल बांका भी नहीं कर सकता। अतः युधिष्ठिर ने दुर्योधन को सच्ची सलाह देते हुए कहा—"भाई दुर्योधन ! ऐसे उपाय के लिए तुम्हें कहीं दूर नहीं जाना है। वह उपाय तो तुम्हारे घर में ही है। तुम्हारी माता गाँधारी की आँखों में इतना तेज और पावित्र्य है कि अगर वे एक बार भी तुम्हारे सारे शरीर पर नजर डाल दें तो तुम्हारे शरीर पर किसी शस्त्र के प्रहार का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। यह पक्का बन जायगा।" दुर्योधन ने कहा— "हाँ, यह तो आपने बहुत अच्छा उपाय बताया। मैं अभी जाता हूं, माताजी के पास।" दुर्योधन नमन करके वहाँ से चल पड़ा। खुशी के मारे उसके पैर धरती पर नहीं पड़ रहे थे। रास्ते में कर्मयोगी श्रीकृष्ण दुर्योधन को मिल गए। उन्होंने दुर्योधन को खुशी से उछलते हुए देख कर पूछा—"कहो दुर्योधन ! आज तो तुम्हारे अंग-अंग पर प्रसन्नता टपक रही है, क्या अनोखी चीज मिल गई ?"

दुर्योधन—"आज मुझे ऐसी चीज युधिष्ठिर भैया से मिली है, जो आज तक कभी नहीं मिली थी।

श्री कृष्ण—"वह कौनसी चीज है ? बताओ तो सही।"

दुर्योधन—"वह यह है कि युधिष्ठिर भैया ने मुझे बताया कि

है, उसकी भी बुद्धि भ्रष्ट करता है और जिसके पास जाता है, उसकी भी बुद्धि बिगाड़ डालता है। अगर तुम्हें मेरी बात पर यक़ीन न हो तो तुम अपने रुपयों का किसी को दान देकर खुद उसका नतीजा देख लो। वह व्यक्ति अब्बु अब्बास की बात सुन कर तुरंत बाजार में गया और एक गरीब अंधे भिखारी को एक मुहर दान के रूप में दे दी। अंधे भिखारी ने उस मुहर को मदिरापान और वेश्यागमन में खर्च कर दी। जब उस धनिक ने अपनी आँखों से अपने दिये गए दान का परिणाम देखा तो उसे अब्बु की बात पर पूरा विश्वास हो गया। उसने अब्बु अब्बास के पास जा कर सारी हकीकत कही। अब्बु अब्बास ने उसे अपने पास से एक पैसा देकर कहा—"आप यह पैसा लेजाइए और किसी गरीब को दे कर उसका परिणाम भी देख लीजिए।" वह धनिक अब्बु अब्बास का पैसा लेकर वहाँ से चल पड़ा। रास्ते में एक भूखे आदमी को देखा, जो एक मृतपक्षी को देख कर उसे खाने की सोच रहा था। जब उसे धनिक ने वह पैसा दिया तो उसने खुश हो कर कहा—"भगवान् तुम्हारा भला करे। मैं अभी इस मरे हुए पक्षी को खा कर भूख मिटाने की सोच रहा था, लेकिन अब इस पैसे से चने लेकर खाऊँगा। और आयंदा मेहनत-मजदूरी करके अपना गुजारा चलाऊँगा।" अमीर को अब तो पक्की खातरी हो चुकी कि अन्याय-अनीति का पैसा या पदार्थ जहाँ भी जिसके पास जाता है, वहाँ उसकी बुद्धि विकृत किये बिना नहीं रहता।

आपने वह कहानी तो सुनी ही होगी कि एक सेठ के यहाँ वेश्या के घर के चोरी से लाए हुए जुआर आ गए थे। उसने उनके बड़े बनवाए। लेकिन खा कर सोया ही था कि अपनी जवान पुत्री पर आसक्त हो गया और कामान्ध हो कर उसे पकड़ने लगा। लड़की चतुर थी। वह तुरंत हाथ छुड़ा कर द्वार बंद करके भागी और अपनी माँ

उस पर किसी शस्त्र के प्रहार का कोई असर नहीं होगा। तुम्हारी माता की दृष्टि में अपारशक्ति है।" अतः माताजी कृपा करके आज आप अपनी तेजस्वी दृष्टि आपके इस पुत्र के शरीर पर डाल दें। इसीलिए मैं खुले शरीर ही आया हूं।"

गांधारी—"बेटा! मुझे तो कुछ मालूम नहीं कि मेरी दृष्टि में क्या शक्ति है! तुम कहते हो तो मैं अपनी दृष्टि तुम्हारे शरीर पर फिरा देती हूं।"

कहते हैं, गांधारी ने दुर्योधन के गुप्ताङ्गों (जिन पर कच्छा लगा हुआ था) को छोड़ कर सारे शरीर पर अपनी दृष्टि फिरा दी। और तो सारा शरीर पक्का हो गया, लेकिन जितने भाग पर कच्छा लगा हुआ था, उतना भाग कच्चा रह गया। इस कारण भीम के साथ गदायुद्ध में दुर्योधन की जांघ पर भीम की गदा का प्रहार हुआ और उसका नीलाम बोल गया।

हाँ तो, युधिष्ठिर की सात्त्विकबुद्धि ने अपने विरोधी को भी कपट, स्वार्थ या दुराव छोड़ कर सच्ची और निःस्वार्थ सलाह दी। सात्त्विक-बुद्धि वाला व्यक्ति बुद्धि को बिगाड़ने वाली सभी बातों से दूर रहता है; दूसरों को सच्ची सलाह देता है, गुमराह नहीं करता, धर्म की प्रेरणा देता है, दिलों को जोड़ने का काम करता है।

बुद्धि के इन तीनों प्रकारों में से सात्त्विकबुद्धि ही अविकृत, सुधरी हुई, स्वस्थ, संतुलित और स्थिर कहलाती है। बाकी की दो बुद्धियाँ विकृत, बिगाड़ करने वाली, अस्वस्थ और अस्थिर कहलाती हैं।

दूसरी राजसी बुद्धि है, जो किसी एक और हितकर प्रवृत्ति में स्थिर नहीं रह सकती, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय नहीं कर सकती,

का निर्णय करने में कुंठित ही होती है। गीता में सात्त्विकी बुद्धि का लक्षण इस प्रकार बताया है—

"प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥"

अर्थात्—'जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति को (किस बात में पड़ना है, किस बात में नहीं, किनमें प्रवृत्त होना चाहिए, किनसे निवृत्त? इस बात को) कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को, बन्धन और मुक्ति को भलीभांति जान लेती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है।'

सात्त्विक बुद्धि वाला व्यक्ति खुद के दुश्मन को भी खोटी सलाह नहीं देता। युधिष्ठिर राजा की सात्त्विकबुद्धि इसका जीताजागता प्रमाण है। दुर्योधन को जब पाण्डवों के साथ युद्ध में सब ओर से निराशा दिखाई दी, तब उसे किसी ने कहा कि 'तुम युधिष्ठिर भाई से अपनी सुरक्षा का उपाय पूछ लो' उनसे तुम्हें सच्ची सलाह मिलेगी।' दुर्योधन को आशा तो नहीं थी। परन्तु उसने सोचा—'अजमा लेने में हर्ज ही क्या है ?" अतः एक दिन सुबहसुबह दुर्योधन धर्मराज युधिष्ठिर के डेरे पर पहुंचा और उन्हें नमस्कार किया। अचानक दुर्योधन को देख कर धर्मराज ने कहा—आओ, बैठो, दुर्योधन! कैसे आए ? आज तो बहुत दिनों बाद तुम आए हो ? कहो, मेरे योग्य कोई कार्य हो तो ?" दुर्योधन ने दबी जबान से कहा—"मैं एक खास प्रयोजन से आपके पास आया हूं। मुझे आशा है कि मेरा वह प्रयोजन सिद्ध हो जायगा।" युधिष्ठिर—"बोलो, क्या काम था ? मुझसे होने लायक होगा तो जरूर करूंगा।" दुर्योधन—"मैं आपसे एक विशिष्ट कार्य के लिए सलाह लेने आया हूं। वह यह है कि अब मुझे युद्ध में विजय का एक ही उपाय सूझता है कि मेरा

एस० डी० कालरेज एक प्रतिभाशाली विद्वान् हो गया है। कहते हैं, उसने अपनी जिंदगी में लगभग ४० हजार निबन्ध लिखे हैं। लेकिन विशेषता यह है कि किसी निबन्ध को उसने पूरा नही किया। सभी निबन्ध अधूरे हैं। वह एक निबंन्ध पूरा नहीं होता, उससे पहले ही दूसरा निबन्ध लिखने बैठ जाता। यह सब राजसी-बुद्धि का परिणाम था !

गीता में राजसीबुद्धि का लक्षण इस प्रकार बताया है—

"यया धर्ममधर्मं च, कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति, बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥"

"जिससे मनुष्य धर्म और अधर्म का, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का यथार्थ निर्णय नहीं कर पाता, दोनों ओर की बातें सुन कर उलझन में पड़ जाता है, ऐसी चंचल बुद्धि राजसी कहलाती है।"

राजसी बुद्धि के धनी पढ़े-लिखे और उच्चविद्वान् भी होते हैं, लेकिन बुद्धि को विकृत करने के कारणों को न छोड़ पाने के कारण वे किसी बात पर एकाग्र नहीं हो पाते, घपले में पड़े रहते हैं, धर्म और कर्त्तव्य पर भी उनकी बुद्धि उन्हें दृढ़ नहीं रहने देती।

तीसरी तामसी बुद्धि है। तामसी बुद्धि चंचल तो नहीं होती, लेकिन निर्णय करने में जड़ होती है। तामसी बुद्धि वाले लोग किसी भी घटना, प्रसंग या तत्त्व के बारे में अपनी बुद्धि जरा भी चलाना नहीं चाहते। वे न आप्त पुरुषों की ही बुद्धि से चलते हैं। उन्हें अपनी बुद्धि का विकास करना जरा भी नहीं सूझता। या तो ऐसे लोग अन्धविश्वासों और वहमों के शिकार होते हैं, या हर बात को उलटे ढंग से सोचेंगे। उनकी बुद्धि संकट के समय जरा भी काम नहीं करती। वे घबड़ा उठेंगे। दूसरों पर अपनी भूल का दोषारोपण

अगर तुम्हारी माता गाँधारी की दृष्टि तुम्हारे खुले शरीर पर फिर जाय तो तुम्हारे शरीर पर किसी भी शस्त्रास्त्र के प्रहार का प्रभाव नहीं हो सकेगा। इसलिए अब मैं सीधा माँ के पास जा रहा हूं।" श्रीकृष्ण ने सोचा—"एक तो बन्दर चंचल होता है और फिर उसे मदिरा पिला दी जाए तो उसके उत्पात का कहना ही क्या ? यदि दुर्योधन ने अपना सारा अंग वज्रांग बना लिया तो न मालूम यह क्या गजब ढा देगा। पहले ही इसकी अन्यायपूर्ण करतूतों से सब हैरान हैं।" अतः श्रीकृष्णजी ने दुर्योधन की बात की पुष्टि करते हुए कहा—"यह तो बहुत सरता और घरेलू नुस्खा है। माताजी घर में ही हैं। परन्तु एक बात का जरूर ध्यान रखना। अब तुम कोई नन्हे बच्चे नहीं; संतान वाले सयाने और समझदार हो, बड़ी उम्र के हो। अतः अब तुम माता के सामने एकदम नंगे हो कर जाओ, यह तो अच्छा नहीं। इसलिए अपने गुप्तांगों पर जरासा कमल के पत्तों का कच्छा लगा लेना। और गुप्तांगों पर प्रहार ही कौन करता है।" श्रीकृष्ण की बात दुर्योधन ने मान ली। वह कमर के नीचे के भाग पर एक कमल पत्रों का कच्छा लगा कर शीघ्र ही माता गाँधारी के पास पहुंचा। माता को नमन करने पर उसने आशीर्वाद देते हुए कहा—"आओ बेटा ! आओ ! आज तुम्हारे शरीर पर कोई राजसी पोशाक नहीं है, खुले शरीर कैसे आए ?"

दुर्योधन—"माँ, आज मैं तुम्हारे पास एक खास प्रयोजन से आया हूं।"

गाँधारी—"बोलो, क्या बात है ?"

दुर्योधन—"आज मैं युधिष्ठिर भैया के पास गया था। उनसे पूछने पर उन्होंने बताया कि "अगर तुम्हारे खुले शरीर पर तुम्हारी माता की दृष्टि फिर जाय तो तुम्हारा शरीर इतना पक्का हो जायगा कि

व्रतों या अणुव्रतों को पहले बचाने के बजाय क्रियाओं के मामले में फूंक-फूंक कर कदम रखते हैं। नतीजा यह होता है कि जो कर्त्तव्य है, उसे छोड़ देते हैं और अकर्त्तव्य को पकड़े रहते हैं। गौण को मुख्य और मुख्य को गौण समझ कर तामसीबुद्धि वाले उसी में प्रायः संतुष्ट रहते हैं।

तामसीबुद्धि में भी स्थिरता तो है, परन्तु वह स्थिरता ऐसी है कि जड़ (मुर्दे) को भी मात कर जाती है, अविवेकपूर्वक स्थिरता है। जबकि सात्त्विक बुद्धि की स्थिरता विवेकपूर्वक होती है। पहले से ही बर्फ की तरह जम कर वह दिमाग में नहीं बैठती। वह पहले युक्ति, तर्क, अनुमान, सूझबूझ आदि प्रमाणों का उपयोग करती है, तब जा कर धर्मयुक्त हितकर बात का निर्णय करके उसमें स्थिर होती है। तामसी-बुद्धि वाला अपने माने हुए अर्थ से ही चिपटा रहता है, उसे अहितकर होने पर भी छोड़ता नहीं।

परमपिता भ० महावीर प्रभु ने अपने साधकपुत्रों को आज्ञा दी कि संसार के स्वार्थपूर्ण जंजाल में पड़कर न तुम अपना हित कर सकते हो, न जगत् का हित। इसलिए कुछ त्याग करो, निवृत्त बनो।" लेकिन भ० महावीर के तथाकथित आज्ञाकारी पुत्रों ने उनकी आज्ञा के शब्दों को कस कर पकड़ लिया। खूब त्याग कर डाला। यहाँ तक कि प्रेम, सेवा; कर्मठता आदि का भी त्याग कर डाला। उन्होंने यह नहीं सोचा कि आखिर यह त्याग और निवृत्ति किसलिए है? कोरी निवृत्ति ही कुछ धर्म नहीं है, किन्तु वह किसी प्रवृत्ति करने के लिए विश्रान्ति ले कर तरोताजा होने के लिए और पूर्वप्रवृत्तिगत दोषों का परिमार्जन करने के लिए है। निवृत्ति का अर्थ तो असंयम से या स्वार्थ से निवृत्ति का है, ताकि विश्वहित में प्रवृत्ति की जा सके। प्रवृत्ति-रहित कोरी निवृत्ति तो मनुष्य को पत्थर बना डालती है। परन्तु

जम कर किसी एक मत में दृढ़ नहीं रह सकती। ऐसी बुद्धि वाला एकाग्र नहीं हो सकता। उसकी बुद्धि विविध विषयों में भटकती रहती है। कभी किसी में और कभी किसी में। इसी व्यग्रता और अस्थिरता के कारण वह शुद्ध निर्णय नहीं कर सकती।

कहते हैं कि पाणिनीय व्याकरण के सूत्रों पर जो पंतजलि का महाभाष्य है, उस पर सर्वप्रथम टीका लिखने वाले थे–महामहोपाध्याय कैयट। उनके बारे में कहा जाता है कि वे जो कुछ लिखते थे, उसे अगले दिन गलत बता कर काट देते, और नये फिर सिरे से लिखते। तीसरे दिन उसे भी काट कर कुछ और ही लिखते। ऐसी हालत बरसों तक रही। फलस्वरूप हाथी के स्नान की-सी इस हालत से वे खिन्न हो गए, मरणासन्न दिखने लगे। उनकी माता को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने कैयटजी के एक मित्र से इस हालत का जिक्र किया तो उसने कहा—अधिक व्यग्र और चंचल होने के कारण इनकी बुद्धि किसी एक बात पर जम नहीं पाती। और अतिशय व्यग्रता का कारण अधिक तर्कवितर्क, अत्यधिक चिन्तन और निर्णयात्मक शक्ति का अभाव है। इसके लिए कैयट को रात में दही और उड़द खिलाया जाय तो उसकी बुद्धि अतितर्कशील नहीं रहेगी और जिस काम के पूरे न होने की चिन्ता से वह मरा जा रहा है, वह पूर्ण हो जायगा। फिर तो जो भी लिखेगा, उस पर झटपट निर्णय कर सकेगा। यही किया गया। धीरे-धीरे कैयट स्वस्थ होने लगे। उधर जम कर टीका लिखने में भी काफी प्रगति हुई।

हाँ तो, राजसीबुद्धि किसी एक विचार पर स्थिर नहीं हो पाती। आज एक पुस्तक पढ़ी। उसके विचार अच्छे लगे, उसमें वह जाएँगे, कल दूसरे लेखक की पुस्तक पढ़ी, उसके विचारों से भी सहमत हो जाएँगे। इस तरह बुद्धि भ्रान्त और व्यग्र रहेगी।

नामक एक ८ वर्ष के लड़के की औत्पातिकी बुद्धि के कई दृष्टान्त दिये हैं। अकबर-बीरबल के बहुत से प्रसंग इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध हैं। बीरबल की बुद्धि औत्पातिकी थी। एक ऐतिहासिक उदाहरण लीजिए—"गुजरात के राजा भीमदेव का मंत्री दामोदर मेहता, बड़ा बुद्धिमान और चतुर था। सभी उसे डामर मेहता कहते थे। एक बार राजा भीमदेव ने अपने राज्य के किसी महत्त्वपूर्ण कार्यवश डामर मेहता को उज्जैन रवाना किया। मंत्री डामर महल से थोड़ी-सी दूर गया होगा कि राजा को कुछ याद आया और उसे वापिस बुला कर ब्योरेवार हिदायत दी। यों एक-दो बार किया; क्योंकि कार्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण था, और बुद्धिकौशलपूर्वक करना था। किन्तु डामर मेहता को इस प्रकार का बार-बार बुलाना अखरा। उसने चिढ़ कर राजा से कहा—"क्या आपको मेरी बौद्धिक शक्ति में विश्वास नहीं है? आप देखते रहें कि मैं सभी कार्यों को ठीक तरह से निपटा देता हूं या नहीं?" नृप भीमदेव को लगा कि डामर को अपनी बुद्धि का घमंड आ गया है। इसका यह घमंड उतारना चाहिए। राजा ने कुछ सोच कर तुरंत एक सांडनीसवार को बुलाया और उसे हुक्म दिया—"डामर मेहता उज्जैन पहुंचे, उससे पहले यह संदेश लेकर भोजराज के पास उज्जैन पहुंचो।" सांडनीसवार अपनी पवनवेगी सांडनी पर सवार हो कर वहाँ से रवाना हुआ और बात की बात में भोजराज के दरबार में उज्जैन पहुंच गया। उसने भीमदेव नृप का गुप्त संदेश भी डामर मेहता के आने से पहले पहुंचा दिया। कुछ ही देर बाद डामर मेहता वहाँ आ पहुंचे। भोजराज उलझन में पड़ गये; क्योंकि भीमदेव ने गुप्त संदेश के रूप में एक चांदी की डिबिया में थोड़ी-सी राख भेजी थी और कहलाया था कि डामर मेहता को आते ही मार डालना।" भोजराज इसका कुछ भी रहस्य समझ नहीं पा रहा था। अतः भोजराज ने सीधा डामर मेहता को ही उसका रहस्य

करेंगे। जो सही अर्थ होता है, उसे छोड़ कर गलत आशय या गलत अर्थ को पकड़ेंगे। गीता में तामसीबुद्धि का लक्षण इन शब्दों में दिया है—

"अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥"

"अज्ञान, मूढ़ता, स्वार्थ आदि के घने अंधेरे से घिरी हुई होने से जो बुद्धि अधर्म को धर्म मानती है, कर्त्तव्य को अकर्त्तव्य समझती है तथा सभी अर्थों—आशयों-को उलटे रूप में पकड़ती है, वह तामसी बुद्धि कहलाती है।"

एक व्यावहारिक और रोचक उदाहरण याद आ रहा है—एक सेठ ने नौकर के साथ अपने पुत्र को तालाब पर स्नान करने भेजा। और कहा—"देखो, स्नान करते समय वस्त्राभूषणों को कोई उठा न ले जाय, इसकी पूरी संभाल रखना।" नौकर ने कहा—"जी हाँ, ऐसा ही करूंगा।" दोनों तालाब पर गए। सेठ का लड़का कपड़े व गहने उतार कर नहाने के लिए तालाब में उतरा। स्थूलबुद्धि वाला नौकर वस्त्राभूषण संभालने के लिए घाट पर बैठा। कुछ ही देर में तैरते-तैरते सेठ के लड़के का पैर फिसल गया और वह डूबने लगा। उसने नौकर को मदद के लिए आवाज दी। लेकिन नौकर को सेठजी ने वस्त्राभूषण संभालने की हिदायत दी थी, अतः वह उन्हें छोड़ कर लड़के को बचाने कैसे जाता? उसने अपनी तामसी बुद्धि से यही सोचा—"मालिक ने मुझे वस्त्राभूषण बचाने का कहा है, अतः इन्हें छोड़ कर मैं लड़के को बचाने नहीं जा सकता।" नतीजा यह हुआ कि लड़का डूब कर मर गया, लेकिन नमकहलाल नौकर वस्त्राभूषण बचाने में लगा रहा।

यही हालत आजकल के क्रियाकाण्डी लोगों की है। वे मूल महा-

पाटलीपुत्र नगर के राजा एक दूसरे राजा की बुद्धि की परीक्षा के लिए तीन वस्तुएँ एक सेवक के साथ भिजवाते हैं— (१) सूत का मूठा (२) लकड़ी का डंडा और (३) डिब्बा। तीनों ऐसी आश्चर्यजनक वस्तुएँ थीं कि उनके सिरे या मुख का हर किसी को पता नहीं लग सकता था। राजा ने उसका पता लगा कर भेजने का कहलाया था। वह राजा पहले सूत के मूठे को हाथ में लेकर देखता है तो उसे डोरे की समाप्ति का पता नहीं लगता। लकड़ी का छोटा-सा डंडा भी ऐसा था कि चारों ओर से गोल था, पता नहीं लगता था कि उसका मुख कहाँ है ? और डिब्बे के मुख का भी पता नहीं चल रहा था। राजा ने नगर के बुद्धिमानों को बुला कर पूछा, लेकिन कोई सही न बता सका। अन्त में उस नगर में एक धुरंधर विद्वान आचार्य थे, उन्हें सम्मानपूर्वक बुला कर राजा ने पूछा। उन्होंने राजा की विनयभक्ति देख कर तीनों चीजों के सिरे या मुख का निर्णय करने के लिए उपाय बताया। उन्होंने बताया कि इस सूत के मूठे पर मोम लगाया हुआ है, इसलिए डोरी के सिरे का पता नहीं लगता है। अतः इसे गर्म पानी में डाल दो, ताकि मोम पिघल जायगा और डोरी के सिरे का पता लग जायगा। डंडे को भी गर्म पानी में डाल दो, जिधर पानी लगने से रेखा पड़ जाय, वहीं समझ लेना उसका सिरा है। और डिब्बे को भी गर्म पानी में डालोगे तो जहाँ से वह फूल उठे समझ लेना वहीं उसका मुख है।" राजा ने आचार्य महाराज की सलाह से जो बुद्धि प्राप्त की और पाटलीपुत्र के राजा को उत्तर भेजा, यह उसकी वैनयिकी बुद्धि का परिणाम था।

द्रोणाचार्य ने एकलव्य को भील समझ कर बाण विद्या-नहीं सिखाई तो वह जंगल में द्रोणाचार्य की एक मिट्टी की मूर्ति बनाकर उसके सामने नम्रतापूर्वक बैठ कर तीर चलाने का अभ्यास करने लगा। कुछ ही समय में उसमें इतना बुद्धिकौशल आ गया कि गुरु-

तामसी बुद्धि ने भ० महावीर की आज्ञा के आशय को न समझा और अविवेकपूर्वक त्याग और एकान्त निवृत्ति को ही धर्म समझ लिया, जो कि अधर्म था।

बुद्धि के चार भेद

जो लोग अपने भाग्य के भरोसे न बैठकर, अन्धेरे में लट्ठ न चला कर अपनी बुद्धि को, जो कि मनुष्यजाति के लिए सर्वोत्कृष्ट देन है— उर्जस्वी एवं तेजस्वी बनाने के लिए वैसी तरकीबों से प्रयास करते हैं, अभ्यास करते हैं, बारबार विविध प्रसंगों में उसका उपयोग करते हैं वे बुद्धि का आश्चर्यजनक चमत्कार भी देखते हैं। शेखसादी जैसा मन्दबुद्धि अपढ़ व्यक्ति ४० साल की उम्र में पढ़ कर तीव्रबुद्धि वाला आलिमफाजिल बन सकता है, एक दिन का मूर्ख शिरोमणि कालीदास कवियों का सरदार बन सकता है, और बोपदेव जैसा ठोठ व्यक्ति अभ्यास से व्याकरण का विद्वान् बन सकता है, तो सामान्य आदमी भी अपनी बुद्धि को क्यों नहीं निखार सकता और क्यों नहीं हित-कारिणी, तत्त्वनिर्णयकारिणी बना सकता ?

नन्दीसूत्र में विविध प्रकार से परिष्कृत बुद्धि के ४ भेद बताए हैं—(१) औत्पातिकी, (२) वैनयिकी, (३) कार्मिकी और (४) पारि-णामिकी।

औत्पातिकी बुद्धि—जो बुद्धि शास्त्रों का अध्ययन किये बिना ही, पूर्वकर्मों के क्षयोपशम से इस जन्म के थोड़े-से अभ्यास से किसी भी वस्तु का तुरन्त निर्णय कर लेती हो ऐसी हाजिर-जवाबी बुद्धि का नाम औत्पातिकी बुद्धि है। औत्पातिकी बुद्धि में उम्र की अपेक्षा नहीं होती। स्वयंस्फुरणा से ऐसी बुद्धि विकसित होती है। नंदीसूत्र में रोहक

उधर भटक गए। सबको बड़े जोर की प्यास लगी। राजा ने सोचा—यहाँ अगर कोई बूढ़ा आदमी साथ होता तो यह तकलीफ न उठानी पड़ती। संयोगवश वृद्धमंत्री को राजा की इस सूच का पता लग गया था। उसकी बुद्धि अनुभव की आंच में तपी हुई थी। उसने सोचा कि राजा के किसी साथी को रास्ते की जानकारी न होने से तकलीफ पड़ेगी, इसलिए वह भी उस जंगल में पहले से पहुंच गया था। राजा ने जब बूढ़े को ढूंढने के लिए इधर-उधर आदमी दौड़ाए तो वह वृद्धमंत्री वहाँ दिखाई दिया। राजा के सैनिक उन्हें सम्मानपूर्वक लाए। राजा ने अपनी भूल के लिए वृद्धमंत्री से क्षमा मांगी और पुनः ससम्मान नियुक्त किया। जंगल का रास्ता और जल पाने का स्थान उनसे पूछा। वृद्धमंत्री ने अनुभव के बल पर उन्हें रास्ता बताया। सफेद चूने से लकीरें खींच दीं, ताकि सारी फौज उस रास्ते से गुजर सके। पानी की प्राप्ति के लिए उपाय बताया कि एक गधे को छोड़ दो। वह चलता-चलता जहाँ की जमीन को सूंघे, समझ लेना वहीं पानी है। ऐसा ही हुआ। राजा को वृद्धमंत्री की अनुभवयुक्त बुद्धि पर विश्वास हुआ। वृद्धमंत्री की यह बुद्धि परिणामिकी थी।

एक सलावट अपने धंधे के निमित्त कहीं दूसरे नगर को जा रहा था। रास्ते में आकस्मिक दुर्घटना हो जाने से वह मर गया। किसी ने उसके पुत्र को इस बारे में पत्र लिखा कि 'तुम्हारा पिता नदी के बीच में जल कर मर गया है।' सलावट के पुत्र को वह पत्र मिला। पढ़ कर वह इसका मतलब न समझ सका। उसने दूसरों को वह पत्र पढ़ाया। उन्होंने आश्चर्य प्रगट करते हुए कहा—"नदी में डूब कर मरना तो सम्भव है, मगर जल कर मरना तो असंभव है।" थोड़ी ही देर में वहाँ खासी भीड़ इकट्ठी हो गई, पर कोई भी उसका समाधान न कर सका। आखिर वहाँ एक मकान बनाने

पूछा। प्रत्युत्पन्नमति डामर मेहता ने भोजराज से कहा—"महाराज! हमारे यहाँ अभी एक बहुत बड़ा यज्ञ किया गया था। उसी की भस्म आपको प्रसाद के रूप में भेजी गई है। और मुझे मारने के लिए जो कहलाया है, उसका कारण तो यह है कि मेरे पिता राजज्योतिषी हैं। उन्होंने मेरा भविष्य बताया है कि तेरा खून जिस धरती पर पड़ेगा, उस राज्य का सत्यानाश हो जायगा। भीमदेव राजा को आप का राज्य खत्म करना है, इसलिए यह उपाय किया गया है।" भोज-राज अब डामर मेहता को मरवा कर क्यों अपने राज्य का सत्यानाश बुलाने लगा? उसने फौरन डामर मेहता को ससम्मान विदा किया। इस प्रकार डामर मेहता अपने बुद्धिकौशल से मृत्यु के मुंह से बच गए। भीमदेव ने जब यह बात सुनी तो अपने उतावले कदम के बारे में अफसोस हुआ; और डामर मेहता की बुद्धि का लोहा मान कर उसकी बड़ी इज्जत की।

एक राजा ने दूसरे मित्र राजा को एक चिट्ठी में लिखकर भेजा—तुम्हारे यहाँ से एक कुँआ यहाँ भेज दो। राजा ने तुरंत जवाब लिखा—"मेरे कुएँ ने आपके गाँव का रास्ता नहीं देखा, इसलिए आपके वहाँ से एक कुएँ को सामने आ कर ले जाने को भेज दो।"

यह दोनों दृष्टान्त औत्पातिकी बुद्धि के हैं। श्रेणिक राजा के मंत्री अभयकुमार की बुद्धि औत्पातिकी थी।

वैनयिकी— जो बुद्धि बड़ों या गुरुजनों का विनय करने से, अध्यापक की सेवाभक्ति करने से प्राप्त होती है, उसे वैनयिकी बुद्धि कहते हैं। अथवा अनुभवियों से विनयपूर्वक बारबार पूछने से जो बुद्धि विकसित होती है, उसे भी वैनयिकी बुद्धि कह सकते हैं। एक उदाहरण लीजिए—

२८

शिक्षा का उद्देश्य

मानवजीवन में किसी वस्तु की सबसे अधिक जरूरत है, तो वह है शिक्षा। किसी भी जाति, समाज, धर्म या राष्ट्र की सर्वांगी उन्नति उसके सुसंस्कारों पर निर्भर है। सुसंस्कारों को सुदृढ़ करने में सबसे ज्यादा हिस्सा अदा करती है—शिक्षा। संक्षेप में, अगर हम जीवन को सुन्दर महल कहें तो शिक्षा को उस महल की नींव कहा जा सकता है। अगर शिक्षारूपी नींव मजबूत न हो तो किसी भी देश, समाज, जाति या धर्म का जीवनरूपी महल टिकाऊ नहीं हो सकता। उसका अस्तित्व शिक्षा के बिना खतरे में रहता है। शिक्षा के बिना सुसंस्कारहीन बने हुए देश, समाज, धर्म या कौम का ऐहिक और पारलौकिक अभ्युदय रुक जाता है, विकास नहीं हो पाता। मानवजीवन को संस्कृत बनाने का काम शिक्षा का है। और सुसंस्कृत जीवन ही उत्तम जीवन कहलाता है।

उत्तम कोटि का जीवन बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य

संस्कार की न्यूनाधिकता की दृष्टि से मानवजीवन तीन प्रकार का है—(१) अधम, (२) मध्यम और (३) उत्तम।

भक्ति के प्रभाव से स्वयमेव बाण-विद्या में प्रवीण हो गया। यह एकलव्य की वैनयिकी बुद्धि थी।

कार्मिकीबुद्धि—जो वंशपरम्परा से विभिन्न कर्म—व्यवसाय-करने वालों में अपने पिता-पितामह से प्राप्त होती है। एक व्यापारी के लड़के की बुद्धि पिता के साथ दुकान पर बैठने से काम करते-करते इतनी तीव्र हो जाती है कि बिना पढ़े लिखे ही वह व्यापार में प्रवीण हो जाता है। इसी प्रकार सुथार, कुम्हार, दर्जी, नाई आदि विविध करने वालों के लड़के अपने बाप-दादों के साथ बैठकर काम सीखते हैं तो थोड़े समय में ही उनकी बुद्धि अपने-अपने पिता के धन्धे में पारंगत हो जाती है। यह कर्मजा या कार्मिकी बुद्धि का परिणाम है। मतलब यह है कि कोई भी कर्म—धन्धा—करते-करते जो बुद्धि प्रवीण हो जाती है, वह कार्मिकी बुद्धि कहलाती है।

पारिणामिकी— बहुत अनुभव करने के बाद या जिन्दगी में अनेक-अनेक उतार-चढ़ाव देखने के बाद बुढ़ापे में या बड़ी उम्र में परिपक्व बनी हुई बुद्धि परिणामिकी कहलाती है।

एक जवान राजा के यहाँ एक बुद्धिमान और अनुभवी बूढ़ा मंत्री था। परन्तु जवान राजा को बूढ़ा मंत्री पसंद नहीं था। क्योंकि राजा को जवानी की बहक थी। इसलिए उसे ऐसे जवान मंत्री की जरूरत थी, जो उसका मन बहला सके, उसके यौवन को कुछ चारादाना दे सके। बूढ़ा मंत्री गंभीर और हितबुद्धि वाला था। अतः उसने वृद्धमंत्री को छोड़ दिया और एक मनचला जवान मंत्री रखा। एक बार राजा ने फौज सहित जंगल में से हो कर कूच किया। परन्तु न तो राजा ही उस रास्ते से वाकिफ था, और न नया मंत्री ही। अतः जंगल में वे सब रास्ता भूल गये और इधर-

चला सकता है, लेकिन विकारों से रक्षा करके, सर्वांगीण विकास नहीं कर सकता। कपड़े की तरह उत्तम कोटि का जीवन विकारों से भी रक्षा कर सकता है, अपना सर्वांगीण विकास भी कर सकता है और आजीविका तो प्राप्त कर ही सकता है।

शिक्षा का उद्देश्य मानव में सोई हुई शक्तियों का विकास कर देना और जीवन में नई चमक ला देना है। अर्थात् मानव को पाशविकता और मनुष्यता से भी ऊँचा उठा कर दिव्यता की ओर ले जाना ही शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य है। मानव को उत्तम दर्जे का मानव बना देना ही शिक्षा का काम है। इसीलिए शिक्षा मनुष्य के बच्चों के लिए है। वह न तो नरक में रहने वाले नारकीय जीवों के लिए है और न तिर्यञ्चलोक के प्राणियों—पशुपक्षियों के लिए है। नरक के जीवों और पशुपक्षियों के लिए विद्यालय नहीं खुलते। विद्यालय केवल मानव-संतति के लिए खोले जाते हैं; वह भी इसलिए कि मानव कुसंस्कारों और असंस्कारों से ऊपर उठ कर सुसंस्कारों को प्राप्त कर सके।

शिक्षा क्या करती है ?

एक विद्वान् का कथन है कि बिना शिक्षा के आदमी खान से तुरंत निकले हुए संगमरमर के पत्थर के समान है, जो टेढ़ामेढ़ा, भौंडा-भद्दा और मैला रहता है। जब उसी को छील-छाल कर कारीगर उसे साफसुथरा कर देता है तो उसका जौहर निकल आता है; सब धारियाँ और लहरियाँ खिल उठती हैं। ऐसा ही शिक्षा का प्रभाव है। जो मन के ऊपर जमे हुए अविद्या के मैल को धो कर और दुर्गुणों व विकारों को छीलछाल कर उसमें अच्छे गुणों और स्वभाव की चमक ला देती है, विवेक और विचार की लहरें उठा देती

का काम करने वाला आ गया। वह भी जाति का सलावट था। उसने पत्र पढ़ कर कहा—"पत्र में बिलकुल ठीक लिखा है।" लोगों ने पूछा—"यह कैसे ?" उसने कहा—"वह भाई जाति का सलावट था। मकान बांधने के लिए चूना भर कर कहीं ले जा रहा होगा। रास्ते में नदी में बाढ़ आ जाने से चूना भीग गया होगा। चूने के पत्थरों को पानी लगते ही उनमें से गर्म भाप निकलती है। वह अधिक बढ़ जाय तो चूने की गाड़ी (जहाज) में आग भी लग जाती है। इसलिए वह सलावट आग की लपेट में आ जाने से नदी के बीच जल गया हो, ऐसा संभव है। सभी लोग इस राज के मुंह से रहस्य सुन कर मुग्ध हो कर प्रशंसा करने लगे।

बन्धुओ! उस राज की पारिणामिकी बुद्धि थी, जो अनुभव से भरी थी। इन चारों बुद्धियों का तत्त्व समझ कर अपनी बुद्धि को सुधारो, हिताहित का विश्लेषण करने का अभ्यास करो, बुद्धि के बिगड़ने के कारणों से दूर रहो और अपनी शुद्ध सात्त्विकी धर्मबुद्धि के द्वारा धर्माचरण करके जन्म-जरा-मरण के दुःखों से मुक्ति प्राप्त करो! यही बुद्धि प्राप्त करने का सार है।

स्थान—गौड़ीजी का उपाश्रय	वि० संवत् २००६
पायधुनी, बम्बई	कार्तिक वदी ३

गुस्से न हुआ, शान्ति से मार सहन की। जब आचार्य का क्रोध शान्त हुआ तो युधिष्ठिर ने कहा—"गुरुजी! अब मुझे आपका दिया हुआ पाठ अच्छी तरह याद हो गया है।"

द्रोणाचार्य—"अभी थोड़ी देर पहले तो तू कहता था—'याद नहीं हुआ', और इतनी सी देर में कैसे याद हो गया ?"

युधिष्ठिर ने खुलासा करते हुए कहा—"गुरुवर! मैं सोच रहा था कि कोई मुझे मारे-पीटे या गुस्से हो, उस समय मैं क्षमा धारण करके शान्त रह सकूं तभी समझा जायगा कि मुझे 'क्षमां कुरु' का पाठ याद हो गया है। कोरे रट लेने से ही पाठ याद होना नहीं कहलाता। क्या आपका दिया हुआ पाठ सिर्फ हमें रटाने के लिए ही है या उसे जीवन में उतारने के लिए ? अगर जीवन में उतारने के लिए है, तब सही माने में याद करना तो वही है! मैं आपके द्वारा क्रुद्ध होकर मारने पर क्षमा धारण करके शान्त रह सका, तभी मैंने कहा कि मुझे पाठ याद हो गया है।"

युधिष्ठिर की बात सुनकर आचार्य बहुत ही प्रसन्न हुए और शाबाशी दी कि तुम्हारे जैसे विद्यार्थी ही जीवन में विद्या को रमा कर अभ्यास करते हैं।"

यह है शिक्षा के अर्थ को जीवन में चरितार्थ करने का उदाहरण!

शिक्षा का वास्तविक ध्येय पढ़ना-लिखना ही नहीं

भाषाज्ञान, अक्षरीय ज्ञान या गणित, अर्थशास्त्र आदि विद्याएँ प्राप्त कर लेना ही शिक्षा का वास्तविक ध्येय नहीं है। जहाँ शिक्षा सुसंस्कारों से युक्त न हो, वहाँ वह विकारों से मुक्ति या जीवन में सद्गुणों को उतार कर दैवी मानव बनने को कैसे प्रेरित कर सकती

पहले खेत में कच्चामाल पैदा होता है, उसके बाद उसे सुसंस्कृत बनाने की दिशा में कुछ पक्का किया जाता है, तत्पश्चात् उसकी वस्तु तैयार की जाती है, जो सीधी उपयोग में ली जा सके। जैसे खेत में उगे हुए कपास को कोई अपने शरीर पर लपेट कर कपड़े का काम नहीं ले सकता। मान लो वह गोंद से कपास को शरीर पर चिपका कर आ जाय तो सभ्य समाज में संस्कारी आदमी नहीं कहला सकता, उसे बन्दर जरुर कहा जा सकता है। इसी प्रकार कपास को ओट कर सूत निकाल कर, उसकी पूनियाँ बना कर कोई चर्खे पर कात ले तो वह सूत का धागा भी कपड़े का काम नहीं दे सकता। जब उस काते हुए सूत का ताना और बाना गूंथ (बुन) कर कपड़ा बना लिया जाता है, तभी वह मनुष्य के पहनने-ओढ़ने के काम आ सकता है। इसी तरह जो कपास के समान अभी तक कच्चेमाल के रूप में अपरिपक्व व बिलकुल असंस्कारी है, वह व्यक्ति अधम कोटि में है। जो कते हुए सूत की तरह कुछ परिपक्व व संस्कारी है, परन्तु पूरा संस्कारी नहीं वह मध्यम कोटि का व्यक्ति है और जो व्यक्ति कपड़े के समान पूर्ण सुसंस्कृत व परिपक्व है, वह उत्तम कोटि का है।

मानवजीवन भी उत्तम, मध्यम और अधम, तीन प्रकार का होता है। उत्तम जीवन दैवी जीवन है, मध्यम जीवन मानवीय है और अधम जीवन है पाशविक। उत्तम जीवन का निर्माण करना ही शिक्षा का उद्देश्य है।

शिक्षा के बिना मनुष्य का जीवन खेत में पैदा हुए कपास के समान अधम कोटि का जीवन है, जो न तो हमारे जीवन की काम, क्रोध, लोभ आदि विकारों से रक्षा कर सकता है और न आजीविका प्राप्त करा सकता है। अथवा सूत के धागे के समान मध्यम कोटि का है, जो केवल अपना और अपने परिवार की आजीविकाभर

शरीर के विविध अवयवों के सुमेल में है, वैसे ही जीवन की सुन्दरता हृदय, मस्तिष्क और हाथ तीनों की शक्तियों के सुमेल में है। किसी का सिर बहुत बड़ा हो और हाथ-पैर दुबले-पतले और छोटे हों तो वह बेडौल और बदसूरत लगता है। इसी तरह जिस आदमी की बुद्धि का तो बेहद विकास हो गया हो, राक्षसी दिमाग हो, कल्पना-शक्ति इतनी तीव्र हो कि वह किसी विषय पर बहुत शीघ्र ही लिख या बोल सकता हो; लेकिन उसके साथ-साथ हृदय का विकास न हुआ हो, हृदय अत्यन्त अनुदार संकुचित, स्वार्थी, लोभी या काम, क्रोध, छल आदि विकारों से भरा हो तो उस आदमी का जीवन भी बेढंगा और बेहूदा बन जाता है। इसी प्रकार बौद्धिक शक्ति बढ़ने के साथ-साथ यदि शारीरिक श्रम न करता हो, शरीर से रुग्ण, आलसी व सुस्त हो तो वह भी असंतुलित जीवन की निशानी है।

उपर्युक्त तीनों शक्तियों का समन्वय होने पर ही दबी हुई शक्तियों का विकास और उनका सदुपयोग ये दोनों शिक्षा के दायित्व पूरे हो सकेंगे। मगर आजकल बहुत-से लोग शक्तियों का विकास तो जरूरी मानते हैं, मगर उनके दुरुपयोग पर नियंत्रण रखने और सदुपयोग में लगाने की बात मंजूर नहीं करते। इसी कारण शिक्षा से जो लाभ होना चाहिए, वह नहीं हो पाता और अनेक खुराफातें जगत् में मच रही हैं।

प्राचीनकाल में शिक्षा का आदर्श

प्राचीनकाल में शिक्षा प्रायः गुरुकुलों में प्रकृति के उन्मुक्त, शान्त, निर्विकार वातावरण में दी जाती थी। और वहाँ शिक्षा के उत्तर-दायित्व और शिक्षा के द्वारा हृदय, बुद्धि और शरीर तीनों बलों के संतुलित विकास की ओर बहुत ध्यान दिया जाता था।

है। मनुष्य के जीवन को सुसंस्कृत और उन्नत बनाना ही शिक्षा का कार्य है।

शिक्षा का अर्थ

इसीलिए प्राचीन ऋषियों ने बताया था—

'सा विद्या या विमुक्तये'

जो मनुष्य को रागद्वेष से, काम, क्रोध, मोह आदि शत्रुओं से एवं दुर्व्यसनों से मुक्ति दिलाए, वही सच्ची विद्या है। पाश्चात्य तत्त्ववेत्ता रस्किन ने भी इसी से मिलती-जुलती शिक्षा की परिभाषा की है। उनकी दृष्टि से शिक्षा का अर्थ है—मनोवृत्तियों और इन्द्रियों पर संयम रखना, क्रोध आदि मनोवेगों पर नियंत्रण रखना। गुजराती भाषा में शिक्षा को 'केलवणी' कहते हैं, उसका अर्थ होता है—अपनी इन्द्रियों, मन, बुद्धि और आदतों को सुसंस्कारों व अच्छी बातों में अभ्यस्त करना।

पुराने जमाने की बात है। द्रोणाचार्य के पास कौरव और पाण्डव पढ़ते थे। एक दिन आचार्य ने सभी विद्यार्थियों को 'क्षमां कुरु' 'क्षमा करो' इस विषय पर पाठ दिया। दूसरे दिन द्रोणाचार्य ने सभी विद्यार्थियों से कल का दिया हुआ पाठ पूछा। तब और सब विद्यार्थी तो उस याद किये हुए पाठ को धड़ाधड़ बोल गए, लेकिन युधिष्ठिर ने पाठ नहीं सुनाया। अतः आचार्य ने उस पाठ को अगले दिन याद कर लाने के लिए युधिष्ठिर से कहा। परन्तु युधिष्ठिर के अलावा सभी विद्यार्थियों ने दूसरे दिन 'सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्या-यान्मा प्रमदः' का कण्ठस्थ किया हुआ पाठ सुना दिया। परन्तु युधिष्ठिर ने तीन-चार दिन हो जाने पर भी पाठ नहीं सुनाया तो द्रोणाचार्य ने एकदम क्रोध में आ कर युधिष्ठिर को पीटा। युधिष्ठिर उस समय

रहे हैं। उन्हें देखते ही आचार्य ने कहा—"वत्स ! मैं तुम लोगों को क्या पढ़ाऊँ ? विद्या के अभ्यास से जो गुण उत्पन्न होने चाहिए, वे तुममें विद्यमान हैं ही। इतने कष्ट और श्रम करने पर भी तुम लोग घबराए नहीं, यह सचमुच शिक्षा से तुम्हारी बुद्धि, हृदय और शरीर के विकास का फल है।" इतना कह कर आचार्य उन्हें अपने साथ घर ले गए।

इस कहानी में शिक्षा के आदर्श की झांकी बताई गई है। दर-असल उस समय की शिक्षा मनुष्य में त्याग, सादगी, सहिष्णुता, विनय, सेवाभाव, श्रमनिष्ठा, कौटुम्बिक भावना आदि सद्गुण पैदा करती थी।

वर्तमान शिक्षा में दोष

लेकिन वर्तमान शिक्षा में शिक्षा का यह उद्देश्य और आदर्श प्रायः नहीं दिखाई देता। आज की शिक्षा मनुष्य को डाक्टर, मास्टर, बैरिस्टर, इंजीनियर आदि बना सकती है, लेकिन वह इन्सान को सच्चा इन्सान नहीं बनाती। वह एम.ए. की डिग्री दिला सकती है, लेकिन एम. ए. एन. (M A N)=मानव नहीं बना पाती। क्योंकि वर्तमान शिक्षा लक्ष्यविहीन बन गई है। शिक्षा का जीवनव्यवहार के साथ सम्बन्ध प्रायः कट गया है या काट दिया जाता है। इसीलिए वर्तमान शिक्षा का लक्ष्य हृदय, बुद्धि और शरीर तीनों की शक्तियों का समन्वय और सदुपयोग करके उत्तम जीवन बनाना नहीं रहा, बल्कि अमुक विषयों का ज्ञान दिमाग में ठूंस-ठूंस कर परीक्षा उत्तीर्ण कर लेना और केवल बौद्धिक काम वाली नौकरियाँ प्राप्त कर लेना हो गया है।

संत विनोबाजी ने एक मेट्रिक के विद्यार्थी से पूछा—"पढ़ लिख कर क्या करोगे ?" उसने कहा—"पहले तो मैं मैट्रिक पास करूंगा।"

है ? सुसंस्कारों से रहित कोरी शिक्षा मनुष्य को प्रायः राक्षसीवृत्ति की ओर ले जाती है। इसी राक्षसीवृत्ति से प्रेरित शिक्षा पाया हुआ मनुष्य हिंसा, आवेश, क्रोध, हिताहित का अविवेक, उद्दण्डता, अविनय आदि दुर्गुणों का शिकार हो जाता है। इसी बात को लेकर संस्कृत में एक कहावत है—'साक्षरा विपरीता राक्षसा भवन्ति'

अर्थात्—पढ़े लिखे (साक्षर) लोग जब अपनी शक्तियों को विपरीत दिशा में लगाते हैं तो वे राक्षस हो जाते हैं।

मनुष्य अनन्तशक्तियों का पुञ्ज है। लेकिन उसकी शक्तियाँ सच्ची शिक्षा न होने के कारण आवरणों से घिरी रहती हैं। शिक्षा का ध्येय उन आवरणों को दूर कर विद्यमान शक्तियों को प्रगट कर देना है। मगर वास्तविक शिक्षा केवल शक्तियों का विकास एवं व्यक्त कर देने से ही कृतार्थ नहीं हो जाती, अपितु वह मनुष्य को ऐसे संस्कारों के सांचे में ढाल देती है कि वह शिक्षा के द्वारा प्राप्त बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक एवं आत्मिक शक्तियों का कदापि दुरुपयोग न करे, सदैव सदुपयोग ही करे।

यदि शिक्षा वास्तव में मनुष्य को सर्वोत्तम मानव बनाने के लिए है तो उसे दोनों उत्तरदायित्व पूरे करने होंगे— (१) सोई हुई शक्तियों को जगाना और (२) उनके सदुपयोग की ओर मनुष्य को झुकाना।

ऐसा होने पर ही हृदय, मस्तिष्क और हाथ (Heart, Head and Hand) तीनों की शक्तियों का समन्वय हो सकेगा। इसे ही वर्तमान युग के शिक्षाशास्त्री शिक्षा का आदर्श मानते हैं। अगर इन तीनों में से एक की भी कमी हुई तो वह शिक्षा अधूरी होगी और शिक्षार्थी के जीवन को विपरीत दिशा में ले जाएगी। जैसे मनुष्य की सुन्दरता

"स्ट्रेस्वर्ग में हंसों को दिन में कितनी ही बार उनकी इच्छा न होते हुए भी जबर्दस्ती खिलाया जाता है। उनके मुंह खोल कर अंगुलियों से खाना जबरन घुसाया जाता है। वे समा सकें ऐसी पेटी में उन्हें बन्द कर दिया जाता है। उन्हें चलने-फिरने आदि का जरा भी व्यायाम नहीं करने दिया जाता। उनका कलेजा बड़ा करने के लिए यह क्रिया की जाती है। इसी प्रकार हमारे तरुणों के दिमाग में परीक्षा पास करने के लिए ज्ञान ठूंस-ठूंस कर भरा जाता है। विद्यार्थियों के दिमाग की ग्रहणशक्ति या सामर्थ्य बढ़ाने, उसे अभ्यस्त बनाने और ज्ञान हजम करके बढ़ाने के काम नहीं, मगर स्मरणशक्ति को फूलाने का काम आज की तथाकथित शिक्षा करती है।"

अंग्रेजों की हुकूमत के समय इस प्रकार की शिक्षा भारतवर्ष में प्रचलित की गई। क्योंकि अंग्रेजों का मनोरथ हिन्दुस्तान की जनता को दिमागी गुलाम बनाए रखना था, भारतीय जनता में सुसंस्कार डालने का मनोरथ था नहीं। लार्ड मेकाले की ऐसी योजना थी कि विलायत से गोरे अंग्रेज कर्मचारी (नौकर) महंगे मिलते हैं, इसलिए हिन्दुस्तान के काले अंग्रेजीदां नौकर तैयार किये जांय, जिनका दिल दिमाग अंग्रेजी बन जाय और शरीर केवल भारतीय रहे।" फल यह हुआ कि पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित लोग न तो पूरे अंग्रेज बन पाए और न पूरे भारतीय ही रहे। दिल, दिमाग, भाषा, वेशभूषा और रहनसहन सब पश्चिमी बन गए, केवल शरीर भारतीय रहा, उसे तो स्नो, पाउडर भी अंग्रेजी न बना सके।

वर्तमान शिक्षा में सदाचार, कष्टसहिष्णुता, त्याग, संयम, चारित्र्य, विनय, अनुशासन आदि वस्तुएँ तो स्वप्न बन गई हैं। सदाचार के बदले छोटे-छोटे लड़कों की जबान पर फिल्मी गाने और उनके दिमाग में सिनेमा के एक्टर और एक्ट्रेसों के नाम चढ़े

श्रीकृष्ण और सुदामा दोनों सान्दीपनि ऋषि के यहाँ साथ-साथ शिक्षा प्राप्त करते थे। श्रीकृष्ण राजपरिवार के वैभवसम्पन्न राजपुत्र थे; जबकि सुदामा गरीब ब्राह्मण के पुत्र थे। लेकिन दोनों विद्या पढ़ कर बुद्धिबल के साथ-साथ हृदयबल और शरीरबल का भी विकास करते थे। शरीरश्रम से उन्हें नफरत नहीं थी। दोनों गाढ़ मित्र बन गए थे।

संयोगवश एक दिन गुरुजी कहीं चले गए। घर में चूल्हा जलाने के लिए लकड़ियाँ नहीं थी। गुरुपत्नी लकड़ी के बिना भोजन कैसे बनाएँगी, यह सोच कर श्रीकृष्ण अपने मित्र सुदामा को लेकर लकड़ियाँ लाने जंगल में पहुंचे। ज्यों ही उन्होंने लकड़ियाँ काट कर भारे बांधे कि एकदम मूसलधार वर्षा होने लगी। रातभर वर्षा होती रही। इसी कारण दोनों मित्र लकड़ियों के गट्ठड़ लिए पेड़ के नीचे खड़े रहे। अत्यधिक वर्षा के कारण असह्य ठंड हो गई थी। ठंड से दोनों ठिठुर रहे थे, पर उन्हें अपने शरीर की कोई पर्वाह न थी। यही चिन्ता हो रही थी कि हम लोगों के न पहुंच पाने से आज आचार्यजी का भोजन नहीं बन सका होगा, उन्हें भूखे रहना पड़ा होगा।

आचार्य सुबह अपने घर लौटे। आते ही उन्होंने अपनी पत्नी से दोनों विद्यार्थियों के बारे में पूछा तो गुरुपत्नी ने कहा—"वे तो कल के ही लकड़ियाँ लाने जंगल में गए हैं, वर्षा के कारण नहीं लौट सके होंगे।" गुरु ने नाराज हो कर कहा—"तुमने बच्चों को लकड़ी लाने के लिए ऐसे मौसम में भेजा ही क्यों?" गुरुपत्नी—"मैं तो उन्हें मना करती रही। मगर वे माने ही नहीं, चले गए।" अब तो आचार्यजी तत्क्षण जंगल की ओर चल पड़े। जंगल में जा कर देखा तो कृष्ण-सुदामा दोनों एक पेड़ के नीचे खड़े सर्दी के मारे ठिठुर

उसने कहा—"मुझे न मास्टर बनना है, न डॉक्टर और न बैरिस्टर! मुझे इस टर् टर् में विश्वास नहीं है। मैं तो इसलिए शिक्षा प्राप्त करता हूं कि मैं मानवजीवन की असलियत समझ पाऊँ और उसे भलीभांति उत्तम ढंग से जी सकूँ और सच्चा इन्सान बनूं।" यह उत्तर सुन कर परीक्षक अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने उस विद्यार्थी के हाथ में स्वर्णपदक थमा दिया।

प्यारे विद्यार्थियों! आप भी इसी उत्तर से खुश होंगे। शिक्षा के सही और गलत दोनों उद्देश्यों को यह उदाहरण प्रस्तुत कर रहा है। इससे प्रेरणा ली जा सकती है। मगर आज की शिक्षा तो विद्यार्थी को लूट, चोरी और बेईमानी से विना श्रम के धन और सत्ता प्राप्त करने की ओर प्रेरित करती है।

अखबार में आई हुई एक घटना सुनी थी कि एक धनाढ्य कॉलेजियन ने ५ और मित्रों को साथ लेकर अपनी धनाढ्य नानी को क्लोरोफॉर्म सुंघा कर बेहोश कर दिया और नकद रुपये और गहने मिला कर करीब ३० हजार रु० का माल लेकर चंपत हुए। उन्होंने शीघ्र धनवान बनने की योजना बनाई कि इन रुपयों से एक ट्रक खरीद कर महाबलेश्वर और पूना के बीच में चलाएँगे। लेकिन यह मनोरथ पूरा होने से पहले ही पुलिस इन्स्पेक्टर ने १० दिन बाद उन्हें हैद्राबाद में गिरफ्तार कर लिया।

शीघ्र धनवान बनने की कला में वर्तमान शिक्षाप्राप्त युवक कितने प्रवीण थे!

एक विद्यार्थी से किसी संत ने पूछा—"तुम्हारे वकालात पढ़ने का उद्देश्य क्या है?" उसने कहा—"आजकल कानून-कायदे बहुत बढ़ गए हैं। वकालत पढ़ेंगे तो कानून-कायदों से बचने और छटकने

"उसके बाद ?" संत विनोबा ने पूछा।

वह बोला—"इंटर पास कर लूंगा।"

दो वर्ष बाद उन्होंने फिर वही प्रश्न पूछा तो उस विद्यार्थी ने कहा—"अब तो बी. ए. पास करना है, उसके बाद कोई नौकरी ढूंढ लूंगा।" शंकराचार्य की 'ततः किम ततः किम' वाली प्रश्नोत्तरी उसके सामने घूम रही थी। मगर बी. ए. पास करने तक उस विद्यार्थी के जीवन में दो साल पहले जो मस्ती और बेफिक्री थी, वह अब न रही। अब चिन्ताएँ सवार थीं। क्या यही शिक्षा का उद्देश्य है: जो जीवन में अनेक सुखसुविधाओं की गुलामी पैदा कर दे, श्रम से जी चुराने की मनोवृत्ति बना दे और केवल बौद्धिक श्रम पर जीवन चलाए ?" फिर वर्तमान शिक्षा पाये हुए बाबू बन जाते हैं, वे शरीर श्रम नहीं करना चाहते हैं, नौकरी बौद्धिक काम की ढूंढते हैं। ५ भी आदमियों की जगह हो तो ५०० अर्जियाँ आ जायेंगी। बाबू साहब नौकरी के लिए मारे-मारे फिरेंगे ? जो शिक्षा अपने और अपने परिवार का भरणपोषण नहीं कर सकती, उसे रोटी, रोजी नहीं दिला सकती, वह और क्या दिलायेगी ? ऐसे शिक्षा प्राप्त व्यक्ति से वह शिक्षाहीन मजदूर ही अच्छा जो दिनभर मेहनत करके ३-४ रुपये तो कमा लेता है। मगर वर्तमान शिक्षा का यह राजरोग है कि उसने दिमाग में बौद्धिक शक्ति तो बहुत भर दी, लेकिन हाथों में काम करने की और हृदय में स्वार्थत्याग व संयम की शक्ति नहीं भरी। जिससे दिमाग तो बढ़ गए, लेकिन हाथ छोटे रह गए। उस दिमाग में हिंदी, अंग्रेजी, इतिहास, भूगोल, गणित आदि न जाने कितने विषय भरे पड़े हैं, लेकिन हाथों में काम करने की शक्ति नहीं रह गई है। एक अंग्रेज विद्वान् ने वर्तमानशिक्षा पर कटाक्ष करते हुए कहा—

सकता है। श्रमण शिरोमणि भगवान् महावीर ने शिक्षा प्राप्त न होने के ५ कारण बताए हैं—

"अह पंचहिं ठाणेहिं जेहिं सिक्खा न लब्भई।
थम्भा, कोहा, पमाएणं रोगेणालस्सएण य॥"

अर्थात्—पांच कारणों से शिक्षा प्राप्त नहीं की जा सकती। वे पांच कारण हैं—(१) अभिमान, (२) क्रोध (३) प्रमाद (४) रोग (विकार) और (५) आलस्य (श्रम का अभाव) इन पांचों कारणों में वर्तमान शिक्षा के दूषित होने के कारणों का समावेश हो जाता है। परन्तु निराश होने की जरूरत नहीं, अगर विवेकपूर्वक इन दूषणों को हटाया जाय और ८ मूल सद्गुणों को धारण किया जाय तो शिक्षा प्राप्त हो सकती है। वे ८ कारण ये हैं—

"अह अट्ठहिं ठाणेहिं सिक्खासीलित्ति वुच्चई।
अहस्सिरे, सया दंते, न य मम्ममुदाहरे॥
नासीले न विसीले न सिया अइलोलुए।
अकोहणे सच्चरए सिक्खासीलित्ति वुच्चइ॥"

—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ११, गा० ४-५

अर्थात्—"इन ८ कारणों से शिक्षार्थी शिक्षा के उद्देश्य को प्राप्त करता है—(१) जो हंसीमजाक न करता हो, (२) सदा इन्द्रियों और मन का निग्रह करता हो, (३) किसी को मर्मस्पर्शी वचन न कहता हो, (४) दुराचार या अनाचार में फंसा हो, (५) जो विषमशील यानी

रहते हैं, ब्रह्मचर्य का तो दीवाला ही निकल गया है, हर कॉलेज व स्कूल में कोई न कोई लैला-मजनूओं का टोला जरूर होगा। वह सारे विद्यामन्दिर के वातावरण को गंदा करेगा। विनय और अनुशासन का तो नामशेष रह गया है। आजकल के विद्यार्थियों में उद्दण्डता, अक्खड़पन, लड़नेभिड़ने की आदत, अनुशासनहीनता, बेअदबी आदि प्रायः दिखाई देती है, जो चारित्रिक पतन की निशानी है। मन लगा कर पढ़ने-लिखने और मेहनत करने के बदले विद्यार्थी इधर-उधर मटरगश्ती करते फिरेंगे, गपशप लड़ायेंगे, सिनेमा देखेंगे, या तोड़फोड़, मारपीट, आगजनी, दंगे आदि शैतानियत के काम करते फिरेंगे। इस प्रकार के विद्यार्थियों का एक आधुनिक उदाहरण लीजिए—

एक जगह परीक्षा लेने के लिए एक परीक्षक महोदय आए। स्कूल में तहलका मच गया। क्योंकि परीक्षा का भूत जब विद्यार्थी के सिर पर सवार होता है तो वह घबरा उठता है। न मालूम कहाँ से कौन-सा प्रश्न पूछ बैठेगा! परीक्षक ने पहले विद्यार्थी से पूछा—तुम्हारे अध्ययन का क्या उद्देश्य है? विद्यार्थी चकराया। प्रश्न इतिहास, भूगोल या गणित का नहीं होने से वह घबरा कर बिना उत्तर दिये ही नीचे बैठ गया। दूसरे विद्यार्थी के सामने भी परीक्षक ने वही प्रश्न दोहराया तो उसने बिना घबराए बेअदबी के साथ हिम्मत करके कहा—"आपका प्रश्न कोर्स से बाहर का है। आपको ऐसे प्रश्न पूछने का कोई अधिकार नहीं, जो विद्यार्थी के कोर्स में न हो। आप अधिकार से बाहर जा रहे हैं।" परीक्षक उसका उद्दण्डतापूर्ण उत्तर सुन कर आगे बढ़ गया। तीसरे से पूछा तो उसने कहा—"मुझे डॉक्टर बनना है।" किसी ने प्रश्न के उत्तर में अपनी शिक्षा का उद्देश्य इंजीनियर, वकील या बैरिस्टर बनना बताया। अन्तिम पंक्ति में जो विद्यार्थी खड़ा था उससे पूछने पर

पिता की विवशताभरी बातें सुन कर भी ईश्वरचन्द्र के मन में पढ़-लिख कर विद्वान् बनने, परोपकार के कार्य करने की गुप्त अभिलाषा बनी हुई थी। वह उपयुक्त अवसर की ताक में था। लगन के साथ ही उसमें शिष्टता, विनयशीलता और पूर्वोक्त ८ गुण कूट-कूट कर भरे थे। सबसे मृदुभाषण और कोमल व्यवहार ने उसके अनेक मित्र बना दिये। उसने ऐसे सज्जन छात्रों से मित्रता की, जो फुर्सत के समय अपनी किताबों से पढ़ने देते थे। यही नहीं, जो बड़ी-बड़ी फीसें देकर स्कूल में पढ़लिख कर आते थे; वे इस गरीब बालक को भी कुछ-कुछ पढ़ा देते थे। जब दूसरे अमीर लड़के खेलते तो यह नगरपालिका के लेम्प की धीमी रोशनी में पढ़ा करता। स्लेट-पेन्सिल नहीं थी, तो कोयले से जमीन पर लिख कर अभ्यास किया करता। किसी ने दया करके पेन्सिल दे दी तो सड़क पर पड़े हुए कागज के रद्दी टुकड़ों पर लिख-लिख कर अक्षर सीखने लगा। उसे पाठ्यपुस्तक के कई पाठ और कहानियाँ कण्ठस्थ हो गईं।

बालक की तेज बुद्धि, कठोर श्रम और लगन देख कर उसके गरीब पिता ने अधिक कमाई के लिए एक योजना बनाई। वह बालक को ले कर पास के बड़े शहर कलकत्ता को पैदल ही चल दिया। रास्ते में एक जगह विश्राम लेने के लिए रुके तो पिता ने कहा—"न जाने हम कितनी दूर सफर कर आए हैं। बालक ने चट से कहा—"नौ मील, पिताजी !"

"तुम्हें कैसे मालूम हुआ ?" पिता ने पूछा—

"पास के मील के पत्थर पर ६ का अंक लिखा हुआ है, पिताजी !"

बालक का उत्तर सुन कर व उसकी कुशाग्रबुद्धि देख पिता हर्षविभोर हो गया। बालक ईश्वरचन्द्र ने पिताजी के साथ चलते-चलते अंग्रेजी

का रास्ता ढूंढ सकेंगे। फिर हम इस युग में वकीलों के भरोसे क्यों जीएँ? स्वयं कानून का ज्ञान प्राप्त करके वकालत करेंगे। नहीं तो, जो कुछ कमाएँगे, उसमें से आधा तो वकील ही खा जाएँगे?"

वर्तमान शिक्षा के उद्देश्य का यह कितना खराब चित्र है! वर्तमान शिक्षा कुर्सी चाहती है। हाथ से श्रम करने में अपमान समझना ही वर्तमान शिक्षा की प्रेरणा है।

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक एक बार एक ठाकुर के यहाँ ठहरे थे। ठाकुर ने अपने दोनों लड़के जिस कमरे में पढ़ते थे, उसी में उन्हें ठहराया। परन्तु उन्होंने कमरे में कूड़ाकर्कट, जाले और कागजों के टुकड़ों का ढेर देखा तो दंग रह गए। लड़कों से पूछा—"तुम इसी कमरे में पढ़ते हो, फिर इसकी सफाई क्यों नहीं करते?" उन्होंने झेंपते हुए उत्तर दिया—"स्वामीजी! क्या करें, कई दिनों से नौकर बीमार है।" स्वामीजी ने कहा—"यह काम तो तुम लोग अपने हाथों से ही कर सकते थे। इसमें नौकर की क्या जरूरत थी!" परन्तु उन्होंने जातिमद के आवेश में आ कर कहा—"स्वामीजी! हम क्षत्रिय हो कर यह काम कैसे कर सकते हैं?" स्वामीजी ने उन्हें अनेक युक्तियाँ देकर समझाया, इतना ही नहीं, स्वयं झाड़ू लेकर सफाई करने में जुट पड़े। अब तो बेचारे उन श्रममहत्त्व से अनभिज्ञ लड़कों को भी सफाई के काम में लगना पड़ा।

श्रम के कार्य को नीचा समझना और आलस्सी बन कर पड़े रहना वर्तमान शिक्षा की कृपा का फल है!

शिक्षा का सच्चा उद्देश्य कैसे पूरा हो?

मस्तिष्क में ज्ञान, हृदय में गुण और शरीर में शक्ति इन तीनों मूलभूत तत्त्वों को जीवन में उतारने पर ही शिक्षा का उद्देश्य पूरा हो

में अनुरोधपूर्वक वे फोर्ट विलियम कॉलेज में संस्कृत के प्रोफेसर नियुक्त हुए।

अटल निश्चय, सतत पुरुषार्थ और विनयादि गुणों के आचरण से भारत के एक श्रमजीवी का पुत्र एक दिन महाविद्वान् बन गया।

सच है, शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य को ऐसे ही दृढ़ निश्चयी व्यक्ति प्राप्त कर सकते हैं। आप भी इसी प्रकार शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करें। सफलता निश्चित है।

स्थान—सरस्वती मंदिर बम्बई

वि० सं० २००६
आषाढ़ वदी १२, रविवार

अन्दर-बाहर अनेकरूप न हो, (६) अतिलोभी (खाने पीने, धन, सत्ता आदि का) न हो, (७) क्रोधादि विकारों से दूर हो, (८) सत्याचरण करने वाला हो, ऐसे व्यक्ति को ही वास्तव में शिक्षाशील कहते हैं।"

अगर उपर्युक्त ८ गुण अपनाए जाँय तो शिक्षार्थी शिक्षा के उद्देश्य को पूर्ण कर सकता है।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के पिता उन दिनों दो-तीन रुपये मासिक के मजदूर थे। आर्थिक-सामाजिक चिन्ताओं से भरी हुई जिन्दगी थी। बड़ी कठिनाई से भरपेट भोजन मिल पाता था। कपड़े मिल गए तो भी गनीमत थी। जूता-टोपी तो नसीब ही कहाँ? बालक धीरे-धीरे उस दमघोटू वातावरण में बड़ा होने लगा। निर्धनता के कारण पिता ईश्वरचन्द्र को शिक्षित करने की बात ही कैसे सोच सकता था! इच्छा जरूर होती थी कि मेरा लड़का भी पढ़-लिख कर योग्य बने, धर्मात्मा, संस्कारी और समाज में प्रतिष्ठित विद्वान् बने। लेकिन आर्थिकविवशता थी। 'उसका लड़का पुस्तकों, वस्त्रों का खर्च और फिर चायपानी का तथा धनिकों के बच्चों की तरह जेबखर्च मांगेगा तो कहाँ से लाएगा?' यही चिन्ता सवार थी। जब कभी ईश्वरचन्द्र अपने पिता से पढ़ने-लिखने का कहता तो पिता की आँखें डबडबा आतीं। केवल इतना उत्साहप्रद वाक्य जरूर कहता—"बेटा! तेरा मन ज्ञान पाने को ललचाता है, ये बड़प्पन के लक्षण हैं! भगवान् चाहेगा तब यह सब होगा!

बुराई का निर्णय करने के लिए कहा है—'पहले ज्ञ-परिज्ञा से वह उसे भलीभांति जाने और अगर हेय जचे तो फिर प्रत्याख्यान परिज्ञा से उसे त्यागे।'

कवि कालीदास ने इस विषय में ठीक ही कहा है—

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चाऽपि काव्यं नवमित्यवद्यं।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते, मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥"

कोई भी काव्य पुराना है इसलिए सारा अच्छा नहीं हो जाता, और नया है, इसलिए खराब नहीं बन जाता। सज्जन लोग अपनी बुद्धि की तुला पर रख कर दोनों की परीक्षा करते हैं और जो सत्य और हितकर हो उसे अपनाते हैं। परन्तु अविवेकी व्यक्ति दूसरों की बुद्धि के पीछे चलते हैं।"

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का संदेश

भगवान् महावीर ने गणधर गौतमस्वामी को सर्वप्रथम त्रिपदी का उपदेश संसार की समस्त वस्तुओं का विवेक करने के लिए दिया था—'उपन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा,' पहले उत्पत्ति होती है, व्यय होता है और ध्रौव्य (स्थिरता) होता है। संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय यही तो तीन दशाएँ हैं। इन्हीं के प्रतीक के रूप में हिन्दूधर्म ने तीन देवता माने हैं—ब्रह्म, विष्णु, महेश। ब्रह्मा उत्पाद का प्रतीक है, विष्णु स्थिति का प्रतीक है और महेश प्रलय का। संसार की समस्त वस्तुओं में इस प्रकार का परिवर्तन होता रहता है। क्रान्ति का सुन्दर पाठ तो संसार की समस्त वस्तुएँ इस त्रिपदी के द्वारा पढ़ा रही हैं।

के अंकों का ज्ञान कर लिया। पुत्र की तीव्रबुद्धि के कारण पिता उसे ले कर वापिस गाँव में लौट पड़े और संकल्प किया—"मैं एक टाइम खाऊँगा, सारे घर को आधे पेट रखूंगा, लेकिन ईश्वरचन्द्र को पाठशाला अवश्य भेजूंगा।" बस, यही संकल्प ईश्वरचन्द्र की उन्नति का आधार बन गया।

घर आकर पिता ने उसे गाँव की पाठशाला में भर्ती करा दिया। बालक खूब मनोयोगपूर्वक पढ़ने लगा। पुस्तकों के सहारे उसने उच्चतम ज्ञान प्राप्त कर लिया। इस स्कूल में वह सर्वोत्तम छात्र निकला। अध्यापक उससे संतुष्ट रहते और उसकी प्रशंसा किया करते थे। गाँव के स्कूल की पढ़ाई समाप्त होने के बाद आगे पढ़ाना पिता के लिए असम्भव था। अतः इन्कार करना पड़ा। इस पर ईश्वरचन्द्र ने पिता से प्रार्थना की कि 'उसे विद्यालय में दाखिल करा दें; फीस और पढ़ाई का खर्चा वह स्वयं मेहनतमजदूरी करके चला लेगा। वह शहर में स्वयं मजदूरी तलाश कर लेगा।" पिता ने उसे कलकत्ता के एक संस्कृत विद्यालय में भर्ती करा दिया। महाविद्यालय में उसकी लगन सेवाभावना, विनम्रता ने शिक्षकों को इतना प्रभावित कर दिया कि ईश्वरचन्द्र की फीस माफ हो गई। पुस्तकों के लिए वे अपने सहपाठियों के साझीदार हो गये थे। अपने इस पुरुषार्थ और प्रबन्ध से उत्तरोत्तर वे अपनी योग्यता बढ़ाते गए। लगातार ऊँचे उठते गए। उन्नीस साल की उम्र तक पहुंचते-पहुंचते उन्होंने व्याकरण, साहित्य, अलंकार, स्मृति तथा वेदान्तशास्त्रों में अगाध पाण्डित्य प्राप्त कर लिया। वे देश के बड़े विद्वान् बन गए।

उनकी असंदिग्ध विद्वत्ता तथा धर्मसंस्कारों से युक्त उच्च आचरण से प्रभावित हो कर विद्वानों की सभा ने उन्हें मानपात्र के साथ 'विद्यासागर' की उपाधि से विभूषित किया और उनके मूल्यांकन

अपनाओ। अगर पुराने के नाम पर अहितकर, गलीसड़ी, अनुपयोगी बातों से चिपटते रहे तो पुराने विकृतरूप से चिपटा हुआ प्राचीनता-मोही न तो नये युगानुकूल सत्य (हितकर बात) का भोजन कर पाता है और न पुराने असत्य (अहितकर) रूप मल का ही त्याग कर पाता है। इसको ठीक से समझने के लिए एक व्यावहारिक दृष्टान्त उपयोगी होगा—

एक प्रसिद्ध वैद्य थे। धार्मिक वृत्ति के थे। बात-बात में पुराने धार्मिक सड़े-गले रीतिरिवाजों की तारीफ किया करते थे। एक दिन उनसे मिलने उनके एक सुधारक मित्र आए। बातचीत के सिलसिले में सुधारकजी ने जोर देकर कहा—"पुराने सड़ेगले अहितकर रीतिरिवाजों और धर्म के बाह्य व्यवहारों को हमें समय-समय पर बदलना पड़ता है। पुराना निःसार होने और सड़ जाने पर छोड़ दिया जाता है, नया सारभूत व ताजा हो, वह ग्रहण किया जाता है। वैद्यजी का यह मत था कि जो अच्छा है, वह सदा ही अच्छा रहेगा, वह कभी बुरा नहीं होता। एक बार जो ग्रहण कर लिया उसे कभी छोड़ना नहीं चाहिए। वैद्यजी की श्रद्धा अपने पुरातनवाद पर इतनी अटल थी कि कोई भी युक्ति उनकी समझ में नहीं आती थी। इतने में एक बहन अपने रोगी लड़के को लेकर आई। उसने वैद्यजी से कहा—यह लड़का परसों से टट्टी नहीं जा रहा है।" वैद्यजी—"क्यों, बेटा! टट्टी क्यों नहीं जाता?" कुछ देर तक तो लड़का चुप रहा फिर संकुचाते बोला—"मैंने परसों मिठाई खाई थी।"

"अरे तो मिठाई खाने से क्या हुआ? क्या मिठाई खाने के बाद टट्टी नहीं जाना चाहिये?" वैद्यजी ने कहा। लड़के ने मुंह मचकोड़ते हुए कहा—"जो मिठाई एक बार पेट में पड़ गई सो पड़ गई; उसे क्यों निकाली जाय? वह कोई बारबार थोड़े ही मिलती है!"

२६

प्राचीन और नवीन का विवेक

हमारी आत्मा बहुत पुरानी है। परन्तु वह भी शरीर के साथ बदलती है। यद्यपि आत्मा के प्रदेशों में न्यूनाधिकता नहीं होती, परन्तु जब शरीर-संसर्ग के कारण आत्मा भी एक योनि से दूसरी योनि में, एक गति से दूसरी गति में जाती है, तब उस अपेक्षा से उसमें परिवर्तन होता है। जो आत्मा पहले दुरात्मा बनी हुई थी, वह किसी शुभ निमित्त को पाकर महात्मा या सदात्मा बन जाती है। परन्तु शरीर तो नाशवान ही है, इसके अवयव तो बदलते ही रहते हैं। पुराना बाल्यकाल छोड़ कर मनुष्य नया युवाकाल प्राप्त करता है, उसके बाद और नया वृद्धत्व प्राप्त करता है, इस प्रकार शरीर में पुराना नया बनता जाता है और नया कालान्तर में पुराना हो जाता है। परन्तु इस पुराने और नये को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि पुराना ही अच्छा है, नया सब खराब है या नया ही ठीक है, पुराना सब खराब है। यह तो मनुष्य के विवेक पर निर्भर है। विवेक की आँखों से वह पुराने और नये को देखे-परखे और तब जो सत्य (प्राणियों के लिए हितकर) जचे उसे वह अपनाए और असत्य (अहितकर) छोड़े। यानी अच्छे-बुरे का निर्णय करके अच्छे को अपनाए, बुरे को छोड़े। जैनधर्म ने किसी भी वस्तु की अच्छाई-

है, ऐसा समझना भूल है। पाप भी बहुत प्राचीन है, क्या उसे आप ठीक कहेंगे ? यही कारण है कि प्राचीनतामोही व्यक्ति युग के अनुकूल सत्य (हितकर) बात आती है तो उसका भी अपमान कर बैठता है।

महात्मा गाँधीजी ने जब स्वराज्य का आन्दोलन चलाया तो लोग उनकी बात को हंसी में उड़ाने लगे, ऊहापोह मचाने लगे, उसे नई बात समझ कर उसमें भाग लेने से हिचकिचाते थे। लेकिन जब गाँधीजी ने आजादी की लड़ाई में कई बार सत्याग्रह में सफलता बताई तो लोग उनकी नई बातों को अपनाने लगे। इसी प्रकार कोई धार्मिक परिवर्तन होता है तो ऊहामोह मचा करता है।

इसीलिए आचार्य सिद्धसेन दिवाकर कहते हैं—

"बहुप्रकाराः स्थितयः परस्परं विरोधयुक्ताः कथमाशुनिश्चयः।
विशेषसिद्धावियमेव नेति वा पुरातनप्रेमजड़स्य युज्यते॥"

'पुरातनप्रेमी हमेशा परस्परविरुद्ध अनेक व्यवहारों को देखते हुए भी अपने ईष्ट किसी एक को यथार्थ और बाकी को अयथार्थ करार दे देता है। सिद्धान्त और व्यवहार परस्पर विरुद्ध भी देखे जाते हैं, तब उनमें भी किसी एक की यथार्थता का निर्णय जल्दी कैसे हो सकता है ? तथापि 'यही मर्यादा उचित है (क्योंकि पुरानी है), दूसरी नहीं;' ऐसा इकतरफा निर्णय करना तो पुरातनप्रेम से जड़ बने हुए लोगों को ही शोभा देता है।'

युगप्रधान श्रीकालकाचार्य ने अपने समय में संवत्सरी भादवा सुदी पांचम के बदले चौथ को मनाई। क्या कोई कह सकता है कि उन्होंने पुरानी परम्परा को छोड़ कर कुछ बुरा किया ? उन्होंने उस समय एक विशेष हित को देखते हुए पंचमी के बदले चौथ की संवत्सरी स्थापित की। उस समय के जैनसमाज में इस नई वस्तु

प्रकृति पुरातन मोह छुड़ाती है

अगर हम किसी वस्तु को अहितकर जान कर भी मोहवश न छोड़ना चाहें और उसे पुराने के नाम पर पकड़े बैठे रहें तो भी प्रकृति उसे छुड़ा देती है। किसी के शरीर के मर जाने पर कोई सम्बन्धी अपने उस रिश्तेदार के शरीर को पुराना होने के कारण छोड़े नहीं, जलाए नहीं और उसी को कस कर पकड़े बैठा रहे कि इसके बिना तो मेरा काम ही तो कैसे चलेगा ? तो उस मृत शरीर में दुर्गन्ध आने लगती है, कीड़े पैदा हो जाते हैं। इसीलिए तो प्रकृति उस प्राचीनमोह को छुड़ा कर व्यक्ति को बोध देती है कि इसे नवीन बनाने के लिए (नया जन्म धारण कराने—नया शरीर देने के लिए) मैं पुराना जन्म और शरीर छुड़ा रही हूं। आपको अपने मृतक के वियोग का दुःख होता है किन्तु मान लो, वह किसी के यहाँ पुत्ररूप में पैदा होता है तो उसे तो संयोग का हर्ष होता है। इसी बात की प्रेरणा आचार्य सिद्धसेन दिवाकर कर रहे हैं—

"जनोऽयमन्यस्य मृतः पुरातनः पुरातनैरेव समो भविष्यति।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु कः पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत् ॥"

'यह जीवित वर्तमान व्यक्ति भी मरने पर आगे की पीढ़ी की दृष्टि से पुराना होगा, तब वह भी पुरानों की गिनती में आजायगा। जब इस तरह पुरातन भी अस्थिर है यानी नवीन भी कभी पुरातन है, और पुराना भी कभी नवीन रहा था, तब फिर अमुक वचन पुरातन-कथित है, ऐसा समझ कर परीक्षा किये बिना कौन उसे पसंद करेगा ?, इसलिए पुराना जीर्णशीर्ण कपड़ा जैसे फट जाने पर उपयोगी व हितकर न होने से उसे छोड़ना पड़ता है और नया उपयोगी व हितकर वस्त्र लेना पड़ता है, उसी प्रकार प्राचीन जो अहितकर या निरुपयोगी हो गया हो, उसे छोड़ो और नवीन जो हितकर व उपयोगी हो उसे

नई बातों को अपनाते हुए भी पुरातनमोहवश नई का विरोध

जो लोग नई बात का विरोध करते हैं, वे भी वाद में जब वह बात समाज में प्रचलित हो जाती है तो उसे स्वीकार कर लेते हैं। जैनसाधुसाध्वियों के लिए शास्त्रों में कई पुरानी परम्पराओं का उल्लेख है, उन्हें जब देखते-सुनते हैं तो ऐसा मालूम होता है कि बहुत-सी पुरानी परम्पराएँ बदल चुकी हैं। साधुवर्ग नई परम्परा को आदर-पूर्वक अपनाने लगा है। कुछ शास्त्रीय दृष्टि से पुरानी परम्परा के उदाहरण लीजिए :—

पहले साधुवर्ग के लिए तीसरे पहर में भिक्षा लाने का विधान था, "प्रथम[1] प्रहर में वह स्वाध्याय करे, दूसरे प्रहर में ध्यान और तीसरे प्रहर में भिक्षाचरी करे।" परन्तु देश, काल और परिस्थितियाँ बदलीं, साधुसमाज ने इस विधान में परिवर्तन किया। तीसरे पहर में गृहस्थों के घरों में रसोईघर बन्द हो जाते, सारा भोजन निपट जाता। और माताएँ-बहनें अपने अन्य गृहकार्यों में जुट जातीं। साधुओं को निराश हो कर खाली पात्र लौटना पड़ता। ऐसी स्थिति में साधुओं के मन में भी संक्लेश होता और गृहस्थों को भी साधु-पुरुषों को अपने घर से भिक्षा लिए बिना लौटते देख बहुत ही रंज होता। अतः आचार्य शय्यंभव (दशवैकालिक सूत्र के रचयिता) ने यह विधान किया—"काले कालं समायरे।" अर्थात् भिक्षाचरी आदि का जो योग्य काल हो, उसी समय वह चर्या करे। बस, तीसरे पहर का भिक्षाचरी—गोचरी-करने की परम्परा उड़ गई और साधु-

१—प्रमाण के लिए देखिए उत्तराध्ययनसूत्र का पाठ—

"पढमे पोरिसी सज्झायं बीयं झाणं झियायए।
तइयाए भिक्खायरियं पुणो चउत्थीइ सज्झायं॥"

वैद्यजी—"अरे भले आदमी, अब तक वह परसों की मिठाई पेट में थोड़े ही पड़ी है। उसका जो सारभाग था, वह शरीर में मिल गया और जो निःसार भाग है वह टट्टी हो गया। अब वह मिठाई कहाँ रही ?"

लड़का—"जी ! परसों तो वह मिठाई ही थी।"

वैद्यजी—"परसों परसों है, आज आज है। कोई चीज सदा एकसी नहीं रहती। ले, यह दवा ले जा और टट्टी चले जाना।" यह कह कर वैद्यजी अपनी कुर्सी पर आ कर बैठे। सुधारक मित्र ने चुटकी लेते हुए कहा—"आप दूसरों को जुलाब देकर पुरानी गंदी चीज को निकालना चाहते हैं, पर स्वयं पुरानी गंदी चीज को निकालने के लिए जुलाब नहीं लेते।" वैद्यजी झेंपते हुए बोले—"बस, भाई ! अब तुम्हारी बात समझ में आ गई। लो मैं भी आज से प्राचीनता के मोह को निकालने का जुलाब ले लेता हूं।"

इससे आप समझ गये होंगे कि पुरानी जो गली-सड़ी अहितकर परम्पराएँ या रीतिरिवाज हैं, उन्हें निःसार समझ कर निकाल देने पर ही व्यक्ति या समाज स्वस्थ रह सकता है और नई हितकर परम्पराओं, प्रथाओं, रीतिरिवाजों के रूप में नया ताजा हितकारी भोजन ले सकता है।

दुनिया में जब कोई नई बात या नई चीज चलती है तो चट से सनातनसंस्कारी कहने लगते हैं, यह तो पुरानी नहीं है। इसी तरह जब कभी पुरानी बात की, जो अहितकर हो चुकी है, कोई योग्य समीक्षा करे तब भी वे कह देते हैं कि यह तो बहुत पुरानी चीज है, इसकी आलोचना मत कीजिये। यानी पुरातनतामोही लोग उचित-अनुचित का विचार नहीं करते। कोई बात प्राचीन है, इसलिए ठीक

जो प्राचीनतामोही यह कहते हैं कि "क्या हमारे पुरखे मूर्ख थे ? क्या वे यह सुधार नहीं कर सकते थे ? तुमने सुधार करके नई परम्परा डाल कर पूर्वजों की अवहेलना की है आदि ।" उनसे पूछा जाय कि क्या भ० महावीर ने यह सुधार करके अपने पूर्वज भगवान् पार्श्वनाथ की अवहेलना की थी ? क्या वे नहीं जानते थे ? या क्या उन्होंने श्वेतवस्त्रपरिधान की नई परम्परा डाल कर अपने पूर्वज पुरुष की निन्दा की थी या उन्हें मूर्ख वतलाया था ? नहीं, ऐसा उन्होंने कदापि नहीं किया। उन्होंने यह सोच लिया कि पूर्वज महापुरुषों ने अपने देश, काल और परिस्थिति में जो परम्परा डाली थी, वह उस समय के लिए उचित थी, वे ज्ञानी थे, इसमें कोई संशय नहीं, लेकिन देश, काल और परिस्थिति को देख कर श्रमणसंघ के हित को मद्देनजर रखते हुए श्वेतवस्त्र पहिनने की नूतन परम्परा डालने में उनकी अवहेलना नहीं होती। अगर आज वे इस युग में होते तो वे भी ऐसा ही सुधार करते।

एक वालक के मातापिता ने वाल्यकाल की परिस्थिति के अनुसार छोटा कोट वनवा दिया; गर्मी के दिनों में पतला कुर्ता वनवा दिया। उस वालक के मातापिता के मर जाने के वाद भी वह जिंदगीभर उस छोटे कोट को पहने या शीतऋतु आ जाने पर भी वह पतला कुर्ता ही पहने तो क्या यह उचित होगा ? उसे अपनी पोशाक देश-काल, परिस्थिति, उम्र के लिहाज से वदलनी पड़ेगी। वापदादों की वनाई हुई पोशाक को तंग हो जाने से छोड़नी भी पड़ेगी ? इसमें कोई कहे कि क्या तुम्हारे वापदादे मूर्ख थे, जो उन्होंने यही पोशाक वनवा दी ? तो ऐसा कहना विलकुल अनुचित होगा। पूर्वजों या वापदादों ने अपने युग में हित देख कर जो प्रथा चलाई उसके आज युगानुसार वदल देने से न तो वापदादों की या पूर्वज-पुरुषों की अज्ञानता सिद्ध होती है, न उनकी अवहेलना ही।

को देख कर काफी ऊहापोह भी मचा होगा। लेकिन एक युगप्रधान आचार्य ने अपने स्वार्थ के लिए नही, किन्तु संघहित को दृष्टि में रख कर नई बात चलाई, इसलिए सबने मान्य की।

परन्तु प्राचीनतामोही नई परम्परा, नई बात या नये रिवाज को देख कर झटपट कह देंगे—"जितना भी सत्य था, वह सब भूतकाल में आ चुका; हमारे पूर्वजों को प्राप्त हो चुका; उसमें किसी भी सुधार या संशोधन को या नयेपन को बिलकुल अवकाश नहीं है।" वह यह नहीं सोचता कि मैं जिसे आज नया कह कर भड़कता हूं, वह भी तो कुछ समय पा कर पुराना हो जायगा; और जिसे पुराना कहता हूं, वह नष्ट भी हो जायगा।

पन्यास सत्‌विजयजी ने त्यागी साधु और परिग्रहधारी यति के पहिचानने के लिए श्वेतवस्त्र पहनने की परम्परा में कुछ सुधार किया। यानी श्वेतवस्त्र की चादर पर जरा-सा पीले रंग का पुट देने की परम्परा चलाई। इस पर समाज में काफी बौखलाहट मची। पहले तो प्राचीनतामोह के कारण किसी ने उस नई परम्परा का स्वीकार नहीं किया। परन्तु बाद में वही वस्तु चल पड़ी। जिन लोगों को हितकर मालूम पड़ी, उन्होंने उसका स्वीकार किया।

आज तपोगच्छीय परम्परा में पीली चादर ऊपर डालने का रिवाज है। पूज्य आत्मारामजी (विजयानन्दसूरिजी) महाराज, उनके पट्टधर कमलविजयजी महाराज तथा उपाध्याय वीरविजयजी म० और बाद के सभी शिष्य इस पीली चादर ओढ़ने की परम्परा को मानते थे। मुझ पर भी मेरे पूज्य गुरुदेव का ही रंग चढ़ा हुआ है। वह रंग आज तक चला

हैं। कुछ साधुलोग भी मेरी कुछ नई प्रवृत्तियों को देख कर ईर्ष्यावश मेरे विरुद्ध जनता को भड़काते हैं कि वल्लभविजय के परिचय वालों से अधिक बोलना नहीं। अभी-अभी मुझे किसी मुनि से खबर मिली है कि 'तुम लाउडस्पीकर की बात की ज्यादा खींचातान नहीं करना।' परन्तु मेरे लिए यह बात आज नई नहीं है। मैंने काफी समय पहले इस पर चारों ओर से विचार कर लिया था। ब्राह्मणवाड़ा में जिस समय आबूवाले शान्तिविजयजी (योगी) मौजूद थे। उस समय हमने लाउड-स्पीकर पर व्याख्यान दिये थे। लेकिन किसी ने हमारी उस नई बात का विरोध नहीं किया। अब तो जो विरोध करने वाले साधु थे, उनमें से भी कई साधु दूर-सुदूर प्रान्तों में बड़े-बड़े नगरों में लाउडस्पीकर पर बोलने लगे हैं। किन्तु उन्हें आज कोई नहीं कह रहा है। मेरे पीछे लट्ठ लेकर क्यों पड़े हैं? मैं इन बंदरघुड़कियों से नहीं डरता। खुले मैदान में चेलेंज देकर कहता हूं कि जो लोग इसका विरोध करते हैं, उन्हें भी एक दिन इस बात को स्वीकार करना ही पड़ेगा।

जो लोग उपाश्रय का विरोध करते थे, वे अब 'ज्ञानशाला' खुलवा कर सारा काम उपाश्रय का करते हैं। उन ज्ञानशालाओं के पीछे उनका नाम चलता है, अगर वे उपाश्रय के बदले ज्ञानशाला या पौषधशाला जैसी कोई चीज प्रेरणा करके न बनवाते और सर्वथा त्याग कर देते, तब तो उनका त्याग बखाना जाता, लेकिन ऐसा न करके सीधी तरह से नाक न पकड़ कर उलटे हाथों पकड़ कर द्राविड़प्राणायाम करना ठीक नहीं है। उसमें उनका त्याग कहाँ रहा?

इसलिए किसी के द्वारा कोई द्रव्यक्षेत्रकालभाव देख कर समाज-हित को मद्देनजर रखते हुए सुधार या परिवर्तन किया जाय तो उसे देख कर प्राचीनतामोहवश अथवा ईर्ष्यावश विरोध करना उचित नहीं होता। जबकि उन्हीं महानुभावों ने पुरानी कई परम्पराएँ, जो

साध्वियों ने प्रायः प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ प्रहर में गोचरी लाने की प्रथा डाल दी। सम्भव है, शुरूआत में इस नई परम्परा का भी विरोध हुआ हो। लेकिन वह विरोध शान्त हो गया और साधुवर्ग ने नई परम्परा का स्वागत किया। इसके बाद साधुओं के लिए एक ही टाइम भोजन करने का विधान था। दशवैकालिकसूत्र में स्पष्ट कहा है—"एगभत्तं च भोयणं" 'एक ही बार भोजन करे।' लेकिन साधुसाध्वियों में सभी एक-सी शक्ति, प्रकृति और अवस्था के नहीं होते थे। एक बार के भोजन से—भोजन में रसकस कम होने के कारण—अशक्ति आने लगी, जिससे स्वाध्याय-ध्यान आदि चर्या में मन नहीं लगता, आलस्य आने लगता। फलतः इस स्थिति को देख कर प्राचीन आचार्यों ने इस परम्परा में छूट दे दी—"दोनों टाइम और तपस्या चलती हो तो पारणे के दिन तीनों टाइम भी भोजन किया जा सकता है।"

और भी देखिए, भगवान् महावीर से भी पुरानी भगवान् पार्श्वनाथ की परम्पराएँ। उस समय रंगीन (पांच रंगों में से किसी भी रंग का) कपड़ा पहने का साधुसाध्वियों के लिए विधान था। लेकिन रंगीन वस्त्रों के पहिनने के कारण एक तो जैनभिक्षुओं और अन्य तापसों, गैरिकों या साधुओं में कोई अन्तर नहीं मालूम पड़ता था। दूसरे, रंगीन वस्त्र पहने हुए साधु के वेष को देख कर कई लोगों को तापस, गैरिक आदि होने की शंका होती, इसलिए जैनगृहस्थ उनसे घृणा करते, अथवा उनकी चर्या पार्श्वनाथपरम्परा के साधुओं के विरुद्ध होने पर भी समानवेष होने से कोई भी उन्हें कुछ कह नहीं सकता था और वह बात चल जाती थी! फिर रंगीन कपड़ों के पहिनने से मोह भी पैदा होता था। इन सब कारणों को देखते हुए भ० महावीर ने रंगीन वस्त्र (साधुओं को) पहिनने की परम्परा बदल कर श्वेतवस्त्र पहिनने का विधान किया।

अपने स्थान पर रहते हुए शनैः शनैः संप और प्रेम से विचारविनिमय करके पुरानी गलत एवं हानिकारक परम्पराओं को बदला जा सकता है। हमें गलत परम्परा को बदलने की बात किसी पर जबरन थोपनी नहीं चाहिए। किसी से अपनी बात बलात् मनवाने का तो किसी को हक नहीं है। स्वयं या अपनी सम्प्रदाय की परम्परा को बदलने का हर एक को हक है। और जो प्राचीनतामोह न रख कर गलत मान्यताओं एवं हानिकर प्रथाओं में संशोधन करता है, उसकी बात शुरूशुरू में चाहे ठुकरा दी जाती हो, पर बाद में उसकी सचाई को लोग पहिचान कर उसे हृदय से अपनाते हैं। उसकी स्वयमेव बोलवाला बढ़ जाती है। लालबाग (बम्बई) के मंदिर में हमने अपनी आँखों से ऐसा शुभपरिणाम देखा है। वहाँ वरघोड़ा के लिए जो घी की बोली होती है, उसे साधारण खाते में समाविष्ट करके उसी में खर्च करते हैं। उन्होंने अपनी दृष्टि से अनुकूल समझ कर ऐसा सुधार अपनाया।

अहमदाबाद की बात है। वहाँ मासखमण (मासिकतप) तपश्चर्या का उत्सव चलता था उसमें जो रकम आती उसे जीमनवार में खर्च करना मंजूर किया। बात नई थी। इसलिए कुछ लोगों ने कहा कि यह अनुचित किया जा रहा है। लेकिन जब उन्होंने समझाया कि जिस शुभकार्य में पैसे की जरूरत हो, वह आएगा कहाँ से ? श्रावकों से ही तो उसे प्राप्त किया जायगा ! आपकी विद्याशाला में श्रावकों ने दो साहम्मिवच्छल (साधर्मीवात्सल्य) के जीमन किये थे। उस कार्य के करने में हमने किसी को कोई सलाह या प्रेरणा नहीं दी थी। उत्सव के निमित्त से जीमनवार आदि का जो काम करना हो उसका खर्च उसी की प्राप्त धनराशि में से किया जायगा।

माफ करना भाइयो ! मैं आपको खरी-खरी सुना रहा हूं।

उस दिन मैं आपको व्याख्यान में सुना चुका हूं कि जब कोई

आपके पुरखे अंगरखा रखते थे, दाढ़ी-चोटी रखते थे, पगड़ी भी बांधते थे, आज आपने देश-काल-परिस्थिति और सुविधाओं का ख़याल करके अगर ये परम्पराएँ बदल दीं तो क्या आप अपने पुरखों के प्रति बेवफा कहलाएँगे या उनकी अवहेलना करने वाले सिद्ध होंगे ? नहीं।

हाँ तो, मैं कह रहा था कि इस तरह की एक-दो नहीं हजारों परम्पराएँ, प्रथाएँ, समय-समय पर आचार्यों और युगपुरुषों ने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, परिस्थिति और हिताहित को देख-परख कर बदली हैं, और भविष्य में भी बदलेंगे। परन्तु इस परिवर्तन को देख कर प्राचीनता-मोही की तरह हमें बौखलाना या बदलने वाले को भला-बुरा कहना ठीक नहीं।

आज साधुवर्ग में लाउडस्पीकर में बोलने की बात चलती है तो पुरातन रूढ़िवादियों में भूकम्प आ जाता है। प्रायः सभी की जबान पर आज वल्लभविजय चढ़ा हुआ है। मैं द्रव्यक्षेत्रकालभाव देख कर जो वस्तु समाज के लिए हितकर देखता हूं, समाजविकास के लिए उपयोगी समझता हूं, उसे अपनाने को तैयार रहता हूं। पुरानी और नई का सवाल मेरे सामने गौण है। पुरानी भी जो हितकर परम्पराएँ हैं, उन्हें मैं हृदय से अपनाए हुए हूं और साथ ही नई जो हितकर परम्पराएँ हैं, उन्हें भी अपनाता हूं। समाज के लिए जो सत्य, तथ्य और पथ्य हो उसे मैं समाजहित की दृष्टि से कहता रहता हूं। मेरी बातें चाहे कड़वी लगें और उसके कारण प्राचीनताप्रेमी मुझ पर कटु आलोचना का प्रहार करें, मुझे कोई चिन्ता नहीं। मेरे लिए ये बातें कोई नई नहीं हैं। मैं पंजाब से राजस्थान और गुजरात पार करके बम्बई चला आ रहा हूं। सर्वत्र रूढ़िचुस्त लोग नई हितकर बात को देख कर बौखला उठते हैं, मेरी कड़ी आलोचना भी करते

इसलिए यह शास्त्रीय कानून प्राचीन होते हुए भी आज भी साधुवर्ग की संयममर्यादा के लिए हितकर होने से ग्राह्य है। इस बात को मुझे और सभी साधुवर्ग को स्वीकार करना ही चाहिए। कोई हठाग्रह-पूर्वक अपनी खोटी बात को भी पकड़ कर बैठा रहे, उसकी बात अलग है।

किसी भी बात के परमार्थ को समझो

आज जो समाज में अन्धाधुंधी चल रही है, उसका कारण नवीन और प्राचीन का अविवेक है। यह अविवेक कभी-कभी तो 'यह रिवाज, परम्परा या प्रथा पहले से चली आ रही है, इसमें रद्दोबदल करने का कोई अधिकार नहीं'; ऐसा मान कर चलने से होता है। इसी गतानुगतिकता के कारण कई बार उसके पीछे रहे हुए परमार्थ (गूढ़ आशय) को नहीं समझा जाता और भेड़चाल की तरह एक के पीछे दूसरा आँखें मूंद कर चलता जाता है। कोई यह पूछने का साहस नहीं करता कि यह प्रथा क्यों और कबसे चली? इसमें समाज का क्या हित है या था? एक रोचक उदाहरण इस सम्बन्ध में याद आ रहा है—

एक बाबाजी रोज ध्यान लगाया करते थे। उन्होंने एक बिल्ली पाल रखी थी। जब बाबाजी ध्यान में बैठते तो बिल्ली आ कर उनकी गोद में बैठ जाती, उछलकूद मचाती और ध्यान में विघ्न डालती। बाबाजी ने ध्यान के समय बिल्ली कूदफांद न कर सके, इस दृष्टि से उसे एक खूंटे के साथ रस्सी से बांधना शुरू किया। अब बिल्ली उनके ध्यान में कोई विघ्न नहीं कर पाती थी। परन्तु बाबाजी का चेला इस रहस्य को समझता नहीं था और न उसने कभी अपने गुरुजी से पूछा कि यह बिल्ली ध्यान के समय खूंटे से क्यों बांधी जाती है। बाबाजी के स्वर्गवास के बाद उनका चेला गद्दी पर आया। वह बिल्ली

दूसरों ने बदली थीं, अपनाई हैं, तब फिर हमारे द्वारा नई परम्परा को चलते देख कर विरोध करना 'वदतो व्याघात' जैसी बात है।

उदाहरण के तौर पर सपने और पालने की बोली बोलने की परम्परा पर गहराई से सोचिये कि वे किस शास्त्र में बताई गई हैं? उन दोनों परम्पराओं का किसी भी शास्त्र में उल्लेख नहीं है। देव-द्रव्य का इतिहास खोल कर देखें तो पता चल जायगा कि ये दोनों परम्पराएँ उस समय के यतिसमुदाय ने डाली हैं; और बाद में त्यागी साधुओं ने गृहस्थवर्ग में प्रचलित करवाई हैं। त्यागीसाधुओं ने इन दोनों परम्पराओं को नवीन होते हुए भी मान्य कर लिया, उस समय कोई विरोध नहीं किया और हम जो बात संघहित की कहें, उसे नई कह कर उसका विरोध करें, यह अपने मुंह से अपनी बात का खंडन करने जैसा है। जो लोग विरोधी बढ़ जाने के डर से या अपने सम्प्रदाय की पकड़ी हुई बात को, चाहे वह आज अहितकर हो, छोड़ने में प्रतिष्ठा जाने का खतरा महसूस करके शर्माशर्मी या देखादेखी पुरानी घातक परम्पराओं के बदलने में स्वयं संकोच करते हैं, अथवा दूसरा कोई हितैषी किसी परम्परा को बदलता है तो उसे ठीक समझते हुए भी सच्ची बात कहने में हिचकिचाते हैं; वे सत्य के पुजारी नहीं, कुरूढ़ियों के पुजारी हैं।

मैं तो कहता हूं, किसी भी नई बात को देख कर घबराएँ नहीं। शान्ति से परस्पर बैठ कर ठंडे दिल-दिमाग से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और परिस्थिति एवं समाज के हिताहित का विचार करने से सत्यता अपने आप सामने आ जायगी।

अगर सत्यता को समझ कर प्रेम से नये रिवाज के अनुसार काम करते जाएँ तो समाज में शान्ति और एकता बनी रहती है। अपने-

भी काफी वर्षों तक यह विकासघातक एवं ज्ञान में अन्तरायदायक परम्परा चलती रही। किसी का भी ध्यान इस ओर न गया। संभव है, अपनी साधना में संलग्नतावश किसी ने ज्यादा ध्यान न दिया हो। कुछ भी हो यह गलत परम्परा काफी वर्षों तक चलती रही। हमारे पूज्य गुरुदेव आचार्य विजयानन्दसूरिजी म० का ध्यान इस अविवेकी परम्परा की ओर गया। उन्होंने इस विकासावरोधक युग-बाह्य परम्परा को साधु-समाज का हित सोच कर बदल दी। यानी साध्वियाँ भी साधुओं की तरह व्याख्यान दे सकती हैं, यह परम्परा प्रचलित की। ऊहापोह तो इसके बदलते ही काफी मचा। परन्तु जब युक्तियों और दलीलों से उनका मुंह बन्द कर दिया गया तो विरोध करने वाले चुपचाप रहे। आज तो तपोगच्छीय साध्वियों के अतिरिक्त खरतरगच्छीय साध्वियाँ और स्थानकवासी-तेरापंथी साध्वियाँ धड़ल्ले के साथ जाहिर व्याख्यान तक देती हैं।

परन्तु भेड़िया धसान की तरह प्रवाह में बहने वाले लोग उस वस्तु के तत्त्व (परमार्थ) को समझने का प्रयत्न नहीं करते। एक के पीछे एक अविवेकपूर्वक चलते जाते हैं। एक रोचक व्यवहारिक दृष्टान्त लीजिए—

एक जगह गंगाजी का मेला लगा हुआ था। बहुत से यात्री गंगाजी जा-आ रहे थे। एक मालिन अपने फूल बेचने के लिए मेले में पहुंची। सड़क के किनारे एक मौके की जगह देख कर उसने अपने फूलों व मालाओं की दूकान लगाई। संयोगवश मालिन के साथ जो बच्चा था उसे टट्टी की हाजत हुई। मालिन बड़ी चतुर होती है। उसने सोचा—अगर यहाँ सड़क पर टट्टी पड़ी देखी तो मुझ पर शक करके पुलिस गिरफ्तार कर ले जायगी। अतः उसने चतुराई से बच्चे को झटपट सड़क के किनारे टट्टी फिरवा कर उस पर फूल डाल दिये। फूल

वस्तु भगवान् के चढ़ा दी जाती है, तब उस पर अपना अकेले का हक मत जमाओ। एक जौहरी अपने घर से जवाहरात लाकर भगवान् की आंगी बनाता है। जब वह भगवान् के अंग पर चढ़ा दी जाती है तो भगवान् की हो गई। उस पर वास्तव में अब उस जौहरी का कोई हक नहीं रहा। इसी प्रकार भगवान् ऋषभदेव और मल्लिनाथ भगवान् के मुकुट चार लाख रुपये खर्च करके बनाए। जब उन्हें भगवान् के चढ़ा दिये तब भगवान् के उन मुकुटों का रुपया (बोली आदि के द्वारा) क्यों लेते हो ?

भाइयो ! अपनी नीयत क्यों बिगाड़ते हो ? सचाई को समझो। जिस उत्तमकार्य में पैसा खर्च करना जरूरी है, वहाँ नई परम्परा कह कर उसे ठुकराओ मत। अर्थ लेने (अर्थसंग्रह) का वक्त आए तब चतुर्थी विभक्ति और जब दान देने का समय आए तब षष्ठी विभक्ति मत लगाओ। अपना हक जमा कर उस समय मत बैठो। नहीं तो, कोई भी तुम्हें त्यागी गुरुओं और निष्परिग्रही महापुरुषों के अनुयायी मानने से हिचकिचाएगा। अपना हक जमा कर बैठोगे तो महा-परिग्रही बन जाओगे। मैं तो यहाँ तक कहूंगा कि उपाश्रयों, धर्म-शालाओं, विद्याशालाओं, ज्ञानमन्दिरों और देवमन्दिरों पर भी अपना या अपने सम्प्रदाय व गच्छ का हक जमा कर बैठना साधुसाध्वियों के लिए कल्पनीय नहीं है। ऐसा हुआ तो साधुवर्ग परिग्रहधारी बन जायगा। शास्त्र में बताया है कि साधु को गृहस्थ शय्यातर की आज्ञा लेकर (क्योंकि वह स्थान उसकी मालिकी का नहीं है, इसलिए) ठहरना चाहिए और शेषकाल में जितने दिन रहना हो, उतने दिन के बाद या चौमासा करना हो तो चौमासे के पूर्ण होने के बाद उस गृहस्थ शय्यातर की आज्ञा वापिस सौंप कर जाना चाहिए। यह शास्त्रीय कानून है। मेरे घर की बात या सरकार के कानून की बात नहीं।

ढूंढने में बाधक होता है। कई बार हमारे युवक लोग पुरानी अच्छी बातों एवं हितकर परम्पराओं को भी, चूंकि वे पुरानी हैं, इसलिए खराब कह कर ठुकरा देते हैं। और कहने लगते हैं—"हमें पुरानी बिलकुल नहीं चाहिए, नई ही अच्छी है। परन्तु प्राचीनवस्तु जब विकृत हो कर नवीनरूप धारण कर लेती है, तब उस विकृति को मूल वस्तु से तो अच्छी नहीं कही जा सकती। धर्मों के इतिहास में ऐसी बहुत-सी बातें मिलेंगी। जो रीतिरिवाज या परम्पराएँ मूल में अच्छे उद्देश्य से चलाई गई थीं, वे विकृत हो गईं तो नवीन कहलाईं। पर नवीन होने से वे अच्छी नहीं कही जा सकतीं। यानी विवेक और आत्मभान को भूल कर नवीनता के नाम पर किसी भी विकृति पोषक, स्वार्थपोषक या नैतिकताहीन सुन्दर शब्दों में लिपटे हुए नवीन को विकृत प्राचीन ही कहना चाहिए और उसे नवीन के नाम पर अपनाना नवीनतामोह है। ऐसी अवस्था में विकृति या स्वार्थ को हटाकर फिर मूल–प्राचीन–की ओर जाना पड़े तो प्राचीन होने के कारण उस प्रयत्न को बुरा नहीं कहना चाहिए। उसे अपनाना चाहिए। जैसे इस्लामधर्म में ब्याज लेने की मनाही का विधान बहुत प्राचीन हो गया है, लेकिन अब कोई ब्याज लेना बन्द करे तो प्राचीनता के कारण वह अनुचित नहीं कहलाएगा। वैदिकधर्म की वर्तमान में नष्टप्राय आश्रमव्यवस्था का यदि कोई आवश्यकता देख कर पुनरुद्धार करना चाहे तो प्राचीन होने के कारण वह अहितकर व त्याज्य नहीं माना जा सकता।

अतः नवीनताप्रेमी को नवीन के मोह में अन्धे हो कर प्राचीनता का पुनरुद्धार देख कर या प्राचीन वस्तु जो सत्य, हित व पथ्यकर हो उसे अपनाने से घबराना नहीं चाहिए। बल्कि उसे एक प्रकार से नवीन ही समझना चाहिए।

पालतू थी, इसलिए न रही, तो उन्होंने एक भक्त को विल्ली ला देने के लिए कहा। भक्त ने पूछा—"आपको विल्ली क्यों चाहिए? उन्होंने कहा—"तुम नहीं जानते इस बारे में। हमारे गुरुजी जब ध्यान लगाते थे, तब विल्ली खूंटे से बांधा करते थे। इससे उनका ध्यान अच्छा लग जाता था।" भक्त श्रद्धालु था। उसने एक बिल्ली ला कर उन्हें सौंप दी। अब चेलाजी ने ध्यान लगाते समय विल्ली को बांध देने का क्रम चलाया। उनकी गद्दी पर जो चेलाजी आए उन्होंने भी एक भक्त को विल्ली ला देने का कहा। जब उसने तर्क किया तो कहा—'तुम क्या जानो, इस बारे में। यह रीति तो हमारे गुरु और दादागुरुजी से चलती आ रही है।" इस प्रकार काफी लम्बे अर्से तक यह क्रम चला। लेकिन अन्त में एक चेलाजी को एक विवेकी भक्त मिला उसने जब इस विल्ली के बांधने का रहस्य समझाते हुए कहा—"आपके परदादागुरु के पास तो पालतू विल्ली थी, वह ध्यान करते समय कूदफांद मचाती होगी, इस कारण बांध दी जाती होगी। परन्तु अब तो पालतू विल्ली आपके पास है नहीं। और ध्यान का बिल्ली के बांधने से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः इस अविवेकी प्रथा को छोड़ दीजिए।" विवेकी भक्त के कहने से उक्त चेलाजी ने विल्ली बांधने की परम्परा छोड़ दी।

हमारे साधुसमाज में भी अविवेकवश कई गलत हानिकर परम्पराएँ रहती हैं। एक विकासघातक हानिकर परम्परा का नमूना देखिए—

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में किसी आचार्य के जमाने में किसी व्याख्यान-दात्री साध्वीजी का रूप देख कर कोई आसक्त हो गया होगा और व्याख्यान में उनकी कण्ठकला से प्रभावित हो कर उन्हें फंसाने का जाल विछाया होगा, इसी बात को ले कर उक्त आचार्य ने साध्वियों को व्याख्यान न देने की परम्परा चलाई। उक्त कारण के न रहने पर

एक धनिक व्यक्ति ने सुन्दर बगीचा बनवाया। बगीचे में हरे-भरे सुन्दर पेड़-पौधे, फल, फूल लगे हुए थे। बगीचे में आने वालों को वहाँ शान्ति और सुख का अनुभव होता था। धनिक का जवान लड़का एक दिन बाग में आया। वह इधर-उधर गश्त लगा रहा था कि अचानक उसके पैर में बबूल का एक कांटा चुभ गया। अब क्या था ? युवक गुस्से से आगबबूला हो गया और तुरन्त माली को बुलाकर हुक्म दिया—"इस सारे बाग को उजाड़ डालो और बदले में नया बाग लगाओ। इसमें तीख कांटे हैं।" संयोगवश धनिक भी उस समय बगीचे में शैर करने आया हुआ था। उसने अपने पुत्र का यह अविवेकपूर्वक हुक्म सुना तो माली से कहा—"खबरदार! इस लड़के के कहने से बाग को तहसनहस किया तो! यह तो मेरे बाप-दादों का पुराना बाग है। इस पर काफी पैसा और श्रम खर्च किया है। कांटे हैं तो देख कर चलना चाहिए। अपनी असावधानी से इतने पुराने बाग को नष्ट कर डालना और नया बाग लगाना कौन-सी बुद्धिमानी है ?" धनिक और उसके पुत्र की बातें सुन कर माली पशोपेश में पड़ गया। उसने अपनी पैनी सदसद्विवेकमयी बुद्धि से एक रास्ता निकाला। वह रास्ता प्राचीनतामोही धनिक पिता और नवीनता-मोही युवक पुत्र दोनों के बीच समन्वय का था। उसने बाग में जो कंटीले पेड़ थे, उनके बदले फलदार पेड़ लगा दिये, पुराने गले-सड़े पौधे हटा दिये और नये जो अनुपयोगी पौधे थे, उन्हें भी उखाड़ डाले। इस प्रकार बगीचे को और सुन्दर बना दिया। उस समय तो उसने दोनों को यही उत्तर दिया कि आपका आशय मैं समझ चुका हूं, ऐसा ही करूंगा। समय पाकर एक दिन पिता-पुत्र दोनों साथ-साथ आए। दोनों ने बगीचे को देखा। पुत्र प्रसन्न था कि बस, अब मेरे मतानुसार कंटीले झाड़ों से रहित बगीचा बना है और पिता यों प्रसन्न था कि बगीचा जैसा का तैसा रहा।

से टट्टी ढंक जाने से अब मालिन निश्चित थी। सोचा—चार पैसे के फूल गए तो कोई चिंता नहीं, गिरफ्तारी और जुर्माने से तो बच गई। अब जो भी यात्री आते वे वहाँ फूल चढ़े देख कर देवी समझ कर स्वयं भी फूल चढ़ाने लगे। थोड़ी ही देर में फूलों का काफी ढेर उस टट्टी पर देवी के नाम से जमा हो गया। किसी को उस विषय में दिमाग लड़ाने की फुर्सत नहीं थी। अन्त में, एक भैया वहीं पास ही रसोई बना रहा था। उसका हाथ किसी कारणवश उन फूलों पर पड़ गया, सहसा हाथ के टट्टी भी लिपट गई। उसे शंका हुई कि क्या बात है? लोग तो कहते हैं, "यहाँ देवी प्रगट हुई है, यह तो मामला कुछ और ही है!" उसने फूल हटा कर देखे तो नीचे टट्टी पड़ी थी। वह अब रहस्य समझ गया। मालिन तो फूल बिक जाने से अपने घर को चल दी थी।

इसी तरह लोग विवेक की आँखें मूंद कर भेड़चाल से चले जाते हैं, कोई उसके मूल आशय या परमार्थ को खोजने की चेष्टा नहीं करता।

नवीनता का मोह भी बुरा है

यद्यपि प्राचीन से नवीन में कुछ विशेषताएँ अधिक हैं। जैसे—(१) अच्छा होने का अवसर नवीन में अधिक है; (२) नवीन हमारी परिस्थिति के निकट होने से प्राचीन की अपेक्षा अधिक युगानुकूल होता है; (३) पुरानी वस्तु को विकृत होने का अधिक अवसर मिला है, जबकि नवीन को इतना नहीं मिला; (४) प्राचीनकर्ता के अनुभव और साधनसामग्री तो नवीन को मिलती ही है, परन्तु नया अनुभव भी नवीन को मिलता है।

इतना होने पर भी नवीनता का मोह अच्छा नहीं, वह सत्य को

३०

समस्त जैन एक हों

सज्जनो !

आज मेरे प्रवचन का विषय 'समस्त जैनों की एकता' है। मैं हमेशा से एकता का हिमायती रहा हूं। मुझे मनभेद पसंद नहीं है और न मतभेद को लेकर झगड़ा करना ही पसंद है। मेरी दृष्टि में भगवान् महावीर को मानने वाले जितने भी जैन हैं, सब एक हैं। फिर चाहे वे दिगम्बर हों, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक हों, श्वे० स्थानकवासी हों या श्वे० तेरापंथी। 'जैन' शब्द के पूर्व ये सब विशेषण जुदाई के लगे हुए हैं। नारंगी की फांकों की तरह अन्दर से भले ही ये जुदे-जुदे रहें, मगर जब समस्त जैनधर्म का सार्वजनिक अवसर हो, सर्व-मान्य कार्यक्रम हो, उसमें तो सबको एक हो जाना चाहिए। एक नारंगी की वे फांके भले ही अन्दर से अलग-अलग हों, लेकिन वे एक ही नारंगी की अंगभूत कहलाती हैं। नारंगी की एक फांक चखने पर अगर वह खट्टी होगी तो सभी फांकों सहित वह साबत नारंगी बदनाम होगी और एक फांक चखने पर अगर वह मीठी निकली तो सारी फांकों के साथ वह नारंगी सुनाम (प्रशंसित) होगी। इसी प्रकार एक फिरके के जैनसाधु या श्रावक नीतिविरुद्ध कोई गलत बात करेंगे तो

नवीन और प्राचीन में समन्वय करो

प्राचीन सभी बुरा है या नवीन सब ही खराब है, ऐसी एकान्त दृष्टि न रख कर प्राचीन और नवीन का समन्वय करना सीखना चाहिए। नहीं तो, प्राचीन के अन्धभक्त हों, चाहे नवीनता के उन्हें कालमोही ही कहा जाएगा। कालमोही हिताहित, कल्याण-अकल्याण, विकास-अविकास की दृष्टि से कौन-सा उपादेय है, कौन सा हेय, इसे नहीं सोचता। आज समाज में इस कालमोह के कारण बड़ा विवाद चलता रहता है। इससे समाज का वायुमण्डल अशान्त और जहरीला बन जाता है। उदय और अस्त तिथि की मान्यता के कलह, चौथ-पांचम की संवत्सरी के संघर्ष, महावीरजयंती का विवाद इस कालमोह ही का तो परिणाम है, जो सारे समाज को परेशान किये हुए है। वर्षों हो गए, कोई एक निर्णय नहीं, कोई समन्वय नहीं, आपसी समाधान नहीं हो पाता। मुनिसम्मेलन भी हो गया, लेकिन कोई भी कालमोह की पकड़ के कारण टस से मस न हुआ। इससे समाज में विघटन और फूट के अंकुर ही फूटते हैं। विवेक हो तो तुरंत इन सबका आपसी समाधान या समन्वय हो सकता है।

समन्वयबुद्धि न होने से कोई सभी प्राचीन को अच्छा बताता है, कोई सारे नवीन को। और एक दूसरे पर कीचड़ उछालने और उखाड़ने की कोशिश होती है। समाज की कमनसीबी से वीतरागी महापुरुषों के बताए धर्म में कालमोह के कारण राग-द्वेष बढ़ते हैं, झगड़े पनपते हैं। धर्म को अपनाकर पाप धोने के बदले और अधिक पाप बढ़ाया जाता है। क्या कहें, जिस क्षमायाचना को जैनधर्म में इतना महत्त्व दिया गया है, उसका एक अंग 'समन्वय' भी तो है। दोनों पक्षों को समन्वय में सहन करना और अपनी-अपनी जिद छोड़नी पड़ती है। एक दृष्टान्त द्वारा इसे समझिए—

हैं। साधुसाध्वियों से भी वे बिलकुल अज्ञात हैं। जैनधर्म का देश-विदेशों में प्रचार-प्रसार न होने में सभी फिरकों की एकता का न होना भी एक बड़ा कारण है।

एकता के बिना हमने क्या-क्या खोया है? इसका सही जवाब मुझसे पूछें तो मैं यही कहूंगा कि हमने भगवान् महावीर को खोया है, जैनधर्म को लज्जित किया है। आज दुनिया के अधिकांश देशों में लोग भ० बुद्ध का नाम जानते हैं, ईसामसीह के नाम से परिचित है, हजरत मुहम्मद का नाम जानते हैं; लेकिन जिन्होंने मानवजाति के सामने अहिंसा का उच्चतम प्रयोग स्वयं व संघ के माध्यम से करके रखा था, जिन्होंने स्त्री-पुरुष दोनों को समाज में ही नहीं, धर्मसाधना में भी और मोक्ष में भी समान अधिकार दिया है, शूद्र कहलाने वाले लोगों को उच्चसाधक तक बनने का अवसर-प्रदान किया है, उन श्रमण भगवान् महावीर से बहुत ही कम परिचित हैं। इसका कारण जैनों की आपसी छिन्न-भिन्नता ही तो है। जैनों की संख्या एक दिन करोड़ों तक थी, वह आज घट कर लाखों तक आ गई है, इसका भी कारण हमारी फूट ही है।

यही नहीं, हमारे इस आपसी अनैक्य के कारण ही हम जैनधर्म को लजा रहे हैं। जैनधर्म के अनेकान्त, सहिष्णुता व समन्वय के जिन सिद्धान्तों को समाज में प्रवर्तित करने के लिए दीर्घतपस्वी भ० महावीर को वर्षों तक कठोर तपस्या करनी पड़ी, सैकड़ों उपसर्ग और परिषह भी जन्मना जातिवाद और ब्राह्मणप्राधान्यवाद के खिलाफ सहने पड़े, उन्हीं सिद्धान्तों का गला जैनों के विविध फिरके एकान्तवाद को पकड़ कर, विचार और आचार की सहिष्णुता को तिलाञ्जलि देकर एवं समन्वय को लालबत्ती दिखा कर घोट देते हैं। इस प्रकार

माली की समन्वयबुद्धि ने न तो पुराने समूचे बाग को उखाड़ा और न समूचा नया बाग लगाया। पुराने में जो सुधार करना था, वह किया और बगीचे का पुनरुद्धार करके उसको नया रूप दे दिया।

समाज और राष्ट्र में अगर इस प्रकार प्राचीन और नवीन में मेल—समन्वय हो जाय तो सारे के सारे संघर्ष मिट सकते हैं। पर इस समन्वय के होने में अहंकार, ईर्ष्या, अविवेक और अज्ञान ही बाधक बन रहे हैं। ये जिस दिन दूर हो जाएँगे, उस दिन परस्पर समन्वय और समझौता होते देर न लगेगी।

स्थान—गौड़ीजी का उपाश्रय
पायधुनी, बम्बई

वि० संवत् २००६
आसोज वदी ५, सोमवार

भी भूल बैठते हैं। मनुष्य के हृदय से मानवता निकालने का काम भी बहुधा हमारी साम्प्रदायिकता और अनेकता करा देती है।

भ० महावीर किसके हैं ? उनका सच्चा अनुयायी कौन ?

यों तो सभी फिरके के जैन लोग भगवान् महावीर को अपना मानते हैं; परन्तु अलग-अलग रूप में। दिगम्बर सम्प्रदाय का कहना है, हमारे भ० महावीर दूसरे थे, उनके दिशा ही वस्त्र थे। जबकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय का कहना है उन्होंने एक देवदूष्य वस्त्र धारण किया था, बाद में उसे एकदम छोड़ दिया। इसी प्रकार स्थानकवासी सम्प्रदाय और मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के महावीर भिन्न-भिन्न रूप के माने जाते हैं। कोई भ० महावीर को आजन्म ब्रह्मचारी मानते हैं, कोई विवाहित होकर दीक्षा लेने की बात पर जोर देते हैं। कोई कहता है—भ० महावीर ने तो नग्नत्व का ही प्रतिपादन साधुओं के लिए किया था, जबकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय का कहना है—भ० महावीर ने सचेलक और अचेलक दोनों साधनाएं बताई थीं। मतलब यह है कि भ० महावीर के बारे में जब अलग-अलग मतभेद चल रहे हैं तब मुझे कहना चाहिए कि हम विभिन्न फिरके के लोग जैन होते हुए भी और भ० महावीर को अपना आराध्यदेव तीर्थंकर मानते हुए भी यथोचितरूप में उन्हें समझ नहीं सके। क्योंकि भगवान् महावीर तो एक ही हुए हैं और यदि उन्हें सभी फिरके के लोग भलीभांति समझ सके हों तो सभी के महावीर एक ही होने चाहिए। जब तक हम साम्प्रदायिकता का चश्मा लगा कर भ० महावीर को देखते रहेंगे, तब तक वे हमें सही रूप में समझ में नहीं आएँगे।

मैं कहता हूं कि भ० महावीर अमुक सम्प्रदाय या फिरके के नहीं हैं। भगवान् महावीर तो उसके हैं, जो उनके अनेकान्त, अहिंसा, अपरिग्रह, क्षमा आदि सिद्धान्तों को अच्छी तरह समझता है और

सभी फिरकों सहित समग्र जैनधर्म बदनाम होगा। श्रीमद् रायचन्दजी ने महात्मा गाँधीजी का जैनदृष्टि से समाधान करके उनकी जैनधर्म के प्रति रुचि बढ़ाई और जैनधर्म को सुनाम किया। श्रीमद्जी भले ही श्वे० मूर्तिपूजक परम्परा को मानने वाले थे; लेकिन उनके इस कार्य से सारे फिरकों सहित जैनधर्म का नाम रोशन हुआ। इसी प्रकार जैनधर्म का कोई फिरका अगर साम्प्रदायिकतावश दूसरे फिरके के साथ झगड़ा करता है, द्वेष-वृद्धि करता है तो उस एक फिरके के उस बुरे काम के कारण सारे जैनसमाज की बदनामी होगी।

एकता न होने से हमारा नुकसान

जैनों में कई वर्षों से एकता के बिना हर बात को लेकर आपसी विवाद, संघर्ष और झगड़े चलते हैं। कहीं चौथ-पांचम की संवत्सरी का विवाद चलता है, कहीं महावीर जयंती की तिथि पर झगड़े चलते हैं। कहीं उदयतिथि और अस्ततिथि पर संघर्ष चल रहा है, कहीं तीर्थों का झगड़ा है। इन्हीं छोटे-बड़े विवादों, संघर्षों और झगड़ों में हमारी जैनसमाज की बहुत-सी शक्ति का अपव्यय हो जाता है। पैसे की बर्बादी का तो अंदाजा ही नहीं लगाया जा सकता। कई जगह मुकदमेबाजी में हजारों ही नहीं, लाखों रुपये बर्बाद हो जाते हैं। समय का कितना नुकसान होता है, उसका अनुमान तो आप स्वयमेव कर सकते हैं। हमारी पारस्परिक असहिष्णुता के कारण ही तो 'महावीर जयंती' की छुट्टी केन्द्रीय सरकार द्वारा मंजूर न कराई जा सकी। हमारी आपसी फूट के कारण ही हम जैनधर्म के सिद्धान्तों को विदेशों में फैलाना तो दूर रहा, हिन्दुस्तान के भी कई प्रान्तों में नहीं फैला सके। कई प्रान्त भारतवर्ष में ऐसे भी हैं, जहाँ जैनधर्म का नाम तक लोग नहीं जानते। जैनधर्म के जीवन-निर्माणकारी सुन्दर सिद्धान्तों और व्रतों से भी वे लोग अपरिचित

विचारसहिष्णुता, आचार-सहिष्णुता और समन्वयबुद्धि रहेगी तो हम सब अनेकरूप हो कर भी एक रहेंगे। यानी हमारी अनेकरूपता से पृथकता पैदा न हो कर एकता पैदा होगी। इस प्रकार के व्यवहार से ही हम सही माने में अनेकान्तवादी जैन कहला सकेंगे।

एकता में कितनी शक्ति है, इससे तो आप भलीभांति परिचित हैं। रेलगाड़ी में डिब्बे अलग-अलग होते हुए भी एंजिन के साथ जब वे परस्पर एक साथ जुड़ जाते हैं तो हजारों टन बोझ खींच ले जाते हैं, हजारों यात्रियों को एक स्थान से दूसरे स्थान पहुंचा देते हैं। अगर वे डिब्बे एंजिन के साथ नहीं जुड़ते और एक लाइन पर नहीं मिलते हैं तो क्या वे पृथक्-पृथक् रह कर कुछ भी बोझ खींच कर ले जा सकते हैं या यात्रियों को निर्दिष्ट स्थान पर पहुंचा सकते हैं ? कदापि नहीं। इसलिए मैं कहता हूं कि भगवान् महावीररूपी या जैनधर्म-रूपी एंजिन के साथ सारे सम्प्रदाय या फिरकेरूपी डिब्बे विचार-सहिष्णुता और आचारसहिष्णुता की दोनों समान पटरियों पर एक साथ जुड़ जाँय, मिल जांय तो वे गच्छ-सम्प्रदायरूपी डिब्बे मोक्ष के यात्रियों को सकुशल अपने निर्दिष्ट स्थानों पर पहुंचा सकेंगे; हजारों धर्मधुरन्धरों के जीवन की कठिनाइयों का बोझ खींच कर उन्हें मानसिक दुःख से मुक्त कर सकेंगे। अन्यथा, अलग-अलग रहे हुए और एंजिन के साथ विचारआचारसहिष्णुता की लाइनों पर नहीं जुड़े हुए वे सम्प्रदायरूपी डिब्बे न तो मोक्षयात्रियों को निर्दिष्ट मंजिल तक पहुंचा सकेंगे और न उन्हें मानसिक दुःख के बोझ से हलका कर सकेंगे। इसके विपरीत वे अलग-अलग पड़े हुए और विचार-आचार-समन्वय की पटरी से नीचे उतरे हुए डिब्बे या तो खुद आगे चलने से ठप्प हो कर मोक्षयात्रियों को अधबीच में ही संसार के बिहड़ वन में रोक देंगे या वे कहीं रागद्वेष, फूट, कलह

हम अपनी छिन्नभिन्नता के कारण जैनधर्म को बदनाम करने से नहीं चूकते।

हमारी आपसी फूट और दूसरे फिरके की तरक्की न सह सकने के कारण जहाँ भी देश-विदेश में सर्वधर्मपरिषद् होती है, वहाँ जैनों के प्रतिनिधि प्रायः नहीं भेजे जाते। इसका कारण है कि किसको भेजा जाय? अगर श्वेताम्बर मू० पू० फिरके की ओर से प्रतिनिधि भेजा जाय तो दिगम्बर जैन तथा स्थानकवासी व तेरापंथी उससे सहमत न होंगे। अगर दिगम्बर जैन को प्रतिनिधि के तौर पर भेजा जाय तो वह सर्वमान्य जैनसिद्धान्तों या आचारविचारों का प्रतिपादन गौण करके दिगम्बरसम्प्रदाय के भिन्नता-प्रदर्शक क्रियाकाण्डों का प्रतिपादन ही प्रायः अधिक करेगा। स्थानकवासी प्रतिनिधि को भेजा जाय तो दिगम्बर व श्वेताम्बर के अन्य फिरके उसकी प्रचारधारा को प्रायः रोकने का प्रयत्न करेंगे। श्वे० मूर्तिपूजक के प्रतिनिधि को भेजा जाय तो उसे दूसरे फिरके के लोग अमान्य कर देंगे। अनैक्य के कारण एक दूसरे के सम्प्रदाय में आपसी व्यवहार भी रूखा और सहयोग न देने का हो जाता है। सभी अपने फिरके के मध्यम-वर्गीय निर्धन, असहाय या दीन, साधनहीन लोगों को ही प्रायः सहायता देने की सोचते हैं। एक दूसरे की धर्मशालाओं में एक दूसरे फिरके के आदमियों को ठहरने नहीं देते। यहाँ तक कि पहले तो पूछा जाता है—श्वेताम्बर हो या दिगम्बर? अगर वह यात्री अपने आपको श्वेताम्बर बताता है, उसे चट से अपमानसहित कह दिया जाता है—'यहाँ श्वेताम्बर के लिए जगह नहीं है।' इसकी प्रतिक्रिया दूसरी ओर से भी होती है। यहाँ तक कि साधुसाध्वियों तक को एक दूसरे के धर्मस्थानों में ठहराने से इन्कार कर दिया जाता है। इतनी अनुदारता का मूल कारण हमारी अनेकता ही तो है। हमारी अनेकता के कारण कभी-कभी तो विविध फिरकों के जैन लोग मानवता को

मनुष्य किसी न किसी घर में रहता है। वह घर की परम्परा के अनुसार विभिन्न प्रवृत्तियाँ करता है। परन्तु वह अपने घर के सिवाय दूसरे घर को या अन्य घरों की परम्पराओं को बुरा नहीं बताता। बल्कि इस अनेकरूपता को सहन करके वह विभिन्न भाषा, पोशाक, रहनसहन और प्रवृत्तियों वाले दुनियाभर के लोगों से मिलता-जुलता है, भ्रातृभाव रखता है, लेनदेन का व्यवहार भी करता है। इसी प्रकार हम किसी भी एक सम्प्रदायरूपी घर में रहें, अपनी सम्प्रदाय की परम्परा के अनुसार पोशाक या प्रवृत्तियाँ करें, लेकिन दूसरे सम्प्रदायरूपी घर को या घरवालों को अथवा उन सम्प्रदायों की परम्परा के अनुसार वेष या प्रवृत्तियों में विभिन्नता देख कर उन्हें बुरा न कहें, उनसे द्वेष या कलह न करें, किन्तु विचार-आचारसहिष्णु बन कर उनसे मेलजोल रखें, भ्रातृभाव बढ़ाएँ, यथोचित लेनदेन करें, परस्पर समन्वय करें वात्सल्यवृद्धि करें तो अनेकरूपता के बावजूद भी एकता स्थापित हो सकती है।

एकता की बुनियाद सहिष्णुता और समन्वय है, जो अनेकान्त सिद्धान्त की पोषक है। एक ही सम्प्रदाय में भी तो विभिन्न क्रियाओं और प्रवृत्तियों वाले साधुसाध्वी रहते हैं। कोई तपस्वी होता है तो कोई विद्याभ्यासी, कोई सेवाभावी होता है तो कोई व्याख्यानदाता, कोई समाजनिर्माण के कार्यों में रुचि रखता है तो कोई विविध धार्मिक क्रियाएँ करवाने में। उन सबकी विभिन्न प्रवृत्तियों को देख कर भी हम विरोध नहीं करते, बल्कि सद्भावनापूर्वक उनकी उन विभिन्न प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देते हैं, सहिष्णु बन कर समन्वय करते हैं, मेलजोल रखते हैं। तब फिर विभिन्न सम्प्रदायों की प्रवृत्ति-भिन्नता, वेषभिन्नता या आचारभिन्नता को देख कर हमें घबराना क्यों चाहिए? और क्यों विरोध या द्वेष करना चाहिए? बल्कि सद्भावनापूर्वक अच्छी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देना चाहिए, विभिन्न

जीवन में उतारता है। जो अपने आपको भ० महावीर का
कहता हो, लेकिन उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों और विभिन्न
के लोगों के लिए बताए गए धर्माचरण के उपदेश को जीवन में नहीं
उतारता हो, बल्कि अपने ही हाथों उन सिद्धान्तों का गला घोंटता
हो तो वह भ० महावीर का वास्तविक अनुयायी नहीं है। परन्तु
जो खुद को भ० महावीर का अनुयायी न कहता हो, लेकिन उनके
द्वारा प्ररूपित सिद्धान्तों व उपदेशों के अनुसार चलता हो तो वह
भ० महावीर का सच्चा अनुयायी है।

परन्तु मुझे कहना चाहिए कि आज जैनों में सम्प्रदायान्धता के
कारण परस्पर फिरकेबाजी, रागद्वेष, पर्चेबाजी, झगड़े आदि जो
प्रवर्तमान हैं क्या उन्हें देख कर कहा जा सकता है कि उन्होंने
महावीर को ठीक रूप में समझा है ?

अपनी आपसी अनैकता और साम्प्रदायिकता को छोड़ कर
तटस्थ और समन्वयबुद्धि से ही हम भ० महावीर को सही माने
में समझ सकते हैं और उनके बताए हुए अनेकान्तवाद को जीवन में
उतार कर ही या विचार-आचारसहिष्णुता धारण करके ही भ०
महावीर की सहीमाने में पूजा या आज्ञाराधना कर सकते हैं।

जैन-एकता का बुनियादी अर्थ

वास्तव में देखा जाय तो जैन का अर्थ ही होता है—राग-द्वेष-
विजेताओं का अनुयायी। जो जैन हो कर आपसी संघर्ष, क्लेश
द्वारा रागद्वेष बढ़ाने का प्रयत्न करता है तो वह नाम का जैन है।
सच्चा जैन तो किसी भी प्राणी को अपने व्यवहार से दुःखी नहीं
करता। इसीलिए तो मैं बारबार इस बात पर जोर देता रहता हूं
कि भले ही हमारे सम्प्रदाय या गच्छ अलग-अलग हों, परन्तु हममें

में केशी और गौतम का संवाद इस बात का सबूत है। केशीश्रमण भ० पार्श्वनाथ के संघ के थे और गौतमस्वामी थे भ० महावीर के संघ के। दोनों ने एक जगह बैठ कर परस्पर प्रेमभाव, विनयभाव और आदरभावपूर्वक एक दूसरे के साथ शिष्टतापूर्वक विचारविनिमय किया और अनेकरूपता में एकता की स्थापना की। यानी वेष, प्रवृत्ति, क्रिया, अलग-अलग रखते हुए भी वे विचार-आचारसहिष्णु बने। यहाँ तक कि केशीश्रमण ने पार्श्वनाथ परम्परा के चातुर्याम (चार महाव्रत) धर्म को भ० महावीर की परम्परा के पंचमहाव्रतधर्म में समाविष्ट व समन्वित करके पंचमहाव्रतधर्म का स्वीकार किया। यही नहीं, विभिन्न सम्प्रदाय के ही नहीं, विभिन्न शासन (संघ) के होते हुए भी उन्होंने एक दूसरे के लिए शय्यासंस्तारक का आदान-प्रदान किया, वन्दनाव्यवहार किया। एक दूसरे को भलाबुरा कह कर आक्षेप या निन्दा नहीं की। क्या इससे हमें जैन-एकता की ज्वलन्त प्रेरणा नहीं मिलती?

मैं यह नहीं कहता कि जैनधर्म के सभी सम्प्रदायों का विलीनीकरण हो जाय। ऐसा होना दुःशक्य है। किन्तु परस्पर समन्वयीकरण तो होना ही चाहिए। कम से कम विचार-आचार की सहिष्णुता रख कर एकीकरण तो अवश्य होना चाहिए। यही वर्तमानयुग की मांग है। जैनएकता के पीछे मेरा यही दृष्टिकोण है।

जैनएकता का अर्थ यह नहीं है कि हम जैनधर्म के सिवाय दूसरे धर्मों व धर्मों के अनुयायियों से द्वेष, संघर्ष, पक्षपात, कलह या क्लेश करें। किन्तु जैनधर्म तो सारे संसार के प्राणियों के साथ मैत्रीभाव रखना सिखाता है तब दूसरे धर्म वाले मनुष्यों और धर्मों के साथ वैरविरोध, द्वेष, कलह या पक्षपात करने की शिक्षा कैसे दे सकता है? बल्कि जैनधर्म ने तो अनेकान्तवाद के द्वारा सभी धर्मों और दर्शनों का समन्वय करने की बात कही है। इसलिए दूसरे धर्म-

आदि के खड्डों में स्वयं गिर कर यात्रियों को भी गिरायेंगे, या संसाराटवी में भटकाएँगे।

यात्री को किसी न किसी डिब्बे में बैठना ही पड़ता है। अलग-अलग डिब्बों में बैठे हुए यात्रियों की वेशभूषा, खानपान तथा अन्य कई क्रियाओं में अन्तर होता है। यही क्यों ? एक ही डिब्बे में बैठे हुए यात्रियों के पोशाक तथा खाने-पीने-सोने आदि की क्रियाओं में पृथक्ता होती है। फिर भी विभिन्न डिब्बों वाले यात्री एक दूसरे की पोशाकों तथा खानपान आदि क्रियाओं में अनेकरूपता देख कर भी परस्पर निन्दा, टीकाटिप्पणी, आक्षेप अथवा परस्पर विद्वेषपूर्वक संघर्ष, कलह आदि नहीं करते, अपितु सहिष्णु बन कर परस्पर बातचीत और मेलजोल के द्वारा अनेकरूपता में भी एकता बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। क्योंकि उन सबकी यात्रा का लक्ष्य एक होता है, उन सबकी यात्रा की वाहक गाड़ी एक ही होती है, भले ही वे अलग-अलग डिब्बों में अलग-अलग स्थान पर बैठे हुए हों।

इसी प्रकार मोक्षयात्री भी चाहे किसी भी सम्प्रदायरूपी डिब्बे में बैठे हों। किसी न किसी डिब्बे में तो बैठना ही पड़ेगा। और उनके साम्प्रदायिक आचार-विचारों में चाहे भेद हो, क्रियाओं और पोशाकों में भी चाहे अनेकरूपता हो, परन्तु उन सबकी यात्रा का लक्ष्य एक है। सबकी यात्रा का वाहक जैनधर्मरूपी शकट (गाड़ी) एक है और उस गाड़ी का चालक (भ० महावीर) भी सब का एक है, इसलिए पोशाकों, क्रियाओं आदि में अनेकरूपता के बावजूद भी वे विचार-आचार-सहिष्णु बने रहें, एक दूसरे की निन्दा, टीका टिप्पणी, आलोचना, आक्षेप, विद्वेष, संघर्ष, कलह या मनमुटाव न करें। बल्कि विभिन्न सम्प्रदायों में अनेकान्त द्वारा समन्वय साध कर, मेलजोल बढ़ा कर एकता बनाए रखें। यही जैन-एकता का बुनियादी अर्थ है।

समाज के उत्कर्ष के लिए हरसंभव योगदान दो। तभी जैनधर्म की, भ० महावीर की और जैनशासन की स्थायी विजय हो सकती है।

जैन-एकता से लाभ

ऐसी जैन-एकता हो जाने पर सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि कषायें नहीं भड़केंगी, अत्यन्त कम हो जायेंगी, जिससे आत्मशान्ति मिलेगी; आत्मसाधना भलीभांति हो सकेगी, आत्मशक्ति बढ़ेगी और राग-द्वेष कम होने से हम वीतरागता के निकट पहुंचेंगे।

पहले जो रागद्वेष होने से कर्मबन्ध होते थे, अब जैन-ऐक्य हो जाने पर सम्प्रदायों के बीच समन्वय और सहिष्णुता स्थापित हो जाने के कारण रागद्वेष न होंगे, कर्मबन्धन न होगा और हजारों रुपये मुकद्दमेबाजी में बर्बाद न होंगे।

एकता होने पर समस्त जैनों की शक्ति समाज के उत्कर्ष में लगेगी; भगवान् महावीर के अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह आदि लोकल्याणकारी सिद्धान्तों का जनजीवन में प्रचार-प्रसार करने में लगेगी।

गाँधीजी ने भगवान् महावीर के अहिंसा के सिद्धान्त को, जो सामाजिक, राजनैतिक आदि क्षेत्रों में अव्यवहार्य माना जाता था, उसे प्रत्यक्ष व्यवहार में ला कर बता दिया। जैनऐक्य हो जाने पर सभी जैन एकमत हो कर अहिंसा के सक्रियरूप से मानवजीवन के विविध-क्षेत्रों में सामूहिक तौर पर प्रयोग करने में जुट पड़ेंगे, या उक्त प्रयोगों में तन-मन-धन से सहयोग देंगे।

प्रवृत्तियों में समन्वय साधना चाहिए और विचार-आचार-सहिष्णु बनना चाहिए।

भ० महावीर के समय में भी तो एक ही संघ में अलग-अलग रुचियों, वेषों, प्रवृत्तियों और क्रियाओं वाले साधुसाध्वी मौजूद थे। वे सब परस्पर सहिष्णु बन कर प्रेम से रहते थे। अपनी-अपनी साधना करते थे। उस समय सचेलक (सवस्त्र) भी थे और अचेलक (निर्वस्त्र) भी। जिनकल्पी भी थे और स्थविरकल्पी भी। क्रियावादी भी थे, अक्रियावादी भी। तपस्या करने वाले भी थे, अंगसूत्रों का अध्ययन करने वाले भी। परन्तु अनेकरूप होते हुए भी वे सब भगवान् महावीर की छत्रछाया में एक हो कर रहते थे। विचार-आचारसहिष्णु बन कर अपनी साधना करते थे, वे दूसरों की साधना अपनी साधना से भिन्न देख कर भी उनकी साधना, प्रवृत्ति या क्रियाओं की निन्दा या टीकाटिप्पणी नहीं करते थे। एक दूसरे के प्रति विनय, आदर और औदार्य का व्यवहार करते थे। इसी तरह आज भी भ० महावीर को अपना आराध्यदेव मान कर जैनधर्म के नाम से चलने वाले जितने भी सम्प्रदाय या फिरके हैं, वे सब क्रिया, प्रवृत्ति, वेष आदि में अनेकरूपता के होते हुए भी एकमात्र भगवान् महावीर की छत्रछाया में अथवा उनके झंडे के नीचे परस्पर सहिष्णु बन कर, एक दूसरे के प्रति विनय, आदर और औदार्य का व्यवहार रख कर एक हो कर चलें तो वे भी अनेकरूपता में एकता दिखा सकते हैं। यह बात कोई कठिन नहीं है।

मैं तो भगवान् महावीर के शासन को मानने वाले समस्त जैनों से एक होने की बात कहता हूं। भ० महावीर के युग में तो दो विभिन्न शासन वाले साधुओं की मण्डली परस्पर एक जगह मिली, प्रेम से विचारविनिमय किया और सहिष्णुभाव बढ़ाया। उत्तराध्ययनसूत्र

सकती है। और यह प्रगति जैन-ऐक्य होने पर ही समुचित ढंग से हो सकती है।

शिक्षा के क्षेत्र में जैनसमाज काफी पिछड़ा हुआ है। कई जगह जैनों के विद्यालय-महाविद्यालय जरूर खुले हुए हैं, परन्तु अनैकता के कारण उन पर भी साम्प्रदायिक नाम के लेवल चिपके हुए हैं। एक सम्प्रदाय के विद्यार्थी को दूसरे सम्प्रदाय के नाम के विद्यालय-महाविद्यालय में प्राय: प्रविष्ट नहीं किया जाता। अगर प्रविष्ट भी कर लिया जाता है तो उसे प्राथमिकता या साधनसामग्री नहीं दी जाती, विकास का अवसर नहीं दिया जाता। इसके कारण शिक्षा के क्षेत्र लगी हुई जैनों की शक्ति तितरवितर हो गई है। जब जैन-एकता हो जायगी तो किसी एक सम्प्रदाय की ओर से खुले हुए स्कूल या कॉलेज में सभी जैनसम्प्रदायों के विद्यार्थी प्रवेश पा सकेंगे; उचित सुविधाएँ, साधन और विकास के अवसर प्राप्त कर सकेंगे। सभी शिक्षणसंस्थाओं में ज्ञानविज्ञान के अद्यतन साधन, चारित्रवान निष्णात अध्यापक-प्राध्यापक भी उपलब्ध किये जा सकेंगे। एक नगर में जो भी जैन विद्यालय होगा, उसमें केवल उसी सम्प्रदाय का नहीं, वरन् उस नगर के निवासी सभी सम्प्रदायों के जैनों का सहयोग रहेगा। और भी विद्यालय जगह-जगह बढ़ाए जा सकेंगे और सभी सम्प्रदाय के जैन उसमें अर्थसहयोग देंगे। इस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में जैनों का पिछड़ापन जैन-ऐक्य होने पर दूर हो सकेगा।

हमने गुरुदेव की कृपा से राजस्थान, पंजाब और बंबई आदि में इस प्रकार के उच्चविद्यालयों की स्थापना करवाई है, जिसका लाभ सभी सम्प्रदायों के जैन विद्यार्थी उठा रहे हैं।

इसी प्रकार सम्प्रदाय के आपसी मनोमालिन्य और फूट के कारण

वालों के साथ भी जैनों का परस्पर मैत्रीभाव व सहिष्णुभाव रहे, इसमें किसी संदेह को अवकाश नहीं है। जो जैनधर्म ३६३ पाखंडमतों में समन्वय स्थापित कर सकता है; क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी आदि विभिन्न विचारधाराओं के प्रति सहिष्णु बन कर समन्वय कर सकता है, वह जैनधर्म क्या आज अपने अन्दर के विभिन्न सम्प्रदायों-उपसम्प्रदायों, फिरकों, गच्छों या पंथों में परस्पर सहिष्णु बन कर समन्वय स्थापित नहीं कर सकता ? ऐक्य की झांकी नहीं दिखा सकता ? मुझे तो आशा है कि एक दिन समस्त जैन भ० महावीर के झंडे के नीचे एकत्र हो कर इस प्रकार के ऐक्य की झांकी अवश्य दिखाएँगे। तभी हम 'जैनं जयतु शासनम्' कहने के अधिकारी होंगे। अगर हमने बाहर से अनैक्य का वातावरण बनाये रखा और परस्पर विचार-आचार में असहिष्णु बन कर परस्पर द्वेष, कलह, फूट और विरोध के बीज बोए, तो 'जैनशासन की जय' जैनधर्म की जय या 'भगवान् महावीर की जय' के नारों का क्या अर्थ होगा ? पराजय के काम करके 'जय' बोलने से क्या जय हो जायगी ? जय तो तभी होगी जब जय के काम करेंगे।

इसलिए भाइयो ! सोचो, समझो, चेतो और परस्पर ऐक्य साध कर ऐसे सुन्दर काम करो, जिससे जैनधर्म की जय हो, जैनशासन और जैनशासनाधीश भ० महावीर की विजय सच्चे माने में हो। अपने बिछुड़े हुए भाइयों को गले लगाओ। पिछड़े हुए भाइयों को स्वावलम्बी बनने में मदद दो। जैनधर्म के सर्वसमन्वयकारी जगत्कल्याणकारी सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार करने में सहायक बनो। परस्पर कलह, कदाग्रह, द्वेष और वैरविरोध की बातें बन्द कर दो, विवादास्पद प्रश्नों को उठा कर समाज में फूट मत डालो, परस्पर सहिष्णुभाव रख कर विचारों और आचारों में समन्वय करने का प्रयत्न करो,

लोगों को शराब, मांस आदि दुर्व्यसन छुड़वा कर उन्हें संस्कारी बनाया जायगा। उसमें सभी जैनसाधुसाध्वियों और जैन ग्रहस्थ भाई-बहनों का पूरा योगदान रहेगा।

जैन-एकता हो जाने पर हमारे पास सभी फिरके के मुनियों, साधु-साध्वियों, त्यागियों आदि का जो विपुल खजाना है, उनकी आध्यात्मिक शक्ति जो आज साम्प्रदायिकता की चहारदीवारी में बन्द हो कर कुण्ठित हो गई है; वह व्यापक बनेगी। सारा जैनसमाज ही नहीं, सारा मानवसमाज उनसे लाभ उठाएगा। इस प्रकार त्यागीवर्ग के आध्यात्मिक तेज का प्रभाव सर्वव्यापी हो जायगा।

जैन-एकता से एक लाभ यह भी होगा कि सभी फिरके के जैन एक दूसरे के उत्सवों, पर्वों, त्योहारों, विवाह, जन्म, मृत्यु आदि विशिष्ट अवसरों या विशिष्ट आयोजनों में भाग ले सकेंगे। महावीर-जयंती आदि त्योहार सभी फिरके के जैन लोग मिल कर मनायेंगे। सब मिल कर महावीरजयंती का दिन निश्चित कर लेंगे और उसकी छुट्टी केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों से स्वीकृत करा सकेंगे। इसी प्रकार और पर्वों के दिन भी एकमत हो कर मनायेंगे। अहिंसा, सत्य, न्याय-नीति आदि के प्रचार के जो-जो कार्यक्रम सर्वजैन-सम्प्रदाय-मान्य होंगे, उनमें समस्त जैनों का तन-मन-धन से पूरा सहयोग रहेगा।

इस प्रकार जैन-एकता से जैनशासन की शोभा में चार चांद लग जायेंगे।

जैन-एकता की कुछ व्यावहारिक बातें

एकता के बारे में काफी व्यावहारिक बातें तो मैं पहले बता चुका हूं। फिर भी एक-दो व्यावहारिक सुझाव और देने हैं।

साथ ही आज जो जैनसमाज वैज्ञानिक, राजनैतिक, आर्थिक और शैक्षणिक आदि क्षेत्रों में विकास की दृष्टि से पिछड़ा हुआ है, वह जैन-ऐक्य हो जाने पर वैसा नहीं रह सकेगा। मुझे तो यह आशा है कि जैन-ऐक्य हो जाने पर बहुत ही तेजी से जैनधर्मी भाई-बहन हर क्षेत्र में प्रगति कर सकेंगे। जैनसमाज के पास बुद्धि है, विद्या भी है, सम्पत्ति भी है और कर्मठता भी है, क्षत्रियोचित वीरता भी है; त्याग और तपस्या भी है। जैनसमाज में एक से एक बढ़ कर त्यागी, तपस्वी, संयमी साधुसाध्वियाँ भी हैं। लेकिन समाज की अधिकांश शक्ति अनेकता के कारण लड़ाई-झगड़ों, संघर्षों, राग-द्वेषों और कषायों की भट्टी में भस्म होजाया करती थी, मगर जैन-ऐक्य होने पर वह शक्ति मानवजीवन के सभी क्षेत्रों में तरक्की करने में लगेगी। प्राचीन-काल में राजा-महाराजाओं के यहाँ जैन दीवान, मंत्री और वीरयोद्धा होते थे और कुशलतापूर्वक शासन-संचालन करते थे। स्वराज्य आन्दोलन के युग में भी अनेक जैन भाईबहनों ने म० गाँधीजी के मार्गदर्शन में राष्ट्रीय स्वतंत्रता में भाग लिया, सत्याग्रह किया, नाना कष्ट सहे। पर बीच के काल में शक्ति की वह ज्योति साम्प्र-दायिकता व अनेकता की आंधी के कारण बुझने लगी थी। अब यदि जैन-ऐक्य का सूत्रपात हो जाता है तो वह शक्ति राजनैतिकक्षेत्र में भी सुन्दर ढंग से लग सकती है। स्वतंत्रता के बाद कई जैन मंत्रियों ने देश के लोकतंत्रीय शासन का भार कुशलतापूर्वक संभाला है। किन्तु एकता के सूत्र में सभी जैनों के बंध जाने पर तो कई कुशल राजनीतिज्ञ जैन राष्ट्रीय महासभा की ओर से मंत्रीपद पर नियुक्त हो सकते हैं। इससे जैनों का राजनीतिक क्षेत्र में भी प्रभाव पड़ेगा।

भौतिकविज्ञान के क्षेत्र में भी जैनछात्रों को यदि वैसी सुविधाएँ और अवसर दिये जाँय तो जैनसमाज की भावी पीढ़ी काफी आगे बढ़

जाते हैं। साधुओं को वे इसमें हत्था बना लेते हैं। इसलिए मेरा यही कहना है कि धैर्य और साहसपूर्वक मर्द बन कर इस काम में जुट पड़ो। कोरी बातों से कुछ नहीं बनेगा। कार्य की ही विजय होगी। उसी की सुवास सर्वत्र फैलेगी। चाहे आप अपने संघ के अन्तर्गत किसी विशिष्ट कार्य के लिए मंडल बना लो, परन्तु कुछ काम करके दिखाओ। दूसरों के अवगुणों की ओर न देख कर गुणों की ओर देखो और उनसे मिलजुलकर, प्रेम बढ़ाकर एकता की विजय-पताका फहराओ। मैं अपने अनुभव की बात कहता हूं। बम्बई में मैंने दो जगह चौमासे किये—घाटकोपर और मध्यबम्बई में। जिस समय आचार्य श्रीप्रतापसूरिजी म० के शिष्य विजयधर्मसूरिजी को आचार्य-पदवी दी जा रही थी; उस समय उन्होंने मेरे पास एक संदेश भेजा कि "हमें एक काम समस्त जैनों के लाभ के लिए करना है। वह यह है कि बम्बई में जो जैनयात्री किसी भी कार्य के लिए आते हैं, उनके ठहरने के लिए मकान और खाने के लिए शुद्ध भोजन का प्रबन्ध नहीं है। अतः आप इसके लिए समाज को प्रेरणा दे कर इस कार्य में हमें सहयोग दें।"

मैंने उनकी बात पर ध्यान दे कर यहाँ के संघ को प्रेरणा दी। काफी बहस चली। आखिर वह कार्य शासनदेव की कृपा से सिद्ध हुआ। अगर ऐसे सुन्दर सुकृत्यों में जैनों के सभी संघ एकजुट हो कर भाग लें तो कितना पुण्योपार्जन कर सकते हैं!

मेरी अन्तिम शुभभावना

अतः मेरी अन्तिम शुभभावना जैनसमाज की एकता देखने की है। वह मेरे जीते जी पूरी हो या न हो; परन्तु मेरी आत्मा यही चाहती है कि साम्प्रदायिकता दूर हो कर जैनसमाजमात्र श्रीमहावीर-

सामाजिकक्षेत्र में जैन लोग प्रगति नहीं कर पाए। ओसवाल, पोरवाल, अग्रवाल, खंडेलवाल आदि वाल्स यानी दीवारें खड़ी कर दीं। उनमें भी वीसा, दस्सा, पांचा, ढैया, ऊँचा, नीचा आदि अनेक टुकड़े कर डाले। समाज के ये टुकड़े करके हमने मानवता के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। विवाह-शादियों के लिए इन उपजातियों और धड़ों ने ऐसी किलेबंदी कर दी कि योग्य लड़की या लड़का योग्य के साथ विवाहित होने से वंचित रहने लगे। खर्चीली प्रथाओं ने भी समाज के इन विभिन्न टुकड़ों की नाक में दम कर दिया। जब व्यक्ति इन कुप्रथाओं से ऊपर उठ कर अपना ही उत्कर्ष नहीं कर सकता, तब वह समाज के उत्कर्ष की बात कैसे सोचेगा? समाज के उत्कर्ष की ओर व्यक्ति तभी ध्यान दे सकता है, जब समाज में फिरकेबाजी, धड़ेबाजी और संकीर्णता न हो। जब सारा जैन-समाज एकता के सूत्र में बंध जायगा तो फिर ये भेद के बनावटी किले ढह जायेंगे, सभी सम्प्रदायों के ग्रहस्थों में परस्पर रोटी-बेटी-व्यवहार खुल जायगा, रीतिरिवाजों में सुधार किया जायगा, खर्चीली आवश्यक प्रथाएँ बन्द की जाएँगी, तब समग्र जैनसमाज के अग्रगण्य व्यक्ति मिल कर समाज के उत्कर्ष की बात सोचेंगे। जब समाज में परस्पर संकीर्णता और दकियानुसीपन खत्म हो जायगा तो समग्र जैन समाज के उत्थान के लिए सभी अपना योगदान देने में नहीं हिचकिचाएँगे। समाज में जो मध्यमवर्गीय व्यक्ति तंग हालत में हैं, गरीब हैं, असहाय हैं, विधवाएँ हैं, अनाथ हैं; उन्हें स्वावलम्बी बनाने के लिए यथायोग्य धंधे, रोजगार या नौकरी दी जाएगी अथवा उन्हें स्वाभिमानपूर्वक रोटी-रोजी मिल सके, ऐसी व्यवस्था की जाएगी।

इस प्रकार एक ओर से सामाजिक विकास के क्षेत्र में जैन लोग आगे बढ़ेंगे तो दूसरी ओर से पिछड़े हुए या मांसाहारी, शराबी आदि

"साधुजीवन का निर्वाह गृहस्थसमाज के अस्तित्व पर रहता है। समाज में जितनी अधिक उज्ज्वलता, धार्मिकता होगी, उतना ही साधुजीवन उज्ज्वल होगा; क्योंकि साधु बनने वाले व्यक्ति समाज में से ही आते हैं। यही कारण है कि साधुवर्ग एकान्ततः व्यक्तिगत साधना में ही अपनी साधना की इतिसमाप्ति नहीं समझता और उपदेश, प्रेरणा एवं मार्गदर्शन द्वारा समाजश्रेय की ओर भी लक्ष्य रखता है। यहाँ तक कि शासकवर्ग को भी सुधारने की तथा नीति-धर्म पर दृढ़ रखने के लिए प्रेरणा साधु समय-समय पर न करें तो सारा ही राष्ट्र या समाज का एक अंग—राज्य-बिगड़ जाता है। ...साधुवर्ग की आत्मसाधना सुन्दर, अच्छे ढंग से और निर्विघ्न हो, इसके लिए भी संसार को अच्छा बनाना आवश्यक है।..."

" जीवन में कोरी शक्ति से काम नहीं चलता। शक्ति के साथ भक्ति न हो तो वह शक्ति विपरीत काम कर डालती है और उसके साथ सेवा न हो तो वह शक्ति जीवन में भलीभांति रमती नहीं। उसका विस्फोट हो जाता है। इसलिए शक्ति, भक्ति और सेवा तीनों से ही जीवन की परिपूर्णता है।..."

"...धर्म मनुष्य-मनुष्य के बीच वात्सल्यसम्बन्ध जोड़ कर, भेद-भावों की दीवारें तोड़ कर अभेदभाव की ओर ले जाता है; जब कि पंथ और सम्प्रदाय जब धर्मतत्त्वरहित हो जाते हैं तो भेदभाव की दीवारें खड़ी कर देते हैं, आपस में लड़ाने-भिड़ाने का काम करते हैं; धार्मिक क्रियाकाण्डों को ही अधिक महत्त्व देने लगते हैं। वे उनमें तो लाखों रुपयों का धुंआ उड़ा देंगे, लेकिन उन रुपयों को बचा कर जन-हितकारी प्रवृत्तियों में लगाने से हिचकिचाएँगे, बहाने बनाएँगे।..."

"...आज व्यसनशत्रुओं का हमारे राष्ट्र पर चारों ओर से आक्रमण हो रहा है। सामान्य शत्रु तो शरीर का ही नाश करता है, किन्तु ये व्यसनशत्रु हमारे राष्ट्र के शरीर, मन, बुद्धि, और आत्मा पर हमला करते हैं और धीरे-धीरे इन्हें गुलाम बना कर इनका नाश कर डालते हैं। इसलिए शत्रुराष्ट्रों की अपेक्षा ये व्यसनरूपी दुश्मन अधिक जबर्दस्त हैं।..."

भारतभर के जैनों के चारों सम्प्रदायों-उपसम्प्रदायों की सभी छोटी-बड़ी साम्प्रदायिक या असाम्प्रदायिक संस्थाओं की एक सूची बनाई जाय और उनका परस्पर संकलन या समन्वयीकरण किया जाय, जिससे परस्पर संघर्ष न हो। शिक्षासंस्थाओं में एक सम्मिलित समन्वयकारी धार्मिक पाठ्यक्रम तैयार किया जाय, जिसमें किसी भी सम्प्रदाय पर आक्षेप या खण्डनात्मक बात न हो। ऐसा सर्वमान्य पाठ्यक्रम चलाया जाय।

कोई सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय पर आक्षेप, पर्चेबाजी, व्यक्तिगत या सम्प्रदायगत आरोपात्मक या खण्डनात्मक लेख या व्याख्यान न दें। अर्थात् विवादास्पद मुद्दों को व्याख्यानों, लेखों, वार्तालापों या पाठ्यपुस्तकों आदि में न छेड़ा जाय।

विभिन्न फिरके के साधुओं का स्नेह-सम्मेलन हो। बम्बई की जनता से भी मेरी अपील है कि बम्बई में जितने भी साधु हैं, वे सब जैन-ऐक्य के इन विचारों से सहमत हों। बाद में भारतभर के जैन साधुसाध्वियों, दिगम्बर मुनियों, त्यागियों आदि की सेवा में जैन-एकता की यह विचारधारा और व्यावहारिक रूपरेखा प्रस्तुत की जाय, जिनका प्रभाव पड़ता हो उनके द्वारा उन्हें समझा-बुझा कर पूर्ण सहमत किया जाय और तब इसे अमल में लाया जाय। सभी सम्प्रदायों के कुछ प्रभावशाली समन्वयदृष्टि वाले अग्रगण्य श्रावक-श्राविका जैन-एकता की यह विचारधारा और व्यावहारिक रूपरेखा पहले स्वयं समझ लें और तत्पश्चत् पहले बम्बई के समस्त जैनसंघों को समझाएँ, बाद में दूसरे प्रान्तों और गाँवों-नगरों में जाकर समझाएँ। इस प्रकार प्रत्येक गाँव-नगर के जैनसंघों के तैयार हो जाने पर और ऐक्य के पथ पर आ जाने पर सारे ही झगड़े मिट जायेंगे। झगड़े तो मुख्यतया श्रावकवर्ग की ओर से शुरू किये

स्वामीप्रभु के झंडे के नीचे एकत्रित हो कर श्री भ० महावीर की जय बोले तथा जैनशासन की वृद्धि के लिए (समस्त जैन फिरकों की ओर से) एक 'जैनविश्वविद्यालय' संस्था स्थापित की जाय। प्रत्येक जैन शिक्षित हो। धर्म को बाधा न पहुंचे इस ढंग से राज्याधिकार में जैनों की संख्या में वृद्धि हो। फलस्वरूप सभी जैन शिक्षित हो कर विभिन्न क्षेत्रों में तरक्की करें। कोई भी जैन भूख से पीड़ित न रहे। शासनदेव मेरी इन सब भावनाओं को सफल करें, यही चाहता हूं।'

स्थान—चौपाटी मैदान
बम्बई — वि० सं० २००६
श्रावण सुदी ३

समाप्त